ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-६

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा १४५ से १९२ तथा कलश १०० से १३२)
प्रवचन क्रमांक २२८ से २६८

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन

मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है – ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा – 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? – उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 – इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये – ऐसी बात अन्दर है।
- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है – ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय–बाड़ा–गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है – उसका यथार्थ ज्ञान अपने को–मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही – यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है – एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई – वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी–पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी डेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस

प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के पुण्य-पाप अधिकार की गाथा 145 से 163, कलश 100 से 112; आस्रव अधिकार की गाथा 164 से 180, कलश 113 से 124 और संवर अधिकार गाथा 181 से 192, कलश 125 से 132 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 228 से 268 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्तत: समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों – इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्वार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो

उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह

स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक

आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर

स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।

7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।

9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नम्बर	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
२२८	१६-०५-१९७९	कलश-१००-१०१	००१
२२९	१७-०५-१९७९	गाथा-१४५	०१६
२३०	१८-०५-१९७९	गाथा-१४६-१४९,कलश-१०२	०३१
२३१	२०-०५-१९७९	गाथा-१५०, कलश-१०३-१०४	०५१
२३२	२१-०५-१९७९	गाथा-१५१-१५२	०६८
२३३	२२-०५-१९७९	गाथा-१५३, कलश-१०५	०८५
२३४	२३-०५-१९७९	गाथा-१५४-१५५	१०२
२३५	२४-०५-१९७९	गाथा-१५५-१५६	१२०
२३६	२६-०५-१९७९	गाथा-१५६, कलश-१०६-१०८	१३८
२३७	२७-०५-१९७९	गाथा-१५७-१६०	१५७
२३८	२८-०५-१९७९	गाथा-१६०-१६३	१७५
२३९	२९-०५-१९७९	गाथा-१६१-१६३	१९३
२४०	३०-०५-१९७९	कलश-१०९-११०	२०९
२४१	३१-०५-१९७९	कलश-११०-१११	२३०
२४२	०१-०६-१९७९	कलश-११२	२४८
२४३	०३-०६-१९७९	कलश-११२-११३	२६५
२४४	०४-०६-१९७९	गाथा-१६४-१६५, कलश-११३	२८४
२४५	०५-०६-१९७९	गाथा-१६४-१६६	३०३
२४६	०६-०६-१९७९	गाथा-१६६-१६७	३२१
२४७	०७-०६-१९७९	गाथा-१६८, कलश-११४	३३९

प्रवचन नम्बर	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
२४८	०८-०६-१९७९	गाथा-१६९-१७१, कलश-११५	३५६
२४९	१०-०६-१९७९	गाथा-१७२, कलश-११६	३७७
२५०	११-०६-१९७९	गाथा-१७३-१७६, कलश-११६-११७	३९३
२५१	१२-०६-१९७९	गाथा-१७३-१७६	४१३
२५२	१३-०६-१९७९	गाथा-१७३-१७६, कलश-११८-११९	४३०
२५३	१४-०६-१९७९	गाथा-१७७-१७८, कलश-१२०	४४८
२५४	१५-०६-१९७९	कलश-१२०-१२१	४६३
२५५	१७-०६-१९७९	गाथा-१७९-१८०, कलश-१२१-१२२	४७८
२५६	१८-०६-१९७९	कलश-१२३-१२४	४९५
२५७	१९-०६-१९७९	गाथा-१८१-१८३, कलश-१२५	५१२
२५८	२०-०६-१९७९	गाथा-१८१-१८३	५३३
२५९	२१-०६-१९७९	गाथा-१८१-१८३	५४८
२६०	२२-०६-१९७९	गाथा-१८१-१८३	५६४
२६१	२४-०६-१९७९	गाथा-१८१-१८३, कलश-१२६	५७८
२६२	२५-०६-१९७९	गाथा-१८४-१८५, कलश-१२६	५९५
२६३	२६-०६-१९७९	गाथा-१८४-१८६, कलश-१२७	६११
२६४	२७-०६-१९७९	गाथा-१८७-१९२, कलश-१२७-१२८	६२७
२६५	२८-०६-१९७९	गाथा-१९०-१९२	६४७
२६६	२९-०६-१९७९	गाथा-१९०-१९२, कलश-१२९-१३०	६६१
२६७	३०-०६-१९७९	कलश-१३१-१३२	६७६
२६८	०१-०७-१९७९	कलश-१३२	६९१

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ६)

— ३ —

पुण्य-पाप अधिकार

कलश-१००

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति ह्र

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ।।१००।।

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि।।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-पापरूप से प्रवेश करता है।'

जैसे नृत्य मञ्च पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है, इसी प्रकार यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि वह पुण्य–पाप के भेद से दो प्रकार के रूप धारण करके नाचता है, उसे सम्यक्दृष्टि का यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है। उस ज्ञान की महिमा का काव्य इस अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार आचार्य कहते हैं:–

श्लोकार्थ : [अथ] अब (कर्ताकर्म अधिकार के पश्चात्), [शुभ–अशुभ–भेदत:] शुभ और अशुभ के भेद से [द्वितयतां गतम् तत् कर्म] द्वित्व को प्राप्त उस कर्म को [ऐक्यम् उपानयन्] एकरूप करता हुआ, [ग्लपित–निर्भर–मोहरजा] जिसने अत्यन्त मोहरज को दूर कर दिया है ऐसा [अयं अवबोध–सुधाप्लव:] यह (प्रत्यक्ष–अनुभवगोचर) ज्ञानसुधांशु (–सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) [स्वयम्] स्वयं [उदेति] उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ : अज्ञान से एक ही कर्म दो प्रकार दिखायी देता था, उसे सम्यक्ज्ञान ने एक प्रकार का बताया है। ज्ञान पर जो मोहरूप रज चढ़ी हुई थी, उसे दूर कर देने से यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है; जैसे बादल या कुहरे के पटल से चन्द्रमा का यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरण के दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है; इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।।१००।।

---

*प्रवचन नं. २२८, श्लोक–१०० दिनाङ्क १६–०५–१९७९, बुधवार
वैशाख कृष्ण ५

अब तीसरा पुण्य–पाप अधिकार।

पुण्य–पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि।।

पुण्य और पाप दोनों बन्धनरूप (है, ऐसा जानकर), उन्हें दूर करके अपने शुद्धात्मा को जिसने जाना... आहा! **नमूँ चरण हित जानि** उनके चरण में मैं नमस्कार करता हूँ। हित को जानकर (अर्थात्) मेरा हित इसमें है। स्वरूप में एकाग्र होना, वह मेरा हित है।

* प्रस्तुत प्रवचन का प्रारंभिक १९ मिनिट का अंश कर्ता-कर्म अधिकार का होने से समयसार सिद्धि भाग–५ में उपलब्ध है। अनुवादक

आहाहा! शुद्धात्मा को जानना और (उसमें) स्थिर होना, वह मेरा हित है। ऐसे जिसने ऐसा किया, उसे भी मैं नमस्कार करता हूँ। आहाहा!

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-पापरूप से प्रवेश करता है।' नाटक का दृष्टान्त दिया है न! एक ही पुरुष हो, वह घड़ीक में राजा होकर आवे और घड़ीक में गुलाम होकर आवे। नाटक में! इसी प्रकार पुण्य और पाप एकरूप वेश धारण करके प्रवेश करते हैं। आहाहा!

जैसे नृत्य मञ्च पर... नाचने के अखाड़े में-स्थान में **एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो...** आहाहा! **उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है,...** नाटक में घड़ीक में स्त्री का वेश लेकर आवे, घड़ीक में पुरुष का वेश लेकर आवे। पालेज में एक बार हमारे बना था। वहाँ मुसलमान का जोर और जो नाटक का मूल (सूत्रधार) था, वह अन्दर स्त्री का वेश पहनता था और यहाँ विवाद हुआ तो बहुत मुसलमान अन्दर मुफ्त में प्रविष्ट हुए। यह तो (संवत्) १९६५-६६ की बात है। उसे एकदम बाहर आ पड़ा। स्त्री का वेश (पहना हुआ रखकर) बाहर (आया)। तब लोगों ने भी जाना कि यह तो इसका मुख्य व्यक्ति है, नाटक का मुख्य व्यक्ति (था), उसने स्त्री का वेश (पहना हुआ था) रानी का था, रानी का। प्राय: तो पिंगला का वेश था। भर्तहरी का पिंगला। आता है न? वह अन्दर पहनता था, वहाँ विवाद हुआ; इसलिए उसे एकदम बाहर आना पड़ा। स्त्री के वेश में आना (पड़ा) सिर खुला था। आहाहा! तब जान लिया कि ओहो! यह तो नाटक का मुख्य व्यक्ति! प्रमुख व्यक्ति है। वह इस रानी को वेश धारण करता है।

इसी प्रकार पुण्य और पाप के दो वेश हैं तो एक ही विकार के, आहाहा! परन्तु अज्ञानी उन्हें दो रूप मानता है (परन्तु) **उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है,...** पुण्य और पाप दोनों एक ही हैं। भगवान आत्मा उनसे भिन्न और पुण्य तथा पाप के भाव—दया, दान, व्रत, शील, तप आदि भाव... आहाहा! और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, दोनों जाति एक ही है। आहाहा! कठिन काम!

इसी प्रकार यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि वह पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार के रूप धारण करके नाचता है, उसे सम्यक्दृष्टि का यथार्थज्ञान एकरूप

जान लेता है। लो! यहाँ तो सम्यक्दृष्टि लिया। वह जहाँ हो वहाँ साधु.. साधु.. डालते हैं। विद्याधरजी। आहाहा! **सम्यक्दृष्टि का यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है।** सम्यग्दृष्टि का ज्ञान–चौथे गुणस्थान का ज्ञान। सम्यग्दृष्टि भी वीतरागी पर्याय है, क्योंकि जिनस्वरूप है, स्वयं वीतरागस्वरूप ही है, उसकी प्रतीति और ज्ञान होकर जो दशा हुई, वह दशा भले चौथे (गुणस्थान की) होवे, परन्तु वह वीतरागी दशा है। आहाहा! उस वीतरागी दशा का ज्ञान यथार्थ है।

वह **एकरूप जान लेता है।** (अर्थात्) पुण्य और पाप दोनों एक ही हैं। चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग-वासना, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण हो, दोनों एक ही जाति है। आहाहा! (ऐसा सुने वहाँ) कठिन काम पड़ता है।

अभी सुना, तुमने कहा न? स्वरूपाचरणचारित्र! कलश-टीका, राजमलजी टीका में १०६ कलश में छह बार आता है। यह तो राजमलजी का नाम रात्रि में आया नहीं था। तीन नाम आये और चौथा (नहीं था)। (मैंने) कहा, इसमें भी है न? यद्यपि इसमें व्रत अर्थात् चारित्र। चारित्र, स्वरूपाचरणचारित्र। एक ही १०६ कलश में छह बार आता है। स्वरूपाचरणचारित्र.. स्वरूपाचरणचारित्र.. आहाहा!

मूल तो स्वरूप जो भगवान चिद्घन आनन्दकन्द, उसका भले चौथे (गुणस्थान में) अंश भी आचरण है, वह स्वरूपाचरण है और फिर पाँचवें गुणस्थान में भी जो विशेष है, वह स्वरूपाचरण है और छठवें में भी स्थिरता बढ़ गयी है, वह स्वरूपाचरण है, सातवें में बढ़ गयी है, वह स्वरूपाचरण है। आहाहा! उसमें राग का आचरण नहीं; इसलिए स्वरूपाचरण है, ऐसा कहना है। आहा! ऐसा मार्ग।

यहाँ तो सबेरे वहाँ–इस १०६ कलश में नजर गयी थी, कहा, तीन बोल के नाम दिये थे। उसमें राजमल स्वरूपाचरण (कहते हैं, वह नहीं था) परन्तु राजमल स्वरूपाचरण व्रत को कहते हैं। चौथे में स्वरूपाचरण है परन्तु व्रत शब्द जो लिया है, वह स्वरूपाचरण के अर्थ में (लिया है) और दूसरे व्रत का अर्थ लिया है, वह शुभभाव के आचरण में (लिया है)। दया, दान, व्रत आदि। वह व्रत अर्थात् विकार और यह व्रत अर्थात् स्वरूपाचरण। आहाहा! बहुत कठिन काम!

शुद्ध स्वरूप चैतन्य प्रभु, जो स्वद्रव्य है, वह शुद्ध चैतन्यघन है। उस स्वद्रव्य का

आचरण, वह स्वरूपाचरण। वह निर्जरा और मोक्ष का कारण है। आहा! संवर, निर्जरा और मोक्ष का यह कारण है। यह क्या कहा? भगवान आत्मा ध्रुव चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव अनन्त गुण का एकरूप ऐसा जो भगवान, उसका जो आचरण है, वह पुण्य और पाप के विकल्प से रहित है। उसका वह आचरण है। वह आचरण स्वरूपाचरण है। राग का आचरण है, वह विरूप आचरण है। आहाहा!

यह स्वरूप... स्व-रूप शुद्ध चैतन्यघन आत्मा स्वरूप, उसका आचरण, उसमें लीनता और एकाग्रता (होना), वह संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण है और इस स्वरूपाचरण के अतिरिक्त जितनी वृत्ति रागादि में जाती है, वह सब बन्धन का कारण है। वह परद्रव्य-आचरण है, यह स्वरूप-आचरण है। तब वह परद्रव्य (आचरण है) ऐसा १०७ में आया है। यह स्वद्रव्य में (आचरण) है, वह परद्रव्य (आचरण है)। आहाहा! है न, इसमें, देखो न! १०७ में है, देखो! १०६ में है। **'एकद्रव्यस्वभावत्वा'** १०६ में यह है। **'एकद्रव्यस्वभावत्वा'** और १०७ में **'द्रव्यान्तरस्वभावत्वा'** आहाहा! १०७ (कलश)। **'द्रव्यान्तरस्वभावत्वा'** (अर्थात्) द्रव्य से अन्य द्रव्य का स्वभाव। आहाहा! क्या संक्षिप्त भाषा।

'एकद्रव्यस्वभावत्वा ज्ञानस्य भवनमं वृत्तं' आहाहा! भगवान ज्ञान और आनन्द का-स्वद्रव्य का अन्दर आचरण, वह व्रत अर्थात् वह आचरण और उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा! और जो द्रव्यान्तर (अर्थात्) इस द्रव्य से अन्य—दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम (होते हैं), वह अन्य द्रव्य का आचरण होने से वह अन-आचरण है। स्वरूप का अन-आचरण है, परद्रव्य का आचरण है। आहाहा! यह १०६, १०७ में आयेगा।

(यहाँ अपने) श्लोक १००। **उस ज्ञान की महिमा का काव्य इस अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार आचार्य कहते हैं:-**

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः।।१००।।

(श्लोकार्थ) **अब (कर्ताकर्म अधिकार के पश्चात्), शुभ और अशुभ के भेद से...** 'द्वितयतां' **द्वित्व को प्राप्त उस कर्म को..** भले दोपने को प्राप्त कर्म लिया

है, इसलिए कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह तो कर्म के दो प्रकार का निषेध है। परन्तु पश्चात् आचार्य स्वयं कहते हैं, कर्म का कारण जो शुभाशुभभाव है, वह भी दो है। दो है, वह एक ही है, बन्धन एक है और उस फल भी एक ही है। आहाहा! **भेद से द्वित्व को प्राप्त...** आहाहा! शुभभाव अलग और अशुभभाव अलग – दोनों अलग, ऐसा कहते हैं (अर्थात्) अज्ञानी दो को मानता है, उन्हें **एकरूप करता हुआ,...** आहाहा! एकरूप करता हुआ का अर्थ—अपने साथ एकरूप नहीं करता। दो हैं, वे एक ही रूप वस्तु है। शुभ और अशुभभाव दोनों, वे एक ही प्रकार हैं। आहाहा!

एकरूप करता हुआ,... एकरूप अर्थात् दो मान्यता है कि यह पुण्य ठीक है और पाप अठीक है अथवा पुण्य शुभ है और पाप अशुभ है। यह दो पने को मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (और) ज्ञानी दो को एकरूप जानता हुआ। आहाहा! ...आहाहा! दोनों भाव एक ही-बन्धन के कारण हैं, दोनों जहर हैं, दोनों दुःख हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, शील, तप को जहर कहना! क्योंकि अमृतसागर भगवान, अमृत का समुद्र प्रभु, उससे (शुभ) भाव विरुद्ध है। चाहे तो दया, दान, व्रत, शील, तप चाहे जो हो, परन्तु प्रभु अमृत का सागर / समुद्र ध्रुव एक ही महाप्रभु है। आहाहा! उससे ये पुण्य-पाप के दो भाव अमृत से विरुद्ध हैं, इसलिए इन्हें जहर कहा है। अर र!

वे कहते हैं, पर की दया पालो तो धर्म है। यहाँ कहते हैं कि पर की दया तो पाल नहीं सकता परन्तु पर की दया का भाव है, वह राग और जहर है। यह बात! कठिन काम है, बापू! आहाहा!

दो में से **एकरूप करता हुआ,...** एकरूप करता हुआ अर्थात् अपने साथ एकरूप करता हुआ, (ऐसा नहीं है)। पुण्य और पाप दोनों एक ही जाति है, बन्ध का कारण ज़हर है। अज्ञानी दो को दोरूप भिन्न जानता था। यह ज्ञानी दो को एकरूप-ज़हर का, बन्ध का कारण एक ही प्रकार है, (ऐसा जानता है)।

जिसने अत्यन्त मोहरज को दूर कर दिया है... इसमें 'मोहरज' शब्द है परन्तु इसका अर्थ मोहभाव-मिथ्यात्वभाव है। भाई में मोहरज का अर्थ मिथ्यात्वभाव किया है। एक गाथा में सेठ आये थे तब (ली थी) उसमें भी आता है न? मोहरज! वह भावमोह है।

यह तो नाम नहीं दिया, मूल तो भावमोह है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ को भूलकर पुण्य और पाप को दो को दो रूप से भिन्न-भिन्न जानता है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

नवतत्त्वरूप से गिनने पर इसके पुण्य और पाप का तत्त्व अलग गिना, परन्तु एक जगह वापस निकाल दिया। आस्रव गिनकर पुण्य-पाप नहीं रखा। सात तत्त्व कहे न वहाँ? आहाहा! उन्हें-इन पुण्य-पाप को दो को आस्रव गिनकर एक ही तत्त्व गिना। व्यवहार से दो को भिन्न किया था। आहाहा! वे निश्चय से दोनों एक हैं, आस्रव हैं, बन्ध का कारण है। आहाहा! अब इसमें कब निवृत्ति लेना! अरे रे! चौरासी लाख अवतार में परिभ्रमण करते हुए कहीं इसे विश्रामस्थल मिला नहीं। आहाहा!

यह स्वयं ही है अन्दर। इसका माहात्म्य-महिमा और राग से पृथक्पने का भान इसने नहीं किया। आहाहा! बाकी सब इसने चाहे जो किया हो, पाँच-पचास लाख इकट्ठे किये हों, दो-पाँच करोड़ की धूल (इकट्ठी) की हो... आहाहा! उसका क्या? वह तो दुर्गति का कारण है। आहाहा!

मुम्बई में दो को देखा, भाई! वह दो अरब चालीस करोड़ वाले का लड़का आया था परन्तु वह चरण छूकर इतना बोला 'कि मेरे बापूजी को आने का भाव था।' इतना बोला। ठीक, कहा। 'मेरे पिता को आने का भाव था' इतना बोला। ठीक कहा। वह तो पोपटभाई कहते थे। उनके बहनोई भी कहते थे कि किसी समय पहले ऐसा विचार हुआ होगा। ऐसा कि ये सब सोनगढ़ जाते हैं, मेरी बहिन वहाँ है, मेरा बहनोई वहाँ है तो देखने तो जाएँ। दो अरब चालीस करोड़! धूल में मर गया, मर गया बेचारा! आहाहा!

दूसरा यह देखा। वैष्णव! मुम्बई, तुम्हारा सेठ! पचास करोड़, पचास करोड़! आया था। (स्वयं) वैष्णव, घर में महिलाएँ हैं, वे जैन हैं। श्वेताम्बर जैन, इसलिए उन्हें प्रेम है। चरण छूने आया था। भाई उसमें नौकर था न - रामदास!

मुमुक्षु : तीन बार मिले थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आये थे, आये थे। फिर से आये थे। पहले आये थे, बाद में घर ले गये, वापस फिर से आये थे।

मुमुक्षु : जन्म-जयन्ती के समय...

पूज्य गुरुदेवश्री : जन्म-जयन्ती (के समय आये थे), खबर है, खबर है न! पचास करोड़ रुपये, पाटन का वैष्णव (था)। अरे! कर्ता.. कर्ता.. कर्ता.. (माने)। वैष्णव है न? मैंने तो ऐसा ही कहा, तुम कर्ता कहते हो तो फिर नरसिंह मेहता ऐसा कहते हैं 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' वहाँ उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि 'ज्यां ईश्वर को इसने जाना नहीं।'

मुमुक्षु : हमारे में ऐसा है न, ऐसा उसने आपको जवाब दिया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसे जरा आधार देने के लिए (कहा) 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' उसमें दो बात निकली। एक तो ईश्वर को जाना नहीं, ऐसा नहीं कहा तथा जाना है, वह आत्मा के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व हैं, अस्ति है। तब ऐसा कहा न कि 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' दूसरे तत्त्व हैं अर्थात् (वे) हैं और आत्मा है, उसका कोई कर्ता-फर्ता है नहीं।

मुमुक्षु : है, उसे कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : है, ऐसा तो उसमें से आ गया और गीता में भी ऐसा एक वाक्य है अपने देखा है। अपने यहाँ गीता है न! उसमें देखा है, एक ऐसा श्लोक है। नहीं मैं कर्ता, ऐसा एक श्लोक है। 'ना अहम् कर्ता' ऐसा कुछ है। आहाहा! है वस्तु। आहाहा! कौन करे? है, उसे करे कौन? और नहीं है, उसे करे कौन? करना वह हो-द्रव्य की पर्याय। वह करना हो। वह भी पर्यायरूप से करना होता है। आहाहा! पलटती है न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **जिसने अत्यन्त मोहरज को दूर कर दिया है, ऐसा यह (प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर)..** आहाहा! [**अयं अवबोध-सुधाप्लवः**] **यह (प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर)...** ऐसा, देखा? (**अयं**) है न? प्रत्यक्ष अवबोध अर्थात् ज्ञान। (**सुधाप्लवः**) अर्थात् चन्द्र। आहाहा! **ज्ञानसुधांशु (-सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा)...** प्रभु अन्दर है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य में फँस गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में... पुण्य-पाप में मात्र दुःख है।

यहाँ सुधांशु (अर्थात्) जैसे चन्द्रमा निर्मल है, वैसे भगवान ज्ञानसुधा चन्द्रमा है।

आहाहा! लोगस्स में भी आता है न? 'चन्देसु निम्मलयरा' लोगस्स किया है या नहीं? उसके अर्थ की भी खबर नहीं होती। 'चन्देसु निम्मलयरा' (अर्थात्) चन्द्र से भी, हे प्रभु! आप तो निर्मलतर हैं। अकेले निर्मलानन्द चन्द्र! चन्द्र का निर्मलपना तो जड़ का है। इसका निर्मलपना चैतन्य का है। आहा! 'आईच्चेसु अहियं पयासयरा' यह लोगस्स में आता है (परन्तु) अर्थ की भी खबर नहीं होती। हाँक रखते हैं... आदित्य अर्थात् सूर्य, उससे अधिक। 'आईच्चेसु अहियं पयासयरा' उससे अधिक अनन्त गुणा प्रकाश-चैतन्यमूर्ति जलहल ज्योति अन्दर है!! आहाहा!

'सागरवरगम्भीरा' सागर में प्रधान सागर बड़ा जैसे स्वयंभूरमण है, जिसकी गम्भीरता का पार नहीं होता। असंख्य योजन में (विस्तरित है) और जिसमें नीचे रेत नहीं होती, मात्र रत्न भरे हैं। अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र। अन्तिम का असंख्यवाँ। असंख्य योजन में नीचे अकेले रत्न भरे हैं और पानी असंख्य योजन में है। आहाहा! ऐसा 'सागरवरगम्भीरा'! प्रभु! तेरे तल में अनन्त रत्न भरे हैं, आहाहा! जिसके अनन्त रत्न की गम्भीरता का पार नहीं होता और स्वयंभू (अर्थात्) वह सब स्वयं से है। उसे किसी ने किया है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसा यह 'अयं' प्रत्यक्ष। अयं का अर्थ प्रत्यक्ष किया—यह। और 'अवबोध' अर्थात् ज्ञान। 'सुधाप्लवः' 'सुधाप्लवः' **ज्ञानसुधांशु (-सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) स्वयं उदय को प्राप्त होता है।** आहाहा! जिसे कोई दया, दान और राग की मन्दता की, शुभता की भी कोई अपेक्षा नहीं है। उसमें वह नहीं है, उसका वह स्वरूप नहीं है परन्तु उसकी इसे अपेक्षा भी नहीं है। स्वयं! आहाहा! 'सुधाप्लवः' चन्द्र! शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. ऐसा जो चन्द्रमा, भगवान ज्ञानरूपी चन्द्रमा! पुण्य-पाप को-दोनों को जहाँ एकरूप से भिन्न जानता है, तब **(सुधाप्लवः)** प्रगट होता है, तब शुद्ध चन्द्रमा भगवान निर्मल प्रगट होता है। आहाहा! दो में, पुण्य के भाव में 'ठीक है' ऐसा करके रूकता था। व्यवहार से भेद किया। नव तत्त्व में भेद किया न! नव कहे, पश्चात् तो सात करके निकाल दिया। आहाहा! परन्तु व्यवहार से अर्थात् अभूतार्थनय से.. आहाहा! भूतार्थ सत्यवस्तु से तो वह प्रभु ज्ञानचन्द्रमा जो यह है, जिसमें कोई पुण्य और पाप की गन्ध नहीं है। आहाहा!

(प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर) ज्ञानसुधांशु स्वयं उदय को प्राप्त होता है। आहाहा!

स्वयं उदय को प्राप्त होता है। उसे ऐसा कि राग की या किसी व्यवहार की मन्दता मिली, व्यवहाररत्नत्रय था तो वह शुद्ध हुआ, ज्ञात हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वतन्त्र प्रभु स्वयं उदय को प्राप्त होता है। आहाहा!

भावार्थ : अज्ञान से एक ही कर्म दो प्रकार दिखायी देता था... पुण्य और पाप दोनों एक ही प्रकार के हैं। भले यहाँ बन्धन में कर्म लिया है परन्तु उसके भाव (की) भी एक ही जाति है। **अज्ञान से एक ही कर्म दो प्रकार दिखायी देता था, उसे ज्ञान ने एक प्रकार का बताया है।** आहाहा! जहाँ ज्ञान चैतन्य का सम्यक् ज्ञान हुआ, वहाँ वे शुभ-अशुभभाव दोनों एक ही प्रकार के बन्धन के कारण और जहर हैं, ऐसे ज्ञान में दो का एकपना ज्ञात हुआ। दो का दोपना अज्ञान में भिन्न ज्ञात होता था कि पुण्य ठीक है और पाप अठीक है। आहाहा! वह **ज्ञान ने एक प्रकार का बताया है।**

ज्ञान पर जो मोहरूप रज चढ़ी हुई थी... आहाहा! भाव! मोहरूपी मिथ्या भ्रमणा लगी थी, **उसे दूर कर देने से...** आहाहा! **यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है; जैसे बादल या कुहरे के पटल से...** आहाहा! चन्द्र को बादल आड़े आवें या कोहरे का पटल आड़े आवे, **यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरण के दूर होने पर...** चन्द्र तो चन्द्र में ही है। आहाहा!

आवरण के दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है; इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। भगवान आत्मा पुण्य-पाप के बादल में अटक गया था। आहाहा! वह अन्धकार था, आड़े पटल था, बड़ा पर्दा था। आहा! शुभ और अशुभभाव दोनों अन्धकार-पर्दा था। उसे तोड़ डाला। वह अज्ञान अन्धकार एकरूप है। मेरी चीज़ ज्ञानस्वरूप तो उनसे भिन्न है। ऐसा जिसने आत्मा को सम्यक् ज्ञान में, ज्ञान को ज्ञानरूप से और राग को भिन्नरूप से (जान लिया)। दोनों एक ही जाति—चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो (एक ही जाति है)। आहाहा!

(पटल आड़े आवे) **यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरण के दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है; इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।** लो! आहाहा!

कलश-१०१

अब पुण्य-पाप के स्वरूप का दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं :-

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जाति-भेद-भ्रमेण ।।१०१।।

श्लोकार्थ : (शूद्रा के पेट से एक ही साथ जन्म को प्राप्त दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहाँ और दूसरा उसी शूद्रा के यहाँ पला, उनमें से) [एकः] एक तो [ब्राह्मणत्व-अभिमानात्] 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से [दूरात्] दूर से ही [मदिरां] मदिरा का [त्यजति] त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता; तब [अन्यः] दूसरा [अहम् स्वयम् शूद्रः इति] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर [नित्यं] नित्य [तया एव] मदिरा से ही [स्नाति] स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है। [एतौ द्वौ अपि] यद्यपि वे दोनों [शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ] शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं, इसलिए [साक्षात् शूद्रौ] (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, [अपि च] तथापि वे [जातिभेद-भ्रमेण] जातिभेद के भ्रम सहित [चरतः] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। (इसी प्रकार पुण्य और पाप के सम्बन्ध में समझना चाहिए।)

भावार्थ : पुण्य-पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टि से भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होने से, वे अच्छे और बुरे रूप से दो प्रकार दिखायी देते हैं। परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही, बुरा ही जानती है।।१०१।।

कलश-१०१ पर प्रवचन

अब पुण्य-पाप के स्वरूप का दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं :- अब दृष्टान्त देकर सिद्धान्त कहते हैं।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जाति-भेद-भ्रमेण ।।१०१।।

आहाहा! **शूद्रा के पेट से एक ही साथ जन्म को प्राप्त दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहाँ पला...** ब्राह्मण को (पुत्र) नहीं था तो ब्राह्मण को दिया तो वह वहाँ पला **और दूसरा उसी शूद्रा के यहाँ पला...** अपने घर में रहा। **उनमें से एक तो...** **[ब्राह्मणत्व-अभिमानात्]** आहाहा! क्या आचार्य की कथनी! **'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूर से ही मदिरा का त्याग करता है,...** मदिरा को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! **उसे स्पर्श तक नहीं करता;...**

दूसरा [अहम् स्वयम् शूद्रः इति] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरा से ही स्नान करता है... अर्थात् कि हाथ-बात सर्वत्र शराब लगायी हो। **उसे पवित्र मानता है। [एतौ द्वौ अपि] यद्यपि वे दोनों...** पुत्र **[शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ] शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं...** आहाहा! **शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं... इसलिए [साक्षात् शूद्रौ] (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं,...** दोनों चाण्डाल ही हैं, भले (एक) ब्राह्मण के घर पला हो। आहा! **तथापि वे [जातिभेद-भ्रमेण] जातिभेद के भ्रम सहित [चरतः] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। (इसी प्रकार पुण्य और पाप के सम्बन्ध में समझना चाहिए।)** आहाहा! आचार्य ने कैसा लिखा है!

पुण्यभाव करते हैं न! उसे अभिमान (होता है कि) मैं पुण्य करता हूँ, हमारे यह नहीं चलता। हमारे यह नहीं चलता। ब्राह्मण के यहाँ पला (वह ऐसा कहता है कि) यह नहीं चलता। उसी प्रकार इस पुण्य के परिणामवाला मिथ्या अभिमानी (ऐसा कहता है कि) हमारे विषय-कषाय नहीं चलते, यह नहीं, यह नहीं चलता। आहाहा! 'अभिमान' शब्द लिया था न? **[ब्राह्मणत्व-अभिमानात्]** ऐसे पुण्य के परिणाम का अभिमानी, पुण्य-परिणाम व्रत और तप और भक्ति करनेवाला, उसके अभिमान में (ऐसा कहता है

कि) हमें यह पाप नहीं चलता, विषय-कषाय नहीं चलते, स्त्री का संग नहीं चलता। परन्तु है तो वह चाण्डाल का पुत्र। पुण्य का परिणाम भी है तो विभाव का पुत्र। विभावरूपी चाण्डालनी! आहाहा! कठिन काम ऐसा! अभी तो अकेली धमाधम (चलती है)। आहाहा! व्रत करो और अपवास करो और वर्षीतप करो...

मुमुक्षु : अभी तो बहुत सुधरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे जहाँ हैं, वहाँ तो ऐसे के ऐसे ही पड़े हैं। ऐसा का ऐसा है। जहाँ हैं, वहाँ तो ऐसा का ऐसा है और उससे भी सवाया हो गया है। यहाँ हुआ उसके कारण वहाँ अधिक जोर हुआ। जहाँ है, वहाँ अधिक जोर पकड़ा है। अपने बराबर करना चाहिए। यह करना चाहिए...

मुमुक्षु : व्यवहार के काम करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, व्यवहार भी वस्तु है या नहीं? व्यवहार बिना निश्चय होगा? (ऐसा करके) जोर पकड़ते हैं। आहाहा!

भावार्थ : पुण्य-पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टि से भ्रमवश... देखा? **व्यवहारदृष्टि से भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होने से, वे अच्छे और बुरे रूप से दो प्रकार दिखायी देते हैं।** आहाहा! दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा, स्त्री-पुत्र को छोड़कर त्यागी हुआ है। आहाहा! उसे भला माने, परन्तु वह सब भाव जो है, वह पुण्य है, वह भी उसी जाति का है। कठिन काम! बाहर का त्याग देखकर (ऐसा देखे कि) 'यह त्यागी है, भाई धन्धा नहीं करता, पुत्र नहीं, स्त्री-पुत्र कुछ नहीं...' आहाहा!

प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होने से, वे अच्छे और बुरे रूप से दो प्रकार दिखायी देते हैं। आहा! **परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही...** (देखती) है। एकरूप है, बन्धरूप है, **बुरा ही जानती है।** तीन बोल लिये। शुभ और अशुभभाव दोनों एकरूप हैं, दोनों बन्धरूप ही हैं और ज्ञानी दोनों को बुरा ही जानता है। दो में से एक को भी भला नहीं जानता। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१४५

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।१४५।।

कर्म अशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलम्।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्ससारं प्रवेशयति।।१४५।।

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात्, शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात्, शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात्, शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैक–मपि कर्म किञ्चिच्छुभं, किञ्चिदशुभमिति केषाञ्चित्किलपक्षः। स तु सप्रतिपक्षः।

तथाहि – शुभाऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति कारणा–भेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सत्यनुभवा–भेदादेकं कर्म। शुभा–शुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ, तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।।१४५।।

अब, शुभाशुभ कर्म के स्वभाव का वर्णन गाथा में करते हैं:–

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभकर्म को!
किस रीत होय सुशील जो संसार में दाखिल करे?।।१४५।।

गाथार्थ : [अशुभं कर्म] अशुभकर्म [कुशीलं] कुशील है (–बुरा है) [अपि च] और [शुभकर्म] शुभकर्म [सुशीलम्] सुशील है (–अच्छा है), ऐसा [जानीथ] तुम जानते हो! (किन्तु) [तत्] वह [सुशीलं] सुशील [कथं] कैसे [भवति] हो सकता है [यत्] जो [संसारं] (जीव को) संसार में [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है?

टीका : किसी कर्म में शुभ जीवपरिणाम निमित्त होने से और किसी में अशुभ जीवपरिणाम निमित्त होने से कर्म के कारणों में भेद होता है; कोई कर्म शुभ पुद्गल–

परिणाममय और कोई अशुभ पुद्गलपरिणाममय होने से कर्म के स्वभाव में भेद होता है; किसी कर्म का शुभ फलरूप और किसी का अशुभ फलरूप विपाक होने से कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद होता है; कोई कर्म (शुभ (-अच्छे) मोक्षमार्ग के) आश्रित होने से और कोई कर्म अशुभ (-बुरे) बन्धमार्ग के आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद होता है। (इसलिए) यद्यपि (वास्तव में) कर्म एक ही है, तथापि कई लोगों का ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म शुभ है और कोई अशुभ है। परन्तु वह (पक्ष) प्रतिपक्षसहित है। वह प्रतिपक्ष (अर्थात् व्यवहारपक्ष का निषेध करनेवाला निश्चयपक्ष) इस प्रकार है:-

शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक हैं; और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक है; उसके एक होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से एक है; उसके एक होने से कर्म के अनुभव में (-स्वाद में) भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है। शुभ (-अच्छे) मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ (-बुरे) बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है, इसलिए वे अनेक (-भिन्न-भिन्न; दो) हैं; और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय-बन्धमार्ग के ही आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है; इसलिए कर्म एक ही है।

भावार्थ : कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम और मन्दकषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि शुभपरिणामों के निमित्त से होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता विषयासक्ति और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयभाव से नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभ-परिणामों के निमित्त से होते हैं; इस प्रकार हेतु भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं। सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र - इन कर्मों के परिणामों (-प्रकृति इत्यादि-) में तथा चार घातीयकर्म, असातावेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र-इन कर्मों के परिणामों (-प्रकृति इत्यादि-) में भेद है; इस प्रकार स्वभावभेद होने से कर्मों के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। किसी कर्म के फल का अनुभव सुखरूप और किसी का दु:खरूप है; इस प्रकार अनुभव का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। कोई कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म बन्धमार्ग के आश्रित है; इस प्रकार आश्रय का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। इस प्रकार

हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – ऐसे चार प्रकार से कर्म में भेद होने से कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है, ऐसा कुछ लोगों का पक्ष है।

अब इस भेदपक्ष का निषेध किया जाता है :– जीव के शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं, इसलिए कर्म का हेतु एक अज्ञान ही है; अत: कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही हैं, इसलिए कर्म का स्वभाव एक पुद्गल –परिणामरूप ही हैं; अत: कर्म एक ही है। सुखदु:खरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं, इसलिए कर्म का अनुभव एक पुद्गलमय ही है; अत: कर्म एक ही है। मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग में, मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है और बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है, इसलिए कर्म का आश्रय मात्र बन्धमार्ग ही है (अर्थात् कर्म एक बन्धमार्ग के आश्रय ही होता है–मोक्षमार्ग में नहीं होता); अत: कर्म एक ही है।

प्रवचन नं. २२९, गाथा १४५ दिनाङ्क १७-०५-१९७९, गुरुवार

वैशाख कृष्ण ६

(समयसार) पुण्य-पाप अधिकार (की) पहली गाथा, १४५।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।१४५।।

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभकर्म को!
किस रीत होय सुशील जो संसार में दाखिल करे?।।१४५।।

इस गाथा में शुभाशुभकर्म के स्वभाव का वर्णन (किया जाता है)। शुभाशुभकर्म का वर्णन, ऐसा है, हों! भाव का पाठ नहीं, इसलिए कितने ही लोग कहते हैं न! यह तो कर्म की बात है... परन्तु अमृतचन्द्राचार्य इसमें से चार बोल निकालेंगे।

टीका : किसी.. व्यवहार के पक्षवाले **कर्म में शुभ जीव परिणाम निमित्त होने से..** क्या कहा? कि जो कर्म बन्धन होता है, उसे **शुभ जीव परिणाम निमित्त होने से और किसी में अशुभ जीवपरिणाम निमित्त होने से कर्म के कारणों में भेद होता है;..** ऐसा व्यवहारनयवाले का एक पक्ष है। आहा! **(अर्थात् कारण भिन्न-भिन्न है),..** पुण्य बँधे, उसमें शुभभाव (कारण) होता है और पाप बँधे, उसमें अशुभभाव (कारण)

होता है; इसलिए अज्ञानी-व्यवहारनयवाला (ऐसा कहते हैं कि) दो बन्ध के कारण में दो भेद है, इसलिए दो चीज़ अलग है-ऐसा व्यवहारवाले का पक्ष है।

कोई कर्म शुभ पुद्गल-परिणाममय.. उसके परिणाम की बात पहले की है कि पुण्य बँधता है, उसमें शुभभाव निमित्त है; पाप बँधता है, उसमें अशुभभाव निमित्त है; अत: परिणाम में भेद है - ऐसा व्यवहारनयवाले का पक्ष है। यहाँ यह कहते (हैं) कि **कोई कर्म शुभ पुद्गल-परिणाममय..** अब बन्धन की बात हुई। पहले परिणाम की बात थी। **कोई कर्म शुभ पुद्गल-परिणाममय और कोई कर्म अशुभ पुद्गलपरिणाममय होने से..** ऐसा कि बन्धन में अन्तर है। कोई शुभ पुद्गलकर्म बँधता है और किसी में अशुभ है। आहाहा! इसलिए भेद है - ऐसा व्यवहारनयवाले का पक्ष है। आहा! इस कारण कर्म बन्धन के **स्वभाव में भेद होता है;..** ऐसा। एक में साता बँधती है; एक में असाता बँधती है; इसलिए कर्म के स्वभाव में-बन्ध में अन्तर है - ऐसा व्यवहारनयवाले का पक्ष है।

किसी कर्म का शुभ फलरूप और किसी का अशुभ फलरूप विपाक होने से.. आहाहा! **कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद होता है;..** (अर्थात्) कर्म के फल के स्वाद में भेद है। सातावेदनीय से मिली हुई चीज़, उसका स्वाद अलग होता है, शुभ फल है; असाता के उदय से रोगादि आवें, उसके फल में (स्वाद दूसरा होता है।) आहाहा! पहले में (शुभभाव का) शुभफल है और उसमें (अशुभभाव का) अशुभ फल-विपाक है; अत: फल में अन्तर है। बन्धन के कारण में अन्तर है, बन्धन के पुद्गलपरिणाम के स्वभाव में अन्तर है और उसके फल में अन्तर है - ऐसी व्यवहारनय के पक्षवाले ने तीन बातें की हैं।

(अब) व्यवहारवाले का चौथा पक्ष (कहते हैं) **कोई कर्म (शुभ (-अच्छे) मोक्षमार्ग के) आश्रित होने से और कोई कर्म अशुभ (-बुरे) बन्धमार्ग के आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद होता है। (इसलिए) यद्यपि (वास्तव में) कर्म एक ही है तथापि...** परमार्थ से कर्म एक ही है। वह शुभ ऐसे मोक्षमार्ग के आश्रित है न! वहाँ आगे 'मोक्षमार्ग के आश्रित' का अर्थ 'फूलचन्दजी' ऐसा करते हैं। यहाँ वह नहीं (कहना है)।

(वास्तव में) कर्म एक ही है, तथापि कई लोगों का ऐसा पक्ष है कि कोई

कर्म शुभ है और कोई अशुभ है। परन्तु वह (पक्ष) प्रतिपक्ष सहित है। (अर्थात् कि) इस पक्ष का विरोधपक्ष है। निश्चय है, वह व्यवहार का विरोधपक्ष है। आहाहा! **वह प्रतिपक्ष (अर्थात् व्यवहारपक्ष का निषेध करनेवाला निश्चयपक्ष) इस प्रकार है:-** आहाहा!

शुभ या अशुभ जीवपरिणाम... पहला कहता था कि बन्धन के परिणाम में अन्तर है। एक में शुभ परिणाम है और एक में अशुभ (परिणाम) है। उसके उत्तर में निश्चय से (एक प्रतिपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि) **शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक हैं;...** आहाहा! चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो, वह अज्ञान है अर्थात् उनमें ज्ञानस्वभाव का अंश नहीं है। आहा! जो चैतन्यस्वभाव है। शुभ-अशुभभाव में ज्ञानस्वरूपी भगवान के अंश का उनमें अभाव है; इस कारण वे अज्ञान हैं। शुभ-अशुभ दोनों परिणाम अज्ञान हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वह भी अज्ञान है, कहते हैं। अभी कहेंगे। क्योंकि उनमें ज्ञानस्वरूप प्रभु, जो ज्ञायकस्वभाव तत्त्व, इसका उनमें अभाव है। उसकी जो ज्ञान की निर्मल पर्याय चाहिए, वह उनमें (शुभ-अशुभभाव में) नहीं है; इस कारण वे अज्ञान हैं। शुभ-अशुभ दोनों ही परिणाम अज्ञान हैं। अज्ञान है अर्थात् मिथ्यात्व है-ऐसा नहीं। वह तो फिर उन्हें अपना माने तो मिथ्यात्व है, परन्तु वे स्वयं अज्ञान हैं (अर्थात् कि) उनमें ज्ञानस्वरूप का-चैतन्यस्वरूप का अभाव है। आहाहा!

और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं होता;... तूने कारण में परिणाम में भेद कहा, परन्तु हम कहते हैं कि दोनों परिणाम एक (हैं), अज्ञान हैं, उनमें कुछ भेद नहीं है। आहाहा! बन्ध के कारण में शुभ-अशुभ दोनों परिणाम, जीव के चैतन्यस्वभाव के विरुद्ध होने से वे अज्ञान हैं, इसलिए तू परिणाम में अन्तर मानता है, ऐसा नहीं है; दोनों अज्ञान है। आहाहा! फिर **अज्ञानमय** कहा है, हों!

भगवान ज्ञानमय प्रभु है, जबकि शुभाशुभपरिणाम अज्ञानमय है, क्योंकि इसकी जाति से वे विरुद्ध जाति है। आहाहा! **इसलिए कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होने से (एक है;...)** तू कहता है कि एक पुद्गल सातावेदनीय का स्वभाव है और असाता (वेदनीय) आदि का स्वभाव (- यह दोनों में) भेद है, तो हम कहते हैं कि **शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम..** दोनों **केवल पुद्गलमय होने से..** भले साता बँधे या असाता बँधे, आहाहा! **पुद्गलमय होने से एक है;..** यह

किसकी बात हुई ? बन्धन की। पहले बन्धन के कारण की बात थी। (व्यवहार के पक्षवाले ने यह कहा कि) बन्धन के कारण में अन्तर है। तब (आचार्य महाराज) कहते हैं कि दोनों में अन्तर नहीं है, दोनों अज्ञान है। तब उसने ऐसा कहा कि पुद्गल के बन्धन में अन्तर है - एक में साता (वेदनीय बँधती है)। पुद्गल का स्वभाव अलग जाति है। एक में यशकीर्ति बँधती हे, एक में अपयशकीर्ति बँधती है। आहाहा! उसके-पुद्गल के स्वभाव में अन्तर है—ऐसा व्यवहारनयवाले का पक्ष था, उसे यहाँ तोड़ा है।

शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक (ही) है;.. आहाहा! **उसके एक होने से..** बन्धन, हों! **कर्म के स्वभाव में भेद नहीं होता;..** इसलिए कर्म के स्वभाव में भेद (नहीं है।) पुद्गलमय है, इसलिए कर्म के स्वभाव में भेद नहीं है। चाहे तो साता बँधे या असाता बँधे; यशकीर्ति बँधे या अपयशकीर्ति बँधे; मनुष्यगति बँधे या पशुगति बँधे या देवगति बँधे। आहा! परन्तु (जो) बँधती है, वह पुद्गलमय है। आहाहा! उसमें चैतन्य की जाति कहीं नहीं आयी; इसलिए तू पुद्गल के स्वभाव में भेद कहता है - ऐसा नहीं है। दोनों पुद्गलमय है, इसलिए पुद्गल का स्वभाव है। आहाहा! **उसके एक होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है।**

चौथा - **शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से..** क्या कहते हैं ? कि शुभ का फल आवे - ऐसे सातावेदनीय के संयोग-पैसे, लक्ष्मी, शरीरादि; असाता के उदय में रोगादि (आवें) परन्तु वह सब पुद्गलमय कर्म होने से केवल **एक (ही) है..** शुभ-अशुभ के फलरूप होता यह सब विपाक केवल पुद्गलमय है। आहाहा! चाहे तो रोग हो या चाहे तो निरोग हो, यह सब पुद्गलमय है। इसके फल में तुझे अन्तर दिखता होवे (तो कहते हैं कि) इसके फल में अन्तर नहीं है।

उसके एक होने से कर्म के अनुभव में (-स्वाद में) भेद नहीं होता;.. सातावेदनीय में सुख का वेदन आता है, असाता में दु:ख का (वेदन) आता है - ऐसा अज्ञानी कहता है। यहाँ कहते हैं कि दोनों का स्वाद बुरा है-खोटा है; स्वाद में अन्तर नहीं है। आहाहा! सातावेदनीय के कारण प्राप्त लक्ष्मी-करोड़ों, अरबों रुपये और असाता के कारण प्राप्त निर्धनता, दरिद्रता, रोग - यह फल में अन्तर हैं न!-ऐसा अज्ञानी का पक्ष है। आहाहा! (तो कहते हैं कि) फल में जरा भी अन्तर नहीं है। ये दोनों पुद्गल की बातें हैं

सब। आहाहा! **(–स्वाद में) भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है।**

शुभ (–अच्छे) मोक्षमार्ग केवल जीवमय है, इसमें **शुभ (–अच्छे) मोक्षमार्ग..** यहाँ **शुभ** शब्द से शुद्ध; शुभ अर्थात् अच्छा; अच्छा अर्थात् शुद्ध – ऐसा वहाँ अर्थ लेना। **शुभ (अच्छा) ऐसा मोक्षमार्ग..** क्योंकि पुण्य और पाप दोनों भाव अशुभ हैं और यह मोक्षमार्ग है, वह शुभ है। यह शुभ है, वे शुभाशुभ दोनों परिणाम तो अशुभ हैं। आहाहा! तब मोक्षमार्ग, वह शुभ है। शुभ है अर्थात् अच्छा है; अच्छा है अर्थात् शुभाशुभभाव से रहित है। आहाहा! आहाहा! ऐसे **मोक्षमार्ग केवल जीवमय है** – ऐसा लिया है न? इसमें कहाँ (शुभभाव को मोक्षमार्ग कहा है?) शुभराग को (मोक्षमार्ग) कहे तो वहाँ (तो उसे) अज्ञान कहा है। यदि शुभ का अर्थ यहाँ शुभभाव (होवे तो) मोक्षमार्ग केवल जीवमय (है) – यह बात मेल नहीं खाती। आहाहा! लोगों को (विपरीत) पकड़ हो जाती है, फिर बदलना कठिन पड़ता है, आकरा (कठिन) पड़ता है।

यहाँ तो कहते हैं कि शुभ अर्थात् कि जो निश्चयमोक्षमार्ग है – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अवलम्बन से होता है, उसे यहाँ शुभ कहा जाता है, उसे ही भला कहा जाता है। शुभ और अशुभ दोनों परिणाम भले नहीं हैं, बुरे हैं। आहाहा! आहाहा!

अब, अन्य लोग टीका (आलोचना) करते हैं, ऐसा कि तुमने पुण्य को विष्ठा (कहकर) हल्की उपमा दी है। 'उत्तराध्ययन' का पहला अध्ययन है न? उसमें बोल है, वह आ गया था। अत्यन्त हल्की उपमा दी है। यहाँ तो कहते हैं कि जहर है और अज्ञान है। शुभ और अशुभभाव दोनों अज्ञान हैं; और मोक्षमार्ग (मोक्ष अधिकार-समयसार) में तो कहते हैं कि जहर है, भला नहीं है। शुभ-अशुभभाव—दोनों भले नहीं हैं; भला तो एक आत्मा का शुद्ध मोक्षमार्ग (है, वह भला है)।

आत्मा चिदानन्द प्रभु के आश्रय से निश्चयमोक्षमार्ग (प्रगट होता है)। निश्चय क्यों (कहा)? कि उस राग की अपेक्षा से (कहा), वरना पर्याय अपेक्षा तो उसे व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! परन्तु पर्याय की अपेक्षा से जो व्यवहार कहा जाता है, वह राग की अपेक्षा से निश्चय है। उसे यहाँ भला कहा है। भला, यहाँ शुभभाव को भला कहा है – ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : जो संसार में प्रवेश कराये, उसे भला कैसे कहा जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु संसार में भटके, उसे (भला) कैसे कहा जाए? उसके लिए तो गाथा है। **'कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति।'** उसका तो यह अर्थ है। आहाहा! जिससे भव मिले, उसे अच्छा कैसे कहा जाए? आहाहा! अच्छा तो मोक्ष का मार्ग है कि जिससे मोक्ष होता है, उसे अच्छा, भला और शुभ कहा जाता है। शुभ वह है। मोक्ष, जो त्रिकाली केवलज्ञान, वह जिससे प्राप्त हो - ऐसा निश्चयमोक्षमार्ग, वह शुभ है; बाकी शुभाशुभपरिणाम, वे दोनों अशुभ और अज्ञान हैं। आहाहा! इसमें तो ऐसी स्पष्टता पड़ी है। लोगों को पक्ष हो जाता है न! और एक बार, दो बार बोला गया हो फिर सिर फिरना (मान्यता बदलना) कठिन पड़ती है। ऐसा नहीं कि भई! मेरी भूल हुई थी, उसमें क्या है?

शुभ अर्थात् मोक्षमार्ग। यहाँ शुभ अर्थात् पुण्य को मोक्षमार्ग व्यवहार (कहना है) - ऐसा नहीं है। शुभ अर्थात् यह शुभ (भावरूप) व्यवहारमोक्षमार्ग, वह नहीं। यहाँ तो शुभ अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग, जो निश्चय वीतरागी पर्याय (प्रगट हुई, वह शुभ है)। जो जिनस्वरूपी प्रभु के आश्रय से हुई जिनदशा, वह वीतरागीदशा मोक्षमार्ग है, उसे यहाँ शुभ कहा गया है। आहाहा! उसे यहाँ भला कहा गया है, उसे यहाँ अच्छा कहा गया है। सामने है न! पाठ सामने पड़ा है न! आहाहा!

और अशुभ (-बुरे) बन्धमार्ग.. देखो! शुभ-अशुभ दोनों भाव अशुभ हैं। आहाहा! व्रत-अव्रत के परिणाम, दया-दान के परिणाम, प्रभु की भक्ति के परिणाम... आहाहा! कहते हैं कि ये दोनों अशुभ हैं। **अशुभ (-बुरे) बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है..** आहाहा! बन्धमार्ग तो केवल पुद्गलमय होने से; मोक्षमार्ग केवल जीवमय होने से - ऐसा उसके सामने लेना। मोक्षमार्ग केवल जीवमय होने से; अकेला आनन्द का सागर प्रभु की निर्मलदशा, वह केवल जीवमय है; उसमें पुद्गल का कोई अंश नहीं है। आहाहा! और बन्धमार्ग तो केवल पुद्गलमय होने से.. बन्धमार्ग अकेला पुद्गलमय है। आहाहा! ऐसा है।

इसलिए वे अनेक (-भिन्न-भिन्न; दो) हैं;.. भिन्न-भिन्न दो हैं। मोक्षमार्ग भला, एक, जीवमय है और पुद्गलमय बन्धमार्ग दूसरा - ऐसे दो हैं; दोनों एक नहीं हैं - ऐसा (कहते हैं)। आहाहा! क्या कहा? भला-ऐसा मोक्षमार्ग, केवल जीवमय होने से

(अर्थात्) शुद्ध चैतन्य की निर्मल परिणति होने से वह भला और अच्छा कहा गया है और शुभ कहा गया है तथा जो बन्धमार्ग है, वह केवल पुद्गलमय होने से, आहाहा! यह शुभाशुभ परिणाम केवल बन्धमार्ग, केवल पुद्गलमय होने से.. शुभाशुभ परिणाम, हों! वे केवल पुद्गलमय होने से, आहाहा!

दया, दान, व्रत, भक्ति (के) परिणाम हों या हिंसा, झूठ, चोरी आदि के परिणाम हों, दोनों बन्धमार्ग तो केवल पुद्गलमय होने से, आहाहा! **वे अनेक (–भिन्न–भिन्न; दो) हैं;..** अर्थात् कि अच्छा–ऐसा मोक्षमार्ग और खराब – ऐसा बन्धमार्ग। अच्छा – ऐसा मोक्षमार्ग जीवमय (और) खराब – ऐसा बन्धमार्ग अजीव–पुद्गलमय – ऐसे दो हैं। दोनों में (शुभाशुभ में) यह एक ठीक और एक अठीक – ऐसे भाग नहीं हैं। आहाहा!

और उनके अनेक होने पर भी कर्म तो केवल पुद्गलमय–बन्धमार्ग के ही आश्रित होने से.. देखो! **अनेक होने पर भी कर्म तो केवल पुद्गलमय–बन्धमार्ग के ही आश्रित..** है। मोक्षमार्ग के आश्रित जरा भी आंशिक राग या बन्ध नहीं है। आहाहा! **अनेक होने पर भी..** यह अनेक अर्थात् (क्या?) जीवमय मोक्ष का मार्ग—निर्मल सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह भला; तथा उससे विरुद्ध पुण्य और पाप का पुद्गलमय बन्धमार्ग, वह तो पुद्गलमय है, वह जीवमय नहीं। आहाहा!

मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग – दो / अनेक होने पर भी, **कर्म केवल पुद्गलमय–बन्धमार्ग के ही आश्रित..** है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! कर्म तो इस पुण्य–पाप के आश्रित कर्मबन्धन है; मोक्षमार्ग के आश्रित बन्ध नहीं है। बन्ध का आश्रय मोक्षमार्ग नहीं है; बन्ध का आश्रय बन्धमार्ग है। आहाहा! ऐसी बात है। दुनिया को कठिन पड़ती है।

लाखों, करोड़ों रुपये खर्च करे, मन्दिर बनावे... कितने ही ऐसा कहते हैं कि पैसा खर्चते (हैं)। लो! यह 'शान्तिभाई जवेरी' देखो! कितने खर्च किये! पोने दो लाख रुपये! पन्द्रह दिन में पोने दो लाख (खर्च किये)। आहाहा! एक लाख और साठ हजार तो खर्च किये। स्पष्ट दिखे, दूसरा अन्दर बहुत (खर्च करते थे)। हर रोज देते, मेहमानों को भोजन कराते और... वह पुस्तकें देते। एकम को पुस्तकें 'हंसुभाई' ने दी थी, दूज–तीज को इन्होंने दी थी। जिनके पास नहीं थी (उन्हें) इनकी ओर से (दी)। चारों तरफ में इनका हाथ था।

मुमुक्षु : भोजन था।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भोजन में रुपये दिये। पूरे भोजन के ग्यारह हजार रुपये मण्डल को (दिये)। बाकी मण्डल को खर्च तो बड़ा हुआ होगा। चार हजार लोग भोजन करें तो बीस हजार होते हैं, परन्तु इन्हें ऐसा कि किसी को कुछ इसमें देना है? तो इनकी तरफ से इन्होंने ग्यारह हजार दिये। यह तो ठीक, परन्तु बात यह है कि ये दोनों बन्धमार्ग के आश्रय ही शुभाशुभपरिणाम हैं, वह बन्धमार्ग है, वह पुद्गलमय है, अज्ञान है। आहाहा!

उस टीका में आता है कि व्यवहार से अन्तर है, परन्तु व्यवहार से अन्तर है - इसका अर्थ? व्यवहारनय अभूतार्थ है - असत्यार्थ है। आहाहा!

मुमुक्षु : लौकिक में ऐसा कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर से लौकिक-बाहर की अपेक्षा से (कहा जाता है) - उसका अर्थ क्या? वहाँ सत्य कहाँ आया? सत् चिदानन्द प्रभु! पूर्णानन्द का सागर! उसकी जो निर्मल परिणति है, (वह) राग, पुण्य के परिणाम रहित है। वह एक ही मोक्षमार्ग है और उसके आश्रय से बन्ध है नहीं। आहाहा!

वे अनेक (-भिन्न-भिन्न; दो) हैं; और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय-बन्धमार्ग के ही आश्रित.. है। आहाहा! देखो! **कर्म के आश्रय में भेद नहीं है;..** कर्म के बन्धन के आश्रय में-अवलम्बन में भेद नहीं; **इसलिए कर्म एक ही है।** आहा! ऐसा स्पष्ट है, फिर भी (लोग) गड़बड़ करते हैं। प्रभु एक ओर शुद्ध चैतन्यमूर्ति!

वहाँ 'पुण्य-पाप अधिकार' में व्रत में भी यह कहा न? चारित्र जो है, वह स्वद्रव्य के आश्रित है। स्वरूपाचरण! स्वयं का शुद्ध चैतन्यघन भगवान, उसके आश्रय से जो स्वरूप का आचरण (हुआ), वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और परद्रव्य के आश्रय से जो व्रत, तप आदि, भगवान की भक्ति आदि (होवे), वह तो परद्रव्य के आश्रित है। आहाहा! इसलिए उस परद्रव्य के आश्रय से बन्धमार्ग है। इस स्वरूप के आश्रय से मोक्ष का मार्ग है। आहा! स्वद्रव्य के आश्रय से है, वह मोक्षमार्ग है और परद्रव्य के लक्ष्य से जो होता है, वह परद्रव्य के आश्रय से है, आहाहा! वह बन्धमार्ग है। भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारे

प्रति लक्ष्य करने से तुझे बन्धभाव उत्पन्न होगा, बापा! आहा! तेरा तत्त्व अन्दर भरपूर भगवानस्वरूप है न! वहाँ देख न! वहाँ जा न! वहाँ माल पड़ा है। रागादिक में कुछ माल नहीं, प्रभु! वृथा (है)। आहाहा! वे तो पुद्गलमय हैं। शुभभाव बन्धमार्ग होने से पुद्गलमय है। आहाहा! शुद्धभाव-शुभभाव-भलाभाव-मोक्ष, स्वद्रव्य के आश्रित होने से वह मोक्षमार्ग है। आहाहा! स्वद्रव्य के आश्रित मोक्षमार्ग और परद्रव्य के आश्रित बन्धमार्ग-यह सिद्धान्त! फिर इसके सब भेद किये। आहाहा!

अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं - **भावार्थ : कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग,..** पंच परमेष्ठी में भक्ति, व्रत, तप.. आहाहा! **जीवों के प्रति अनुकम्पा..** भाव, आहाहा! **कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम..** वह बन्ध-शुभराग है। **मन्द कषाय से चित्त की उज्ज्वलता... मन्द कषाय से चित्त की उज्ज्वल इत्यादि शुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या,..** आहाहा! **निर्दयता..** अनुकम्पा हो या निर्दयपना हो, आहाहा! **विषयासक्ति और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयभाव से नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभ-परिणामों के निमित्त से..** कोई कर्म बँधता है - ऐसा।

कोई कर्म पहले (लिखा) है न? **कोई कर्म तो...** ऐसा। अरिहन्तादि की भक्ति आदि, जीव की अनुकम्पा से, मन्द कषाय से, शुभपरिणामों के निमित्त से; कोई कर्म तीव्र क्रोधादि अशुभ लेश्या आदि और देव-गुरु (के प्रति विनयभाव से न प्रवर्तना इत्यादि) **इस प्रकार हेतु भेद होने से...** (ऐसा) व्यवहारनय के पक्ष से पक्षकार कहता है। है? **हेतु भेद होने से..** बन्धन के हेतु के कारण में भेद होने से; अरहन्तादि की भक्ति में पुण्य बँधता है और निर्दयपने में पाप बँधता है, आहाहा! तो व्यवहारनय के पक्षवाला कहता है कि ऐसा हेतु का भेद है। **कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं।** आहाहा! पहले परिणाम का भेद कहा; यह बन्धन का भेद है। आहाहा!

सातावेदनीय, शुभ-आयु,.. आहाहा! सातावेदनीय बँधे या देव की शुभ-आयु हो, **शुभनाम..** यशकीर्ति, **शुभगोत्र..** उच्च गोत्र **इन कर्मों के परिणामों (-प्रकृति इत्यादि) में तथा चार घातीयकर्म, असातावेदनीय,..** उनके सामने अन्तर है - ऐसा कहते हैं। **चार घातीयकर्म, असातावेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र**

– इन कर्मों के परिणामों (–प्रकृति इत्यादि–) में भेद है;.. ऐसा अज्ञानी का पक्ष है। एक ओर चार घाति का... आहाहा! बन्ध पड़ता है और एक ओर साता का बन्ध पड़ता है। आहाहा! घातिकर्म का बन्ध पड़े और एक ओर साता का बन्ध पड़े, कहते हैं, अन्तर नहीं? इतना बड़ा अन्तर नहीं लगता? कोई अन्तर नहीं है। आहाहा! घातिकर्म का बन्ध पड़ो, साता का पड़ो या यशकीर्ति का पड़ो, आहाहा! परन्तु बन्ध है, वह तो सब पुद्गल का स्वभाव है। आहाहा! यह, 'सोनगढ़ की वाणी है यह? सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ, इसलिए (सोनगढ़ की बात हो गयी)? यह तो पहले की बात है। आहाहा!

अशुभगोत्र – इन कर्मों के परिणामों (–प्रकृति इत्यादि–) में भेद है;.. कहाँ सातावेदनीय बँधे और कहाँ दर्शनमोहनीय बँधे! चारित्रमोहनीय बँधे – ऐसा अज्ञानी कहता है कि इसमें तुम्हें अन्तर नहीं लगता? (तो कहते हैं) नहीं; वहाँ दोनों पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! कारण में भी दोनों अज्ञानमय परिणाम और बन्ध में (भी) साता बँधे या घाति (बँधे), दोनों पुद्गल के परिणाम हैं। ऐसा है। कठिन पड़े ऐसा है।

कर्मों के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। कहाँ सातावेदनीय बँधे और कहाँ घातिकर्म! तुम कुछ अन्तर नहीं मानते? हमें तो कितना अन्तर लगता है, कहते हैं। सुन, सुन! अभी उसका प्रश्न है। **किसी कर्म के फल का अनुभव सुखरूप है..** यह कल्पना (है)। अनुकूल देखकर सुख की कल्पना होती है। **किसी कर्म के फल का अनुभव दुःखरूप है..** है तो दोनों दुःखरूप, परन्तु इसने माना है न कि सातावेदनीय के ढ़ेर आना, अरबों रुपयों के ढ़ेर! ऐसे अकेले मखमल के गद्दे और मछमल के बिछोने! लाखों रुपयों के मखमल के ये बिछोने! वहाँ ऐसे (सादा) बिछाये?

आहाहा! अरे..! उस रावण को स्फटिकमणि के बँगले (थे)! स्फटिकमणि की सीढ़ियाँ! स्फटिकमणि की टाईल्स! स्फटिकमणि की टाईल्स! और सातवें नरक अग्नि का (भभका)! आहाहा! यह सातवें नरक की अग्नि की वेदना असाता का फल है और यहाँ स्फटिक की टाईल्स! ऐसे सीढ़ियाँ चढ़ते अन्दर विचार में चढ़ जाए कि यह चढ़ना होता है या पैरे ऐसे जाता है? पैर नीचे दिखता है। आहाहा! भाई! यह सब पुद्गल के परिणाम हैं, बापू! प्रभु! उसमें भगवान कहीं नहीं आया। आहाहा! इन शुभाशुभपरिणाम में प्रभु नहीं आया तो इसके बन्धन और इसके फल में प्रभु कहाँ से आये? आहाहा! आहाहा!

कठिन काम है। (इसका) बड़ा विवाद है न! एक बार पुण्य को विष्ठा कहा, वहाँ तो लोग चिल्ला गये! यहाँ तो (कहते हैं), शुभभाव है, वह पुद्‌गल है, जहर है।

मुमुक्षु : आत्मा अमृत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्रभु अमृत है। अमृत का सागर प्रभु अन्दर डोलता है। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का ध्रुव.. ध्रुव.. (धाम) विराजमान है। उसके समक्ष शुभ-अशुभ परिणाम तो जहर है, कहते हैं। आहाहा! वह कहे, तुम इतना बड़ा अन्तर मानो ? यह नरक के दुःख और कहाँ स्फटिकमणि के बँगले में रहना! कहाँ सातवें नरक में तैंतीस सागर रहना ? बापू! दोनों पुद्‌गल के परिणाम हैं, भाई! उनमें कहीं आत्मा नहीं आया। आहाहा! उनके फल में अन्तर नहीं है। सातवें नरक का नारकीपना मिले या स्फटिक का बँगला मिले, (उसमें कहीं अन्तर नहीं है)। आहाहा! रावण स्फटिकमणि के (महल में) रहता था! आहाहा! वह मरकर नरक गया। आहाहा! और मुनि जंगल में गर्म तपे हुए पत्थर (पर) बैठे और अन्दर आनन्द के ध्यान में जाए! आहाहा! उन्हें केवलज्ञान हो! आहाहा! अन्दर भगवान का अवलम्बन लिया है। महा प्रभु (विराजमान है)। आहाहा! उसका जहाँ अवलम्बन है, वहाँ मोक्षमार्ग और मोक्ष तो उसकी हथेली में (है)! अन्दर भरा है। आहाहा! शक्ति में है, वह व्यक्ति में (पर्याय में) प्रगट होगा ही। यह पुण्य और पाप के परिणाम शक्ति में कहाँ थे ? और उनका बन्धन और फल, वह कहाँ कोई आत्मा का फल है ? आहाहा! ऐसा है।

यहाँ तो जरा अनुकूलता हो वहाँ बस! मानों हम सुखी हैं, सुखी हैं और साधारण गरीब व्यक्ति को ऐसा होता है.. मुम्बई में नहीं ? क्या कहलाता है ? वे उस पर सोते हैं - फुटपाथ! गरीब व्यक्ति सर्वत्र - अहमदाबाद, भावनगर जहाँ हो वहाँ अकेले बाहर पड़े होते हैं; जहाँ मोटर चलती न हो - ऐसी जगह हो न, ऐसे वहाँ बेचारे पड़े होते हैं। आहाहा! यह खाने का कहाँ ? पीने का कहाँ ? नल का पानी पीना! और गाड़ियाँ खड़ी रहें,उनके पास माँगना; जहाँ गाड़ियाँ खड़ी रहती है न! वह लाल-लाल होता है न! लाल (सिग्नल) आवे वहाँ जब तक (गाड़ी) चले नहीं, तब तक सब भिखारी वहाँ माँगने के लिए इकट्ठे होते हैं। गाड़ियाँ खड़ी रहती हैं न! आहाहा! और कहाँ माँगे वहाँ मिले हजार! कहते हैं कि परन्तु प्रभु! दोनों के फल में अन्तर नहीं है, हों! आहाहा! बापू! तुझे फल में अन्तर लगता है।

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का फल आवे, प्रभु! उसके पास यह पुद्गल के फल तो अज्ञान का फल है, बन्ध का फल है, वह पुद्गलमय है। उनमें प्रभु नहीं है। आहाहा! और भगवान त्रिलोकनाथ चैतन्य प्रभु का एक जरा-सा आश्रय लिया, वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आनन्द आया! आहाहा! उस चीज़ के समक्ष यह सब तेरे सुख की साहिबी पुद्गल की जाति और जहर की जाति है। आहाहा! ऐसा है। गरीब हो जाए तो ऐसे दीन हो जाए और पैसा होवे तो ऐसे चले वहाँ... (ऐसे चले)! हमारे 'बोटाद' में (एक) स्वामी नारायण के हिम्मतलाल सेठ थे, उनकी चाल ऐसी थी और चाल.. उनकी नकल दूसरा एक करता था। स्थानकवासी था, वह उनकी कॉपी (नकल) करता था। वह चले, उनके जैसे चले-सेठ जैसा (चले)। आहाहा! क्या है परन्तु यह? ऐसा कि ऐसे नगरसेठ! शरीर मजबूत! लाखों रुपये! बड़ी इज्जत! उसके साथ हम होड़ करें, थोड़ा-थोड़ा तो करें - ऐसा (कहता)। अरे.. प्रभु! किसके साथ होड़ करनी है? यह सब पुद्गल का फल-जहर का फल है, भाई! आहाहा! प्रभु! तेरा आनन्द का सागर, चिन्तामणि रत्न पड़ा है न! आहाहा!

१४६ (गाथा में) दृष्टान्त दिया है। १४६ गाथा है न? (उसकी) जयसेनाचार्यदेव की टीका में (दृष्टान्त दिया है), छाछ के लिए रत्न को बेचता है। १४६ में जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में है। छाछ.. छाछ देखता है, उसमें रत्न को बेच डाले! रत्न को बेचकर छाछ ले!! आहाहा! राख के लिए रत्न का ढेर जलावे! थोड़ी राख चाहिए हो, यह मूँग (जीवांत) पड़ न जाएँ, (इसलिए) डालते हैं न? उस राख के लिए रत्न की राशि-ढेर जलावे! आहाहा! एक धागे के लिए हीरा के हार का चूर्ण कर डाले! जयसेनाचार्यदेव ने चार दृष्टान्त (दिये हैं)। और एक कोदव के लिए चन्दन का वन छेद डाले। चन्दन का वन! जयसेनाचार्यदेव की टीका में चार दृष्टान्त हैं। पहले कहे जा चुके हैं। आहाहा! इसी प्रकार पुण्य के लिए मर जाता है, कहते हैं। आहाहा! राग के-पुण्य के प्रेम में आत्मा का हार जाता है। आहा! जैसे छाछ के लिए रत्न को बेचे, वैसे इस पुण्य परिणाम के प्रेम में पूरा बिक जाता है, सम्पूर्ण आत्मा का अनादर कर डालता है। आहाहा!

राख के लिए रत्न की राशि का ढ़ेर जलाता है, वैसे (ही) एक पुण्य के परिणाम के प्रेम में भगवान महारत्न की राशि है.. आहाहा! उसका यह अनादर करता है। सूत के

धागे के लिए एक हार को चूर्ण कर डालता है, चूर्ण करता है; (इसी तरह) एक शुभभाव के रस में अनन्त रत्न का हीरा प्रभु.. आहाहा! उसे यह जला डालता है, अनादर कर डालता है। आहाहा! कोदव के लिए चन्दन के वन को छेद डालता है। आहाहा! इसी तरह एक शुभपरिणाम के प्रेम में, भगवान चन्दन वृक्ष महाप्रभु! आहाहा! उसका अनादर करता है। आहाहा! साधारण काम नहीं, बापू! यह तो अन्दर की बातें हैं। आहाह! वीतरागमार्ग को सत्यपने, (सत्य) रीति से सुनने को भी महाभाग्य चाहिए। आहाहा! आहाहा! कहाँ चैतन्यरत्न से भरपूर भगवान और कहाँ पुण्य-पाप का अज्ञानभाव! आहाहा! और उसके बन्धन में भी पुद्गल के परिणाम, उसके फल में पुद्गलमय परिणाम और वह बन्ध भी पुद्गल के बन्ध के आश्रय से होता है। मोक्षमार्ग के आश्रय से कोई राग, बन्ध नहीं होता। आहाहा!

आहा! (शुभ-अशुभ के स्वाद में) **अनुभव का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। कोई कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है...** देखा? यह सामने कहते हैं। मोक्षमार्ग के आश्रित कोई कर्म है। **(अर्थात् मोक्षमार्ग में बँधता है) और कोई कर्म बन्धमार्ग के आश्रित है; इस प्रकार आश्रय का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।** ऐसा व्यवहारनय के पक्षवाले अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! कठिन बहुत!

इस प्रकार हेतु,.. अर्थात् परिणाम। **स्वभाव..** अर्थात् पुद्गल बन्धन। **अनुभव..** अर्थात् उसका फल; **और आश्रय..** अर्थात् बन्ध के आश्रय विकार है; मोक्ष के मार्ग के आश्रय से पुण्य नहीं होता; आत्मा के आश्रय से पुण्य नहीं होता। बन्धमार्ग के आश्रय से पुण्य होता है। आहाहा! **कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है, ऐसा कुछ लोगों का पक्ष है।** आहाहा!

अब इस भेदपक्ष का निषेध किया जाता है :- जीव के शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं... क्या कहते हैं? कि शुभ परिणाम, राग की मन्दता और अशुभ परिणाम, राग की तीव्रता—इतना अन्तर है। यहाँ कहते हैं - **दोनों अज्ञानमय हैं...** यह इसमें पहले आ गया है न? शुभ-अशुभ परिणाम अज्ञानमय है। पहले आ गया है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं। **इसलिए कर्म का हेतु एक अज्ञान ही है;...** आहाहा!

कर्म के हेतु के दो परिणाम, प्रकार, दो भेद हैं-ऐसा नहीं है; कर्म का हेतु तो एक अज्ञान ही है। आहाहा! **अतः कर्म एक ही है।**

शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही हैं... (अर्थात्) बन्धन। साता बँधे या असाता बँधे; यश बँधे या अपयश बँधे.. आहाहा! यह शुभ-अशुभ पुद्गलपरिणाम **दोनों पुद्गलमय ही हैं...** इसलिए इन बन्ध के कर्म का स्वभाव **एक पुद्गलपरिणामरूप ही हैं;...** आहाहा! तुम इस पुद्गल परिणाम के स्वभाव में भेद डालते हो (परन्तु) हम कहते हैं कि दोनों पुद्गलपरिणाम हैं। अब इनमें तुम किसका भेद डालते हो? आहाहा!

तब वे छाया और धूप का दृष्टान्त देते हैं। देखो! अव्रत को छोड़कर व्रत में आना। छाया में बैठकर शुद्ध उपयोग की राह देखना.. परन्तु यह तो उसकी बात दूसरी है। यह व्रत के विकल्पों की भूमिका किसे होती है? जिसे सम्यग्दर्शन है और उसमें प्रभु का विशेष आश्रय लिया है, उसे व्रत के विकल्प होते हैं, उसे पुण्यबन्ध होता है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु इसको लेकर ऐसा कहते हैं कि अव्रत में रहना, इसकी अपेक्षा व्रत के परिणाम अच्छे, यह किस अपेक्षा से कहा? यह तो सम्यग्दर्शनसहित है और उसमें जहाँ व्रत का विकल्प है, उसे थोड़ी शान्ति बढ़ी है। आहाहा! इस व्रतवाले का व्यवहार और उसका फल साता और स्वर्ग है, छाया है, ऐसा। आहाहा! परन्तु मूल जो उपोद्घात (भूमिका) है, उसे तू देखता नहीं। आहाहा! देखो! अव्रत का फल नरक है। समाधिशतक (में) कहते हैं। व्रत के फल में छाया है, वृक्ष की छाया मिले ऐसे और अव्रत के फल में अग्नि (उष्णता) की धूप है। बापू! दो के अन्तर में यह तो अन्तर शान्ति थोड़ी-सी बढ़ी है न! उसकी भूमिका में शुभभाव है, वह उसे वहाँ पापानुबन्धी पुण्य को छोड़कर पुण्यानुबन्धी पुण्य की बातें की है, परन्तु उस भूमिका के जोर से बात की है। आहाहा! इनने 'विद्यासागर मुनि' ने यह डाला है।

(यहाँ कहते हैं) **कर्म का स्वभाव एक पुद्गलपरिणामरूप ही हैं; अतः कर्म एक ही है। सुखदुःखरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं...** आहाहा! सातावेदनीय का ढेर पड़ा (हो), चूरमा, लड्डू खाता हो और उसमें जो भाव है, वह तो अशुभभाव है। आहाहा! पुद्गलपरिणाम है। तूने जो सुख माना है, वह सुख नहीं। दोनों अनुभव पुद्गल

का है। आहाहा! **इसलिए कर्म का अनुभव एक पुद्गलमय ही है;...** कर्म के अनुभव में दो भेद डाले कि साता से ऐसे ढेर हों और ठण्डी हवा साता में रहे... आहाहा! इससे निवृत्ति लेकर वहाँ धर्म हो सकता है। शरीर अच्छा होवे तो अमुक (होता है)। यहाँ कहते हैं कि भगवान अच्छा होवे तो धर्म हो सके, एक ही बात है। बाहर में अच्छा (होवे), यह सब पुद्गलमय की बातें हैं।

मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग में, मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है... लो! यहाँ तो यह लिया, वहाँ भी यह लिया। **मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है...** (है)। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो स्व के आश्रय से हो, उन्हें ही केवल जीव के परिणाम कहा है। शुभ-अशुभभाव, वे जीव के परिणाम नहीं; वे तो अज्ञान, पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा!

बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है.. मोक्षमार्ग केवल जीव के परिणाम हैं; शुभाशुभ नहीं, शुद्ध (परिणाम)। **और बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है, इसलिए कर्म का आश्रय मात्र बन्धमार्ग ही है..** मोक्ष के मार्ग के आश्रय से बन्ध है – यह बात बिल्कुल खोटी है। **(अर्थात् कर्म एक बन्धमार्ग के आश्रय ही होता है–मोक्षमार्ग में नहीं होता); अतः कर्म एक ही है।** आहाहा!

इस प्रकार कर्म के शुभाशुभ भेद के पक्ष को गौण करके.. ऐसा कहा। **उसका निषेध किया..** है। जैसे पर्याय को अभूतार्थ कहा था, वह गौण करके अभूतार्थ कहा था। भले है, है अवश्य परन्तु गौण करके उसका निषेध किया है। (उल्टा) निकालना होवे (वह) इसमें से निकाले, निकालना होवे तो। **क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है और अभेदपक्ष से देखा जाए तो कर्म एक ही है–दो नहीं।** विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश-१०२

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ।।१०२।।

श्लोकार्थ : [हेतु-स्वभाव-अनुभव-आश्रयाणां] हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों का [सदा अपि] सदा ही [अभेदात्] अभेद होने से [न हि कर्मभेदः] कर्म में निश्चय से भेद नहीं है; [तद् समस्तं स्वयं] इसलिए, समस्त कर्म स्वयं [खलु] निश्चय से [बन्धमार्ग-आश्रितम्] बन्धमार्ग के आश्रित हैं और [बन्धहेतुः] बन्ध का कारण हैं, अतः [एकम् इष्टं] कर्म एक ही माना गया है-उसे एक ही मानना योग्य है।।१०२।।

प्रवचन नं. २३०, श्लोक १०२, गाथा १४६ से १४९ दिनाङ्क १८-०५-१९७९, शुक्रवार
बैशाख कृष्ण ७

समयसार, कलश १०२। कलश है न?

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ।।१०२।।

हेतु,.. कलश का उत्तर देते हैं कि बन्ध के कारण का हेतु पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव एक ही है। बन्ध का हेतु एक ही है, शुभ और अशुभभाव दोनों एक ही हैं। शुभ से पुण्य और अशुभ से पाप - ऐसे दो भेद उसमें नहीं है। भाव में, हों! शुभ और अशुभभाव दो हेतु अज्ञानरूप हैं; इसलिए हेतु में कोई अन्तर नहीं है।

स्वभाव,.. (अर्थात्) इसका पुद्गल (में) बन्धन पड़े कि शुभभाव से पुण्य बँधे और अशुभ (भाव से) पाप (बँधे), वह सब पुद्गल-स्वभाव है। उसमें भी कुछ भेद है नहीं। **अनुभव..** शुभ का अनुभव भी दुःखरूप है और अशुभ का अनुभव भी दुःखरूप

फल है। आहाहा! उनमें कहीं आत्मा का आनन्द नहीं। शुभपरिणाम का फल सातावेदनीय आदि आवे, परन्तु उसमें भी सुखरूप कल्पना है; वह है दु:ख; इसलिए फल में अन्तर नहीं है। शुभ का फल अच्छा और अशुभ का फल खराब – ऐसा कुछ नहीं है। दोनों का फल एक ही है। आहा!

आश्रय.. शुभ-अशुभ बन्ध का कारण, वह बन्ध के आश्रय से है; शुभ कोई मोक्ष के आश्रय और अशुभ, बन्ध के आश्रय है – ऐसे आश्रय में भेद नहीं है। आहाहा! दोनों (का) एक ही आश्रय है। शुभ और अशुभभाव दोनों बन्ध के आश्रय ही होते हैं।

इन चारों का (अर्थात् ये चार प्रकार से).. (सदा अपि) सदा ही.. आहाहा! **(अभेदात्) अभेद होने से..** चारों सब अभेद-एक ही है। आहाहा! **(न हि कर्मभेद:) कर्म में निश्चय से भेद नहीं है;..** इस कारण कोई पुण्य ठीक है और पाप अठीक है अथवा पुण्य का बन्धन होता है, वह ठीक है और पाप का अठीक है – ऐसा है नहीं। **(तद् समस्तं स्वयं) इसलिए, समस्त कर्म स्वयं...** कर्म जो है, शुभ-अशुभभाव या बन्धन, वह स्वयं **निश्चय से... (बन्धमार्ग-आश्रितम्) बन्धमार्ग के आश्रित हैं...** आहाहा! ये व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान, दया, आदि भाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय (आदि) भाव, ये दोनों भाव, बन्ध के आश्रित हैं। आहाहा! ऐसा है। लोगों को खटक पड़ती है।

शुभ-अशुभभाव दोनों बन्धरूप हैं और दोनों बन्धन का कारण हैं। दोनों शुभ-अशुभ भाव अज्ञानरूप हैं। आहाहा! **बन्ध का कारण हैं, अत: कर्म एक ही माना गया है...** कर्म तो एक ही प्रकार (है)। 'कर्म' शब्द लिया था न? इसलिए। बाकी फिर चार प्रकार किये। कर्म **एक ही मानना योग्य है।** यह १४५ गाथा का कलश कहा।

गाथा-१४६

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति ह्न

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुह-मसुहं वा कदं कम्मं।।१४६।।

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम्।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म।।१४६।।

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बन्धत्वाविशेषात् काञ्चनकालायस-निगलवत्।।१४६।।

अब यह सिद्ध करते हैं कि-दोनों-शुभाशुभकर्म, बिना किसी अन्तर के बन्ध के कारण हैं:-

ज्यों लोह की त्यों कनक की जंजीर जकड़े पुरुष को।
इस रीत से शुभ या अशुभ कृत, कर्म बांधे जीव को।।१४६।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [सौवर्णिकम्] सोने की [निगलं] बेड़ी [अपि] भी [पुरुषम्] पुरुष को [बध्नाति] बाँधती है और [कालायसम्] लोहे की [अपि] भी बाँधती है, [एवं] इसी प्रकार [शुभम् वा अशुभम्] शुभ या अशुभ [कृतं कर्म] किया हुआ कर्म [जीवं] जीव को [बध्नाति] (अविशेषतया) बाँधता है।

टीका : जैसे सोने की और लोहे की बेड़ी बिना किसी भी अन्तर के पुरुष को बाँधती है क्योंकि बन्धनभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है, इसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी भी अन्तर के पुरुष को (-जीव को) बाँधते हैं क्योंकि बन्धभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है।

गाथा - १४६ पर प्रवचन

अब (शुभ-अशुभ) दोनों कर्म अविशेषरूप से... अर्थात् सामान्यरूप से **(कुछ अन्तर बिना) बन्ध के कारण हैं:-** आहाहा! **ऐसा सिद्ध करते हैं:-** १४६ (गाथा)।

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुह-मसुहं वा कदं कम्मं।।१४६।।

ज्यों लोह की त्यों कनक की जंजीर जकड़े पुरुष को।
इस रीत से शुभ या अशुभ कृत, कर्म बांधे जीव को।।१४६।।

टीका : जैसे सोने की और लोहे की बेड़ी बिना किसी भी अन्तर के पुरुष को बाँधती है.. सोने की बेड़ी हो या लोहे की हो। आहाहा! ऐसे शुभभाव हो या अशुभ (भाव) हो, दोनों बन्धन का कारण है। उनमें एक भी धर्म का कारण नहीं है। आहाहा! **क्योंकि बन्धनभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है,...** शुभ और अशुभभाव, सोने और लोहे की बेड़ी की अपेक्षा से, शुभ सोने की बेड़ी, अशुभ लोहे की बेड़ी है। आहाहा! बन्धन में कोई अन्तर नहीं है, दोनों बाँधते हैं।

इसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म... कार्य-भाव, भाव या बन्धन। मूल यहाँ कर्म से उठाया है न, इसलिए कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि यह तो कर्म की बात है; भाव की बात कहाँ है? - ऐसा कहते हैं; परन्तु यह हेतु, स्वभाव, (अनुभव, आश्रय - ऐसे) चार रूप तो स्पष्ट किया है। आहाहा! **शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी भी अन्तर के पुरुष को (-जीव को) बाँधते हैं...** चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का भाव हो या चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, काम, क्रोध, राग-द्वेष का भाव हो; दोनों भाव, बन्धन का कारण है। आहाहा! दोनों में एक भी धर्म और धर्म का कारण है नहीं।

मुमुक्षु : भावबन्ध....

पूज्य गुरुदेवश्री : ये स्वयं दोनों भावबन्ध ही है। शुभ-अशुभभाव, भावबन्ध है और जड़ है, वह द्रव्यबन्ध है। भावबन्ध एक जाति है और जड़बन्ध है-एक जाति है। पुद्गल का फल, एक जाति है। आहाहा!

मुमुक्षु : भावबन्ध...

पूज्य गुरुदेवश्री : ये पुण्य-पाप के भाव, वही भावबन्ध है। यह कहेंगे। यह तो उसमें आया न! स्वयं समस्त कर्म स्वयं बन्धमार्ग के आश्रित हैं। यह (१०२) कलश में आ गया। ये शुभ-अशुभभाव स्वयं ही बन्ध के मार्ग के आश्रित है। आहाहा! जगत को कठिन पड़ता है, इसलिए ऐसा कोई कहता है कि शुभ-अशुभभाव, व्यवहाररत्नत्रय करने से निश्चय होता है, बहुत जगह यह विपरीतता हो गयी है। आवे, कहीं लेखन में आवे भी सही, परन्तु वह तो निमित्त का ज्ञान कराने को कहा है (कि) निमित्त ऐसा था। वह वस्तु स्वयं आत्मा को कोई मदद करती है या धर्म का कारण है - ऐसा नहीं। आहाहा!

क्योंकि बन्धभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है। चाहे तो शुभभाव हो या अशुभभाव हो, दोनों बन्ध का कारण है। बन्ध के कारण की अपेक्षा में कोई अन्तर नहीं। व्यवहार से अन्तर कहे, परन्तु यह परमार्थ से अन्तर है नहीं, अर्थात् वास्तव में अन्तर नहीं। व्यवहार से कहते हैं कि अशुभभाव से शुभ (भाव) ठीक (है), ऐसा। आहाहा! परमार्थ से-वास्तविक रीति से तो ये शुभ और अशुभ दोनों भाव, बन्ध के कारण (हैं), और एक ही रूप से बन्ध है। आहाहा! १४६ (गाथा पूर्ण) हुई। १४७ (गाथा)।

गाथा–१४७

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति–

तम्हा दु कुसीलेहिं य रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसील–संसग्ग–रायेण ।।१४७।।

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा सन्सर्गम्।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशील–सन्सर्ग–रागेण ।।१४७।।

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसन्सर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमा-मनोरमकरेणुकुट्टनीरागसन्सर्गवत् ।।१४७।।

अब दोनों कर्मों का निषेध करते हैं:-

इससे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशील का।
इस कुशील के संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातंत्र्य का।।१४७।।

गाथार्थ : [तस्मात् तु] इसलिए [कुशीलाभ्यां] इन दोनों कुशीलों के साथ [रागं] राग [मा कुरुत] मत करो [वा] अथवा [संसर्गम् च] संसर्ग भी [मा] मत करो, [हि] क्योंकि [कुशीलसंसर्गरागेण] कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से [स्वाधीनः विनाशः] स्वाधीनता का नाश होता है (अर्थात् अपने द्वारा ही अपना घात होता है)।

टीका : जैसे कुशील–मनोरम और अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ (हाथी का) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग बन्ध के कारण होने से, शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग का निषेध किया गया है।

गाथा - १४७ पर प्रवचन

१४७, **अब दोनों कर्मों का निषेध करते हैं:-** चाहे तो शुभभाव हो या अशुभ हो, दोनों बन्ध का कारण होने से दोनों का निषेध किया जाता है। आहाहा!

तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसील-संसग्ग-रायेण।।१४७।।

इससे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशील का।
इस कुशील के संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातंत्र्य का।।१४७।।

ऐसा कहते हैं। **जैसे कुशील (खराब)-मनोरम और अमनोरम हथिनी..** मनोरम (अमनोरम अर्थात्) अनुकूल और प्रतिकूल। **हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ (हाथी का) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है,..** जो हथिनी मनोरम-अनुकूल हो और प्रतिकूल हो; दोनों हथिनी बन्ध का कारण है। यह गड्डे में डालकर पकड़ते हैं। दोनों राग और संसर्ग बन्ध का कारण होता है। उसके प्रति प्रेम और उसका संसर्ग करना, वह सब बन्ध का कारण है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि चाहे तो यात्रा का भाव हो या चाहे तो दुनिया के व्यापार के, हिंसा के (भाव हो)... आहाहा! सम्मेदशिखर की यात्रा का भाव हो और दुकान का माल बेचने का भाव (हो), दोनों भाव, बन्ध के कारण हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : दृष्टान्त (दो तो ख्याल आवे)।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त... आहाहा! यहाँ तो सामान्य बात करते हैं। ऐसे देखो तो सम्मेदशिखर की यात्रा का भाव और दुकान पर बैठकर व्यापार का भाव, यह अशुभ है, वह (पहला) शुभ है, दोनों बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा काम है। दुकान पर बैठकर धन्धे का भाव और (यह सब) छोड़कर बेचारा सम्मेदशिखर की यात्रा को जाए (कि) भाई! सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए आठ दिन की निवृत्ति लो। ऐ 'चिमनभाई'! दोनों (भाव) विकल्प हैं, बापू! शुभ और अशुभ दोनों राग है; इस मनोरम और अमनोरम हथिनी की तरह दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! कठिन काम पड़े लोगों को। दुकान का धन्धा

छोड़कर कोई गौशाला का काम करने जाए, किसी की सेवा के लिए जाए, तो भी कहते हैं कि दोनों भाव समान हैं!

प्रश्न : हमारी स्वाधीनता क्या रही?

समाधान : स्वाधीनता का नाश होता है। स्वतन्त्रता, शान्ति रही नहीं। यह तो अब आता है न! शान्ति.. ज्ञायकभाव.. वीतराग-स्वभाव से भरा भगवान आत्मा! उसकी वीतरागता की पर्याय को शुभ और अशुभभाव से चोट पड़ती है। आहा! 'कर्ता-कर्म अधिकार' में आया नहीं? जो वीतराग पर्याय-उदासीन पर्याय उत्पन्न होनी चाहिए, उसे छोड़कर शुभाशुभभाव उत्पन्न करे, वह कर्ता-कर्म बन्ध का कारण है। आहाहा! 'कर्ता-कर्म अधिकार' की ६९-७० (गाथा)। आहाहा!

प्रश्न : पुण्य-पाप और कर्ता-कर्म अधिकार में अन्तर क्या?

समाधान : एक ही सरीखा है। कर्ता-कर्म में कर्ता-कर्म सिद्ध करना है; यहाँ पुण्य-पाप के भाव दोनों समान (हैं), यह सिद्ध करना है। पहले में कर्ता (अर्थात्) करनेवाला और कर्म, दोनों अभेद हैं (-ऐसा सिद्ध करना है)। अर्थात् कि—अज्ञान कर्ता और पुण्य-पाप उसका काम, यह कर्ता-कर्म एक है, अज्ञान है। आत्मा स्वभाविक का कर्ता और उसका विकारी कार्य - ऐसे भेद नहीं। आहाहा! परन्तु निवृत्ति कहाँ है? निवृत्ति नहीं होती। आहाहा! यह तो बड़े दूसरे भाग की बात है न!

कुशील अर्थात् शुभाशुभ... ये भी कुशील है। देखा? कुशील अर्थात् खराब ऐसी हथिनी की तरह (और) मनोरम-अनुकूल हथिनी हो परन्तु हाथी को तो दोनों बन्ध का कारण है। वैसे तुझे शुभभाव मनोरम लगे और अशुभराग अमनोरम लगे, (तो भी) दोनों बन्ध के कारण हैं। आहा! लोग इसमें से बहुत दूसरा निकालते हैं कि यह तो निश्चय की बात है, परन्तु व्यवहार आता है, वह कारण है। व्यवहार आवे, वह कारण है। बापू! यह तो व्यवहार आवे, उसे साधन कहा है, वह तो ज्ञान कराया है।

निश्चय से तो **'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणए पाउणदि जं मुणी णियमा।'** (द्रव्यसंग्रह, गाथा-४७) शुभ-अशुभ विकल्प है, वह तो आर्तध्यान और रौद्रध्यान है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा, शुभाशुभभाव से रहित ज्ञायकभाव में ध्यान में एकाग्र हो, तब उसे

सच्चा-निश्चयमोक्षमार्ग उत्पन्न होता है। आहाहा! और उस समय राग कोई बाकी है, अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है; इसलिए उसे व्यवहारमोक्षमार्गरूप से कहा गया है। ऐसी वस्तु है। यह **'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणए पाउणदि'** ऐसा कहा है, उसका सार पूरा (कह दिया)। आहाहा!

यहाँ तो जिसे आत्मकल्याण करना हो, उसके लिए बात है। उसे शुभ और अशुभभाव, दोनों अकल्याण का कारण है; इसलिए उसे हथिनी की तरह कुशील-ऐसा शुभ... ओहोहो! **और अशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग...** वचन से भी उसका परिचय-संसर्ग ऐसा न करना कि 'यह ठीक है' - ऐसा वचन से भी नहीं कहना। आहा! **राग और संसर्ग बन्ध के कारण होने से,..** उसमें बहुत परिचय करने से, राग और बहुत परिचय करने से। **संसर्ग बन्ध के कारण होने से, शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग का निषेध किया गया है।** लो! यहाँ तो शुभाशुभ कर्म लिया है, हों! परन्तु उनके कारण भाव (आदि) चारों आ गये। आहाहा!

वे इसमें से विशेष निकालते हैं न! ऐसा कि, यहाँ कर्म लिया है, कहीं शुभाशुभभाव (नहीं कहा), परन्तु यह स्पष्टीकरण किया न! अमृतचन्द्राचार्य ने स्वयं किया। (तो कहते हैं) अमृतचन्द्राचार्य ने ऐसा कहा है, परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य तो कर्म ही कहते हैं। परन्तु इस कर्म में सब आ गया - शुभाशुभभावकर्म, जड़कर्म, उसका फल और बन्धमार्ग का आश्रय। इस शुभ का आश्रय, वह बन्धमार्ग का आश्रय है। आहाहा!

दुनिया से विलक्षण लगे और इस दुनिया का उत्साह...! आहाहा! उसमें से अटक कर रुक जाना। आहाहा! वहाँ अटकता है, उसका रुकना (और) यहाँ आकर रुक जाना। आहाहा! शुभ-अशुभभाव दोनों एक ही प्रकार हैं, इसलिए उनका राग (नहीं करना) और वाणी से भी कुछ ठीक है, ऐसा नहीं कहना। उनका परिचय-संसर्ग ही नहीं करना। आहाहा! काया और वाणी और मन—तीनों से (संसर्ग नहीं करना)। आहाहा!

राग और संसर्ग का निषेध किया गया है। क्योंकि **राग और संसर्ग बन्ध के कारण होने से,..** ऐसा। राग और संसर्ग बन्ध के कारण होने से शुभ-अशुभ कर्मों का निषेध किया गया है। आहाहा! यहाँ तो जरा भी आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा कुछ कहा नहीं।

निश्चय में जरा मदद करे, ऐसा कुछ कहने में नहीं आया और कहीं-कहीं कहने में आया हो, वह तो साधक को बतलाया है। अन्दर साधन-राग कौन है ? जहाँ निश्चय साध्य प्रगट हुआ है, तब वहाँ राग कौन था ? ऐसी नैगमनय से बात करे और या वर्तमान है, उसे उपचार से करे। पूर्व के राग से हुआ, ऐसा कहे तो वह नैगमनय से कहा और वर्तमान राग है, उससे कहे तो वह उपचार से कहा। आहाहा ! ऐसा है।

मुमुक्षु : स्वाधीनता का नाश होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वाधीनता का नाश होता है। इसका अर्थ यह कि अपना घात अपने से होता है। पुण्य और पाप में स्वाधीनता, स्वतन्त्रता (का नाश होता है)। उसे बन्ध कहा न ! बन्ध का कारण है; इसलिए उसका अर्थ (इसका घात होता है) वह बन्ध का कारण है अर्थात् स्वाधीनता का नाश है, ऐसा। स्वतन्त्रता जो शुद्धता होनी चाहिए, (वह नहीं हुई)। आहाहा ! स्वाधीनता का नाश हो, अपना घात अपने से हो, इसका अर्थ यह, ऐसा। घात होता है न ! उसे बन्ध में डाल दिया। आहाहा ! शुभ-अशुभभाव दोनों (में) शान्ति का घात होता है, आत्मा के स्वभाव की शुद्धपर्याय का घात होता है। आहाहा ! अर्थात् उत्पन्न नहीं होती, उसका घात होता है। आहाहा ! शुभ और अशुभभाव उत्पन्न होते हैं, वहाँ शुद्धभाव उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उसका घात होता है। उस स्वाधीनता का नाश है, ऐसा। आहाहा ! कठिन पड़े जगत को।

मुमुक्षु : साधक को शुभभाव के समय शुद्धि बढ़ जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी बढ़ती नहीं। वह तो दूसरी बात करते हैं। सम्यग्दर्शन है, दृष्टि शुद्ध (स्वभाव) पर पड़ी है, शुद्ध पर विशेष (स्थिर होता है), उसे जो शुभभाव है, उसमें जरा अशुभ (भाव) घटा है, ऐसा। उसके (लिए यह बात है), तथापि शुभभाव है, वह है तो बन्ध का कारण परन्तु शनैः शनैः (क्रम-क्रम से) वह मोक्षमार्ग में आता है न ! शनैः अर्थात् स्वभाव की दृष्टि हुई है। शुभाशुभभाव बन्ध का कारण है। त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमूर्ति वह मुक्ति का कारण है, ऐसा अनुभव, सम्यग्दर्शन हुआ है। उसके लिए यह बात की है। वहाँ शुभ है, उसमें अशुभ घटता है। मिथ्यात्व टला है और समकित हुआ है, इस अपेक्षा से उस शुभ में अशुभ घटता है, ऐसा कहा है परन्तु जहाँ अभी शुभ और अशुभ

को दो मानता है, वह तो अभी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसे तो शुभ में अशुभ घटता भी नहीं, क्योंकि मूल अशुभ मिथ्यात्व तो पड़ा है। शुभभाव और अशुभभाव दोनों (में) अन्तर है, ऐसा मिथ्यात्वभाव तो पड़ा है। आहाहा!

बहुत जगह ऐसा आता है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में आता है। व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। वह तो है, उसका ज्ञान कराया है, बापू! आहाहा! लोगों को जयसेनाचार्यदेव की टीका ठीक पड़ती है। तब ज्ञानसागर ने उसका अर्थ किया न! जयसेनाचार्य की टीका का (अर्थ किया) आहाहा! और विद्यासागर ने भी वह किया है, उसने उसमें से सब पद लिए हैं। आहाहा! बापू!

ध्रुव स्वयं अन्दर स्वतन्त्र चैतन्य (द्रव्य है)। राग हो, आवे, होता है परन्तु वह आश्रय करनेयोग्य है अथवा जरा भी लाभदायक है, ऐसा नहीं है। ज्ञानी को भी राग आता है, अशुभराग आता है, शुभराग आता है परन्तु अहितकर जानकर, हेय जानकर, दुःखरूप जानकर दृष्टि में से छोड़ता है। आहाहा! उसे दृष्टि में से छोड़ता है। वह अस्थिरता में आ गया है। आहाहा!

गाथा–१४८–१४९

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते –

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं राग–करणं च।।१४८।।
एमेव कम्म–पयडी–सील–सहावं च कुच्छिदं णादुं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहाव–रदा।।१४९।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय।
वर्जयति तेन समकं सन्सर्गं राग–करणं च।।१४८।।
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा।
वर्जयन्ति परिहरन्ति च तत्सन्सर्गं स्वभाव–रताः।।१४९।।

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बन्धाय उपसर्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसन्सर्गौ प्रतिषेधयति, तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बन्धाय उपसर्पन्तीं मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसन्सर्गौ प्रतिषेधयति।।१४८–१४९।।

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टान्तपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं:–

जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जन को जानके।
संसर्ग उसके साथ त्यों ही, राग करना परितजे।।१४८।।
यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जानके।
निज भाव में रत राग अरु संसर्ग उसका परिहरे।।१४९।।

गाथार्थ : [यथा नाम] जैसे [कोऽपि पुरुषः] कोई भी पुरुष [कुत्सितशीलं] कुशील अर्थात् खराब स्वभाववाले [जनं] पुरुष को [विज्ञाय] जानकर [तेन समकं] उसके

साथ [संसर्गं च रागकरणं] संसर्ग और राग करना [वर्जयति] छोड़ देता है; [एवम् एव च] इसी प्रकार [स्वभावरताः] स्वभाव में रत पुरुष [कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं] कर्मप्रकृति के शील–स्वभाव को [कुत्सितं] कुत्सित अर्थात् खराब [ज्ञात्वा] जानकर [तत्संसर्गं] उसके साथ संसर्ग [वर्जयंति] छोड़ देते हैं [परिहरंति च] और राग छोड़ देते हैं।

टीका : जैसे कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बन्धन के लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता, इसी प्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बन्ध के लिये समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) – सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

भावार्थ : हाथी को पकड़ने के लिये हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ राग तथा संसर्ग करता है, इसलिए वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है, जो हाथी चतुर होता है, वह उस हथिनी के साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता; इसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझकर उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं, इसलिए वे बन्ध में पड़कर पराधीन बनकर संसार के दुःख भोगते हैं, और जो ज्ञानी होता है, वह उसके साथ कभी भी राग तथा संसर्ग नहीं करता।

गाथा – १४८-१४९ पर प्रवचन

१४८-१४९ (गाथा) अब, **भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टान्तपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं:–** पहला तो अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्ध किया था। आहाहा!

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं राग-करणं च।।१४८।।
एमेव कम्म-पयडी-सील-सहावं च कुच्छिदं णादुं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहाव-रदा।।१४९।।

जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जन को जानके।
संसर्ग उसके साथ त्यों ही, राग करना परितजे।।१४८।।
यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जानके।
निज भाव में रत राग अरु संसर्ग उसका परिहरे।।१४९।।

आहाहा! **जैसे कोई जंगल का कुशल हाथी..** वन का हाथी, परन्तु चतुर, कुशल। **अपने बन्धन के लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर..** आहाहा! **जैसे कोई कुशल..** चतुर। वन का हाथी। वन का चतुर हाथी, कुशल **अपने बन्धन के लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली..** अर्थात् अनुकूल हथिनी सुन्दर मुखवाली **मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर..** आहाहा! वह कुशल हाथी दोनों को बुरा जानकर **उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता,..** जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत (टीका में) ऐसा आया है कि वचन को। मन, वचन और काया तीन डालें हैं संसर्ग में। **परमार्थतः बुरी जानकर..** हथिनी मनोरम-अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, आहाहा! **उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता,..**

इसी प्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ.. वह (दृष्टान्त में) कुशल हाथी (लिया था)। यह अरागी आत्मा आनन्द, ज्ञानस्वरूप है। आत्मा वीतरागस्वरूप है, उस प्रकार से वीतरागी पर्याय को करता हुआ। **अरागी ज्ञानी होता हुआ..** आहाहा! **अपने बन्ध के लिये समीप आती हुई (उदय में आती हुई)..** कहते हैं, भले पुण्य का उदय आवे, आहाहा! या पाप का उदय आवे, दोनों को समकिती बन्ध का कारण जानता है। पुण्य का उदय आया, इसलिए ऐसा कि पैसा हुआ और यह सब कुटुम्ब और कबीला जमा.. उसे वह दुःखरूप लगता है। आहाहा!

अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बन्ध के लिये समीप आती.. (अर्थात्) उदय - कर्म का उदय आवे न! सत्ता में से समीप आया न! **मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ)-सभी कर्मप्रकृतियों को...** आहाहा! चाहे तो पुण्य की प्रकृति का उदय आओ या चाहे तो पापप्रकृति का उदय आओ, (सब) आवे। (दोनों को) **परमार्थतः बुरी जानकर...** दोनों प्रकृति की बात ली है। उसमें भाव आ गया। **परमार्थतः बुरी जानकर**

उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता। आहा!

भावार्थ : हाथी को पकड़ने के लिये हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ.. (अर्थात्) काम के वश होता हुआ। **हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ राग तथा संसर्ग करता है..** राग करता है और उसके साथ भाषा करता है। हाथी ऐसे गुल.. गुल.. गुल.. भाषा बोलता है न! ऐसे अनुकूल बोले। आहाहा! **इसलिए वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है,..** आहाहा! वह हाथी हथिनी की अनुकूलता में.. आहाहा! या प्रतिकूलता हो, लो! दोनों के साथ राग और संसर्ग करे (तो) वह **पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है,..** आहाहा!

जो हाथी चतुर होता है.. आहाहा! **वह उस हथिनी के साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता;..** भले अनुकूल मनोरम हथिनी हो तो भी वह चतुर कुशल हाथी उसके साथ राग और अनुकूल भाषा नहीं बोलता। हाथी बोलता है न, गुल.. गुल.. गुल.. ऐसे हथिनी के लिए अनुकूल भाषा (बोलता है)। आहाहा! (परन्तु चतुर हाथी) **राग तथा संसर्ग नहीं करता;..** आहाहा!

इसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझकर उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं.. आहाहा! अज्ञानी कर्म की पुण्य प्रकृति अनुकूल देखकर, अभी हमें सब सुख है, कर्म का उदय अनुकूल है, कुटुम्ब-कबीला सब अनुकूल है, धन्धा भी बहुत अच्छा चलता है... आहाहा! मुनीम भी सब अच्छे मिले हैं।

मुमुक्षु : प्रामाणिक मुनीम मिले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रामाणिक मुनीम मिले हैं। परन्तु उसमें क्या धूल हुआ? आहाहा! मुनीम प्रामाणिक है, लड़के भी चतुर जगे हैं, लड़कियाँ भी अच्छी जगह गयी (विवाही) है, सब प्रकार से अभी सुखी हैं! ऐसा अज्ञानी अज्ञान में ऐसे विकार के राग में और वाणी की अनुकूलता में पकड़ जाता है। आहाहा! अब ऐसे तो स्पष्ट लेख हैं, तथापि जहाँ हो वहाँ वापस विपरीतता करते हैं।

अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझकर.. पुण्य का उदय निरोगता। साता का उदय, यशकीर्ति का उदय.. आहाहा! बाहर की सब सामग्री जैसी चाहिए वैसी हाथी,

घोड़ा और हाथी घोड़े के सब सामान सोने के और चाँदी के! आहाहा! अज्ञानी उस कर्मप्रकृति के फल को भला जानकर। वह तो कर्मप्रकृति हुई। तेरा स्वभाव कहाँ आया वहाँ। आहाहा! **कर्मप्रकृति को अच्छा समझकर उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं..** लोग भी ऐसा (कहें कि).. आहाहा! अभी हम सुखी हैं। सब प्रकार से धन्धा-पानी में उल्टा डालें तो भी सुल्टा पड़ता है। चिमनभाई! आहाहा! ऐसा कि पासा उल्टा भी डालने जाएँ, वहाँ सुल्टे पड़ते हैं, हमारे अभी ऐसी अनुकूलता है। परन्तु किसकी है? आहाहा! लड़के भी बड़े करोड़पति के घर की लड़कियों से विवाह किया है। पाँच-पच्चीस लाख रुपये लेकर आयी है। सब प्रकार से हमारे अभी सुखी हैं। दु:खी है (कहते हैं)। आहाहा! है दु:खी और मानता है सुखी! आहाहा! वहाँ परसन्मुख के झुकाववाला भाव ही दु:ख है। आहाहा! यह ठीक है। आहाहा!

अकेला रोगी व्यक्ति कोई घर में (हो), दूसरा व्यक्ति न हो, घर न हो, झोंपड़ी न हो। आहाहा! एक व्यक्ति को देखा था, 'वडीया' में! सवेरे जल्दी जंगल (दस्त के लिए) जाते थे। अकेला (था) और रोग था, कोई घर नहीं, मकान नहीं, स्त्री-पुत्र नहीं। किसी का मकान था, उसमें कौने में बैठा-बैठा रोता था। जल्दी सवेरे दिशा को जावें न! वढीया... वढीया, वहाँ किसी मकान के कोने में गरीब व्यक्ति (था)। हमें देखकर (ऐसा होवे न कि) पुण्यवन्त है। इसलिए एकदम रोने लगा। अकेला व्यक्ति और सर्दी-ठण्डी, अन्धकार, कोई नहीं और रोगी। एक मकान के कोने में बैठा-बैठा (रोता था)। आहाहा! रहने का मकान नहीं, सोने का स्थल-जमीन। आहाहा! शरीर में रोग (होवे), उसे लोग प्रतिकूल मानते हैं और पाँच-दस लाख का बड़ा मकान हो, ऐसे हवा डाले, गर्मी आवे वहाँ पंखा (चालू करे), अभी तो पंखा किया है न! बिजली का पंखा फिरे, फर..र.. फर..र..! हवा आवे हवा! बाहर की हवा की करते अन्दर की हवा आवे। हा..श..! ऐसा जो मानता है कि हम कुछ मजे में हैं.. आहाहा!

वह अज्ञानी जीव प्रकृति को भली समझकर। कोई भी प्रकृति का फल (हो), उसमें अनुकूल होवे क्या? ओहोहो! औदारिकशरीर मिले, भगवान को तो पहले से परम औदारिकशरीर मिले, लो ठीक! तीर्थंकर को तो पहले से परम औदारिकशरीर (होता है)। आहार होता है और निहार नहीं होता। आहाहा! पानी होता है (पीते हैं) और पेशाब नहीं

होता। आहाहा! तथापि उसमें कहीं ठीक है, ऐसा वे नहीं मानते। आहाहा! तीर्थंकर जीव तीन ज्ञान लेकर आता है। कितने ही क्षायिक सम्यग्दर्शनादि लेकर (आते हैं)... आहाहा! ऐसी स्थिति में कहीं उन्हें ठीक है, यह परम औदारिकशरीर मिला और भोजन लेते हैं, तथापि दस्त नहीं; पानी पीते हैं, तथापि पेशाब नहीं; रोग आदि के लिए दया नहीं। जन्म से, हों! आहाहा! परन्तु वे समकिती भगवान तो माता के गर्भ में समकित लेकर आते हैं। आहाहा! कहीं ऐसी चीज़ को 'यह ठीक है' – ऐसा नहीं मानते। आहाहा! इतनी अनुकूलता! माता के गर्भ में भी वहाँ देव उन्हें रहने का स्थान अनुकूल कर देते हैं। आहाहा! वे बाहर आवें, तब इतनी अनुकूलता, इन्द्राणी खड़ी हो। तीन ज्ञान के धनी हैं। तीन ज्ञान में सब ख्याल आता है। कहीं उसमें ठीक है... आहाहा! अनुकूल है, ऐसा वे नहीं मानते। आहाहा! और समकिती अकेला अविवाहित, मकानरहित, रोगी, क्षयरोग लागू पड़ा हो.. आहाहा! तथापि समकिती उसे 'खराब है' ऐसा नहीं मानता। आहाहा! है, वह ज्ञान में ज्ञात होता है, ज्ञान जानता है कि ऐसा है, बस! बाकी कुछ है नहीं। आहाहा! इतना सब अन्तर।

(जैसी) दृष्टि वैसी सृष्टि! जिसे चैतन्य भगवान पर दृष्टि पड़ी है, उसे बाह्य के अनुकूल और प्रतिकूलता के ढ़ेर हों तो भी उसे सृष्टि अर्थात् शान्ति की उत्पत्ति होती है। आहाहा! अज्ञानी को अनुकूलता के ढ़ेर हों तो (भी) दृष्टि मिथ्या है, इसलिए उनमें उसे प्रेम के बाण लगे हैं। पच्चीस वर्ष से सुखी हैं, शरीर में रोग नहीं आया, सोंठ लगायी नहीं है। सोंठ भी नहीं लगायी है, ऐसा निरोग (शरीर) है। परन्तु उसमें क्या हुआ? आहाहा! वह सब पुद्गल का खेल है, प्रभु! आहाहा! आहाहा! परन्तु दोनों में धर्मी को कहीं अनुकूल-प्रतिकूल है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! क्योंकि जिसे आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु वीतरागमूर्ति जहाँ दृष्टि में आया, उसे यह अनुकूल और प्रतिकूल में कहीं दोनों में अन्तर है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा!

तब उसमें कहा है न! जब तक शरीर में रोग न आवे, इन्द्रियाँ शिथिल न पड़ें, जीर्णता न आवे, (तब तक आत्महित कर ले)। वह तो इसके पुरुषार्थ की कमजोरी की उग्रता बतलाने को (कहा है)। उससे जरावस्था में (आत्महित) नहीं होता और रोग अवस्था में नहीं होता, वह प्रतिकूल है इसलिए (नहीं होता, ऐसा नहीं है)। आहाहा! आता है न? मोक्षपाहुड़ में आता है, छहढाला में आता है। आहाहा! मार्ग बहुत अलग, भाई!

आहाहा!...ये शब्द श्वेताम्बर के दशवैकालिक के हैं।...इन्द्रियाँ हीन न पड़े, रोग की वृद्धि दिखायी न दे.. आहाहा! अवस्था जीर्ण न हो, इन्द्रियाँ शिथिल न पड़े... आहाहा! वहाँ धर्म कर लेना। उसका अर्थ यह कि इतनी अनुकूलता में धर्म होता है, ऐसा है? फिर प्रतिकूलता में धर्म नहीं होता? यह तो एक वैराग्य से बात की है। वापस इसका अर्थ ऐसा ले कि देखो! अनुकूलता में धर्म कर ले, प्रतिकूलता में धर्म नहीं होगा। यहाँ तो कहते हैं कि प्रतिकूलता और अनुकूलता दोनों एक जाति है। आहाहा!

पैर चल सके नहीं, कदम भर सके नहीं। हमारे जीवराजजी अभी देखो, खाट पर पड़े हैं, पैर भर सकते नहीं, चल सकते नहीं। प्रतिदिन सवेरे जाकर एक बार कहते हैं, ज्ञायकस्वरूप है, भाई! ध्यान रखना, बापू! यह क्या है, वह भूल जाना। जोर बताते हैं, हों! बारम्बार मेरा अकेला पारिणामिकभाव है, वह मैं याद करता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! डेढ़ महीने से ऐसे पड़े हैं, पेशाब और दस्त (शय्या में होते हैं)। वह प्रतिकूलता है, इसलिए मुझे धर्म नहीं हो सकता और उसके प्रति द्वेष हो... आहाहा! ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि कर्मप्रकृति अच्छी, बाहर में ऐसी अनुकूलता आवे.. आहाहा! एक को जहाँ हुकम करे, वहाँ हजार उपस्थित हों। क्या चाहिए प्रभु! पानी? उसकी जगह बर्फ दे, आईसक्रीम दे। कहो, चिमनभाई! तुम्हारे सेठ का तुमने बहुत सब देखा होगा, नहीं? आहाहा! पचास करोड़ रुपये! अभी बड़ा व्यक्ति वैष्णव, मुम्बई! आहाहा! परन्तु क्या है उसमें? जहाँ हो वहाँ दुकान, मुनीम अच्छे, आमदनी अच्छी देते हैं। हांगकांग में दुकान, मकान, अमुक में दुकान, अमुक में दुकान। मधु, शान्तिभाई का भाई कहता था, उनकी दुकान हांगकांग में है। रामदास की। दुकान का नाम केवलचन्द न? क्या था? कीलाचन्द देवचन्द। वहाँ हांगकांग में भी है। वहाँ लाखों की आमदनी है। उसकी आमदनी बड़ी होगी, पचास करोड़ रुपये? परन्तु उससे क्या? अरे! उसमें आत्मा को क्या? आहाहा! अज्ञानी अनुकूलता में राग करता है और प्रतिकूलता में द्वेष करता है। वह दोनों तो प्रकृति के फल हैं। उनमें एक में राग और एक में द्वेष (करना), इसका अर्थ क्या? कहते हैं। आहाहा!

इसलिए वे बन्ध में पड़कर.. आहाहा! यह अनुकूलता के शरीर और वाणी आदि साधन चाहिए, प्रकृति के सब फल अनुकूल हों और शरीर में रोग (हों) और वाणी बोली नहीं जा सके, बाहर के प्रतिकूल साधन (होवें).. आहाहा! अकेला व्यक्ति हो... परन्तु नरक का नारकी लो न! सातवें नरक का नारकी! आहाहा! सम्यग्दृष्टि (होवे, उसे भी)

इतनी प्रतिकूलता (होवे) कि तैंतीस सागर पानी की बूँद नहीं, आहार का कण नहीं, शीतलता का पार नहीं। शीतलता वह शीतलता! आहाहा! वह तो एक शरीर सहन करे, तथापि आयुष्य हो, वहाँ तक उसका कुछ नहीं होता। आहाहा! तथापि उस समय सम्यग्दृष्टि.. आहाहा! ऐसी सातवीं नरक की प्रतिकूलता को जाननेयोग्य मानता है। उसके प्रति द्वेष (नहीं होता कि) यह प्रतिकूल क्यों? अब अनुकूल प्रकृति आवे तो ठीक (ऐसा नहीं होता) आहाहा! एक ओर सातवें नरक का नारकी तथा एक ओर रावण! स्फटिकमणि का बँगला! दोनों समान है। आहाहा! दोनों पुद्‌गल के नाटक हैं। आहाहा! उनमें प्रभु आत्मा कहीं आया नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार **बन्ध में पड़कर पराधीन बनकर...** आहाहा! **संसार के दुःख भोगते हैं,..** यह स्फटिकमणि के बँगले और हजारों रानियाँ खम्मा.. खम्मा.. करे। आहा! दुःखी है। अरे! यह दृष्टि है। दृष्टि उसे स्वीकार करे कि मुझे अनुकूल है। उस दृष्टि का स्वीकार (करे) कि सातवें नरक का नारकी कहे, यह मुझे प्रतिकूल है। तो कहता है, नहीं। आहाहा! यहाँ तृषा लगे वहाँ ठण्डा बर्फ का पानी, मौसम्बी का रस मिले, वहाँ तैंतीस सागर तक (पानी की एक) बूँद नहीं मिले, तथापि वह तो प्रकृति का फल है, प्रभु! आहाहा! वह जड़ का संसार है। उसमें प्रभु आत्मा नहीं है। आत्मा उससे पृथक् है। आहाहा! ऐसे भान में... आहाहा! उसे पराधीनता नहीं होती और अज्ञानी बन्ध में पड़कर पराधीनता (का) दुःख भोगता है।

और जो ज्ञानी हो, इतना आया, देखा! **उसके साथ..** सातवें नरक की प्रतिकूलता (होवे) और रावण की स्फटिकरत्न के मकान की अनुकूलता! आहाहा! **ज्ञानी होता है, वह उसके साथ कभी भी राग तथा संसर्ग नहीं करता।** कभी (नहीं करता)। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञाता-दृष्टा रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जाननेवाला-देखनेवाला (साथ में) आनन्द है न! आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अनन्त गुण की व्यक्तता आंशिक प्रगट हो गयी है। आहाहा! अनन्त गुण की आंशिक व्यक्तता प्रगट हुई है। उसके अस्तित्व के स्वामीरूप से इस बात का स्वामी नहीं होता, इसका मालिक नहीं होता, इसे ज्ञातादृष्टारूप से जानता है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१५०

अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्य चागमेन साधयति –

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्प्राप्तः।
एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व।।१५०।।

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्त–त्वाच्छुभमशुभमुभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च।।१५०।।

अब, आगम से यह सिद्ध करते हैं कि दोनों कर्म बन्ध के कारण हैं और निषेध्य हैं:–

जीव रागी बांधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ती लहे।
–ये जिनप्रभू उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्म से।।१५०।।

गाथार्थ : [रक्तः जीवः] रागी जीव [कर्म] कर्म [बध्नाति] बाँधता है और [विरागसंप्राप्तः] वैराग्य को प्राप्त जीव [मुच्यते] कर्म से छूटता है–[एषः] यह [जिनोपदेशः] जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है; [तस्मात्] इसलिए (हे भव्य जीव!) तू [कर्मसु] कर्मों में [मा रज्यस्व] प्रीति–राग मत कर।

टीका : 'रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्म से छूटता है' ऐसा जो यह आगमवचन है सो, सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिए दोनों कर्मों का निषेध करता है।

प्रवचन नं. २३१, गाथा १५०, श्लोक १०३-१०४ दिनाङ्क २०-०५-१९७९, रविवार
बैशाख कृष्ण ९

(श्री समयसार) गाथा १५० है ? व्रत, नियम, शील, तप, इत्यादि शुभकर्म, ऐसा। वह जड़कर्म, ऐसा नहीं। ऐसे शुभभाव जो हैं, उन्हें यहाँ शुभकर्म कहा गया है। व्रत के, तप के, नियम के, शील के ये भाव हैं, शुभभाव हैं, उन्हें भी यहाँ कर्मरूप से कहा गया है। यद्यपि एक जगह ऐसा कहा है कि इनकी जो क्रियाएँ हैं, वे कर्म हैं और इनका जो भाव है, वह शुभ उपयोग है। कलश-टीका में ऐसा कहा है, परन्तु उसका अर्थ वह का वही है।

१५०, (गाथा) **दोनों कर्म..** दोनों कर्म अर्थात् ये। व्रत, नियम, शील, तप, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना- दोनों भाव, कर्म कहे जाते हैं और वे आत्मा नहीं है, आत्मा की जाति नहीं है। आहाहा! **दोनों कर्म बन्ध के कारण हैं..** व्रत, नियम, तप, शील - यह सब शुभभाव, बन्ध का कारण है। आहा! **और निषेध्य हैं:-** वापस ऐसा आया है। बन्ध का कारण है और निषेधने योग्य है। इनसे आत्मा को लाभ हो, यह बात तो नहीं, परन्तु निषेधने योग्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : नुकसानकारक कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नुकसान है। आगे कलश में आयेगा। अन्दर एक कलश है न? ऐसा कि, घात का कारण नहीं परन्तु ऐसा है। आता है न एक (कलश में)? १०८ कलश। **कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करनेवाला है, और वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है तथा मोक्ष के कारणों का तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्ता) है...** वह अलग। एक छोटा कलश है। याद आवे तो आवे न! क्या कहा यह? यह तो कलश में है। घात करनेवाला है, निषेधनेयोग्य नहीं है, घात करनेवाला है, ऐसा है। तिरोघाई वह तो है। यह तो कलश में एक शब्द है।

(१६१-१६३ गाथा का भावार्थ) **पहले तीन गाथाओं में कहा था कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों का-सम्यक्त्वादि का घातक है। बाद की एक गाथा में यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। और इन अन्तिम तीन गाथाओं में कहा है कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है..** यह है, परन्तु

एक कलश में कहीं है। एक कलश में कहीं एकदम (लिखा है)। वह कहीं आ गया होगा। आवे तब सही!

यहाँ तो कहना है कि दोनों बन्ध के कारण हैं और निषेध करनेयोग्य है। **आगम से यह सिद्ध करते हैं..** आगम अर्थात् वीतराग की वाणी। जिनेश्वरदेव की आगम की वाणी में ऐसा है - यह कहते हैं। तीन प्रकार कहे - बन्ध के कारण हैं; निषेध करनेयोग्य है; ऐसी आगम की वाणी है। सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि जो आगम, उसका प्रमाण है। १५० (गाथा)

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

नीचे हरिगीत

जीव रागी बांधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ती लहे।
-ये जिनप्रभू उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्म से।।१५०।।

इसकी टीका - **रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है,...** आहाहा! चाहे तो वह शुभराग हो या अशुभराग हो। दया, दान, व्रत, तप का भाव हो; हिंसा, झूठ, विषय का भाव हो, दोनों रागी हैं, दोनों राग है और रागी अवश्य कर्म बाँधता है। आहाहा! वैराग्य प्राप्त - वैरागी अर्थात् शुभ-अशुभभाव से छूटना, इसका नाम वैराग्य है। वैराग्य (अर्थात्) यह स्त्री-पुत्र छोड़े और दुकान छोड़ी; इसलिए वैरागी है - ऐसा नहीं है। आहाहा! वैराग्य उसे कहते हैं कि जो पुण्य और पाप, शुभ-अशुभभाव -राग से विरक्त है, उसे वैराग्य कहते हैं। आहाहा! बाहर से कोई कुटुम्ब-कबीला छोड़कर, दुकान छोड़कर बैठा, (इसलिए) वैरागी है - ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह तो निर्जरा अधिकार में आया है न! ज्ञान-वैराग्य शक्ति। अस्तिरूप से जो भगवान पूर्णानन्द है, उसके अस्तित्व का, सत्ता का, भूतार्थ का, ज्ञायक का जो श्रद्धा और ज्ञानभाव (होना), वह ज्ञान; और पुण्य तथा पाप, शुभाशुभभाव से विरक्त, वह वैराग्य। ज्ञान और वैराग्य दो शक्तियाँ सम्यक्त्वी को हमेशा होती है, ऐसा वहाँ लिया है। वस्तुस्वरूप जो पूर्णानन्द प्रभु, आहाहा! पूर्ण शुद्ध चैतन्य ज्ञायक, अनन्त अतीन्द्रिय गुणमणि रत्न की खान,

आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका ज्ञान, (वह ज्ञान) और शुभ-अशुभभाव से वैराग्य, उस राग से रहित वह वैराग्य। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्म से छूटता है.. विरागी ही..** (कहा है)। इन शुभ-अशुभभाव से जिसे छूटना है, वैराग्य है; वह वैरागी कर्म से छूटता है। रागी पुण्य, दया, दान, व्रत के परिणामवाला छूटता है और छूटने में सहायक है - ऐसा नहीं है। आहाहा! विरक्त-वैरागी ही कर्म से छूटता है। जो पुण्य-पाप में रक्त है, वह बँधता है और जो शुभ-अशुभभाव से विरक्त है, (वह छूटता है)। रक्त है, वह बँधता है; विरक्त है, वह छूटता है। विरक्त अर्थात् वहाँ से छूटा-निवृत्त हुआ है। आहाहा! बाहर की निवृत्ति ली, इसलिए वह वैरागी है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अन्दर के शुभ और अशुभभाव से जो विरक्त अर्थात् वैराग्य है... आहाहा! वही कर्म से छूटता है।

ऐसा जो यह आगमवचन है.. देखो! मूल पाठ में **जिणोवदेसो** है न! जिन का (जिनवर का) यह उपदेश है। भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरों जिनवरों का यह उपदेश है। यह उपदेश है, वह आगम वचन है, क्योंकि 'ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे' और उसमें से आगम रचते हैं। वह आगम, जिनवाणी है। आहा! जिनवाणी में अर्थात् आगम में पुण्य-पाप से छूटना, ऐसा वचन है। शुभाशुभभाव से कुछ लाभ हो, ऐसा वचन वीतराग के उपदेश में- वाणी में नहीं है। आहाहा! हीरालालजी! ऐसा है।

रागी बँधता है और वैरागी छूटता है - ये दो शब्द हुए। चाहे तो पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव (हों), वह बन्धन को पाता है और उन शुभाशुभभावों से विरक्त, (वह) वैरागी है, वह कर्म से छूटता है। आहाहा! ऐसा तो कहा न! व्रत, नियम, शील, तप चारों शुभकर्म हैं, शुभराग है। वह शुभकर्म है। आहाहा! उससे वैराग्य प्राप्त करे, उससे विरक्त हो और आत्मा के स्वभाव में रक्त हो। आत्मा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव में रक्त हो और पुण्य-पाप से विरक्त हो। आहाहा! वह कर्म से छूटता है। आहाहा! यह कठिन पड़ता है। किसी जगह वापस ऐसा कथन होवे न (कि) व्यवहार है, वह साधन है; परन्तु वह तो निमित्त का ज्ञान कराया। भाई! साधन तो यह है।

रात्रि को जरा कहा था, नहीं? अन्तरात्मा, वह परमात्मा का साधन है। बहिरात्मा,

उन पुण्य और पाप को अपना माननेवाला बहिर्-जो वस्तु में नहीं। चिदानन्द प्रभु, ज्ञानघन प्रभु में पुण्य और पाप के भाव नहीं है। आहाहा! ये पुण्य और पाप उसमें नहीं है। आहा! उसमें जो रक्त है, वह बन्धन को पाता है। उससे अन्तरात्मा भिन्न पड़ता है। पहला बहिरात्मा हुआ। शुभराग में भी स्वयं रक्त है, वह बहिर् है। बहिर्, वस्तु में नहीं है, उसमें वह रक्त है; इसलिए वह बहिरात्मा है। आहाहा! और जो वस्तु में नहीं है, वैसे राग में रक्त नहीं और वस्तु के अस्तित्व की श्रद्धापूर्वक शुभ-अशुभभाव से जो विरक्त है और स्वरूप में रक्त है, वह कर्म से छूटता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

यहाँ पन्द्रह दिन के अपवास करे और महीने के अपवास करे, वहाँ बड़ी शोभायात्रा निकाले, मानों इसने क्या किया! भाई! परन्तु (वह) बन्ध का कारण है। शुभराग और उसमें फिर यदि धर्म माने तो मिथ्यात्व का पोषण है। जिस मिथ्यात्व में अनन्त भव करने की ताकत है। आहाहा! ऐसे भाव में धर्म माननेवाला मिथ्या अर्थात् सत्य से विपरीत है। सत्य ऐसा प्रभु, जो रागरहित है—ऐसा सत्य प्रभु, उसकी दृष्टि और उसमें रक्तता (होना) तथा शुभ-अशुभभाव से विरक्तता (होना), वह अन्तरात्मा है। वह अन्तरात्मा, परमात्मा का साधन करता है। राग, परमात्मा का साधन है - ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग में आता है न! अन्तरात्मा होकर परमात्मा को साधे। आहाहा!

इसलिए शुभ-अशुभराग... बहुत कठिन काम, बापू! आहाहा! दोनों को एक जाति कही और आगम का वचन है - ऐसा कहा। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ऐसा कहा कि **जिणोवदेसो..** (अर्थात् कि) जिन का यह उपदेश-वाणी है। आहा! टीकाकार कहते हैं कि यह आगमवचन है, हों! भगवान का ।वचन है न, प्रभु! आहाहा! क्योंकि प्रभु वीतराग है। वे वीतराग होने का उपदेश देते हैं। तो उस वीतराग होने के उपदेश में आगम का वचन यह आया कि राग से विरक्त हो। राग में राचना, वह बन्धन और अज्ञान है। आहाहा! राग में राचना छोड़कर भगवान में राच और राग से विरक्त हो। उसे कर्म से छूटे - ऐसा आगम का वचन है। सिद्धान्त का यह वचन है। चारों ओर खोजकर ढूँढ़ तो यह वचन-सिद्धान्त है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! चारों अनुयोगों में से खोज तो वचन तो यह है। आहाहा! कि, अमुक अनुयोग में ऐसा कहा है कि इस कर्म से लाभ होता है.. आहा! तो यहाँ कहते हैं कि वह आगमवचन नहीं है। आहाहा!

जो यह आगमवचन है, सो.. अर्थात्? कि राग से विरक्त हो, अर्थात्? **सामान्यतया रागीपन की निषेधता के कारण..** इसमें कुछ ऐसा नहीं आया कि अशुभ का निषेध और शुभ का आदर (करना)। **सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण..** संक्षेप में शुभ और अशुभ दोनों के भाव आये। आहाहा!

मुमुक्षु : चरणानुयोग में भी यह है?

पूज्य गुरुदेवश्री : चारों अनुयोगों में सर्वत्र वीतरागता कही है। व्यवहार से उपदेश दिया है (कि) ऐसा करना, ऐसा करे। भावपाहुड़ में भी बहुत कहा है न! भावपाहुड़ में तो बहुत कहा है। वह सोलहकारणभावना से तीर्थंकरगोत्र बाँधता है, पंच महाव्रत की पच्चीस भावना करे... सब बातें (आती हैं)। यह व्यवहारनय से वहाँ ज्ञान कराया है। वह चीज़ है न! परन्तु है वह बन्ध का कारण। आहाहा! ऐसा आगम-मूल आगम का निश्चय वचन, आगम का परमार्थ उपदेश तो यह है। अन्य उपदेश है, वह सब व्यवहार से जानने के लिए कहा है। आहा! आदरने के लिए आगम का वचन यह है। आहाहा! यह तो बाहर से मर जाए, तब समझ में आये, ऐसा है। कहीं बाहर में रस रहे, देव-गुरु-शास्त्र में रस रहे तो भी राग है और वह राग, बन्ध का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : मुनि को महाव्रत सहज होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होते हैं, तो भी बन्ध का कारण है। सहज होते हैं, इसका अर्थ कि वहाँ कर्ताबुद्धि-करने योग्य है नहीं; इसलिए आते हैं और ज्ञाननय से वह परिणमन है, इसलिए कर्ता है - ऐसा भी कहा जाता है। आहाहा! छठवें (गुणस्थान में) पंच महाव्रतरूप से इतना परिणमता है न! वह प्रमाद है; और परिणमता है; इसलिए उसे कर्ता भी कहा जाता है। परिणमन की अपेक्षा से (कर्ता कहा जाता है), करनेयोग्य है - इस अपेक्षा से नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : बन्ध का कारण बराबर है, परन्तु निषेध किस प्रकार करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : निषेध है - ऐसा कहा न! आगम का वचन (है कि वह) निषेध (करनेयोग्य) है।

मुमुक्षु : उस गुणस्थान में तो आयेगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ भले कहा हो।

मुमुक्षु : उस गुणस्थान में तो आयेगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : गुणस्थान भी आदरनेयोग्य नहीं है। गुणस्थान जीव में है ही नहीं। ६८ गाथा। आहाहा! 'जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह' वहाँ इसका अर्थ यह कि भेद है परन्तु तत्त्व में-अन्दर वस्तु में वह भेद नहीं है। आहाहा! चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ (गुणस्थान) वह तीर्थ। तीर्थ है, अर्थात् उससे यहाँ प्राप्त होता है, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। आहाहा! वह अवस्था है, इतना। वह व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है और उस व्यवहार से भिन्न भगवान तत्त्व निश्चय है, उसमें तो यह गुणस्थान का भेद भी नहीं, मार्गणास्थान का भेद भी नहीं, जीव (स्थान के) भेद भी नहीं। आहाहा! जिसमें क्षायिकभाव नहीं.. आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, वही अन्तर में उपादेयरूप से, आदरणीयरूप से स्वीकाररूप से, सत्काररूप से माननेयोग्य है। आहाहा! क्या हो? जगत् पहुँच नहीं सकता, इसलिए कहीं वस्तु दूसरी हो जाएगी? पहुँच नहीं सके, इसलिए मार्ग कहीं दूसरा होगा, बापू! आहाहा!

यहाँ आचार्य कहते हैं **सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है..** उसमें ऐसा नहीं लेना कि पुण्य / शुभभाव व्रत है, वह ठीक है। सामान्यरूप से जो रागी कहा, उसमें सब आ गया। शुभ और अशुभ दोनों भाव रागीपने में आ गये। **रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों..** अर्थात् पर्याय, दोनों परिणाम। **अविशेषतया..** अर्थात् सामान्यरूप से **बन्ध के कारणरूप..** दोनों समान बन्ध के कारण हैं। आहाहा! **अविशेषतया..** (अर्थात्) शुभभाव में बन्ध में कुछ अन्तर है (और) अशुभ में कुछ अन्तर है, ऐसा नहीं है। अविशेष (अर्थात्) सामान्यरूप से शुभ और अशुभ दोनों कार्य-काम **बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है..** आगम। आहाहा! अब उसमें चर्चा-वार्ता करे। आहाहा! खानिया की बड़ी चर्चा हुई है न! उसके सामने यह रखते हैं, बंशीधरजी! जैनदर्शन में बड़ा चला है, लम्बा.. लम्बा.. लम्बा (लेख आता है)। यहाँ तो पढ़ा भी नहीं। जैनदर्शन (तात्कालिक जैन समाचार पत्रिका) में (ऐसा लिखते हैं कि) खानिया में ऐसा है और वैसा है और वैसा है.. अरे! भगवान! क्या हो? बापू! आहाहा!

यहाँ तो **सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिए दोनों कर्मों का निषेध करता है।** लो! आहाहा! चरणानुयोग में उसे करनेयोग्य कहा। कल आया था, नहीं? पंच महाव्रत का! बड़े पुरुष ने आचरण किये हैं, बड़े पुरुष ने किये हैं, वे बड़े हैं। महाव्रत स्वयं बड़े हैं। तीन शब्द रखे थे, तीन थे। आहाहा! उसे उस समय में उसकी दशा में महाव्रत के विकल्प के समय वह दशा है, उस दशासहित के विकल्प हैं, उन्हें यहाँ महाव्रतरूप से, व्यवहाररूप से कहा। निश्चयरूप से तो महाव्रत (अर्थात्) अपने स्वरूप में स्थिर हुआ है, वह महाव्रत है। आहाहा! यह आता है न? नियमसार! ध्यान में सब आता है। यह आता है। नियमसार में एक (जगह आता है)। जो सब क्रियाएँ करे, उसका त्याग करके आत्मा का ध्यान (होना), वह व्रत और तीर्थ और संयम, यह सब वह है। आता है न! आहाहा! ये दोनों कर्म अर्थात् कार्य उनका निषेध करते हैं।

कलश-१०३

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः।।१०३।।

श्लोकार्थ : [यद्] क्योंकि [सर्वविदः] सर्वज्ञदेव [सर्वम् अपि कर्म] समस्त (शुभाशुभ) कर्म को [अविशेषात्] अविशेषतया [बन्धसाधनम्] बन्ध का साधन (कारण) [उशन्ति] कहते हैं, [तेन] इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) [सर्वम् अपि तत् प्रतिषिद्धं] समस्त कर्म का निषेध किया है और [ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं] ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।।१०३।।

कलश - १०३ पर प्रवचन

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- १०३ (श्लोक)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ।।१०३।।

आहाहा! **[यद्]** अर्थात् **क्योंकि [सर्वविदः]** अर्थात् **'सर्वज्ञदेव विदः'** अर्थात् ज्ञानी। सर्व जाननेवाले सर्वज्ञदेव परमात्मा ने **[सर्वम् अपि कर्म] समस्त (शुभाशुभ)..** भाव को **अविशेषतया..** (अर्थात्) सामान्यरूप से। दोनों में कुछ भी अन्तर है, ऐसा नहीं। आहाहा! अविशेष अर्थात् सामान्य; विशेष नहीं। सामान्यरूप से **[बन्धसाधनम्] बन्ध का साधन (कारण) कहते हैं..** लो, ठीक! आहा! शुभ और अशुभभाव दोनों बन्ध के साधन हैं। आहाहा! अब जो बन्ध के साधन हैं, वे मोक्ष के साधनरूप से व्यवहार से डाले, यह नहीं चलता। आहाहा!

सर्वज्ञदेव, अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली... आहाहा! इन शुभ और अशुभभाव को सामान्यरूप से दोनों एक ही समान हैं, (ऐसा) मानकर बन्ध का कारण कहते हैं। भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ऐसा दिव्यध्वनि में फरमाते हैं। आहाहा! **इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) [सर्वम् अपि तत् प्रतिषिद्धं] समस्त कर्म का निषेध किया है..** आहाहा! और शुभाशुभ दोनों भाव का जिनेश्वरदेव ने निषेध किया है। दोनों धर्म नहीं है। आहाहा! तब है क्या?

[ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं] आहाहा! भगवान सर्वज्ञदेवों ने ज्ञान अर्थात् आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप प्रभु, आहाहा! अकेला पुण्य-पापरहित प्रभु शुद्ध, शुद्ध—ऐसे ज्ञान को ही मोक्ष का कारण फरमाया है। अकेला ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, जो दया-दान के विकल्प से भिन्न है, वह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, उस ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है। आगम में यह कहा है। चारों अनुयोग लो। आगम में तो यह आ गया या नहीं? या वे तीन आगम नहीं? चरणानुयोग में ऐसा कहा है और करणानुयोग में ऐसा कहा है। सब कहा है। आहाहा!

भगवान के आगम में तो समस्त कार्य का निषेध है। **'ज्ञानम् एव'** शब्द है। देखा?

एकान्त किया! ज्ञान को ही। कथंचित् आत्मा के स्वभाव को और कथंचित् राग के भाव को मोक्ष का कारण (कहा है, ऐसा नहीं)। ऐसा कथंचित् (शब्द का अर्थ) नहीं है। आहाहा! **'ज्ञानम् एव'** भगवान आत्मा शुभ-अशुभभावरहित, ऐसा जो चैतन्यस्वरूप, महान ध्रुव नित्य आत्मस्वरूप; पुण्य-पाप तो क्षणिक, कृत्रिम, विकार, दुःखरूप एक समयमात्र का विभाव है और यह भगवान ज्ञानस्वभावी त्रिकाल है। उस त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को ही मोक्ष के साधनरूप से प्रभु ने वर्णन किया है। आहाहा!

उसमें तो भगवान की भक्ति को भी मोक्ष के साधनरूप से निषेध किया है। देव, गुरु और शास्त्र की भक्ति, वह भी राग में-सामान्यराग में आ जाती है। राग कहा, राग से बँधता है, वह सामान्यराग में यह बात आ जाती है। आहाहा! भारी कठिन काम। भक्तिवालों को कठोर पड़े, क्रियाकाण्डवालों को कठोर (पड़े) और न कर सके, उसे कठोर पड़े। कर नहीं सकता, इसलिए (ऐसा होता है कि).. यह क्या!

मुमुक्षु : कर नहीं सकता फिर किस प्रकार करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर सकता है, हाँ। उसके ज्ञान में पहले निर्धार तो निर्णय करे कि शुभाशुभभाव बन्ध के ही कारण हैं और ज्ञानस्वरूप भगवान, जो शुभ-अशुभभाव से रहित त्रिकाल है, वीतरागमूर्ति है, जिनस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, ईश्वरस्वरूप है, उसे उसका साधन करे, उसे मोक्ष होता है। आहाहा! ऐसा है।

ज्ञान को ही... ऐसा कहा है न! **'ज्ञानम् एव'** वहाँ ऐसा नहीं कहा कि आत्मा का स्वभाव साधन है और राग भी कथंचित् साधन में कहते हैं। यह सैंतालीस नय में आता है न! व्यवहारनय-निश्चयनय, क्रियानय-ज्ञाननय दोनों आते हैं। लो! सैंतालीस नय में तो क्रियानय को डाला है। वह तो एक समय की योग्यता सब उस प्रकार की गिनी है। किसी को क्रियानय और किसी को ज्ञाननय; किसी को व्यवहारनय और किसी को निश्चयनय- ऐसा नहीं है। आहाहा! सैंतालीस नय में (आता है न)! वह तो एक के एक जीव को, जिसकी दृष्टि स्वभाव पर पड़ी है, उसकी पर्याय में ऐसे एक-एक नय के भावों की योग्यता गिनकर कहने में आया है। वे एक साथ हैं। किसी को क्रियानय से और किसी को ज्ञाननय से, किसी को व्यवहार से और किसी को निश्चय से (होता है), ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसा मार्ग है, कठिन मार्ग है। एक तो सुनने को मिलता नहीं.. आहाहा! और इस दुनिया की पंचायत का पार नहीं होता। धन्धा-पानी पाप का करे और उसमें निवृत्त होवे तो सुनने को मिले (कि) व्रत करो और तप करो और भक्ति करो.. यह मिले बेचारे को। उसका घण्टा (भर समय) लुट जाता है। आहाहा! ऐसा मनुष्य देह मिला, उसमे तूने क्या किया? भाई! आहाहा! मनुष्य देह तो चला जाएगा, बापू! आहा! उसका क्षण और पल निश्चित है। जो समय है, उस समय में देह छूटकर चला जाएगा। आहा! तेरा तूने क्या किया? प्रभु! आहाहा! बाहर में नाम निकाला कि यह पाँच-पचास हजार और लाख, दो लाख, पाँच लाख, पच्चीस लाख इकट्ठे किये, परिवार में सामने पड़ा। (वह तो) पापी प्राणी में सामने पड़ा पापी। आहाहा! कर्मी.. कर्मी.. कर्मी नहीं कहते? हमारा लड़का कर्मी जगा है। कर्मी जगा है न? (उसका अर्थ) पापी जगा है। आहाहा! आहाहा!

भगवान जिनेश्वरदेव ने तो आत्मा का जो स्वभाव शुद्ध चैतन्यघन है, उसका आश्रय लेकर मोक्ष का साधन हो, ऐसा कहा है। आहाहा! अनन्त तीर्थंकर, अनन्त हो गये, वर्तमान प्रभु विराजते हैं-महाविदेह में बीस तीर्थंकर, लाखों केवली विराजते हैं, प्रभु! अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली हो गये हैं, हैं और होंगे, (उन) सब तीर्थंकरों के उपदेश की यह ध्वनि है। आहाहा! अरे कैसे जँचे? वाड़ा में-सम्प्रदाय में पकड़ा गया हो, (उसे यह नहीं जँचता)। उसके गुरु उसे कहते हों, यह व्रत करो, यह तप करो, यह अपवास करो, यह करो, यह करो.. छह परबी कन्दमूल नहीं खाना, छह परबी ब्रह्मचर्य पालन करना, वह धर्म नहीं? धूल में भी नहीं, सुन न! धूल में नहीं अर्थात्?—कि वहाँ पुण्यानुबन्धी पुण्य भी नहीं है। आहाहा! ऐसा काम कठिन पड़े बेचारे को। यह तो सोनगढ़ और जंगल! इसमें किसी का वाड़ा नहीं कि वाड़ा में रहे। ऐसी बात (करे तो) वाड़ा में रहने न दे। आहाहा!

प्रभु! तेरा हित कैसे हो? बापू! ऐसा मनुष्य देह मिला। अनन्त काल में मुश्किल से मनुष्य देह (मिला), उसमें भी आर्यकुल—जैनकुल में अवतार। भले नाम जैन (होवे), प्रभु! उसमें वीतराग की वाणी तुझे सुनने को मिले! आहाहा! ऐसी दुर्लभता में यह बात यदि नहीं समझा, प्रभु! आहा! भाई! तेरा अवसर कहाँ आयेगा? ऐसा अवसर चूककर बापू! यह अनन्त भव के गर्भ में अनन्त भव का दु:ख है, भाई! उसमें भटकन में अनजाने क्षेत्र में, अनजाने काल में जाकर अवतरित होगा। आहाहा! उसमें इसे इसमें के कोई साथ में नहीं आयेंगे। आहाहा!

अनन्त तीर्थंकर..! यहाँ वजन क्यों देना है ? **(ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं)** आगम में, वीतराग का आगम उसे कहते हैं कि जिस आगम में.. आहाहा! आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, आत्मा का चारित्र, आत्मा के आश्रय से होनेवाली वीतरागीदशा, वह ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, वही एक मोक्ष का साधन है - ऐसा अनन्त तीर्थंकरों ने दिव्यध्वनि में यह वचन कहे हैं, प्रभु! तुझे कैसे (जँचे) ? आहाहा! **ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।** यहाँ वजन इतना है। कथंचित् व्यवहार और कथंचित् आत्मा के स्वभाव को (साधन कहा है, ऐसा नहीं) तथा उस ज्ञान का आत्मस्वभाव, यह व्यवहार पहले आवे तो उससे होगा, यह बात यहाँ तो की नहीं है। आहाहा!

भगवान ज्ञान की मूर्ति प्रभु चैतन्यघन आत्मा, ज्ञायकभाव, नित्यभाव, ध्रुवभाव, अभेदभाव, एकभाव, सामान्यभाव, सदृशभाव, भूतार्थभाव.. आहाहा! उसके आश्रय से जो साधन हो, उसे मोक्ष का साधन कहा है। आहाहा! बाकी बीच में सब मन्दिर और यह धूमधाम और यह सब हा.. हो.. हा.., उसमें कुछ भी मोक्ष का कारण है, ऐसा नहीं है, कहते हैं। यह बड़ा बाईस लाख का मन्दिर (बनाया), यह क्या है ? आहाहा! इसका प्रेम और भक्ति हो तो शुभभाव है। शुभभाव, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा!

तीन शब्द हैं **(ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं)** फरमाया है। अनन्त तीर्थंकरों ने आत्मा के ज्ञानस्वभाव में जाना, वहाँ स्थिर होना, वहाँ रहना, वहाँ दृष्टि करना.. आहाहा! उसे अनन्त सर्वज्ञों ने मोक्ष का कारण फरमाया है। आहाहा! थोड़ा लिखा बहुत जानना, ऐसा लिखा है। आहाहा! ऐसा थोड़ा कहा, बहुत मानना। आहाहा! आहाहा!

पहले इसके ज्ञान में निर्णय तो करे, प्रभु! कि यह आत्मा जो त्रिकाल स्वभाव है, वह शुभ-अशुभ क्रियाकाण्ड के राग से तो वह भिन्न चीज़ है। भिन्न चीज़ को भिन्न राग से लाभ हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

ज्ञान को ही मोक्ष का कारण.. ओहो! इतने शब्दों में तो कितना भरा है!! आहाहा! आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, उसे ही। व्यवहार भी बीच में आवे, इसलिए साधन है, ऐसा नहीं है। उसे (ज्ञान को) मोक्ष का कारण, परमात्म (पद की) प्राप्ति का कारण अनन्त तीर्थंकरों ने **कहा है।** आहा! है न ? **विहितं** यह **विहितं** आहाहा! अनन्त सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसी **विहितं** यह विधि कही है। कहा है, यह फरमान है। आहाहा! अब उसमें चर्चा और वार्ता और... आहाहा!

जबकि समस्त कर्मों का निषेध कर दिया गया, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रही... आप कहते हो कि व्रत, तप और भक्ति बेचारा पूरे दिन करे तो समय तो मिले, आधार तो मिले। उसका तो तुमने निषेध किया। अब उन्हें शरण किसका? अहिंसा, सत्य, अचौर्य व्रत पालना, ब्रह्मचर्य पालना, स्त्री का संसर्ग करना नहीं, नौ वाड से ब्रह्मचर्य पालना, ऐसा कुछ उसे करने का तो आवे। आहाहा! जब तुमने ऐसे भाव का तो निषेध किया, तब मुनि किसकी शरण में मुनिपना पालेंगे? ऐसे व्रतादि, तपादि भाव को तो तुमने संसार और बन्ध का कारण कहा। मूल पाठ में संसार कहा है। राग अर्थात् संसार – ऐसा शब्द है। राग, वह संसार। चाहे तो दया, दान, व्रत, तप का राग / विकल्प हो परन्तु (वह) संसार है। आहाहा! जब तुमने उसका निषेध किया, तब उन्हें शरण क्या? करने का जो था, जो आचरण में रखने का था, जो किया जा सके ऐसा था, जो वैसे किया जा सकता है, अब उसका तो तुमने निषेध किया। आहाहा! तब अब उन्हें करना क्या? उन्हें रहा क्या? जो करने की क्रियाएँ (थीं) व्रत और नियम अपवास और भक्ति और विनय का तो तुमने निषेध किया। तो अब उन्हें करने का क्या रहा? आहा! ऐसा शिष्य का प्रश्न है। **सो अब कहते हैं:-**

कलश-१०४

जबकि समस्त कर्मों का निषेध कर दिया गया, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रही, सो अब कहते हैं:-

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरित-मेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परम-ममृतं तत्र निरताः।।१०४।।

श्लोकार्थ : [सुकृतदुरिते सर्वस्मिन् कर्मणि किल निषिद्धे] शुभ आचरणरूप कर्म

और अशुभ आचरणरूप कर्म – ऐसे समस्त कर्मों का निषेध कर देने पर [नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते] निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान; [मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति] मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; [तदा] (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है, तब [ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि] ज्ञान में आचरण करता हुआ–रमण करता हुआ–परिणमन करता हुआ ज्ञान ही [एषां] उन मुनियों को [शरणं] शरण है; [एते] वे [तत्र निरताः] उस ज्ञान में लीन होते हुए [परमम् अमृतं] परम अमृत का [स्वयं] स्वयं [विन्दन्ति] अनुभव करते हैं–स्वाद लेते हैं।

भावार्थ : किसी को यह शंका हो सकती है कि – जब सुकृत और दुष्कृत – दोनों को निषेध कर दिया गया है, तब फिर मुनियों को कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिए वे किसके आश्रय से या किस आलम्बन के द्वारा मुनित्व का पालन कर सकेंगे? आचार्यदेव ने उसके समाधानार्थ कहा है कि – समस्त कर्मों का त्याग हो जाने पर ज्ञान का महा शरण है। उस ज्ञान में लीन होने पर सर्व आकुलता से रहित परमानन्द का भोग होता है–जिसके स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मों को ही सर्वस्व जानकर उन्हीं में लीन हो रहे हैं, वे ज्ञानानन्द के स्वाद को नहीं जानते।।१०४।।

श्लोक – १०४ पर प्रवचन

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरित–मेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परम–ममृतं तत्र निरताः।।१०४।।

आहाहा! **[सुकृतदुरिते सर्वस्मिन् कर्मणि किल निषिद्धे]** प्रभु! **शुभ आचरणरूप..** देखा? शुभ आचरण (कहा है)। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, उपवास यह **शुभ आचरणरूप कर्म..** अर्थात् भाव–कार्य **और अशुभ आचरणरूप कर्म..** हिंसा, झूठ, चोरी, विषय यह दुकान का धन्धा–पानी, दुकान की गद्दी पर बाईस घण्टे बैठे न! बाईस घण्टे तो (न बैठे), छह–सात घण्टे सोये न! दो–चार घण्टे खाने–पीने में, स्त्री, पुत्र प्रसन्न करने में जाए, दुकान में छह–सात घण्टे बैठे। दस–दस घण्टे बैठे।

हमारे दुकान थी न! हमारे कुँवरजीभाई सवेरे उठें वे... छह बजे से रात के नौ बजे तक! हमारे पालेज में दुकान (थी)। कहा, तुम यह क्या करते हो? पूरे दिन यह! यह तो अकेला पाप है। ऐ.. बहिन आओ, ऐ.. भाई आओ, यह माल लो, अमुक लो, अमुक लो, ऐसा है, वैसा है... इसके दो रुपया हैं, तो वह कहे हमारे पास इतने नहीं हैं। तो कहे, दो आने कम देना, लो न! तुम्हारी जिन्दगी इसमें जाती है, यह क्या है? कहा यह। दुकान का धन्धा, स्त्री-पुत्र को प्रसन्न करने में, छह-सात घण्टे नींद में (जाते हैं).. अरे रे! उसे घण्टे-दो घण्टे समय मिले (और) सुनने में जाए तो (सुनने में) ऐसा मिले वापस! व्रत करो, तप करो, उससे तुम्हारा कल्याण होगा। अरे प्रभु! तब अब इसे करना क्या? आहाहा!

जो कुछ किया जा सके, दिखता है, दूसरों को दिखता है, उस बात का तो तुम निषेध करते हो। आहाहा! तब मुनि को क्या करना? परन्तु प्रभु! तुझे खबर नहीं, सुन! आहाहा! **और.. [नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते] निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान;..** आहाहा! यह शुभ-अशुभ जो कर्म अर्थात् भाव, उनसे रहित निष्कर्म अवस्था। अन्य कर्म अवस्था है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव वह कर्म विकार, संसार अवस्था है। उससे **निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान;..** आहाहा! मुनि उसे कहते हैं कि उस शुभ-अशुभभाव से निवृत्ति होकर **निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान;... [मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति] मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं;..** कुछ अन्दर करने का नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! शुभाशुभभाव से रहित हुआ, निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तता है, वह कुछ करने का नहीं है, ऐसा नहीं है। यह निष्कर्म आत्मभगवान अन्दर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तता है। आहाहा!

शुद्धज्ञानघन भगवान आत्मा इन शुभ-अशुभभावरहित निष्कर्म दशा में प्रवर्तता है। प्रभु! आहाहा! है न? **[नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते] निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान;..** आहाहा! **[मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति] मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं;..** आहाहा! **(क्योंकि) जब निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था प्रवर्तमान होती है..** आहाहा! जब इस शुभभाव से भी निवृत्ति(रूप) ऐसी अवस्था सन्तों, सच्चे मुनियों को प्रवर्तमान है.. आहाहा! वह शुभभाव कर्म है, विकार है, कार्य है, उससे निवृत्तिरूप निष्कर्म अवस्था (में अर्थात् कि) स्वभाव सन्मुख में (प्रवर्तमान है)। आहाहा! **जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है तब..**

[ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि] आहाहा! **ज्ञान में आचरण करता हुआ–रमण करता हुआ–परिणमन करता हुआ ज्ञान ही..** आहाहा! आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु, वह आनन्द और ज्ञान में रमता हुआ.. आहाहा! वह निष्कर्म अवस्था, वह इसे करनेयोग्य शरण है। शुभाशुभ छूट गया, इसलिए इसे कुछ करने का नहीं रहा, ऐसा नहीं है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अन्दर आनन्द का सागर, अतीन्द्रिय अनन्त गुण की रत्न की माला भरी है! आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा में एकाग्रता, वह निष्कर्म अवस्था, वह मुनियों को शरण है। आहाहा! अब यहाँ तो बाहर के व्रत पालन किये और यह किये... (उसका) भी ठिकाना कहाँ है? आहाहा!

निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है, तब **[ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं]** आहाहा! आत्मा, आत्मा में आचरण करता हुआ। यहाँ 'ज्ञान' शब्द लिया है अर्थात् आत्मा। पुण्य-पाप के भाव, वे कहीं आत्मा नहीं है; वे तो अनात्मा है। आहाहा! **ज्ञान में आचरण करता हुआ..** भगवान शुद्धस्वरूप पर दृष्टि पड़ने से शुद्धस्वभाव का अवलम्बन लेने से ज्ञान में अर्थात् आत्मा में आचरण करता हुआ, आत्मा में **रमण करता हुआ..** आत्मा में **परिणमन करता हुआ..** आहाहा! वह **ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है;..** आहाहा! ऐसा मार्ग! अन्तर आत्मा में ध्यान में प्रवर्तते हैं, वही उन्हें शरण है। राग और पुण्य-पाप के परिणाम छोड़कर,.. सन्त-जैन के सन्त उन्हें कहते हैं। आहाहा!

जैन कोई पक्ष नहीं, वाड़ा नहीं। जैन तो वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! जैन कोई पक्ष-वाड़ा नहीं है। वह तो वस्तु जिनस्वरूप है। 'घट घट अन्तर जिन बसै' वह जिनस्वरूपी प्रभु भगवान आत्मा है, बापू! तुझे खबर नहीं है। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव के त्याग में, उसे जिनस्वरूप ऐसा वीतराग (स्वरूप) का आश्रय लेकर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तता है। आहाहा! अरे रे! ऐसा कठिन! ऐसा सुना भी न हो। अकेले पाप में जिन्दगी (व्यतीत करे)। आहाहा! अरे रे.. पशु के जीवन और मनुष्य के जीवन में अन्तर क्या? वह भी खावे-पीवे, मैथुन और विषय और सोवे, यह भी वह का वही (करे), उसमें अन्तर क्या? बापू!

यहाँ तो जब शुभ व्रतादि के परिणाम का निषेध किया, प्रभु! तब इसे अब आचरना क्या? आचरण जो है, दिखता है, किया जा सकता है, उसका तो तुमने निषेध किया कि

यह तो राग है। आहाहा! यह बन्ध का कारण है। प्रभु! तेरा नाथ अन्दर विराजता है या नहीं? भाई! इन पुण्य-पाप का निषेध हुआ, इसलिए तेरी वस्तु का वहाँ निषेध हुआ? आहाहा! शुभ-अशुभभाव का निषेध होने से, प्रभु अन्दर ज्ञानघन, आनन्दघन, चिदानन्द प्रभु विराजता है। आहाहा! वह शुभाशुभभाव से निवर्तता है, तब शुद्धस्वभाव में प्रवर्तता है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञान में आचरण करता हुआ.. '**प्रतिचरितम्**' है न? '**ज्ञाने प्रतिचरितम्**' ज्ञान में आचरण, ऐसा। **ज्ञान में आचरण करता हुआ...** यह '**प्रतिचरितम्**' का अर्थ किया। वापस यह **रमण करता हुआ...** इसका अर्थ (भी यह है) अथवा **परिणमन करता हुआ..** यह '**प्रतिचरितम्**' का अर्थ है। '**ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि एषां**' **उन मुनियों को-सन्तों को शरण है;..** आहाहा! **वे उस ज्ञान में लीन होते हुए..** आहाहा! सन्त तो उन्हें कहते हैं कि जो आनन्द और यह ज्ञानस्वरूप प्रभु, उसमें लीन होते हुए। आहाहा! शुभाशुभपरिणाम के क्रियाकाण्ड में से छूटकर.. आहाहा! **ज्ञान में...** अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वभाव में। **लीन होते हुए..** क्या कहा, देखा?

[तत्र निरताः] अपने पुरुषार्थ से ज्ञान में लीन होते हुए। स्वरूप जो आत्मा है, ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, उसमें लीन होने पर। आहाहा! अनित्य और कृत्रिम, शुभाशुभभाव से छूटे, इसलिए कोई शरण नहीं हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! उन्हें भगवान आत्मा का शरण है। **ज्ञान में लीन होते हुए.. [परमम् अमृतं]** यह शुभ-अशुभभाव तो जहर था। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के परिणाम तो जहर थे। आहाहा! वहाँ से छूटा, वह **परम अमृत का स्वयं अनुभव करते हैं..** आहाहा! अमृत को **स्वाद लेते हैं।** अन्दर अमृतघन है, प्रभु! आनन्द का नाथ परमात्मा स्वयं है! आहाहा! ऐसे अमृत को (अनुभव करते हैं)। **[परमम् अमृतं]** वापस। दुनिया के बाहर के अमृत बहुत कहलाते हों। आहाहा!

परम अमृत का.. [स्वयं] स्वयं.. स्वयं, स्वयं (अर्थात्) पर की अपेक्षा बिना। **[विन्दन्ति]** अर्थात् **अनुभव करते हैं..** वह उन्हें शरण है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१५१

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति –

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।१५१।।

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ।।१५१ ।।

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबन्धहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकल–कर्मादिजात्यन्तरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत्।

स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः, सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः, केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली, मननमात्रभावतया मुनिः, स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी, स्वस्य भवन–मात्रतया स्वभावः, स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ।।१५१।।

अब यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान मोक्ष का कारण है:–

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानि है।
तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्ष की प्राप्ती करै।।१५१।।

गाथार्थ : [खलु] निश्चय से [यः] जो [परमार्थः] परमार्थ (परम पदार्थ) है, [समयः] समय है, [शुद्धः] शुद्ध है, [केवली] केवली है, [मुनिः] मुनि है, [ज्ञानी] ज्ञानी है, [तस्मिन् स्वभावे] उस स्वभाव में [स्थिताः] स्थित [मुनयः] मुनि [निर्वाणं] निर्वाण को [प्राप्नुवंति] प्राप्त होते हैं।

टीका : ज्ञान मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होने से उसके इस प्रकार मोक्ष का कारणपना बनता है। वह ज्ञान, समस्त कर्म आदि अन्य जातियों से भिन्न चैतन्य–जातिमात्र परमार्थ (–परम पदार्थ) है–आत्मा है। वह (आत्मा) एक ही साथ एकरूप से प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होने से

समय है; समस्त नयपक्षों से अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है; केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है; केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होने से मुनि है; स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है; 'स्व' का *भवनमात्रस्वरूप होने से स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्य का भवनमात्रस्वरूप होने से सद्भाव है (क्योंकि जो स्वतः होता है, वह सत्-स्वरूप ही होता है)। इस प्रकार शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है, (यद्यपि नाम भिन्न-भिन्न हैं, तथापि वस्तु एक ही है)।

भावार्थ : मोक्ष का उपादान तो आत्मा ही है। परमार्थ से आत्मा का ज्ञान-स्वभाव है; जो ज्ञान है, सो आत्मा है और आत्मा है, सो ज्ञान है। इसलिए ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना योग्य है।

प्रवचन नं. २३२, गाथा १५१-१५२ दिनाङ्क २१-०५-१९७९, सोमवार

बैशाख कृष्ण १०

समयसार, १५१ गाथा। (गाथा) १५० पूरी हो गयी। **अब यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान मोक्ष का कारण है:-** १५१। ज्ञान अर्थात् आत्मा का स्वभाव, शुद्धस्वभाव है, वही मोक्ष का कारण है। पुण्य और पाप के (भाव), व्रतादि बन्ध के कारण हैं। वे कहीं मोक्ष के कारण नहीं हैं।

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।१५१।।

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानि है।
तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्ष की प्राप्ती करै।।१५१।।

ज्ञान मोक्ष का कारण है... ज्ञान अर्थात् आत्मा। आत्मा का त्रिकाली शुद्धस्वभाव, शुभ-अशुभभावरहित ऐसा जो आत्मा का ज्ञानस्वभाव, वह मोक्ष का कारण है। **क्योंकि वह (ज्ञान)..** अर्थात् आत्मा का का शुद्धस्वभाव **शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होने से..**

---

*भवन = होना;

आज यह बड़ा लेख आया है, ऐसा कि व्रत और यह सब संवर-निर्जरा का कारण है क्योंकि द्रव्यसंग्रह में ३५वीं गाथा में आता है न! वह बात यहाँ (संवत्) १९९४ पहले हीराभाई के मकान में पहले हो गयी थी। द्रव्यसंग्रह। व्रत, समिति, संवर-निर्जरा का कारण है। टीका में स्पष्ट (लिखा) है। व्रत अर्थात् शुभाशुभभावरहित-ऐसी स्पष्ट टीका है। निश्चय की बात है। अब वह यह मोक्ष का कारण है। यह और एक पुरुषार्थसिद्धियुपाय (में) 'असमग्र' आता है न! रागादि हैं, वह भी मोक्ष का उपाय है, बन्ध का (भी कारण है) दोनों लेते हैं। ऐसा। उसमें यह सिद्ध करते हैं। और एक श्रावक के अधिकार (में) शुभभाव परम्परा मोक्ष का कारण है, (ऐसा) आता है न! वह यह सब डालते हैं। द्रव्यसंग्रह की ३५वीं गाथा में तो स्पष्ट (शब्द हैं)। यह बात तो हीराभाई के मकान में (संवत्) १९९४ से पहले बहुत हो गयी है (कि) भाई! यह तो निश्चय की बात है। पाठ-टीका है। व्रत अर्थात् शुभाशुभभावरहित ऐसा जो व्रत, वह मोक्ष का कारण है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। ३५वीं गाथा है। उसमें यह डाला है कि, देखो! यह संवर-निर्जरा का कारण है परन्तु संवर-निर्जरा का कारण तो शुद्ध है। व्रत शब्द पड़ा है अर्थात्? आहाहा! वह उज्जैन का दयाचन्द जैन है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मस्वभाव **शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होने से..** आत्मस्वभाव, शुद्धस्वभाव शुभाशुभभावरहित, उसके स्वभाव की परिणति बन्ध का कारण नहीं होने से। **उसके इस प्रकार मोक्ष का कारणपना बनता है।** आहाहा! इसमें बड़ा झगड़ा! काया से और मन से ऐसा कि निवृत्ति ले तो संवर-निर्जरा होती है, ऐसा (अज्ञानी कहता है)।

यहाँ कहते हैं कि मोक्ष का कारण तो एक आत्मा का स्वभाव शुद्धस्वभाव, पवित्र स्वभाव है। उसे यहाँ ज्ञानरूप से कहा है। वह ज्ञान मोक्ष का कारण है क्योंकि ज्ञान अर्थात् आत्मस्वभाव। परिणति, हों! **शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होने से उसके इस प्रकार मोक्ष का कारणपना बनता है।** आहाहा! अस्ति-नास्ति की है। ज्ञानस्वभाव, वह मोक्ष का कारण है और शुभाशुभभाव बन्ध का कारण, वह ज्ञान नहीं। ज्ञान शुभाशुभ बन्ध का कारण नहीं और ज्ञान मोक्ष का कारण है। ऐसे दो अस्ति-नास्ति सिद्ध की है। आहाहा!

वह ज्ञान, समस्त कर्म आदि अन्य जातियों से भिन्न.. (अर्थात्) शुभाशुभ

परिणाम आदि, कर्म आदि से भिन्न। **चैतन्य-जातिमात्र..** वह तो चैतन्य-जातिमात्र। आहाहा! और ये शुभाशुभभाव (होते हैं), वह चैतन्य जाति नहीं है। आहाहा! चैतन्य जाति (अर्थात्) ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता इत्यादि हैं, वह **चैतन्य-जातिमात्र परमार्थ (-परम पदार्थ) है..** आहाहा! **वह ज्ञान,..** अर्थात् यहाँ ज्ञान का परिणमन लेना है, स्वभाव! त्रिकाली ज्ञान का आश्रय है, वहाँ परिणति हो, वह मोक्ष का कारण है, ऐसा। त्रिकाली द्रव्य मोक्ष का कारण है, यह सिद्ध नहीं करना। त्रिकाली वस्तु शुद्ध है, उसके आश्रय से जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द प्रगट हो, वह मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभ बन्ध का कारण नहीं है; इसलिए उसे परमपदार्थ कहा गया है। आहाहा!

अन्य जातियों से भिन्न चैतन्य-जातिमात्र... आहाहा! जानन-देखन, आनन्दादि चैतन्य-जातिमात्र। इसमें पुण्य-पाप के भाव (हों), वह चैतन्य जाति नहीं; कुजाति है। आहाहा! ऐसा लोगों को कठिन पड़ता है। महाव्रत और व्रत लेकर बैठे, अब उसे संवर-निर्जरा सिद्ध करना है। यह **आत्मा है। चैतन्य-जातिमात्र परमार्थ (-परम पदार्थ) है-आत्मा है।** अर्थात् इस ज्ञानस्वभाव का जो परिणमन (हुआ), वह मोक्ष का कारण है, वह आत्मा है। समझ में आया?

दूसरा बोल। **वह (आत्मा) एक ही साथ (युगपद्) एक ही साथ एकत्वपूर्वक प्रवर्तमान ज्ञान..** प्रवर्तमान, हों! **ऐसा जो ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होने से समय है,..** अन्तर आनन्द और ज्ञान का परिणमन। है न? आहाहा! ऐसा जो **ज्ञान और गमन..** जानना और परिणमना, ऐसा। जानना और जानने का परिणमन, आनन्द और आनन्द का परिणमन, शान्ति और शान्ति का परिणमन। आहाहा! वह मोक्ष का कारण है। उसे समय कहा जाता है, ऐसा कहते हैं परन्तु समय अर्थात् द्रव्य नहीं, पर्याय की बात है।

शुद्ध चैतन्य वस्तु है, उसके अवलम्बन से-आश्रय से उसकी जाति की परिणमन दशा हो, चैतन्य की जाति का परिणमन हो, वह मोक्ष का कारण है और वह शुभाशुभ बन्ध का कारण नहीं है; इसलिए वह मोक्ष का उपाय है। उसे परमपदार्थ कहा जाता है। वह आत्मा का परिणमन है, वह परमपदार्थ है। वह आत्मा स्वयं परमपदार्थ है तो उसका परिणमन, मोक्ष का कारण, वह परमपदार्थ है। शुभाशुभभाव, वह परमपदार्थ नहीं है। आहाहा! आहा! वह ज्ञान और गमन (अर्थात्) जानना और परिणमन करना, उस **स्वरूप**

होने से समय है, यह मोक्ष के मार्ग की दशा की बात है। आहाहा! समय है, यह समय-त्रिकाली तो समय है, परन्तु त्रिकाली समय का आश्रय लेकर जो परिणति हुई, उसे भी यहाँ समय कहा जाता है। समझ में आया?

रात्रि को भिण्डरवाले भाई (आये) थे, वे गये? नहीं लगते, गये होंगे। भिण्डरवाले नहीं? रात्रि को (आये थे)।

मुमुक्षु : उनका नाम उदयप्रकाश...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह चाहे जो हो। चलता हो और कहे कुछ। उसकी शैली ऐसी है। सब विरुद्ध शैली। यहाँ है या नहीं? तब कहे, नहीं।

(यहाँ अपने) दूसरा बोल (चलता है)। **'परमट्ठो'** कहा है न? इसलिए पहले परमार्थ की व्याख्या की है। १५१ (गाथा) है न? **'परमट्ठो'** की व्याख्या की है। पहला पद **'परमट्ठो'** है न! उसकी व्याख्या की। फिर दूसरा (बोल) **'समओ'** कहा। पश्चात् तीसरा (बोल) **'सुद्धो'**।

समस्त नयपक्षों से अमिश्रित.. यहाँ शुद्ध की यह व्याख्या है। **'अहमेक्को खलु सुद्धो'** (३८वीं गाथा में कहा) वहाँ दूसरी व्याख्या (की है)। जिस जगह जो व्याख्या (हो तद्नुसार अर्थ समझना) और शुद्ध शब्द आवे, उसके अर्थ बहुत होते हैं। एकरूप को शुद्ध कहते हैं, शुद्ध को एकरूप कहा जाता है। यहाँ **समस्त नयपक्षों से...** आहाहा! विकल्प से रहित, ऐसा कहना है। नयपक्षों (कहा है न)? (इसीलिए इसका अर्थ) विकल्प। मैं अबद्ध हूँ, मुक्त हूँ-ऐसे नय के पक्ष से **अमिश्रित..** ऐसे विकल्प से नहीं मिश्रित। **एक ज्ञानस्वरूप होने से..** एक ज्ञानस्वरूप होने से **शुद्ध है,..** आहाहा! जिसमें शुभाशुभभाव का मिश्रण नहीं है। अकेले आत्मा की चैतन्य जाति की शुद्धता का परिणमन है। आहाहा! उसे यहाँ शुद्ध कहा गया है।

गाथा ७३ शुद्ध कहा था, वह फिर एक समय की षट्कारक की परिणति (से पार उतरी हुई जो अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने के कारण शुद्ध है)। वहाँ दूसरा कहा था। यह तो पहले लिया है न? **'अहमेक्को खलु सुद्धो'** अखण्डित हूँ, एक हूँ, पूर्ण हूँ। शुद्ध की व्याख्या वहाँ यह की है।

यहाँ नयपक्ष से रहित (कहा है)। शुभ से तो रहित ही है। साधारण जो दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभ (भाव) हैं, उनसे तो रहित है, परन्तु नयपक्ष के भाव से भी रहित है। यह विकल्प है, राग है। आहाहा! इससे रहित **एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है,..** आहाहा!

केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है;.. यह पर्याय स्वयं केवली है। निर्मल है न, (इसलिए ऐसा कहा) और चारित्र पाहुड़ में आया न! 'अमेया'! अक्षय और अमेया। पर्याय, हों! स्वयं भगवान आत्मा अक्षय और अमेय है अर्थात् मर्यादारहित स्वभाव जिसका अमर्यादित है। आहाहा! मर्यादा नहीं है। इतना-इतना अपा.. र.. अपा.. र.. गहन गम्भीर ऐसा भगवान आत्मा का एक-एक गुण का ऐसा गहरा-गहरा स्वभाव है, ऐसे अनन्त गुणों का गहरा स्वभाव। आहाहा! उसका परिणमन.. आहाहा! उसे (यहाँ) केवली (कहा है)। केवली अर्थात् केवल, ऐसा। केवल! रागरहित अकेला केवली भाव, वह केवल। केवली अर्थात् वे केवली भगवान यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो मोक्षमार्ग लेना है। आहाहा! अकेला! शुभाशुभभाव से रहित अकेला शुद्धपरिणमन का भाव-केवल। इससे उसे केवली, ऐसा कहा गया। आहाहा!

पुरुषार्थसिद्धियुपाय में असमग्र (आता) है न! वहाँ उसका अर्थ (लोग) विपरीत करते हैं न! देखो! बन्ध भी मोक्ष का कारण है! उसका अर्थ भाई ने दूसरा किया है। कैलाशचन्दजी ने। टोडरमलजी ने तो बराबर अर्थ किया है। उनका बराबर किया हुआ है। आहाहा! परन्तु क्या हो? प्रभु! अपनी मान्यता को पुष्टि करना है, ऐसे शास्त्र के अर्थ करना है, परन्तु शास्त्र को जो पुष्टि करनी है, उस प्रकार से उसका अर्थ करना (चाहिए)। आहाहा!

यहाँ तो केवली (कहा है अर्थात्) अकेला केवल। जिसे पुण्य का सम्बन्ध नहीं, ऐसा। शुभराग का जिसे जरा सम्बन्ध नहीं, संग नहीं। आहाहा! ऐसा जो शुद्धमार्ग, उसे यहाँ केवलीरूप से (कहा है) केवल, अकेला, शुद्ध है, इससे केवली, ऐसा। है तो मोक्षमार्ग। आहाहा! (यह) केवली।

(अब कहते हैं) **केवल मननमात्र...** आहाहा! **भावस्वरूप होने से मुनि है,..** यह तो ज्ञान का एकाग्रपना, ज्ञान का मनन अर्थात् चिन्तवन। विकल्प नहीं। आत्मस्वभाव का मनन अर्थात् एकाग्रता। इससे वह मुनि कहा जाता है। उसे मुनि (कहते हैं)। आहाहा!

आत्मा के स्वभाव का मनन अर्थात् एकाग्रता होना, उसे यहाँ मोक्षमार्ग को मुनि कहने में आता है। मोक्षमार्ग को मुनिरूप से भी कहने में आता है। आहाहा!

पूर्व के पक्ष के आग्रह रखकर शास्त्र का अर्थ करे, वह कुछ मेल नहीं खाता। स्वयं पुष्टि करने जाए परन्तु ऐसे कहीं खोटी पुष्टि होगी? आहाहा! यह तो भगवान, सन्त केवली (कहते हैं)। आहाहा! उन मुनि को यहाँ केवली कहा। केवली को मुनि कहा। वह केवली अर्थात् यह। राग के सम्बन्धरहित अकेला शुद्धभाव (हुआ), वह केवल, वह केवली, वह मुनि। आहाहा! ऐसा मुनिपना! उसमें कहीं व्रत, तप, क्रिया और ऐसा कुछ आया नहीं। आहाहा!

मनन, मनन अर्थात् आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु त्रिकाली का मनन अर्थात् एकाग्रता। मनन अर्थात् विकल्प नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का-अतीन्द्रिय अनन्त गुणों का सागर, उसका मनन, उसमें एकाग्रता (होना), उसे—मनन को करनेवाला है, इसलिए उसे मुनि कहते हैं। मोक्षमार्ग को मुनि कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : यह एक ज्ञायकस्वभाव की शुद्धपरिणति लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणति लेना है, मोक्षमार्ग लेना है। यहाँ मनन कहा न?

केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र).. मनन अर्थात् ज्ञानस्वभावरूप। शुद्धस्वभाव के परिणमनरूप। अकेला **भावस्वरूप होने से मुनि है,..** अकेला ज्ञान के भावस्वरूप होने से। ज्ञान अर्थात् त्रिकाली स्वभाव। उसके मनन (अर्थात्) एकाग्र मात्र होने से वह मुनि है। मोक्षमार्ग है, उसे मुनि कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। सम्प्रदाय में पकड़ गये हों, उन्हें तो यह ऐसा लगता है कि यह क्या? यह क्या बात करते हैं? जो किया जा सके, ख्याल में आवे बातें कहते हैं (कि) बन्ध का कारण है। अब, कोई अगम्य बातें! आहाहा! भाई! मार्ग कोई ऐसा है। आहाहा!

केवल मननमात्र.. ऐसा कहा न? केवल! केवल भगवान शुद्ध चैतन्य का मनन। आहाहा! राग का, पुण्य का, दया, दान का मनन नहीं। आहाहा! मार्ग बहुत (कठिन है), बापू! इसे हाँ करना वह भी.. आहाहा! पुरुषार्थ है कि मार्ग तो यह है। आहाहा! पहुँच

सके नहीं, इसलिए फेरफार करना, दूसरे प्रकार से मानना और मनवाना, वह कुछ वस्तु है ? आहाहा!

केवल मननमात्र... ऐसा क्यों कहा ? कुछ भी, इसे शुभराग का सम्बन्ध कुछ नहीं है। अकेला आनन्द और ज्ञान का मनन-एकाग्रता। भगवान आत्मा तो शुद्ध है, उसके अनन्त गुण शुद्ध हैं। एक वस्तुरूप से आत्मा (एक) और गुणरूप से अनन्त, वे शुद्ध हैं, सब गुण शुद्ध हैं। उन (अनन्त) गुण का धारक प्रभु, उसका केवल एक का ही मनन। आहाहा! उसके ओर की एक की ही एकाग्रता। वह मुनि है। यहाँ मोक्षमार्ग में मुनि को ऐसा कहा। ऐसा नहीं कहा कि पंच महाव्रत पालन करते हैं, नग्न हैं; इसलिए (मुनि हैं)। आहाहा! ऐसी व्याख्या है।

अकेला—केवल भगवान अकेला, निराला, त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक शुद्ध पारिणामिक लक्षण निज परमात्मद्रव्य का मनन, आहाहा! उसका मनन! मनन अर्थात् ऐसे विकल्प से मनन (करे), ऐसा नहीं। उस ज्ञान का एकाग्र होना (वह मनन है)। मुनि है न! अर्थात् मनन। मनन अर्थात् मुनि, ऐसा। मनन अर्थात् मुनि, इतना लिया। इस मनन का अर्थ शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता। आहाहा! उसे यहाँ मुनि कहते हैं, उसे शुद्ध कहते हैं, उसे परमार्थ कहते हैं, उसे समय कहते हैं। आहाहा!

अब (कहते हैं), **स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है,.. स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से..** अर्थात् इसके ज्ञान को प्रगट करने के लिए स्वयं ज्ञानस्वरूप ही त्रिकाल है और उसमें से ज्ञान की परिणति आती है। उसे किसी के सहारे की या मदद की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है। वह **ज्ञानस्वरूप होने से..** परिणति एकदम ज्ञानस्वरूप होने से। अर्थात् कि उसकी पर्याय, परिणति अर्थात् आत्मस्वभाव शुद्ध होने से उसे ज्ञानी कहा जाता है। आहाहा! स्वयं ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है। आहाहा! यहाँ शास्त्र का इतना पठन हुआ, इसलिए ज्ञानी है, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! कि इतना इसे आता है, इसलिए यह ज्ञानी है, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! यह तो **ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है,..** इसकी परिणति ही ज्ञानस्वरूप है। जैसे वस्तु ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, वैसे उसकी परिणति भी अनन्त गुण की व्यक्तता के अंश (स्वरूप है)। वह ज्ञानस्वरूप होने से, रागस्वरूप नहीं,

विकल्पस्वरूप नहीं होने से; ज्ञानस्वरूप होने से वह ज्ञानी है। आहाहा! फिर एक-एक गाथा का एक-एक शब्द, एकान्त लगे ऐसा है।

आहाहा! एक समय में केवलज्ञान को ले सके! अरे.. प्रभु! आहाहा! एक समय में अनन्त आनन्द का लाभ ले सके, ऐसी ताकतवाला प्रभु, तू उसे छोटा क्यों मानता है? उसका जो ज्ञान का, आनन्द का स्वरूप है.. आहाहा! उसकी परिणति से वह ज्ञानी कहा जाता है। आहाहा! वह ज्ञानी अर्थात् इतना जाना और इतना जानने में आया, इसलिए ज्ञानी है, ऐसा नहीं है। पर, शास्त्र आदि (जानने की) बात नहीं है। आहाहा! गाथा तो एक के बाद एक उत्कृष्ट आती है!! आहा! समयसार अर्थात् आहाहा! अजोड़ चक्षु है! इसके साथ दूसरे किसी का मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसे ज्ञानी कहते हैं। मोक्षमार्ग की परिणति को ज्ञानस्वरूप, आत्मस्वरूप होने से उसे ज्ञानी कहते हैं, उसे मुनि कहते हैं, उसे परमार्थ कहते हैं, उसे समय कहते हैं, उसे शुद्ध कहते हैं। आहाहा!

'स्व' का भवनमात्रस्वरूप होने से स्वभाव है... **'सहावे'** शब्द है न? यह बाद में है। इतने अर्थ हो गये—परमार्थ, समय, शुद्ध, केवली, मुनि और ज्ञानी। **'तम्हि ट्ठिदा'** पश्चात् **'सहावे'** आता है। यह **'सहावे'** की व्याख्या की है। तीसरे पद में **'तम्हि ट्ठिदा सहावे'** यह सहावे की व्याख्या करते हैं।

'स्व' का भवनमात्रस्वरूप होने से स्वभाव है.. स्वभाव क्यों कहा? स्वभाव क्यों कहा? आहाहा! स्व के भवनमात्र (अर्थात्) अकेला प्रभु, अनन्त गुण का सागर प्रभु, वह अनन्त गुण की परिणति अकेली शुद्ध! आहा! वह स्व का भवन है। अकेला निर्मलानन्द के नाथ का-स्व का भवन है। राग है, वह पर है, उसका उसमें भवन नहीं, होना नहीं। आहाहा! अरे..! प्रभु! यह तो हित की बात है न! इसे एकान्त करके ऐसे नहीं डाला जाता। आहाहा!

देह छूट जाती है, देखो न यह! कितना सुनते हैं। आहाहा! वह डॉक्टर गुजर गया, एक पच्चीस वर्ष की लड़की अभी गुजर गयी! आहाहा! चूड़गढ़ की लड़की थी न! भाई! राजकोट आयी थी। इकलौती लड़की। विवाह में चालीस-पचास हजार खर्च किये थे। सवा वर्ष पहले विवाह, उसमें दो महीने का बालक। अन्दर अंतड़ियाँ दो हो गयी थी। वह

स्वयं (कहे)। मुझे कुछ नहीं चाहिए। समाधिमरण काल! यहाँ दो-तीन बार आ गयी है। आहाहा! पच्चीस वर्ष की उम्र! कब देह छूटे, बापू! उसकी स्थिति (निश्चित है)। आहाहा! ऐसा नहीं जानना कि अभी हम निरोगी हैं, हमें कहीं रोग दिखता नहीं, इसलिए हमें (अभी मरण नहीं आयेगा)। आहाहा! किस पल में (परमाणु) बदलें... आहाहा! बदलने का एक समय है। सम्यग्दर्शन होने में, ज्ञानान्तर होने में भी एक समय है। आहाहा! देह छूटने में भी.. आहाहा! एक ही समय (लगता है)। जा..ये.. अन्यत्र। आहाहा! प्रभु! कहाँ जाएगा तू? आहाहा! तेरा स्वभावमात्र जो है, उस प्रकार से स्वभाव प्रगट किया होगा.. आहाहा! तो जहाँ जाएगा, वहाँ तू स्वभाव में ही है। आहाहा!

श्रीमद् को एक ने श्रीकृष्ण का पूछा था न! श्रीकृष्ण कहाँ हैं? वे आत्मा के स्वभाव में हैं, ऐसा कहा। वह मानो कि ऐसा अमुक-अमुक कहेंगे। वे वहाँ भी आत्मस्वभाव में हैं, भाई! आहाहा! समकिती हैं, ज्ञानी हैं। आहाहा! वे किसी भी गति में हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! उस गति के स्थल में हैं, यह (भी) नहीं। वे तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु! उसका परिणमन है, उसमें वे हैं। विकल्प आवे, उसमें भी जहाँ वे नहीं (तो गति में तो कहाँ से होंगे?) आहाहा! बहुत दुःख वहाँ हो? (तब) जरा अरुचि का द्वेष भी आवे, तथापि उसमें वे नहीं हैं। आहाहा! वे तो मनन-भाव जो स्वभाव है, चैतन्य का जो स्वभाव है... आहाहा! वह मात्र है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि चाहे जिस.. कल कहा नहीं था? ४४ वें पृष्ठ पर। मिथ्यात्व के नाश से साक्षात् तीन रत्नत्रय प्रगट होते हैं। यह तो कल आया था। आहाहा! इतना भी स्वरूप का स्थिरता का अंश चौथे गुणस्थान में भी आता है, भाई! पाँचवें में तो दर्शन, चारित्र में, भक्ति में स्थित हैं, ऐसा तो कहा है परन्तु यहाँ तो चौथे में कहा। आहाहा! वह अत्यन्त अस्थिरता बिल्कुल पूरी थी, उसमें से अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व गया। आहाहा! वह घर में आया और घर में थोड़ा स्थिर हुआ। आहाहा! इससे वह तो स्वभावमात्र है। आहाहा!

अथवा.. स्वभाव की दो व्याख्या की है। '**सहावे**' यह शब्द है, इसके दो अर्थ किये हैं। एक यह—'**स्व' का भवनमात्रस्वरूप होने से स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्य का भवनमात्रस्वरूप होने से सद्भाव है..** दूसरा अर्थ सद्भाव किया। **स्वतः चैतन्य**

का भवनमात्र.. आहाहा! चैतन्य का होना। भगवान आनन्द और ज्ञान का स्वरूप, उसकी पर्याय में उस चैतन्य का होना। राग के होने का अभाव, चैतन्य के होने का सद्भाव। आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप का होना, वह सद्भाव। सद्भाव-जैसा स्वभाव है, वैसा होना, इसका नाम सद्भाव है। आहाहा!

स्वतः (अपने से ही) चैतन्य का भवनमात्र.. भवन अर्थात् होना। 'होना वह' (मूल ग्रन्थ में) नीचे (फुटनोट है)। चैतन्य के होनेमात्र स्वरूप **होने से सद्भाव है (क्योंकि जो स्वतः होता है, वह सत्-स्वरूप ही होता है)।** देखा? सद्भाव है न? सद्भाव - सत्भाव। आहाहा! **(क्योंकि जो स्वतः होता है, वह सत्-स्वरूप ही होता है)।** स्वतः हो, वह सत् ही होता है, सत्स्वरूप ही होता है। आहाहा! मोक्ष का मार्ग सद्भाव है, सत्स्वभाव है। सत् है, वैसा ही उसका सद्भाव-परिणमन है। आहाहा! जैसा स्वतः त्रिकाली स्वरूप है, वैसा ही उसका मोक्ष का मार्ग भी सद्भाव स्वतः है। आहाहा! उसे कोई व्यवहार और निमित्त किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। एक गाथा में गजब किया है न? आहाहा!

'सहावे' के दो अर्थ किये। सहावे है न? **'तम्हि ट्ठिदा सहावे'** एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह अर्थ किये, उसमें सातवाँ (अर्थ है)। सातवें के दो अर्थ किये। आहाहा! एक तो स्व के परिणमनरूप होनेरूप है, इसलिए स्वभाव। दूसरा **स्वतः (अपने से ही) चैतन्य का भवनमात्र होने से सद्भाव है..** आहाहा! आहाहा! अब ऐसा उपदेश..! बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई!

आहा! चौरासी के अवतार में भटक-भटककर मर गया। आहाहा! यहाँ अरबोंपति (होवे, वह) अण्डा, माँस खाता होवे तो मरकर नरक में जाए और नहीं तो तिर्यंच में (जाए), आहाहा! कौवे के कूख में, मैना के कूख में (जाए)। आहाहा!

भगवान आत्मा पूर्ण अनन्त पवित्र स्वभाव (स्वरूप है), उसका उस प्रकार से होना, इसलिए स्वभाव और सद्भाव.. आहाहा! (अर्थात् कि) वह सत्स्वरूप है.. आहाहा! **स्वतः (अपने से ही) चैतन्य का भवनमात्र होने से सद्भाव है (क्योंकि जो स्वतः होता है, वह सत्-स्वरूप ही होता है)।**

इस प्रकार शब्दभेद होने पर भी... सात शब्दभेद पड़े न? अर्थ आठ किये। **शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है। (यद्यपि नाम भिन्न-भिन्न हैं, तथापि वस्तु एक ही है)।** मोक्ष के मार्ग की परिणति तो एक ही प्रकार की है। नामभेद से भले सात प्रकार कहे। आहाहा! भगवान के गहरे घर में गया, भोंयरे में गया, प्रभु! बाहर में जहाँ भटकता था। पर्याय और बाहर में (भटकता था).. आहाहा! पर्याय जो अवस्था है, वह बाहर में भटकती थी। पुण्य, शुभ-अशुभभाव में भटकती थी। बहुतों को तो अशुभ में वर्तती थी। आहाहा! उसे घर में झुका लिया। जो स्वयं तल में पड़ा है, पर्याय के तल में ध्रुव साथ में ही है। ऐसे साथ में है, ऐसे साथ में नहीं। बाहर में जोड़ने से राग है और अन्तर में जोड़ने से ध्रुव है। आहाहा! ऐसे मोक्षमार्ग के नाम भिन्न-भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है।

भावार्थ : मोक्ष का उपादान तो आत्मा ही है। मूल उपादान—शुद्ध उपादान तो वही है। आहाहा! **परमार्थ से आत्मा का ज्ञान-स्वभाव है;..** सभी गुणों की अपेक्षा, दूसरे गुणों की अस्ति है परन्तु यह ज्ञान तो स्वयं अपने को जानता है, स्वयं पर को जानता है। आहाहा! तथापि विकल्प बिना जाने, ऐसा उसका स्वभाव है, तो भी विकल्प उसका स्वभाव (अर्थात्) स्व-पर को जानना—ऐसा विकल्प, वह स्वभाव है। राग विकल्प, वह नहीं। आहाहा! ऐसी वस्तु है। **परमार्थ से आत्मा का ज्ञान-स्वभाव है; जो ज्ञान है, सो आत्मा है..** देखा? **और आत्मा है, सो ज्ञान है। इसलिए ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना योग्य है।** आहाहा! यह आत्मा का स्वभाव है, उसका परिणमन (होता है), वही मोक्ष का कारण है। वह ज्ञान का ही परिणमन है; राग का नहीं। आहाहा!

गाथा–१५२

अथ ज्ञानं विधापयति –

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बाल–तवं बाल–वदं बेंति सव्वण्हू।।१५२।।

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति।
तत्सर्वं बाल–तपो बाल–व्रतं ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः।।१५२।।

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपः कर्मणोः बन्धहेतुत्वाद्–बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात्।।१५२।।

अब, यह बतलाते हैं कि आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है:–

परमार्थ में नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रत को धरें।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे।।१५२।।

गाथार्थ : [परमार्थे तु] परमार्थ में [अस्थितः] अस्थित [यः] जो जीव [तपः करोति] तप करता है [च] और [व्रतं धारयति] व्रत धारण करता है, [तत्सर्वं] उसके उन सब तप और व्रत को [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [बालतपः] बालतप और [बालव्रतं] बालव्रत [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

टीका : आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है, (ऐसा सिद्ध होता है); क्योंकि जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित है उसके, अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्म बन्ध के कारण हैं, इसलिए उन कर्मों को 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया जाने से ज्ञान ही मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

भावार्थ : ज्ञान के बिना किये गये तप, व्रतादि को सर्वज्ञदेव ने बालतप तथा बालव्रत (अज्ञानतप तथा अज्ञानव्रत) कहा है, इसलिए मोक्ष का कारण ज्ञान ही है।

गाथा - १५२ पर प्रवचन

अब, यह बतलाते हैं कि आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है:- आहा! १५२ (गाथा)

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बाल-तवं बाल-वदं बेंति सव्वण्हू।।१५२।।

परमार्थ में नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रत को धरें।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे।।१५२।।

आहाहा! **आगम में भी..** (अर्थात्) वीतराग के उपदेश में, दिव्यध्वनि में। 'ॐकारध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारै, रचि आगम उपदेश' उस भगवान की वाणी में से आगम की रचना हुई है। गणधरों ने उस आगम में से रचना की है। आहाहा! **आगम में..** इसका अर्थ कि जिसके आगम में राग की वृत्ति मोक्षमार्ग माने, वह आगम नहीं है। आहाहा! वह भगवान का आगम नहीं है। आहाहा! भगवान के आगम में त्रिलोकनाथ की वाणी में जो आया, वह आगम में रचा गया। उस आगम में.. आहाहा! **आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है..** ऊपर से तो कहते हैं परन्तु सिद्धान्त, वीतराग की वाणी ऐसा कहती है। आहाहा!

आगम में भी.. आहाहा! अर्थात् कि कोई ऐसा कहे कि व्रत-तप और यह सब है, वह भी मोक्ष का कारण है—तो कहते हैं, नहीं, नहीं। आगम में ऐसा नहीं कहा। वीतराग तीन लोक के नाथ अनन्त तीर्थंकरों की रचित वाणी, उनके रचित आगम, उसमें भी ज्ञान अर्थात् आत्मा को ही मोक्ष का कारण फरमाया है। आहाहा!

इसमें बड़ा लेख आया है। आहाहा! यह व्यवहार व्रत और वह सब संवर-निर्जरा का कारण है। कहो! आहाहा! उज्जैन का कोई दयाचन्द सेठ है, कोई शास्त्री है। आहाहा! एक तो वह उज्जैन का है न! नहीं? उज्जैन का वह मुख्य नहीं? पण्डित! सत्येन्द्र! यह कोई दूसरा है। दयाचन्द। उसे बेचारे को जँचा हो, वैसा कहे। वह कहीं व्यक्ति के प्रति (द्वेष नहीं है)। आहाहा!

यहाँ तो सत्य वस्तु हाथ आवे, उसे मोक्ष का मार्ग होता है। बाकी राग और द्वेष के परिणाम अन्दर अनन्त काल से हुए। आहाहा! इस सत् को मानने की संख्या की कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत माने, इसलिए वह सत्य है; थोड़े माने, इसलिए (मिथ्या है), ऐसा कुछ नहीं है। सत् तो सत् है। आहाहा!

आगम में भी.. आहाहा! आया न? **'बेंति सव्वण्हू'** पाठ में है न! (अर्थात्) सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं। उसका अर्थ किया है। आहाहा! सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी में-आगम में भी **ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है..** आत्मा का जो शुद्धस्वरूप है, वही मोक्ष का कारण है। आहाहा! यह लाख-करोड़ व्रत और तप और भक्ति के परिणाम (करे परन्तु) आगम में उन्हें मोक्ष का कारण नहीं कहा है। तू उसका उल्टा अर्थ करके आगम में से निकाले (परन्तु) वे आगम के अर्थ नहीं हैं। आहाहा! आगम के अर्थ में तो यह भरा है।

अन्दर ज्ञान—आत्मा चैतन्यस्वरूप प्रभु.. आहाहा! विकल्प से उस पार ऐसा परमात्मा स्वयं शुद्धचैतन्य (विराजमान है), उसे यहाँ 'ज्ञान' शब्द से कहा है। उसका परिणमन और उसका परिणमन वह ज्ञान, ऐसा। उस **ज्ञान को ही..** 'ही' शब्द प्रयोग किया है। एकान्त कर डाला। कथंचित् मोक्ष का मार्ग ज्ञान और कथंचित् राग (कहो) तो अनेकान्त हो, नहीं तो एकान्त हो जाता है, (ऐसा अज्ञानी कहते हैं)। आहाहा!

ज्ञान को ही.. ऐसा। तीन लोक के नाथ की वाणी में आत्मा के आनन्दस्वभाव और ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता को मोक्ष का मार्ग कहा है। आहाहा! अरे! परमेश्वर और जैन को माननेवालों (को)... आहाहा! ऐसा कहते हैं कि यदि तुम जैन को माननेवाले हो तो जैन भगवान के उपदेश में तो-आगम में तो यह आया है। आहाहा!

ज्ञान को ही.. (कोई) कहता है कि जैनदर्शन में 'ही' होता ही नहीं। ऐसा एक पत्र में आता है, नहीं? श्रीमद् में आता है। वह तो नित्य ही है या अनित्य ही है, ऐसा नहीं है। ऐसा (कहना है)। कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है, ऐसा (कहना है)। नित्य है, वह नित्य ही है; अनित्य है, वह अनित्य ही है। उसमें 'ही' नहीं, ऐसा नहीं है। पूरा द्रव्य कहना हो तो कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य (कहा जाता है), परन्तु नित्य से कहना हो तो नित्य, वह नित्य ही है और कथंचित् नित्य वह नित्य है और कथंचित् अनित्य वह

नित्य है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसे अनित्य है, वह अनित्य ही है। कथंचित् अनित्य भी नित्य है और अनित्य है, ऐसा अनेकान्त नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार जो मोक्ष का मार्ग है, वह मार्ग एक ही है। आहा!

मोक्ष का कारण कहा है.. देखा? **(ऐसा सिद्ध होता है); क्योंकि जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित है..** आहाहा! परमार्थभूत (अर्थात्) परमपदार्थ प्रभु भगवान का ज्ञान और उसकी श्रद्धा। परमपदार्थ प्रभु आत्मा का ज्ञान, श्रद्धा से रहित है। आहाहा! **परमार्थभूत ज्ञान से रहित है..** त्रिकाली नहीं, वह तो इसका-त्रिकाली का ज्ञान और श्रद्धा, उनसे रहित है। आहाहा! **उसके, अज्ञानपूर्वक किये गये..** आहाहा! यह तो कलश-टीका में नहीं कहा? उस 'यावत्' कर्मधारा और ज्ञानधारा। सम्यक्त्वी के व्रत-तपादि होते हैं, वे भी बन्ध के कारण हैं। कोई अज्ञानी ऐसा कहे (माने) कि मिथ्यादृष्टि के व्रतादि बन्ध के कारण हैं और सम्यक्त्वी के नहीं। ऐसा टीका में है। कलश-टीका... कलश-टीका! यह कलश थोड़े समय बाद आयेगा। आहाहा!

भगवान पूर्ण अनन्त गुण का (सागर) हाजरा-हुजूर विराजमान है न! आहा! हमारे यहाँ लिखते थे। कुँवरजीभाई और वे सब हैदरशाही को माननेवाले न! (इसलिए) बहियों में लिखते, हैदरशाही हाजरा हुजूर। फकीर है। पालीताणा है न! नीचे, नहीं? वहाँ उतरे थे। उस ओर भैरवनाथ का मन्दिर है और इस ओर आगे जाने पर (दूसरा है) दोनों देखे हैं। वहाँ तो आहार किया था। हैदरशाही में! (संवत्) १९६९ में हरगोविन्द का विवाह था, (तब) गये थे। मैंने कहा, भाई! मैं रात्रि में नहीं खाता। तुम बारात को विलम्ब करोगे और सामैया करोगे और देर लगेगी तो मैं रात्रि में नहीं खाऊँगा। (संवत्) १९६९ की बात है। दीक्षा लिए पहले, हों! हैदरशाही का मकान है। ऐसे जाने पर भैरवनाथ है न। वहाँ आवास किया था। फिर वहाँ से लड्डू और गाठिया थे। वे खा लिये, पानी पी लिया। रात्रिभोजन (छोड़ दिया)। मैं रात्रि में नहीं खाऊँगा। आहाहा! यह हाजरा-हुजूर लिखे,...

वह हाजरा-हुजूर नहीं परन्तु तीन लोक का नाथ परमात्मा हाजरा-हुजूर है। वह भगवान तो हाजरा-हुजूर है परन्तु यह भगवान हाजरा-हुजूर है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय गुण का सागर प्रभु, आहाहा! वह हाजरा-हुजूर प्रभु है। तेरी नजर में तू लेता नहीं, इसलिए तुझे नहीं दिखता। आहा! आहाहा! तेरी

नजरें राग और पर्याय पर होने से प्रभु हाजरा-हुजूर नित्यानन्द, सहजानन्द है, वह है, वह इसे दिखता नहीं। आहाहा!

जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित है.. जिसे आत्मज्ञान नहीं, आत्मज्ञान नहीं, आत्मदर्शन नहीं, (ऐसे जीव) आहाहा! **उसके, अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्म..** देखो! कर्म अर्थात् यहाँ जड़कर्म नहीं लिया। व्रत और तप, दो शब्द लिये हैं। पश्चात् आगे दूसरे बढ़ा देंगे। व्रत, नियम, शील, तप बाद में लेंगे। बाद की १५३वीं गाथा में नियम और शील (ये) दो अधिक डालेंगे। यहाँ दो डाले। **व्रत, तप आदि कर्म...** अर्थात् राग के कार्य। आहाहा! **बन्ध के कारण हैं, इसलिए उन कर्मों को 'बाल' संज्ञा देकर..** आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर ने उन्हें 'बाल' ऐसी संज्ञा देकर.. आहाहा। **उनका निषेध किया जाने से..** उनका निषेध किया है। आहाहा! आगम में कहा है न! यह सर्वज्ञ शब्द का (अर्थ किया)। **'सव्वण्हू'** कहा, (उसका अर्थ) सर्वज्ञ, ऐसा। आहाहा! अभी सर्वज्ञ नहीं न! (भले) सर्वज्ञ नहीं, (परन्तु) सर्वज्ञ की वाणी है न! यहाँ भले सर्वज्ञ नहीं, परन्तु अन्यत्र सर्वज्ञ प्रभु हैं और यहाँ सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिए 'आगम' शब्द लिया है, सर्वज्ञ की वाणी ली है। सर्वज्ञ की वाणी है या नहीं? आहाहा!

उन कर्मों को.. अर्थात् कार्यों को। आत्मा के ज्ञानरहित के व्रत, तप और यह वर्षीतप और.. आहाहा! शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य (पालन करे), उन सबको **'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया जाने से ज्ञान ही मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।** आहाहा! ऐसी स्पष्ट बात है तो भी गड़बड़ करते हैं।

भावार्थ : आत्मा के **ज्ञान के बिना किये गये...** आत्मज्ञान बिना किये गये तप और व्रत को **सर्वज्ञदेव ने बालतप तथा बालव्रत (अज्ञानतप तथा अज्ञानव्रत) कहा है,..** आहाहा! **इसलिए मोक्ष का कारण ज्ञान ही है।** आत्मा है। वह ज्ञानस्वरूपी प्रभु.. आहा! प्रवचनसार में आता है न! त्रिकाली ज्ञान। त्रिकाली ज्ञान को कारणरूप से ग्रहण करके। वह कारणरूप ग्रहण किया, तब यहाँ ज्ञान हुआ। आहाहा! त्रिकाली ज्ञान को जहाँ ग्रहण करता है, वहाँ ही पर्याय में ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ। उसे मोक्ष का कारण कहा, दूसरे को मोक्ष का कारण कहा नहीं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१५३

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबन्धहेतू नियमयति –

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठ–बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति।।१५३।।

व्रतनियमान् धारयन्त: शीलानि तथा तपश्च कुर्वन्त:।
परमार्थ–बाह्या ये निर्वाणं ते न विन्दन्ति।।१५३।।

ज्ञानमेव मोक्षहेतु: तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतप:प्रभृतिशुभकर्म–सद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बन्धहेतु: तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियम–शीलतप:प्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्।।१५३।।

अब यह कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और अज्ञान ही बन्ध का हेतु है यह नियम है:–

व्रत नियम को धारे भले, तपशील को भी आचरे।
परमार्थ से जो बाह्य वो, निर्वाणप्राप्ती नहिं करे।।१५३।।

गाथार्थ : (व्रतनियमान्) व्रत और नियमों को (धारयन्त:) धारण करते हुए भी (तथा) तथा (शीलानि च तप:) शील और तप (कुर्वन्त:) करते हुए भी (ये) जो (परमार्थबाह्या:) परमार्थ में बाह्य है (अर्थात् परम पदार्थरूप ज्ञान का–ज्ञानस्वरूप आत्मा का जिसको श्रद्धान नहीं है), (ते) वे (निर्वाणं) निर्वाण को (विंदंति) प्राप्त नहीं होते।

टीका : ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है। अज्ञान ही बन्ध का कारण है; क्योंकि उसके

अभाव में स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप, इत्यादि शुभ कर्मों का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।

भावार्थ : ज्ञानरूप परिणमन ही मोक्ष का कारण है और अज्ञानरूप परिणमन ही बन्ध का कारण है; व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभभावरूप शुभ कर्म कहीं मोक्ष के कारण नहीं हैं; ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी के वे शुभ कर्म न होने पर भी वह मोक्ष को प्राप्त करता है; तथा अज्ञानरूप परिणमित अज्ञानी के वे शुभकर्म होने पर भी, वह बन्ध को प्राप्त करता है।

प्रवचन नं. २३३, गाथा १५३, श्लोक १०५ दिनाङ्क २२-०५-१९७९, मंगलवार
बैशाख कृष्ण ११

समयसार, १५३ गाथा। इसका उपोद्घात। **अब यह कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और अज्ञान ही बन्ध का हेतु है, यह नियम है:-**

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठ-बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति।।१५३।।

व्रत नियम को धारे भले, तपशील को भी आचरे।
परमार्थ से जो बाह्य वो, निर्वाणप्राप्ती नहिं करे।।१५३।।

चार बोल तो पाठ में आये। पहले व्रत और तप दो आये थे। इसमें चार आये—व्रत, नियम, शील और तप, (ऐसे) चार। पाठ में चार आये हैं।

टीका : ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है;.. अर्थात्? यह ज्ञान अर्थात् त्रिकाली ज्ञान, त्रिकाली आत्मा-ऐसा यहाँ नहीं। जो त्रिकाली आत्मा ज्ञानसत्व, अनन्त गुण का सत्व है, उस सत्व का पर्याय में सत्वपना आवे; जैसा अन्दर है, आत्मा में अनन्त ज्ञानादि रस, सत्व (भरा है), ऐसा जो सत्व है, उसका सत्व का परिणमन में उस सत्व का परिणमन आवे, उसका जो अबन्धस्वरूप है, मोक्षस्वरूप है, अबन्ध कहेंगे, ऐसा जिसका परिणमन में अबन्धस्वरूप-मोक्षस्वरूप का परिणमन, सत्व आवे। सत् का सत्व पर्याय में आवे, ऐसा कहते हैं। पुण्य और पाप के भाव (होते हैं), वह सत् का सत्व नहीं है। वह तो अद्धर से

खड़ा हुआ विकृत भाव है। यहाँ उसे बन्धभाव कहेंगे। पुण्य और पाप, व्रत, तप, शील को भावबन्ध (कहते हैं)। यह (आत्मा) भावमोक्ष (स्वरूप है)।

भगवान आत्मा, मोक्षस्वरूप सत्व है। उसका पर्याय में जो सत् का सत्व है अर्थात् सत् का जो कश है... आहाहा! वह कश जो पर्याय में आवे, उसे यहाँ ज्ञान कहते हैं। आहाह! भगवान आत्मा..! यहाँ स्वयं कहेंगे, मुक्तस्वरूप है। मुक्तस्वरूप है तो मोक्ष का कारण होता है, ऐसा। विकार है, वह तो बन्धस्वरूप है। वह भावबन्ध बन्धस्वरूप ही है। भावबन्ध है, वह बन्ध का कारण होता है।

ज्ञान ही.. (ऐसा कहकर) एकान्त किया है। कथंचित् आत्मा का ज्ञान परिणमन, अनन्त गुण का सत्व का परिणमन और कथंचित् व्यवहार-राग, मोक्ष का कारण है-ऐसा नहीं कहा। दया, दान, व्रत, शील, तप कुछ न कुछ इसके सत्व के परिणमन में मदद करते हैं, ऐसा नहीं है। यह तो आ गया है न पहले? प्रवचनसार! कि जो द्रव्य है, वह गुण और उसकी पर्याय को पहुँचता है। यहाँ निर्मल पर्याय को पहुँचता है, इतना लेना। वहाँ तो मलिन-निर्मल समस्त (पर्यायों की) बात थी। आहाहा!

जो भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानादि सत्व का रस है, वह आत्मा का कस है। आहाहा! वह कस है, उसका पर्याय में परिणमन होना, उसे यहाँ ज्ञान कहने में आता है। आहाहा! वह **ज्ञान ही..** वापस (ही कहकर) एकान्त किया। सम्यक् एकान्त! वह **ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है;..** आहाहा! भगवान आत्मा में अनन्त गुण का पूरा रस पड़ा है, सत्त्व है। वह सत् का सत्त्व है, वह सत् का कस है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञान, दर्शन और आनन्द आदि अनन्त गुण हैं, वह सत् का सत्त्व है, वह सत् का कस है। उस पर दृष्टि पड़ने पर जो सत् का सत्त्व है, वह सत्त्व पर्यायरूप से परिणमित होता है। भले वह सत्त्व गुण है, वह तो भले गुणरूप रहता है परन्तु उस जाति का परिणमन, सत्त्व का सत्त्वरूप का (परिणमन), उसका अपने में है, उस प्रकार का परिणमन। वह राग और पुण्य, दया, वह कहीं आत्मा का कस नहीं है, आत्मा का सत्त्व नहीं है। वह तो बन्धसत्त्व स्वरूप है। आहाहा! कठिन काम है। लोग एकान्त.. एकान्त.. कहते हैं।

ज्ञान ही, आत्मा का चैतन्यस्वभाव, जो अनन्त गुण से भरपूर भण्डार है, उसका परिणमन और उसकी दशा (होती है), वह द्रव्यशुद्ध, गुणशुद्ध और पर्याय भी उस प्रकार

की शुद्ध (होती है)। आहाहा! वह एक ही मोक्ष का हेतु है। आहाहा! **क्योंकि ज्ञान के अभाव में..** भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण का रसकन्द प्रभु आत्मा के भाव के परिणमन बिना... आहाहा! **स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियों के..** आहा! जिसे आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु है, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय गुण का रसकन्द है, उसकी पर्याय में उसके सत्त्व के भाव बिना अज्ञानियों के जो **अन्तरंग में व्रत,..** करे। व्रत पाले, व्रत! वह संसार है, बन्ध है। आहाहा! वह वस्तु में नहीं है। आहाहा!

व्रत और तप दो शब्द तो आये थे। इस गाथा में चार शब्द हैं। मूल पाठ है। व्रत, नियम धारण करना, विकल्प (करना), आहाहा! शील, कषाय की मन्दता का भाव (होता है), मन्द, मन्द अत्यन्त मन्द (होता है)। ऐसा उसका स्वभाव कि शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, ऐसा जो शील और तप। जो विकल्प उठता है, बारह प्रकार के तप में से विकल्प उठे, वह इत्यादि। जितने पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुए असंख्य प्रकार के शुभभाव। देखो न, यहाँ तो शुभ का डाला है न!

इत्यादि शुभ कर्मों.. अर्थात् शुभकार्य। देखा? यहाँ कर्म अर्थात् वह जड़कर्म नहीं। आहाहा! पर्याय में व्रत, तप, शील, नियम इत्यादि विभाव के असंख्य प्रकार (होते हैं), वह कोई जीव का सत् नहीं है, उसका सत्त्व नहीं है, जीव का स्वभाव नहीं है। आहाहा! ऐसे जीव के स्वभाव के अभाव के कारण अज्ञानी को पर्याय में जो व्रत, शील, तप होता है, वह सब **शुभ कर्मों का सद्भाव (अस्ति)..** हो। ऐसी शुभकर्म की अस्ति **होने पर भी..** है, कहते हैं, उसका शुभभाव बराबर है, ऐसा। आहाहा! व्रत का भाव, तप, उपवास आदि का (भाव), शील के नियमादि—कठोर नियम धारण करे। ऐसे शुभभाव की अस्ति है। है न?

ऐसे कार्य के अभाव में (स्वयं ही) **अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मों का सद्भाव होने पर भी..** आहाहा! शुभ आचरण के शुभपरिणाम का भाव होने पर भी। उनकी अस्ति-मौजूदगी है। शुभभाव है, परन्तु ज्ञायकभाव के सत्त्व के भान बिना, चैतन्य का रसकन्द जो स्वरूप प्रभु है, उसके सत्त्व के परिणमन के भान बिना ऐसे व्रत, तप, नियम और शील (आदि के) शुभकर्म होने

पर भी **मोक्ष का अभाव है।** ऐसे शुभभाव हों, भले मौजूदगी धरावे। आहाहा! शुक्ललेश्या हो, वह भाव अस्ति धराता है, परन्तु वह भाव इसे मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि भगवान आत्मा विकाररहित सत्त्व का सत् है, उस ओर के परिणमन का सत्त्व आये बिना ऐसे भावों की मौजूदगी होने पर भी उसे **मोक्ष का अभाव है।** आहाहा! है?

अज्ञान ही बन्ध का कारण है;.. अब सामने डालते हैं। स्वरूप का अज्ञान अर्थात् व्रत, तप, शील, नियम (के भाव हैं), वह अज्ञान है। आहाहा! उसमें ज्ञान का अंश नहीं है, (इसलिए) अज्ञान है। आहाहा! **अज्ञान ही.. अज्ञान ही..** वापस (कहा है)। वहाँ भी एकान्त किया है। **बन्ध का हेतु है;..** अर्थात् आत्मा के स्वभाव का परिणमन (होता है) वह बिल्कुल बन्ध का हेतु नहीं है। आहाहा! वह तो मोक्ष का ही हेतु है। एक ओर भगवान आत्माराम। आत्मराम का जो परिणमन है... आहाहा! वह तो बिल्कुल बन्ध के अभावकारणरूप; मोक्ष के सद्भाव के कारणरूप है।

आता है न कितनी ही जगह? कि मोक्षमार्ग है, वह भी बन्ध का कारण है। ऐसा (कितने ही) लिखते हैं। 'असमग्र' पुरुषार्थसिद्धियुपाय (में आता है)। जो बन्ध का कारण है, वह बिल्कुल अबन्ध का कारण नहीं हो सकता और जो अबन्ध का स्वरूप प्रभु है, मुक्तस्वरूप ही है। आत्मा तो अबन्धस्वरूप ही है, उसके गुणों का सत्त्व पूरा अबन्धस्वरूप है। आहाहा! वह प्रभु स्वयं और उसके अनन्त गुण, वे सब मुक्तस्वरूप, सत् के सत्त्वस्वरूप, कश स्वरूप, उनका जो परिणमन (होता है), उसका-सत् का पर्याय में कस आता है, वह बिल्कुल मोक्ष का कारण है (और) बन्ध का कारण बिल्कुल नहीं है। समझ में आया? और जो आत्मा के स्वभाव के चैतन्यबिम्ब प्रभु, अनन्त गुण का रसकन्द, उसके सत् का सत्त्व परिणमन में आये बिना अज्ञानी को मोक्ष का कारण है नहीं। आहाहा!

अज्ञान ही बन्ध का हेतु है; क्योंकि उसके अभाव में.. किसके अभाव में? अज्ञान के अभाव में। आहाहा! अर्थात् राग और द्वेष की पर्याय अज्ञानस्वरूप है, वही बन्ध का कारण है। **उसके अभाव में..** आहाहा! है? **स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों के..** आहाहा! स्वयं ही आत्मा का स्वभाव, शुद्ध परिपूर्ण भगवान आत्मा, उसके रूप से स्वयं हुए। आहाहा! **उसके अभाव में..** किसके अभाव में? बन्ध के अभाव में। **स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले..** अर्थात्? भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान, शान्ति और प्रभुता के

शक्तिरूप जो सत्त्व है, उसरूप स्वयं ही परिणमन में हुआ है। उसे कोई व्यवहार के व्रत, नियम की अपेक्षा है नहीं। यहाँ तो दूसरी बात करेंगे। आहाहा!

ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों के.. अन्तर के आत्मा के स्वभाव के पर्याय में उस स्वभाव का परिणमन होने से उन ज्ञानी के **बाह्य व्रत, नियम, शील, तप, इत्यादि शुभ कर्मों का असद्भाव होने पर भी..** आगे बढ़कर अकेला आत्मपरिणमन हो गया, उसे यह व्रत, नियम, शील का तो अभाव है, तथापि मोक्ष का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

दो ओर से लिया। एक ओर भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन ही है। एक समय की पर्याय में जो विकार है, वह अज्ञान है। इससे पूरा स्वरूप जो है, उसका जो परिणमन होना, वह मोक्ष का कारण है, उसमें बन्ध का बिल्कुल अभाव है और उस आनन्द के ज्ञान के स्वभाव के भाव के परिणमन बिना अकेले राग-द्वेष, व्रत, नियम, शील, तप (करे, वह) अकेला बन्ध का कारण है। बिल्कुल मोक्ष के कारण में मददगार, सहायक (नहीं है)। निमित्त कहलाता है, निमित्त कहलाने का अर्थ यह (कि) निमित्त कुछ करता नहीं। आहाहा! व्रत, नियम के विकल्पों को शुद्धज्ञान के परिणमन में निमित्त कहा जाता है। निमित्त का अर्थ (यह कि) एक दूसरी चीज़ है। उससे हुआ है और होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ज्ञानियों के.. ऐसे ज्ञानी यहाँ लिये हैं कि जिनका परिणमन उग्र हो गया है। अकेला चैतन्यमूर्ति भगवान, जैसा उसका स्वभाव त्रिकाली, निर्मल शुद्ध रसकन्द है, वैसा ही जिसका परिणमन हो गया है, उसे ये व्रत, नियम, शील हैं नहीं। आहाहा! यह **बाह्य व्रत, नियम, शील, तप, इत्यादि शुभ कर्मों का असद्भाव..** है। (ऐसा) **होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।** आहाहा!

मुमुक्षु : बाह्य शब्द लिखा है तो वे बाह्य व्रत हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य सब विकल्प की बात है। बाह्य व्रत अर्थात् शरीर की क्रिया नहीं, विकल्प।

व्रत, शील और तप (ऐसी जो) राग की क्रिया है, वह अज्ञानरूप है और बन्ध का

ही कारण है। उसके अभाव में अकेले ज्ञानस्वभाव के, आनन्दस्वभाव के, चैतन्यस्वभाव के परिणमन में बन्ध के भाव का बिल्कुल अभाव है। अकेले ज्ञान और आनन्दभाव से परिणमित हुआ है। उसे व्रत, नियम का अभाव है तो भी मोक्ष का कारण है। आहाहा!

अज्ञानी को व्रत, नियम, तप, शील की मौजूदगी है, पंच महाव्रत है, पाँच समिति, गुप्ति व्यवहार है। ऐसा व्यवहार भाव होने पर भी वह बन्ध का कारण है। अकेले बन्ध का कारण है; बिल्कुल मोक्ष के कारण में वह सहायक नहीं है, क्योंकि जहाँ आत्मा—भगवान आत्मा अपना जो द्रव्य है और उसके जो आनन्द आदि त्रिकाली शुद्ध गुण हैं, उसरूप जहाँ परिणमन हुआ, उसे व्रत और नियम का अभाव है, तो भी मोक्ष का कारण है। आहाहा! ऐसा है।

वे शोर मचाते हैं। ऐई! सोनगढ़िया ऐसा करते हैं और वैसा करते हैं। बापू! भाई! तेरे हित की बात है, प्रभु! आहा! इसमें तेरा अनादर नहीं उसमें। तू अन्दर महा प्रभु है! आहा! अकेला अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय प्रभुता का रसकन्द-सत्त्व है न! उस सत्त्व का परिणमन होता है.. आहाहा! उस परिणमन के काल में व्रत और नियम, शील, तप का अभाव होने पर भी मोक्ष का कारण होता है। आहाहा! और अज्ञानी को अपना भगवान आत्मा, उसके शुद्ध के सत्त्व के परिणमन के अभाव में उसे व्रत, नियम, शील, तप बन्ध का ही कारण है। आहाहा! कितनी बात की है, कहो! बिल्कुल मोक्ष के मार्ग को जरा भी सहायक हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

सबने यह डाला है। विद्यासागर ने यह डाला, भाई ने जगन्मोहनलालजी ने यह डाला है। व्रत, नियम (आदि के) शुभभाव अन्दर शुद्धता का कारण है अर्थात् उससे शुद्ध में जाया जाता है। आहाहा! जहर पीते-पीते अमृत की डकार आयेगी! ऐसा वह अर्थ है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यहाँ ज्ञान शब्द से उसका परिणमन लेना है। परिणमन-ज्ञान का परिणमन है। मूल ज्ञान शब्द में कहीं त्रिकाली गुण नहीं है। नहीं तो त्रिकाली गुण-कारणपरमात्मा भी मोक्ष का ही कारण है, परन्तु अभी यह बात नहीं है। अभी तो पर्याय ज्ञानरूप से, आनन्दरूप से प्रगट हुई है, वह वस्तु में जो सत् है, उसरूप से पर्याय में परिणमन हुआ है, उसे यहाँ ज्ञान कहने में आता है। आहाहा!

अब ऐसा महँगा! सुनने को मिलता नहीं और सुनने को मिले तो उल्टा मिलता है। निवृत्ति मिलती नहीं। आहाहा! यह करो, यह करो, व्रत करो, तप करो, व्यवहारचारित्र पालन करो। व्यवहारचारित्र अर्थात् राग।

मुमुक्षु : व्यवहार को पोषण करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे पालन करो, उसे करो, वह मार्ग है। अन्तर शुद्धता (की ओर) जाने का रास्ता है। अशुभ को टालकर शुभ करना वह शुद्ध में जाने का रास्ता है, ऐसा (अज्ञानीजन) स्थापित करते हैं। अरे! दोनों जातियों में भेद है, दो वस्तुभेद है। आहाहा! एक कुजात है और एक सुजात है। आहाहा!

अन्दर भगवान आत्मा, अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. पवित्र गुण का धाम! आहाहा! उसका आश्रय लेने से, उस ओर की एकाग्रता, दृष्टि होने से उस पूर्ण स्वरूप का ज्ञान की पर्याय और श्रद्धा की पर्याय में स्वीकार होने से, पर्याय सत्त्व का सत्त्व है, उसरूप परिणमित होती है। आहाहा! वह बन्ध के भाव की (सहायता से) जरा भी परिणमती है, यह नहीं है। आहाहा! यह क्या करना? नवलचन्दभाई! दूसरा कुछ सरल होगा या नहीं? सरल अर्थात् राग। मार्ग यह है। आहाहा!

स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों.. अर्थात् स्वयं क्यों कहा? कि कुछ वह व्रत और शील तथा तप था, इसलिए यहाँ ज्ञानरूप, आनन्दरूप परिणमन हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वयं भगवान आत्मा, पूर्णानन्द के नाथ प्रभु का अवलम्बन लेकर स्वयं ही स्वयं शुद्धरूप से परिणमित हुआ। यह ज्ञान हुआ, यह परिणमन हुआ, वह आत्मा की दशा हुई। वह आत्मा के स्वभाव की दशा हुई। आहाहा!

उस ज्ञानी को **बाह्य व्रत, नियम, शील, तप, इत्यादि शुभ कर्मों..** देखा? वह कर्म अर्थात् वे जड़ (कर्म) नहीं लिए। भाव, शुभभाव है, वह भावकर्म शुभ विकारी है। आहाहा! मूल पाठ में है न! मूल पाठ है न! **'वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता'** लो! **'परमट्ठ-बाहिरा'** (अर्थात्) परमार्थ भगवान चैतन्य का सत्त्व तो हाथ आया नहीं। आहाहा! परम प्रभु भगवान आत्मा मौजूद हाजरा हुजूर पड़ा है! आहाहा! अनन्त गुण से विराजमान आत्मा, उसे तो हाथ लगा नहीं, उसका पता लिया नहीं, वे सब

'परमट्ठ-बाहिरा' है, परमार्थ से बाह्य है। आहाहा! यह तो लड़कों को समझ में आये, ऐसी भाषा है। हमारे धर्मचन्द मास्टर कहते हैं न! चार पुस्तक (कक्षा) पढ़ा हो, उसे समझ में आये ऐसी बात है, ऐसा कहते हैं। नहीं? यह तो हमारे धर्मचन्द ऐसा कहते हैं कि यह तो ऐसी सरल भाषा है (कि) चार पुस्तकवाला (भी समझ जाए)। आहाहा! भगवान आत्मा है न! उसे पुस्तक के पठन का क्या काम है? आहाहा!

तुष-माष... क्या नाम? शिवभूति मुनि! आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की खान और महा भोंयरा, भण्डार! आहाहा! उसका जहाँ पता लिया और जहाँ एकाग्र हुआ तो कहते हैं कि (उन्हें) तुष-माष के शब्द भी याद नहीं रहे। तुष अर्थात् छिलका, माष अर्थात् उड़द का कस। वह महिला उड़द की दाल धो रही थी। उड़द की दाल पड़ी हुई, वह धो रही थी। वह छिलका निकालती थी। शिवभूति मुनि निकले, (वहाँ) किसी महिला ने पूछा, माँ! क्या कर रही हो तुम? (तो महिला ने कहा), तुष-माष—छिलका और माष। माष अर्थात् उड़द की दाल, उड़द, कस दोनों को भिन्न कर रही हूँ। आहाहा! छिलका ऊपर का और वह उड़द की दाल, जो कस हो, वह अलग करते हैं। आहाहा! इतना जहाँ उन्होंने सुना.. ओहो! अन्दर भगवान, जैसे सफेद उड़द की दाल.. क्या कहलाता है? सफेद को क्या कहते हैं? छड़ी.. छड़ी..! छड़ी दाल। तुम्हारी भाषा हो वह आना चाहिए न तब! छड़ी दाल कहते हैं, छड़ी दाल! वह छिलका निकाल डाले (अर्थात्) छिलकेरहित दाल (रहे)। वैसे ही भगवान आत्मा, ऐसा जहाँ सुना कि तुष-माष, जो विकल्प है, वह तुष-छिलका है। ज्ञान तो था, भान था परन्तु स्थिरता नहीं थी, उसमें जरा ये शब्द जहाँ कान में पड़े... अरे! माष अर्थात् सफेद उड़द की दाल। वैसे आत्मा श्वेत / उज्ज्वल, शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द और व्रत, नियम के विकल्प (होते हैं), वे तो बन्ध के कारण और राग—छिलका है। उस छिलके और माष को ऐसे जहाँ भिन्न किया वहाँ स्थिर हुए, वहाँ केवलज्ञान हो गया!! आहाहा! कहो, समझ में आया? शिवभूति मुनि! आहाहा! जो करना है, वहाँ उनकी दृष्टि और स्थिरता पहुँच गयी। आहाहा! अब उसे कहते हैं व्रत और नियम नहीं है तो भी वह मोक्ष का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्रत और नियम मोक्ष का कारण नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; व्रत, नियम, तप और शील मोक्ष का कारण नहीं है। जो बन्ध

का कारण है, वह मोक्ष के कारण में मदद करे, सहायक हो, ऐसा लिखा है। अरे प्रभु! सहायक की व्याख्या क्या है ? निमित्त होता है इतना, धर्मास्तिकायवत्। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले व्यवहार ज्ञान करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार ज्ञान करे, वह बिल्कुल-कुछ मदद नहीं करता अन्दर। आवे भले, परन्तु उससे नहीं होता। यह तो पहले आया नहीं ? शास्त्र पढ़ना और यह। तो भी जब तक परलक्ष्यी विकल्प है और उससे जो उघड़ा हुआ ज्ञान है, उससे आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आहाहा! भाव ज्ञान के अवलम्बन द्वारा, आया था न ? भाव ज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़रूप से.. आहाहा! अन्दर में एकाग्र होता है। आहाहा! प्रवचनसार में आया था। आहाहा! बात तो बहुत थोड़ी है, परन्तु माल है बड़ा! आहाहा!

भगवान आत्मा! शरीरप्रमाण आत्मा, ऐसा कहलाता है परन्तु बापू! वह भगवान -स्वरूप है, भाई! आहाहा! वह परमेश्वर है, वह जिन है, वह वीतराग है, वह केवलज्ञान है-अकेला ज्ञान का पिण्ड सर्वज्ञस्वभाव है। आहाहा! सर्वदर्शी स्वभाव है, अनन्त वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ है। आहाहा! इन सबका अनन्त सत् का सत्ता का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! उसका परिणमन होने पर बाह्य व्रत, तपादि न हों तो भी मोक्ष का कारण है, कहते हैं। आहाहा! और अन्तर का यह भगवान आत्मा जगा नहीं, जगाया नहीं.. आहाहा! उसके अभाव में, कहा न ? स्वरूप के सत्त्व के भान बिना। उसमें व्रत, शील, तप है, वह तो अकेला बन्ध का कारण है। आहाहा! तब कहे, अन्दर मोक्ष के मार्ग के साथ ऐसा व्यवहार होता है, इसलिए उससे कुछ न कुछ मदद तो मिलेगी या नहीं ? कुछ, थोड़ा उससे धीरे-धीरे शुभभाव में आवे तो थोड़ा विश्राम मिले, फिर अन्दर स्थिर में जाया जाए। आहाहा! ऐसा नहीं है। विश्रामस्थान! विश्रामस्थान तो प्रभु है। जो राग और विकल्परहित स्थान-धाम है।

स्वयं ज्योति सुखधाम है। आहाहा! श्रीमद् में आता है न ? 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम।' शुद्ध, बुद्ध! आहाहा! शुद्ध बुद्ध स्वयं। चैतन्यघन (अर्थात्) प्रदेश लिए। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन' पवित्र ज्ञान का पिण्ड, असंख्यप्रदेशी पिण्ड। स्वयं ज्योति-स्वयं से स्वयं है। आहाहा! उसे अपने से परिणमन करके। आहाहा! वह सुख का धाम है। प्रभु! वह आनन्द का स्थल है, वह अतीन्द्रिय आनन्द का द्वीप (टापू) है। आहाहा! बड़ा

समुद्र के समुद्र में टापू कहीं मिले (वहाँ) विश्राम ले। इसी प्रकार यह महाप्रभु बड़ा टापू है। आहाहा!

एक बोहरा कहता था। जामनगर में व्याख्यान में आता था। वह कहता है-हम एक बार जहाज में गये, उसमें समुद्र में लोहचुम्बक का पर्वत होगा, (इसलिए) जहाज खिंच गया। खिंच गया, इसलिए वहाँ कुछ नहीं मिलता, कोई मनुष्य नहीं मिलता। नारियल के वृक्ष (थे) और नीचे दुर्गन्धित पानी पड़ा था। वहाँ तक कोई जहाज को पहिचाने तो आवे। जहाज खिंच गया था। फिर कहे, पानी अन्दर बँधा हुआ हो, नारियल डालें, खोपरा और पानी दो लें, पानी मीठा निकले और खोपरा खायें। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा... आहाहा! अन्दर में अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ के वीर्य से चढ़ाकर.. आहाहा! जिसने अनन्त-अनन्त में खिलावट की है, अनन्त ज्ञान की खिलावट की है। परिणमन किया है न यहाँ! शक्तिरूप पड़ा है, स्वभाव से भले हो। आहाहा! जो वस्तु है, गुण का भण्डार, आनन्द का भण्डार है, उसे विकसित किया है। आहाहा! जैसे कमल लाख पंखुड़ियों से खिले। वैसे भगवान आत्मा अनन्त गुण की निर्मल व्यक्त पर्याय खिल निकलता है। आहाहा!

उसको (कमल को) लाख पंखुड़ियाँ होती हैं। ऐसा सुना है, वहाँ हजार पंखुड़ियोंवाला (कमल है)। गाँव में गये थे। चिखली.. चिखली। वहाँ कहते थे कि यह खेत है, इसमें कमल होता है, दो हजार पंखुड़ियों का होता है। उत्कृष्ट होता है। हजार पंखुड़ियों का एक गुलाब! लाख पंखुड़ियों का सुना है, यह तो अनन्त गुण की पंखुड़ी का आत्मा! आहाहा!

कहते हैं, उसे अन्तर में होने से... आहाहा! **स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों के..** धर्मात्माओं को। एक वचन नहीं लिया। बहुत ज्ञानियों को। आहा! जितने ज्ञानी हुए, उन सब ज्ञानियों (को) **स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप, इत्यादि शुभ कर्मों का असद्भाव होने पर..** यह कार्य उनके पास नहीं है। आहाहा! तथापि मोक्ष का सद्भाव है। वस्तुस्वभाव का परिणमन होना, वह मोक्ष का सद्भाव है। आहाहा!

भावार्थ-.. देखो! यह स्पष्टीकरण आया। **ज्ञानरूप परिणमन ही मोक्ष का**

कारण है.. ज्ञान (अर्थात्) त्रिकाली ज्ञान की यहाँ बात नहीं है। चैतन्यबिम्ब प्रभु स्वयं ज्ञानरूप से, सम्यग्दर्शनरूप से, शान्तिरूप से, आनन्दरूप से, स्वच्छतारूप से, ईश्वरतारूप से जो पर्याय में परिणमित होता है, उसे यहाँ ज्ञान का परिणमन कहा गया है। वह मोक्ष का कारण है। **परिणमन ही मोक्ष का कारण है..** बीच में बन्ध का भाव भी जरा मदद करता है, (ऐसा नहीं है), यह अभी बड़ा विवाद है। आहाहा!

विद्यासागर ने लिखा है, व्रत को अन्दर सम्हालना। १२वीं गाथा में आता है न! जाना हुआ प्रयोजनवान। वहाँ ऐसा कि सम्हालना। ऐसा लिखा है, ऐसा अर्थ किया है। बारहवीं गाथा में सम्हालने की कहाँ (बात है)। है, उसे जानता है वह तो। उस-उस प्रकार के ज्ञान की पर्याय का उसका काल है। आहाहा!

मुमुक्षु : एकान्त जंगल में जाए, फिर ध्यान करे..

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बाहर में कुछ जाए नहीं। बाहर में भी गिरि गुफा में घुस जाए (परन्तु) यह (आत्मारूप) गिरि गुफा बिना कुछ नहीं मिलता। यह समयसार में ४९ वीं गाथा में संस्कृत टीका में आता है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में (आता है), अनुभव की निर्विकल्प समाधिरूप गिरि गुफा में जाने से। आहाहा! वह गिरि गुफा है। बाहर की गिरि गुफा में तो बाघ और सर्प सब रहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग! सम्प्रदाय में देखो तो व्याख्यान में ऐसी बातें चलती हैं (कि) व्रत करो और अपवास करो, तपस्या करो। भगवान ने बारह वर्ष तपस्या की थी, तब तो उन्हें केवल (ज्ञान) हुआ। अरे.. भगवान! सुन। वह तप तू कहता है, वह नहीं है।

अतीन्द्रिय आनन्द का (वेदन) जहाँ उग्ररूप से प्रगट हुआ है, उसे वहाँ तप कहा है। 'प्रतपन्ते इति तपः' आत्मा की चारित्रदशा है, सम्यग्दर्शनसहित चारित्र है, वह विशेष ओपता है, शोभता है, बढ़ता है, शुद्धि करता है, उसे तप कहा जाता है। यह तो सब लंघन है। वर्षीतप और अमुक तप और... आहाहा!

मुमुक्षु : यह कहते हैं एक बार करके तो देखो, फिर खबर पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : करके देखा नहीं? अभी तक पहले बहुत किया है। ऐसा क्रियाकाण्ड था कि लोग चिल्लाते थे! आहार लेने जाएँ, वहाँ सेठिया शोर मचाये। सेठिया

की बहू (हमको) देखकर ऐसे धूजे (काँपे कि) कैसे होगा? पहले जब (संवत्) १९७७ में भावनगर में आये थे, तब तो तुम (नहीं थे), कणवीवार के हरगोविन्दभाई थे। १९७७ में भावनगर में बिना ठिकाने का था। उमेचन्दजी थे न! सब बिना ठिकाने का था। खबर है न! मिले थे, उमेचन्दजी मिले थे। पहले-पहले गये, तब शोर मचाते थे। ३०-३५ घर जाएँ, तब मुश्किल से आहार मिले। नहीं तो कहीं.. कहीं कुछ.. फिर पम्फलेट छापना पड़ा। अमरचन्दभाई ने (छापा था), हरिभाई के भाई! पम्फलेट छापना पड़ा (कि) इतना इस प्रमाण आहार देना। नहीं तो गर्भ में गलोगे। यह सन् ७७ के वर्ष, (पहली बार) दीक्षा लेकर भावनगर आये थे। लोगों में शोर! लोग व्याख्यान में बहुत आते थे। बाहर में ऐसा बोला जात है कि 'गाँधी जी धर्म में आये हैं।' वे गाँधी संसार के गाँधी थे और ये धर्म के गाँधी हैं। गाँव के उपाश्रय में, हों! वह उपाश्रय है न! कमरा! लोग समावे नहीं। १९७७ का वर्ष! आहाहा! क्रिया तो (ऐसी पालते थे कि) आहार लेने जाएँ वहाँ लोग शोर मचाते थे। जरा कुछ अन्तर पड़े, कलश में पानी का एक बूँद पड़ा हो, और उसे साड़ी छू गयी हो तो बन्द। ग्वार का साग पड़ी हो, ग्वार.. ग्वार! उसका टुकड़ा कहीं पड़ा हो और चलते हुए उसका पैर छू गया (होवे तो) आहार बन्द! बेचारे फिर कितने ही रोवें। अरे रे! हमारे यहाँ आये (और ऐसा हुआ)। गाँव में पहली बार हमारे यहाँ आये (और ऐसा हुआ), यह तो सब धूल-धाणी! सब राग की क्रियाएँ हैं। (उसमें भी) वापस अभिमान (करे), हम यह करते हैं, और हम यह करते हैं और दूसरे नहीं करते। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) **अज्ञानरूप परिणमन ही बन्ध का कारण है;..** उसमें यह परिणमन है, देखा? पहले में भी ज्ञान का परिणमन (लिया था)। अर्थात् स्वभाव का परिणमन। उसमें विभाव का परिणमन है। उस विभाव को अज्ञान कहा। **अज्ञानरूप परिणमन ही बन्ध का कारण है; व्रत,..** (अर्थात्) पाँच महाव्रत। आहा! बारह व्रत। **नियम,..** (अर्थात्) अविग्रह (धारण करना)।

यह श्रीमद् में भी आता है न। 'यम नियम संयम आप कियो' श्रीमद् में आता है। 'यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो, वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।' आहाहा! 'जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे, उर से हि उदासी लही सबसे, सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मण्डन खण्डन भेद लिये, वह

साधन बार अनन्त कियो तदपि कछु हाथ हजू न परयो, अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से' कोई साधन दूसरा है। आहाहा!

नियम,.. अर्थात् यह नियम। इसमें नियम है न! यह नियम। यम अर्थात् महाव्रत। नियम अर्थात् यह नियम। ऐसे 'यम नियम संयम आप कियो' अनन्त बार इन्द्रिय का दमन किया। आहाहा! परन्तु अनीन्द्रिय ऐसे भगवान को पहुँचे बिना.. आहाहा! वे सब (कार्य) धर्म के लिए निष्फल गये। संसार के लिए-भटकने के लिए सफल हुए। आहाहा!

अज्ञानरूप परिणमन ही बन्ध का कारण है; व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभभावरूप शुभ कर्म कहीं मोक्ष के कारण नहीं हैं;... जरा भी मोक्ष के कारण नहीं हैं। आहाहा! कठिन काम है। इसे ज्ञान में अभी पहले निर्धार तो करे, फिर अन्दर जाने में प्रयोग करे परन्तु अभी ज्ञान का भी ठिकाना न हो, (वह प्रयोग कब करे) ? यह सच्चा ज्ञान (हुए) बिना अन्तर सत् सत्य है, वहाँ कैसे जाया जाएगा ? आहा! अभी इससे मदद होगी, इससे ऐसा होगा, इस शुभक्रिया से शुद्ध में वहाँ जाया जा सकेगा, क्योंकि अन्तिम शुभभाव होता है। होता है अर्थात् क्या ? आहाहा! अन्तिम शुभभाव (होात है) परन्तु अन्दर उसकी रुचि और लक्ष्य छोड़े, तब भगवान पर लक्ष्य जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, चिमनभाई! आहाहा!

व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभभावरूप शुभ कर्म.. (अर्थात्) कार्य। **कहीं मोक्ष के कारण नहीं हैं; ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी के..** आहाहा! उत्कृष्ट लिया न! अन्तिम! आत्मारूप से हुए धर्मी के **शुभ कर्म न होने पर भी..** उस समय व्रत और नियम का विकल्प नहीं है परन्तु अन्दर में स्थिर हुआ है और (आश्रय) उग्र हो गया है, **वह मोक्ष को प्राप्त करता है;..** निचलीदशा में निश्चय और साथ में व्यवहार होता है, वह यहाँ नहीं। जहाँ पूर्ण ज्ञान का परिणमन हुआ, वहाँ तो यह राग जरा भी है नहीं; अत: वहाँ तो व्रत-तप के बिना मोक्ष हुआ। मोक्ष का कारण तो यह हुआ। व्रत, नियम कोई कारण हुआ नहीं। वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! भले नीचे हो, निश्चय भी हो और व्यवहार भी हो। व्यवहार, वह बन्ध का कारण है और निश्चय, मोक्ष का कारण है। ऐसा है।

अज्ञानरूप परिणमित अज्ञानी के वे शुभकर्म होने पर भी,.. देखा ? वे शुभकार्य-आचरण—व्रत और नियम, तप और पंच महाव्रत, बारह व्रत और भक्ति यात्रा और पूजा

तथा करोड़ों रुपये खर्च करके बड़ा गजरथ निकाले और रथयात्रा निकाले। आहा! वे शुभकर्म होने पर भी, अज्ञानरूप से परिणमित है (इसलिए); जिसकी दृष्टि आत्मा के ऊपर नहीं है, उसकी दृष्टि ही राग की क्रिया के ऊपर है। आहाहा! **वे शुभकर्म होने पर भी, वह बन्ध को प्राप्त करता है।**

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

मुमुक्षु : दोनों होवे तो मोक्ष होता है, ऐसा धवल में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। दोनों होवे तो यह किस अपेक्षा से कहा? भावलिंग होवे, वहाँ ऐसा द्रव्यलिंग होता है, ऐसा सिद्ध करने के लिए ऐसा आता है। भाई! मोक्षपाहुड़ में आता है। भाव है, वहाँ ऐसा द्रव्य होता है, ऐसा। होता है इतना। दूसरी जाति का विरुद्ध नहीं होता। इतना बताने को (ऐसा कहा है)। द्रव्यलिंग और द्रव्य महाव्रत के परिणाम; निश्चय हैं, वहाँ ऐसे होते हैं, ऐसा (कहना है)। भावसहित का द्रव्य मुक्ति का कारण है, ऐसा भी शास्त्र में शब्द आता है। पाहुड़ में आता है। समझ में आया? यह तो साथ में अपूर्णता है, इसलिए राग है, यह बताया है, इतना। वह मोक्ष का कारण नहीं है, मोक्ष का कारण तो यह (शुद्धि अंश) है। परन्तु अपूर्ण है, उसमें उसे अभी व्रत के विकल्प खड़े हैं। यहाँ तो वे निकाल डाले।

यहाँ तो जहाँ अकेले आत्मा का परिणमन पूर्ण हो गया, वहाँ यह व्रत के विकल्प भी नहीं हैं, तथापि वे बन्ध के कारण हैं, वे यदि मोक्ष के कारण होवें तो उसे तो ऐसा कुछ नहीं है। मोक्ष का कारण तो अकेला आत्मा रहा। परिणमन, हों!

कलश-१०५

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शिखरिणी)

यदेतज् ज्ञानात्मा ध्रुव-मचल-माभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्।।१०५।।

श्लोकार्थ : [यत् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति] जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ-परिणमता हुआ भासित होता है, [अयं शिवस्य हेतुः] वही मोक्ष का हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि शिवः इति] वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है; [अतः अन्यत्] उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, [बन्धस्य] वह बन्ध का हेतु है [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि बन्धः इति] वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। [ततः] इसलिए आगम में [ज्ञानात्मत्वं भवनम्] ज्ञानस्वरूप होने का (-ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का) अर्थात् [अनुभूतिः हि] अनुभूति करने का ही [विहितम्] विधान है।।१०५।।

श्लोक - १०५ पर प्रवचन

यदेतज् ज्ञानात्मा ध्रुव-मचल-माभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्।।१०५।।

१०५ (कलश)। लो, पहले में '**विहितम्**' आया है न! कलश में आया था पहले। '**विहितं शिवहेतुः**' नहीं? आया था। '**शिवहेतुः**' १०३ (कलश)। '**ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः**' १०३, आहाहा!

[यत् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति] जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा.. यत् एतद् ध्रुवम्.. ध्रुवरूप से और अचलरूप से.. 'ज्ञानात्मा भवनम्' ज्ञानस्वरूप होता हुआ.. 'ज्ञानात्मा भवनम्' (अर्थात्) जैसा स्वरूप है, वैसा भवनम् (अर्थात्) उसरूप सत्त्व होता हुआ। सत् का सत्त्व सत्त्वरूप से परिणमता हुआ। आहाहा! यह पुण्य और पाप, ये कहीं आत्मा का सत्त्व नहीं है, ये कोई आत्मा का कस नहीं है। आहाहा! ऐसा सुने, इसलिए फिर लोगों को, सम्प्रदाय का सुना हो, उसमें ऐसा सुने इसलिए (शोर मचाये कि) ऐ..ई! यह तो व्यवहार को उड़ाते हैं, उड़ाते हैं। व्यवहार को उड़ाते हैं अर्थात्? वह बन्ध का कारण है। जहाँ पूर्ण (दशा) न हो, वहाँ व्यवहार होता अवश्य है, परन्तु है बन्ध का कारण। आहाहा!

जहाँ पूर्ण स्थिरता नहीं.. वहाँ 'आस्रव अधिकार' में आया है न! जघन्य ज्ञान का परिणमन। समयसार (में) आस्रव अधिकार (में) आया है। जहाँ जघन्य ज्ञान का परिणमन है, वहाँ अन्यरूप से जाता है, विकल्प में जाता है, तब तक वहाँ बन्ध है। इतना विकल्प होता है, इतना अभी बन्ध है। यथाख्यात पूर्ण स्थिरता हो गयी, उसे यह नहीं है, ऐसा यहाँ कहा। उसे व्रत का विकल्प-व्यवहार है नहीं। दूसरे को व्यवहार हो, परन्तु वह बन्ध का कारण है। व्यवहार कहीं मददगार है और व्यवहार पालना पड़ता है, ऐसा नहीं है, तथापि चरणानुयोग में ऐसा आता है (कि) उसे पालना, उसका ऐसा करना, उसका ऐसा करना... आहाहा! वह तो वस्तु की स्थिति बतलाते हैं। आहाहा!

'ज्ञानस्वरूपे भवनं' है न? देखा! वजन यहाँ है। भगवान आत्मा का जो चैतन्यस्वरूप है, उसका भवनं (अर्थात्) उसका उसरूप होना। है? ज्ञानस्वरूप से परिणमता हुआ, ज्ञानस्वरूप से होता हुआ.. आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन भगवान, उसरूप से होता हुआ। जैसा उसका सत् है, उसरूप से वह होता हुआ। आहा! उसरूप से अर्थात् ज्ञानस्वरूप से अर्थात् उसका जो स्वरूप है, उसरूप से परिणमता हुआ। उसका स्वभाव जो शुद्ध परम आनन्द आदि है, उसरूप से होता हुआ। आहाहा! **परिणमता हुआ भासित होता है,..** और शुद्धरूप से परिणमता हुआ ज्ञानी को भासित होता है। आहाहा! **'अयं शिवस्य हेतुः' वही मोक्ष का हेतु है,... 'अयं शिवस्य हेतुः'** देखा? वही मोक्ष का हेतु है। इतने तो 'ही'

डालते हैं। **क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है;..** क्यों मोक्ष का हेतु है ? कि मोक्षस्वरूप है। प्रभु आत्मा है, वह तो मोक्षस्वरूप है। आहाहा! मोक्षस्वरूप न हो तो पर्याय में मोक्षदशा आयेगी कहाँ से ? आहाहा! **स्वयमेव मोक्षस्वरूप है;..** भी क्यों कहा ? कि उसका परिणमन है, वह मोक्ष का हेतु है और वह स्वयं भी मोक्षस्वरूप है, ऐसा। आहाहा! उसका परिणमन है, वह मोक्ष का कारण है और यह क्यों ? कि वस्तु स्वयं मोक्षस्वरूप है।

उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्ध का हेतु है.. क्यों वापस ? **'स्वयम् अपि बन्धः'** स्वयं बन्धस्वरूप है। बन्धस्वरूप है, वह बन्ध का कारण है; मोक्षस्वरूप है, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा! **ज्ञानस्वरूप होने का (–ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का) अर्थात्..** जैसा स्वभाव है, वैसा होने का। **अर्थात् अनुभूति करने का ही आगम में विधान है।** अर्थात् फरमान है। लो! बारह अंग में अनुभूति (करने को कहा है)। बारह अंग का आया है न! कि बारह अंग भले विकल्प हैं, परन्तु उसमें कही है अनुभूति। उस ऐतिहासिक ने भी ऐसा कहा है, (कि) जैनधर्म वह अनुभूति है। जापान का कोई पुराना ऐतिहासिक है। वह (यहाँ) आया।

अनुभूति करने का ही.. 'अनुभूतिः हि' है न ? **'हि' आगम में विधान है।** अर्थात् फरमान है। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१५४

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति –

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसार–गमण–हेदुं पि मोक्ख–हेदुं अजाणंता।।१५४।।

परमार्थ–बाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्य–मिच्छन्ति।
संसार–गमन–हेतु–मपि मोक्ष–हेतु–मजानन्तः।।१५४।।

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसम्भावितात्मलाभं मोक्षमभिलषन्तोऽपि तद्धेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरन्तकर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानभवनमात्रं सामायिकमात्मस्वभाव–मलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवृत्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसन्तुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकाण्डमनुन्मूलयन्तः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बन्धहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपः प्रभृति शुभकर्मबन्धहेतुमप्य–जानन्तो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छन्ति।।१५४।।

अब फिर भी, पुण्यकर्म के पक्षपाती को समझाने के लिये उसका दोष बतलाते हैं:–

परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्ष का।
अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का।।१५४।।

गाथार्थ : [ये] जो [परमार्थबाह्याः] परमार्थ से बाह्य हैं [ते] वे [मोक्षहेतुम्] मोक्ष के हेतु को [अजानन्तः] न जानते हुए–[संसारगमनहेतुम् अपि] संसार गमन का हेतु होने पर भी–[अज्ञानेन] अज्ञान से [पुण्यम्] पुण्य को (मोक्ष का हेतु समझकर) [इच्छंति] चाहते हैं।

टीका : समस्त कर्मों के पक्ष का नाश करने से उत्पन्न होनेवाले (निजस्वरूप की प्राप्ति) आत्मलाभस्वरूप मोक्ष को इस जगत् में कितने ही जीव चाहते हुए भी, मोक्ष की कारणभूत सामायिक की-जो (सामायिक) सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान की भवनमात्र है, एकाग्रतालक्षणयुक्त है, और समयसारस्वरूप है उसकी-प्रतिज्ञा लेकर भी; दुरन्त कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण परमार्थभूत ज्ञान के भवनमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभाव को न प्राप्त होते हुए, जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं ऐसे वे, कर्म के अनुभव के गुरुत्व-लघुत्व की प्राप्तिमात्र से ही सन्तुष्ट चित्त होते हुए भी, स्वयं स्थूल लक्षवाले होकर (संक्लेशपरिणाम को छोड़ते हुए भी) समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते। इस प्रकार वे, स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभकर्म को ही बन्ध का कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मों को बन्ध का कारण होने पर भी, उन्हें बन्ध का कारण न जानते हुए मोक्ष के कारणरूप में अंगीकार करते हैं-मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं।

भावार्थ : कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिक की प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव न कर सकने से, स्थूल लक्ष्यवाले वे जीव स्थूल संक्लेशपरिणामों को छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणामों में (शुभ परिणामों में) राचते हैं। (संक्लेशपरिणाम तथा विशुद्धपरिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं; आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है।) इस प्रकार वे-यद्यपि वास्तविकतया सर्वकर्मरहित आत्मस्वभाव का अनुभव ही मोक्ष का कारण है तथापि-कर्मानुभव के अल्पबहुत्व को ही बन्ध-मोक्ष का कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का मोक्ष के हेतु के रूप में आश्रय करते हैं।

प्रवचन नं. २३४, गाथा १५४-१५५ दिनाङ्क २३-०५-१९७९, बुधवार

बैशाख कृष्ण १३

समयसार, गाथा १५४ **अब फिर भी, पुण्यकर्म के पक्षपाती को..** १५४ (गाथा की) ऊपर की लाईन। **फिर भी, पुण्यकर्म के पक्षपाती को..** अर्थात् कि शुभभाव से

धर्म होता है, ऐसा पक्षपाती प्राणी। आहा! उसका जिसे पक्ष है कि उससे धर्म होता है, उसे **समझाने के लिये उसका दोष बतलाते हैं:-** आहा!

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसार-गमण-हेदुं पि मोक्ख-हेदुं अजाणंता।।१५४।।

परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्ष का।
अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का।।१५४।।

आहा! पुण्य-पाप अधिकार है न? टीका - **समस्त कर्मों के पक्ष का नाश करने से..** शुभ और अशुभभाव, ऐसे जो भावकर्म, उनके पक्ष का नाश करने से। आहाहा! **उत्पन्न होनेवाले आत्मलाभ..** शुभ और अशुभभाव का नाश करने से (कि) जो कर्म का पक्ष है, अर्थात् विकारी पक्ष है, उसका नाश करने से **उत्पन्न होनेवाले आत्मलाभ..** (अर्थात्) **(निजस्वरूप की प्राप्ति)..** आत्मा अर्थात् निजस्वरूप। लाभ (अर्थात्) प्राप्ति। आहाहा! ऐसे **आत्मलाभस्वरूप मोक्ष को..** आत्मलाभस्वरूप मोक्ष को **इस जगत् में कितने ही जीव चाहते हुए भी,..** कितने ही जीव चाहते हैं। आहाहा! तो भी **मोक्ष की कारणभूत सामायिक की..** मोक्ष का कारण तो सामायिक है। पुण्य-पाप के भाव, वह कोई (मोक्ष का) कारण नहीं है। आहाहा!

सामायिक की-जो (सामायिक).. सामायिक किसे कहना? कहते हैं। जो **सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले..** निश्चय जो सम्यग्दर्शन (अर्थात्) स्वभाव जो चैतन्य प्रभु, उसका दर्शन / प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें रमणता। ऐसे जो **सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान की भवनमात्र है,...** सामायिक तो उसे कहते हैं, कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत आत्मा अर्थात् (कि) ज्ञान। ज्ञान का परमार्थ से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होना, परिणमना, वह सामायिक है। लो, यह सामायिक की व्याख्या!

अन्तर में भगवान आत्मा पुण्य-पाप के परिणाम से भिन्न है। अन्तर अनन्त गुण का सागर आत्मा, उसके प्रति सन्मुख होकर निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प स्वज्ञान और निर्विकल्प स्वरूप की चारित्र की रमणता (प्रगट होती है), वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्ररूप सामायिक है। ऐसे परमार्थभूत ज्ञान का होना। आहाहा! ऐसा परमार्थभूत भगवान आत्मा, उसका आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप होना। जैसा उसका स्वरूप-स्वभाव है, उस प्रकार से उसकी दशा में शुद्धस्वभाव का परिणमन होना। आहा!

एकाग्रतालक्षणयुक्त है,.. कैसा है वह परमार्थभूत ज्ञान का भवन?—कि एकाग्रता-शुद्धस्वरूप में एकाग्रता है। शुभाशुभभाव की एकाग्रता छूट गयी है और चैतन्यस्वभाव, ऐसे शुद्ध प्रभु में एकाग्रता लक्षणवाला (भवन), वह सामायिक है। दो प्रकार कहे—एक दर्शन-ज्ञान स्वभाववाले ज्ञान का होना अर्थात् एकाग्रता लक्षणवाला है। आहाहा! शुद्धस्वरूप में एकाग्रतालक्षणवाला है।

और समयसारस्वरूप है... वह सामायिक तो समयसारस्वरूप है। आहाहा! समयसार जो त्रिकाल है, उसका वर्तमान में सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप शुद्ध निश्चयरूप होना, उसका नाम समयसार है। आहाहा! और उस समयसारस्वरूप एकाग्रतालक्षण दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आत्मस्वरूप का होना-भवन, उसका नाम सामायिक है। लो, यह सामायिक की ऐसी व्याख्या! यहाँ तो कुछ समझे बिना सामायिक और प्रौषध और (कुछ किया करते हैं)। आहाहा!

मुमुक्षु : सातवें गुणस्थान के बाद की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो मुनि की मुख्यता से बात है, सामायिक की बात है। व्यवहार-फ्यवहार का यहाँ प्रश्न है नहीं। व्यवहार, वह राग है। ऊपर कहा नहीं? उसके पक्षपाती को समझाने के लिए दोष बताते हैं। आहाहा! जो शुभभाव का पक्षपाती है, उसे दोष बतलाते हैं कि वह तो राग है, विकार है; वह सामायिक नहीं। आहाहा! सामायिक तो आत्मा अन्दर पूर्णानन्द प्रभु का निर्विकल्प दर्शन, उसका राग के अवलम्बनरहित आत्मा का ज्ञान और आत्मा में चरना, आनन्द में रमना - ऐसा जो चारित्र, (वह सामायिक है)। दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला (कहा) है न? **परमार्थभूत ज्ञान..** अर्थात् आत्मा का होना, अर्थात् एकाग्रता लक्षणवाला। शुद्ध चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता लक्षणवाला। अर्थात् कि वह समयसारस्वरूप है। आहाहा! ऐसी सामायिक।

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसी प्रतिज्ञा लेने पर भी। ऐसा कहेंगे। **उसकी-प्रतिज्ञा लेकर**

भी;.. प्रतिज्ञा तो यह है। प्रतिज्ञा जो लेते हैं, वह प्रतिज्ञा तो यह है कि शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा, शुभ दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम से भी भिन्न है। ऐसे शुद्धस्वरूप का दर्शन-ज्ञान और चारित्र, ऐसा आत्मा का होना; उसरूप स्वभाव है, उसका उस प्रकार से होना अर्थात् उसमें एकाग्रता लक्षण - ऐसा जो समयसारस्वरूप, उसकी प्रतिज्ञा लेकर भी। आहाहा! प्रतिज्ञा उसकी—सामायिक की—लेता है, परन्तु ऐसी सामायिक की। आहाहा!

दुरन्त कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता.. आहाहा! परन्तु जो शुभभाव है, पुण्य है, बन्धन का कारण है। ऐसा उसका अन्त लाना। कर्मचक्र अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों, वह कर्मचक्र है। चाहे तो अशुभभाव हो या चाहे तो शुभ हो; हैं दोनों कर्मचक्र। वह कोई आत्मा का स्वरूप नहीं है। **कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता..** देखा? आहाहा! 'क्लीब' शब्द है।

शुभभाव से पार उतरने की नामर्दाई (अर्थात्) नपुंसक है, (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! जिसका वीर्य इन शुभभाव—दया, दान, व्रत में रुक गया है, वह नामर्द है; वह मर्द नहीं है, वह पुरुष नहीं है; वह नपुंसक है, कहते हैं। आहाहा! जैसे नपुंसक को वीर्य नहीं होता और पुत्र नहीं होता; वैसे शुभभाव में धर्म की प्रजा नहीं होती। आहाहा! नपुंसकता! पहले ३९ से ४३ (गाथा) आ गयी है और (यह) १५४, दोनों जगह 'क्लीब' शब्द है। पाठ में **कर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया** (ऐसा है)। पुण्य और पाप के दोनों भाव, उनसे पार उतरने की नपुंसकता है, नामर्दाई है। आहाहा! मर्द तो उसे कहते हैं कि इन शुभाशुभभाव से रहित आत्मा के शुद्धस्वरूप का परिणमन करे, उसे मर्द कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

उस दुरंत कर्मचक्र को पार उतरने की क्लीबता के कारण-नपुंसकता के कारण - नामर्दाई - **(असमर्थता के कारण)** आहाहा! **परमार्थभूत ज्ञान..** अर्थात् आत्मा। परमार्थभूत आत्मस्वभाव का अनुभवमात्र। आत्मस्वभाव का अनुभवमात्र। उसमें कोई शुभभाव, दया, दान, व्रत का भाव आवे नहीं। आहाहा! **जो सामायिक..** कैसी (सामायिक)? इतने तक (लिया, वैसी)। पहले लिया—दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव (वाले) परमार्थभूत आत्मा का होना, अन्तर में एकाग्रता होना, समयसाररूप रहना, कर्मचक्र के पार को उतरकर परमार्थभूत ज्ञान के अनुभवन (मात्र रहना)। आहाहा!

अन्तर भगवान पूर्ण आनन्द अतीन्द्रिय अनन्त गुण का समुद्र भरा है। उसमें जाने को असमर्थ और नपुंसकता के कारण। उसका जो आत्मस्वभाव है, उसका परिणमन होना, ऐसी जो सामायिक। आहाहा! **सामायिकस्वरूप आत्मस्वभाव..** आहाहा! इतनी (बात) ली है। वह सामायिकस्वरूप कैसा है?—कि वह तो आत्मा का स्वभाव है। आहाहा! दया, दान, व्रत, तप का भाव, वह कहीं आत्मस्वरूप नहीं है। आहा! वह सामायिकस्वरूप जो अन्दर पुण्य और पाप के भावरहित, चैतन्यस्वभाव जो ध्रुव है, जो स्वभाव से भरपूर ध्रुव है, ऐसे ध्रुवस्वभाव को नहीं पाते हुए, ऐसे **आत्मस्वभाव को न प्राप्त होते हुए,..** आहाहा!

जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं.. (अर्थात्) उसने अशुभभाव छोड़ा है। आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना, भोग, यह अशुभभाव उसने छोड़ा है और **अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं...** आहाहा! यह अशुभभाव भी अत्यन्त संक्लेश स्थूल है। इससे निवृत्त हुआ है परन्तु अत्यन्त स्थूल ऐसे विशुद्ध परिणाम में प्रवर्तता है। आहाहा! इसलिए वह धर्म में (अर्थात्) सामायिक में नहीं आया। आहाहा! अब, ऐसे सामायिक! यह तो आठ-आठ वर्ष के लड़के भी सामायिक करे और फिर उन्हें कुछ दे। रुपया या दो-आठ आने (दे)। हो गयी सामायिक! अरे! प्रभु! आहाहा!

सामायिक तो उसे कहते हैं कि जो आत्मा पुण्य-पाप के भावरहित और पूर्ण स्वभाव से भरपूर भगवान का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मस्वभाव का होना... आहाहा! और उसमें एकाग्र होना, ऐसा जो समयसारस्वरूप, (उसे सामायिक कहते हैं)। आहाहा! उसे नहीं पहुँचते हुए **सामायिकस्वरूप आत्मस्वभाव को न प्राप्त होते हुए,..** आहाहा!

आहाहा! **जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म..** कर्म अर्थात् परिणाम, भावकर्म। यहाँ कर्म शब्द में कितने ही यह लेते हैं कि जड़कर्म.. जड़कर्म.. जड़कर्म। पहले से जड़कर्म लिया है न! परन्तु उस जड़कर्म के साथ भावकर्म है, वह सब कर्म में जाते हैं। आहाहा! संक्लेश, अत्यन्त स्थूल, संक्लेश अशुभपरिणाम के कार्य से, परिणाम से निवृत्त है, परन्तु **अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणाम..** आहाहा! शुभभाव अत्यन्त स्थूल

विशुद्धपरिणाम है, अत्यन्त स्थूल है; भगवान (आत्मा) सूक्ष्म है। उस विशुद्ध-शुभभाव से भिन्न अन्तर सूक्ष्म तत्त्व अरूपी सूक्ष्म है। आहाहा!

जिसे अत्यन्त संक्लेशपरिणाम (होते थे), उनमें से निवृत्त हुआ। दुकान छोड़ दी, धन्धा छोड़ दिया, स्त्री छोड़ी, विषय छोड़े, भोग छोड़े, परन्तु उससे क्या? कहते हैं। किन्तु अत्यन्त स्थूल जो विशुद्ध परिणाम है, उनमें उसने माना है और उनमें अटक गया है। आहाहा! उसमें वह प्रवर्तता है, ऐसा है न?

अत्यन्त स्थूल विशुद्ध.. अर्थात् शुभपरिणामरूप भाव, ऐसे कार्य, उसमें इसके परिणाम प्रवर्तते हैं। आहाहा! **ऐसे वे, कर्म के अनुभव के गुरुत्व-लघुत्व की प्राप्तिमात्र से..** वह तो कर्म का अनुभव है। गुरु (अर्थात्) अशुभभाव। वह गुरुरूप से भारी थे और शुभभाव जरा लघु था, परन्तु हैं दोनों कर्म। शुभभाव है भले लघु, परन्तु है कर्मचक्र। अशुभभाव स्थूल है, परन्तु है कर्मचक्र। दोनों कर्मचक्र है। आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना कठिन पड़ता है। हो गयी सामायिक की और यह किया, वह किया, दो घड़ी बैठे, णमो अरिहंताणं तिकखुत्तो, सामायिक (हो गयी)।

मुमुक्षु : उसमें छह काय के जीव की रक्षा होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी रक्षा? तेरी रक्षा तूने की नहीं। पर की रक्षा कर सकता नहीं। पर की रक्षा कर नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय को प्राप्त होता है। यह तो अपने आ गया है। प्रत्येक द्रव्य वर्तमान अपनी पर्याय को पहुँचता है, प्राप्त करता है, पाता है। वह कहीं दूसरे की पर्याय को प्राप्त करता है, दूसरे की पर्याय को मदद करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : छह काय का रक्षक कहने में आता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें हैं। छह काय में स्वयं आत्मा है या नहीं? आत्मा का रक्षक! उसमें छह काय के ग्वाल, छह काय के पियर। ऐ... चिमनभाई! संवत्सरी के पश्चात् एक-दूसरे सगे-सम्बन्धी को पत्र लिखते हैं न! छह काय के रक्षक, छह काय के पियर, छह काय के ग्वाल, ऐसा लिखते थे। आहाहा! छह काय में यह भगवान आत्मा है या नहीं?

मुमुक्षु : आत्मा में काय कहाँ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह असंख्य प्रदेशी काय है। आहाहा! असंख्य प्रदेशी काय है, ऐसा पाठ है। असंख्य प्रदेशी को काय, वही इसे काय कहते हैं। आहाहा! वह भी घन है। आहाहा! परमाणु और कालाणु को काय नहीं है। यह (आत्मा) तो असंख्य प्रदेशी काय है। आहाहा!

निर्मलानन्द अनन्त आनन्द का धाम भगवान... आहाहा! उसके भाव को न प्राप्त करते हुए स्थूल गुरु और लघुपना। अशुभभाव, वह गुरु है और शुभभाव, वह लघु है, परन्तु है कर्म का चक्र, वह कर्म का अनुभव है। पुण्य तथा शुभ और अशुभभाव दोनों हैं कर्म का अनुभव। आत्मा का अनुभव नहीं। आहाहा! उस **गुरुत्व-लघुत्व की प्राप्तिमात्र से ही..** प्राप्तिमात्र से **'ही' सन्तुष्ट चित्त होते हुए..** ऐसा कि हमने कुछ सामायिक की, हमने प्रौषध किये। आहाहा! चौबीस घण्टे में से दो घण्टे बचाये, दो सामायिक की।

हमारे वहाँ बोटाद में चार-चार करते थे। जल्दी उठते, कुँवरजीभाई के साथ। आहाहा! किसे कहना सामायिक? अभी जिसके देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं, फिर उसे सामायिक कैसी? आहाहा! यह तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु जिसे मिले, उनकी श्रद्धा का भाव, वह भी शुभभाव है, कर्मचक्र का शुभभाव है। आहाहा!

वे **स्थूल लक्षवाले होकर..** आहाहा! क्यों? - कि अशुभभाव छोड़ा परन्तु शुभभाव में सन्तुष्ट हो गया। सन्तुष्ट चित्तवाला हुआ, इसलिए वह तो स्थूल लक्ष्यवाला है। आहाहा! उसका लक्ष्य शुभपरिणाम स्थूल है, उस पर उसका लक्ष्य है। भगवान आत्मा, शुभपरिणाम से भिन्न सूक्ष्म है, उसके लक्ष्य की इसे खबर नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। **स्थूल लक्षवाले होकर (संक्लेशपरिणाम को छोड़ते हुए भी) समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते।** परन्तु यह व्रत-तप, भक्ति और पूजा का भाव शुभभाव है। वह तो कर्म है, वह कर्मचक्र का भाव है। उसे मूल में से, **समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते।** आहाहा! ऐसा मार्ग सुनना कठिन पड़े। यह तो सामायिक की और यह सब घड़ी लेकर बैठते हैं न! महिलाओं ने सामायिक कर डाली और अब पकाने में रुक गयीं। सवेरे उठकर पहले सामायिक की। कहाँ सामायिक थी, बापू!

मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा! कर्मकाण्ड को धर्म मानते हुए वहाँ सन्तुष्ट हो गये हैं। हमने कुछ किया! आहाहा! **समस्त कर्मकाण्ड..** अर्थात् कर्म की क्रियाओं को मूल से **नहीं उखाड़ते।** आहाहा!

इस प्रकार वे, स्वयं अपने अज्ञान से.. किसी कर्म के कारण से नहीं। आहा! **स्वयं अपने अज्ञान से..** आहाहा! ज्ञातादृष्टा के स्वभाव से भरपूर प्रभु को स्वयं अपने अज्ञान से, स्वरूप के अज्ञान से। स्वरूप पूरा बड़ा महाप्रभु है, उसके स्वभाव के अज्ञान से। आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण का सागर, गुणधाम प्रभु। ऐसा शुभभाव के समीप विराजता है, उसके अज्ञान के कारण। आहाहा! वह क्या चीज़ है? अन्दर भगवान परमात्मस्वरूप जिनस्वरूप (विराजता है), उसके अज्ञान के कारण। आहाहा! **केवल अशुभकर्म को ही बन्ध का कारण मानकर,..** बस! उस अशुभकर्म को ही कर्म बन्धन का कारण मानकर। **व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि..** इत्यादि अर्थात् शुभभाव के असंख्य प्रकार। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, गुणस्मरण, प्रभु का स्मरण (आदि)। आहाहा! प्रभु परद्रव्य है, उसका स्मरण भी शुभभाव है। ऐसी बात! वे इत्यादि शुभ कार्य भी **बन्ध का कारण होने पर भी..** वह शुभभाव भी बन्ध का कारण है, वह संसार है। आहाहा! मोक्षस्वरूप प्रभु तो उनसे अन्दर भिन्न है। आहाहा! पहले यह अन्दर आ गया है। स्वयं मोक्षस्वरूप है, इसलिए मोक्ष का कारण है और शुभ-अशुभभाव बन्धस्वरूप ही है, इसलिए बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसी बात अब। हजारों सामायिक हो, प्रौषध हो, सायंकाल प्रतिक्रमण करे, पश्चात् सबको कुछ न कुछ दे। फिर आठ-आठ वर्ष के लड़के आवें।

मुमुक्षु : रुपये-दो रुपये मिले न!

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले इतना अधिक नहीं होता था। पहले साधारण होता था। पहले रुपये की कीमत थी न, परन्तु तब कुछ पताशा दे, पेड़ा दे, ऐसा साधारण दे। पुस्तक दे, आसन-अच्छा आसन दे। ऐसा देते थे। अभी तो दो-दो रुपये की कीमत क्या है? चार पैसे का रुपया! रुपया दे, दो रुपया दे, (इसलिए) वे प्रसन्न हों। सामायिक करने के लिए बहुत इकट्ठे हों। कहाँ सामायिक थी, बापू! आहा!

वे **अशुभकर्म को ही बन्ध का कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप**

इत्यादि.. इत्यादि शुभभाव के प्रकार। (वे) **बन्ध का कारण होने पर भी..** वह शुभभाव बन्ध का कारण है। आहाहा! **उन्हें बन्ध का कारण न जानते हुए..** आहाहा! अभी तो यह कहते हैं कि व्यवहार दया, व्रत, तपादि निश्चय का साधन है। लो, ठीक! बहिरंग साधन तो उसमें जयसेनाचार्यदेव की टीका में भी (आता) है। बहिरंग साधन (कहा है)। वह निश्चय साधन करता है, तब राग की मन्दता को बहिरंग साधन का निमित्त का ज्ञान कराया है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। समयसार! उसे पकड़े कि देखो! यह बहिरंग साधन (कहा है)। आहाहा!

अन्दर में भगवान शुभ-अशुभभाव से अत्यन्त भिन्न निराला (विराजमान है)। त्रिकाल पवित्रता का पिण्ड प्रभु, अकेला आत्मस्वभाव, जिसमें विभाव की गन्ध नहीं है। ऐसे स्वभाव को न प्राप्त करते हुए शुभभाव करके सन्तोष में आ जाने से... आहाहा! **उन्हें बन्ध का कारण न जानते हुए मोक्ष के कारणरूप में अंगीकार करते हैं..** आहाहा! यह शुभभाव भी मोक्ष का कारण है। आहाहा! अशुभ में से कहीं शुद्ध में जाया जाएगा? इसलिए शुभभाव है, (कारण है)। एक व्यक्ति और ऐसा कहता था, यह सीढ़ी है। यह शुभभाव में से शुद्ध में जाया जाता है, इसलिए शुभभाव कारण है। अरे रे! लहसुन खाते-खाते कस्तूरी का डकार आवे, ऐसा कहता है। कठिन बात है।

उन्हें **मोक्ष के कारणरूप में अंगीकार करते हैं..** शुभभाव तो ज्ञानी को आता है परन्तु वह बन्ध का कारण जानकर और दुःखरूप जानकर हेय जानता है। आहाहा! अपना जो चैतन्यस्वभाव नित्यानन्द प्रभु, ध्रुवस्वभाव जो नित्य प्रभु है और नित्य में भी सब गुण भी नित्य हैं। आहाहा! उन अनन्त-अनन्त गुण की राशि का नित्यपना जो प्रभु का है, उसके स्वभाव की ओर न जाकर.. आहाहा! (उस) राग की क्रिया को मोक्ष के कारणरूप से अंगीकार करते हैं। उस शुभक्रियाकाण्ड के भाव को... आहाहा! **मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं।** लो! वह शुभभाव आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा (मानते हैं)। बारहवीं गाथा में जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा कहा न! उसके बदले उसका ऐसा अर्थ किया कि व्यवहार को सम्हालो! आहाहा! होता है, परन्तु वह जाननेयोग्य है, आदरणीय नहीं। होता है, जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब (तक) ऐसा भाव आता है परन्तु फिर भी वह दुःखरूप है और हेय है। उस काल में उसे उस प्रकार से है, वैसा जानना। ऐसी

सामायिक की खबर नहीं होती और यह सामायिक.. सामायिक.. सामायिक..। बाहर लड़के तूफान करते हैं।

मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं। बन्ध का कारण होने पर भी उन्हें बन्ध का कारण न जानते हुए.. आहाहा! व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि। यहाँ तप (अर्थात्) यह बारह प्रकार के तप। अन्दर का तप है, वह अलग बात है। वह तो आनन्दस्वरूप में रमना, वह अन्तर तप है। वह निर्जरा का कारण है। बाकी ये सब अपवास (करे), वह सब बाह्य लंघन है। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग है।

मुमुक्षु : छठे गुणस्थान तक व्यवहार, मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु सातवें गुणस्थान के बाद कारण है?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक का एक, व्यवहार मोक्ष का कारण जरा भी नहीं है, बन्ध का कारण है। यह कहा न पहले।

बन्ध का कारण न जानते हुए मोक्ष के कारणरूप में.. माने, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसे **मोक्ष के कारणरूप में अंगीकार करते हैं..** उसका आश्रय करते हैं। आ जाते हैं, स्वभाव की दृष्टि है, शुद्ध चैतन्य की दृष्टि और ज्ञान है, तो भी उसमें स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए शुभभाव आता है परन्तु उसका आश्रय नहीं है। उसे जाननेयोग्य जानकर छोड़ता है। यह तो आश्रय करता है कि इससे मुझे लाभ होगा। शुभ का अवलम्बन रहेगा तो मुझे लाभ होगा। आहाहा!

भावार्थ : कितने ही अज्ञानीजन.. कितने ही अज्ञानी लोग। **दीक्षा लेते समय..** मुख्य तो यहाँ दीक्षा की बात है न! **सामायिक की प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभाव की..** सूक्ष्म ऐसा आत्मस्वभाव। यह पुण्य-पाप, स्थूल है। आहाहा! **सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव..** लक्ष्य अर्थात् ज्ञान। वह **न कर सकने से, स्थूल लक्ष्यवाले वे जीव स्थूल संक्लेशपरिणामों को छोड़कर..** (अर्थात्) अशुभ को छोड़ते हैं। **ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणामों में (शुभ परिणामों में) राचते हैं।** वापस **ऐसे ही..** ऐसा शब्द है न? आहा! ऐसे ही। जैसे अशुभभाव बन्ध का कारण है, वैसे ही शुभभाव है। आहाहा! इसमें बड़ा विवाद, बड़ा विवाद! आहाहा! अभी

तो सब गड़बड़ ही चलती है। व्यवहार की बातें होवे तो लोगों को ठीक पड़ता है... ओहोहो! ऐसी सेवा करो, इसका यह करो, देशसेवा, हिन्दी भाषा का प्रचार करो (तो) लाभ होगा। सब राग की और विकल्प की बातें हैं। आहाहा! उसमें उनका आश्रय करके धर्म माननेवाले.. आहाहा!

ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणामों में (शुभ परिणामों में) राचते हैं। (संक्लेश–परिणाम तथा विशुद्धपरिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं;..) अत्यन्त स्थूल हैं। आहाहा! भगवान तो अन्दर विकारी परिणाम से अत्यन्त (भिन्न) सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. बारीक है। आहाहा! वह अत्यन्त स्थूल परिणाम से पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह दया, दान, व्रतादि शुभभाव है, (वे अत्यन्त स्थूल हैं)। बहुतों को तो अभी यही बात है। व्यवहार है, वह साधन है,.. व्यवहार है, वह साधन है। निश्चय भले साध्य है। आहाहा! यहाँ कहते हैं, व्यवहार है, वह बन्ध का कारण है; वह स्वभाव का साधन नहीं है। आहाहा! परन्तु क्या हो? अब बहुभाग अभी यह हो गया है और इन बनियों को फुरसत नहीं मिलती। जो सिर पर बैठे, वह जयनारायण! तुलना करके सत्य क्या है? असत्य क्या है? (उसकी परीक्षा नहीं करते)। आहाहा!

इस प्रकार वे–यद्यपि वास्तविकतया सर्वकर्मरहित आत्मस्वभाव का अनुभव ही मोक्ष का कारण है.. देखा? शुभ और अशुभभाव से रहित आत्मस्वभाव का अनुभवन मोक्ष का कारण है। आहाहा! **तथापि–कर्मानुभव के अल्पबहुत्व को ही बन्ध–मोक्ष का कारण मानकर..** आहाहा! अशुभ(भाव) है, वह बन्ध का कारण, शुभ (भाव) वह मोक्ष का कारण ऐसा (मानते हैं)। कर्मानुभव का बहुतपना–थोड़ा (पना)। अर्थात् अशुभ बहुत, शुभ थोड़ा, ऐसा दो में भेद करते हुए **बन्ध–मोक्ष का कारण मानकर..** अशुभ है, वह बन्ध का कारण है; शुभ है, वह मोक्ष का कारण है – ऐसा अज्ञानी मानता है।

व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि.. रस का त्याग किया, इसने इसका त्याग किया, इतना रस नहीं खाते, ऐसा लेते हैं, अमुक लेते हैं.. आहाहा! **व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का मोक्ष के हेतु के रूप में आश्रय करते हैं।** उनका अवलम्बन लेते हैं।

गाथा–१५५

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति –

जीवादी–सद्दहणं सम्मत्तं तेसि–मधिगमो णाणं।
रागादी–परिहरणं चरणं एसो दु मोक्ख–पहो।।१५५।।

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम्।
रागादि–परिहरणं चरणं एषस्तु मोक्ष–पथः।।१५५।।

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्।

ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।।१५५।।

अब जीवों को परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण बतलाते हैं:–

जीवादिका श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है।
रागादि–वर्जन चरित है, अरु ये हि मुक्ती पंथ है।।१५५।।

गाथार्थ : [जीवादिश्रद्धानं] जीवादि पदार्थों का श्रद्धान [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है, [तेषां अधिगमः] उन जीवादि पदार्थों का अधिगम [ज्ञानम्] ज्ञान है और [रागादिपरिहरणं] रागादि का त्याग [चरणं] चारित्र है;– [एषः तु] यही [मोक्षपथः] मोक्ष का मार्ग है।

टीका : मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है। उसमें, सम्यक्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना–परिणमन करना है; जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना–परिणमन करना ज्ञान है; रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना–परिणमन करना, सो चारित्र है। अतः इस प्रकार

सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों एक ज्ञान का ही भवन (–परिणमन) है। इसलिए ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।

भावार्थ : आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है। और इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिए 'सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञान है, वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है – ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है, इसीलिए टीका में कई स्थानों पर आचार्यदेव ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है।

गाथा – १५५ पर प्रवचन

अब जीवों को परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण बतलाते हैं:– वास्तविक मोक्ष का कारण कौन है? (वह बताते हैं)। इस गाथा (की) विद्यानन्दजी के साथ चर्चा हुई थी। कहाँ? कलकत्ता न? दिल्ली... दिल्ली! दिल्ली! सब सेठ थे। साहूजी शान्तिप्रसाद वे दिल्लीवाले थे, घड़ीवाले-जैना वॉच कम्पनी! वे बहुत सब थे और यह प्रश्न हुआ था। इस १५५वीं गाथा का विद्यानन्दजी के साथ दिल्ली में (प्रश्न हुआ था)।

क्या कहते हैं? देखो! ऐसे **जीवों को परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण बतलाते हैं:–** १५५।

जीवादी–सद्दहणं सम्मत्तं तेसि–मधिगमो णाणं।
रागादी–परिहरणं चरणं एसो दु मोक्ख–पहो।।१५५।।

जीवादिका श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है।
रागादि–वर्जन चरित है, अरु ये हि मुक्ती पंथ है।।१५५।।

टीका : मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है। उसमें,.. अब इस सम्यग्दर्शन में विवाद। अब विवादवाली गाथा है। **सम्यक्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप..** (वे लोग) ऐसा (कहते हैं) कि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान होना, वह सम्यक्त्व है। ऐसा नहीं है, कहा। यह **जीवादि पदार्थों के श्रद्धान–स्वभावरूप ज्ञान का होना–परिणमन करना है;..** (अर्थात्) शुद्धस्वभाव का परिणमन

करना। अकेले जीवादि (पदार्थों की) श्रद्धा, व्यवहार नवतत्त्व की (श्रद्धा), वह तो व्यवहार है, राग है। जयसेनाचार्यदेव की, जयसेनाचार्यदेव ने टीका में लिखा है कि जीवादि (पदार्थ की) श्रद्धा व्यवहार सम्यक्त्व है और आत्मा का स्वभाव निश्चय है। टीका में दोनों डाले हैं। यहाँ तो अमृतचन्द्राचार्यदेव ने निश्चय डाला है।

परन्तु उन जीवादि पदार्थों का श्रद्धान अर्थात् क्या? कहा। दिल्ली में बात हुई। इन जीवादि श्रद्धानस्वभावरूप से ज्ञान का होना, कहा। देखो यह? कहा, यहाँ वजन है। आत्मा शुद्धस्वभाव है, उस आत्मा को यहाँ ज्ञान कहा है। वह आत्मा का-शुद्ध का होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। मात्र जीवादि श्रद्धान की बात अकेली, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सब सेठ थे परन्तु फिर सबको बाहर निकाला। एक जिनेन्द्र वर्णी थे। यह चर्चा निकाली थी कि ये जीवादि पदार्थ के श्रद्धानस्वभाव से आत्मा का परिणमित होना। अकेला जीवादि श्रद्धान का व्यवहार विकल्प है, वह नहीं। आहाहा! समझ में आया? यही गाथा एकान्त में पूछी थी। सब लोगों को बाहर निकालकर सेठियों को। कहा, यह जीवादि पदार्थ के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान अर्थात् आत्मा का शुद्धस्वभाव, उसका परिणमना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। अकेली जीवादि श्रद्धा, नवतत्त्व की श्रद्धा, वह तो मिथ्यात्व है।

उसमें-कलश टीका में आ गया है। नवतत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, वह तो मिथ्यात्व है। उसमें आ गया है। वह कलश-टीका नहीं? कितना है वह? छठा (कलश)। छठा, देखो! **संसार-अवस्था में जीवद्रव्य नवतत्त्वरूप परिणमा है, वह तो विभाव परिणति है। इसलिए नवतत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है।** वह बात यहाँ नहीं, कहा।

यहाँ तो आत्मा का आनन्द और ज्ञानस्वभाव जो शुद्ध है, उसका परिणमित होना, उसका होना, उसका नाम सम्यक्त्व है। मात्र जीवादि श्रद्धा-नवतत्त्व की श्रद्धा हुई, इसलिए सम्यक्त्व हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! परन्तु क्या हो? मार्ग ऐसा है, और बाहर से (दीक्षा) लेकर बैठे हों, उन्हें करना क्या? वस्तु नहीं। स्वभाव की बात है नहीं। इसलिए उस क्रियाकाण्ड में कहीं मनवाना है। उसमें-व्यवहार में मनाये बिना दूसरा उपाय नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जीवादि पदार्थ (कहकर) भले जीवादि लिये, परन्तु उनकी श्रद्धा स्वभावरूप से-उनके श्रद्धान के स्वभावरूप से आत्मा का परिणमित होना। आत्मा निर्विकल्प श्रद्धारूप से परिणमित हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! अनादि के

अकेले भेदवाले नवतत्त्व को माने, वह नहीं। आहाहा! और ये नव के नव तत्त्व लो— संवर, निर्जरा और मोक्ष, परन्तु उन्हें भी बहिर्तत्त्व कहा है। नियमसार ३८वीं गाथा। वे बहिर्तत्त्व हैं, (क्योंकि) पर्याय है न! आहाहा! इसलिए उस पर लक्ष्य नहीं; लक्ष्य तो त्रिकाली भगवान के ऊपर लक्ष्य से जो आत्मा का शुद्धस्वरूप है, जो उसका सत्त्व है, सत् का सत्त्व है, उस सत्त्वरूप से, पर्याय सत्त्वरूप से परिणमे, उसे यहाँ सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! कठिन काम है, बापू! मार्ग बहुत ऐसा है। आहाहा! अभी सुनने को मिलना मुश्किल पड़ता है। सुनने में भी इसे वापस व्यवहार से परलक्ष्यी बैठना (कि) वस्तु यह है, (वह भी कठिन पड़ता है)। आहाहा!

अकेला भगवान आत्मा, अनन्त गुण की पवित्रता का पिण्ड प्रभु! आहाहा! वह अनन्त गुण जो पवित्र हैं, वे पर्यायरूप से-पवित्ररूप से परिणमित हों। आहाहा! वह द्रव्यरूप से पवित्रत, गुणरूप से पवित्र और पर्यायरूप से भी वह पवित्ररूप से-निर्दोषरूप से-निर्विकल्परूप से-आनन्दरूप से, शान्तिरूप से, स्वभावरूप से, ज्ञान के परिणमनरूप से हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! ऐसी सम्यग्दर्शन की व्याख्या!

श्वेताम्बर में ऐसा आता है, २८वीं गाथा, २८ उत्तराध्ययन! 'भावेणसदहंत समंत...' इसका अर्थ किया हो, अन्तःकरण से श्रद्धान करे, उसे समकित (कहते हैं) परन्तु अन्तःकरण अर्थात् तो मन (होता है)। २८वाँ अध्ययन है। बड़ी व्याख्या चलती थी। संवत् १९५० में कौन सा वर्ष कहा? (संवत्) १९७४! राजकोट में चातुर्मास था (संवत्) १९८० के वर्ष! बोटाद में लोग तो बहुत (आवें), हजारों लोग इकट्ठे हों। उसमें यह बात चली थी। भाई! यह सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या? अर्थात् यह संक्षेप रुचि करके बैठे हैं, इसलिए समकित है। संक्षेप रुचि आता है या नहीं? और वापस नव तत्त्व के नाम लेकर 'भावेणसदहंत..' शुद्ध अन्तःकरण से श्रद्धान करे, वह समकित। अन्तःकरण अर्थात् यहाँ तो मन (अर्थ होता) है।

यह तो अन्तरस्वरूप भगवान आत्मा, शुभ-अशुभ के राग से भिन्न है, वैसा स्वभाव का परिणमन होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! है? यह पूरा दूसरी लाईन का अर्थ है। **मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उसमें,..** मोक्ष का कारण जो यह तीन है, उसमें **सम्यक्दर्शन..** उसे कहते हैं, मोक्ष के कारणरूप का सम्यग्दर्शन

उसे कहते हैं.. आहाहा! कि **जीवादि पदार्थों के..** श्रद्धा, उसके स्वभाव से, श्रद्धा के स्वभाव से, जैसी श्रद्धा त्रिकाली शुद्ध है, श्रद्धा त्रिकाली शुद्ध है। श्रद्धा नाम का त्रिकाली गुण है न! उसके **श्रद्धानस्वभावरूप..** आहाहा! आत्मा का परिणमित होना। आहाहा! आत्मा निर्विकल्परूप से राग के आश्रय बिना पूर्णानन्द का नाथ प्रभु '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' इस भूतार्थ का–त्रिकाल का आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन स्वभावरूप परिणमित हो, वह स्वभावरूप परिणमित हो, वहाँ आनन्द के साथ शान्ति (आदि) सब है। आहाहा! उसे यहाँ सम्यग्दर्शन कहा है।

ज्ञान का होना.. यहाँ कहा। जोर यहाँ है। अकेली जीवादि पदार्थ की श्रद्धा, ऐसा नहीं। आहाहा! उसमें ज्ञान अर्थात् आत्मा के स्वभाव का होना (अर्थात्) आत्मा के स्वभाव का परिणमना। शुभभाव से भिन्न शुद्ध आत्मा के स्वभाव का शुद्धरूप से परिणमना, शुद्धरूप से होना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह तो अभी इकाई की पहली बात है। आहाहा! है? उसका नाम सम्यग्दर्शन है। ऐसे जीवादि श्रद्धा तो योगसार में आती है, अन्यत्र भी आती है। जीवादि श्रद्धा है, वह व्यवहार श्रद्धा है। निश्चय श्रद्धा तो शुद्धस्वभाव का परिणमित होना, वह निश्चय है। आता है न! उसमें–पाहुड़ में (आता है)। जीवादि श्रद्धा वह व्यवहार है, निश्चय तो स्वभाव का परिणमित होना, वह है। वह यहाँ निश्चय है। आहाहा!

जिसे यह ख्याल में नहीं, सम्यग्दर्शन की स्थिति कैसी होती है और किसके आश्रय से होती है? और वह होवे तो उसकी श्रद्धा कैसी होती है? उस शुद्धस्वभाव का परिणमन होना, वह उसका सम्यग्दर्शन है। शुभ का परिणमन होना, वह तो कर्मचक्र का (परिणमन) है। आहाहा! निर्णय करने का, तुलना करने का समय मिलता नहीं और जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

मुमुक्षु : तत्त्वों की श्रद्धा, ऐसा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकवचन है। अनेक वचन (बहुवचन) नहीं है। जीवादि श्रद्धा का एकवचन है। जीव की श्रद्धा होने पर उसमें उनकी श्रद्धा आ गयी। उसमें नहीं, ऐसी साथ में श्रद्धा आ जाती है। ज्ञानप्रधान कथन है। आहाहा! 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। मोक्षमार्गप्रकाशक में यही पूरा लिया है। मोक्षमार्गप्रकाशक में तो यह नवतत्त्व की श्रद्धा, उसे सम्यग्दर्शन (कहा है)। वे नवतत्त्व इस प्रकार से हैं।

एक जीवस्वभाव का श्रद्धान होकर दूसरी सब पर्यायें उसमें नहीं है, ऐसा ज्ञान होकर श्रद्धा हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। मोक्षमार्गप्रकाशक में तो तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् है न! तत्त्वार्थ के नाम तो नौ हैं, भले वहाँ सात दिये हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष परन्तु उनमें एकवचन है। एकवचन अर्थात् नौ में से एकरूप की जो भेदरहित श्रद्धा (होना, वह सम्यग्दर्शन है)। आहाहा! सात का भेद भी जिसमें नहीं है। '**भूदत्थेणाभिगदा**' १३वीं गाथा (में) आता है न '**भूदत्थेणाभिगदा**' भूतार्थ से जाने हुए नवतत्त्व को अर्थात् आत्मा को भूतार्थ से जानने पर नवतत्त्व ज्ञात होते हैं अन्दर। आहाहा!

इसलिए यहाँ (कहा कि) **मोक्ष का कारण वास्तव में..** वास्तव में। **सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है।** इस वास्तव की यह व्याख्या आती है। उसमें वास्तव में **सम्यक्दर्शन..** उन **जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप..** आत्मा का परिणमना, निर्विकल्परूप से परिणमना। आहाहा! भेदरहित अभेदरूप से परिणमना। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन है। सेठों को बहुत तुलना करने की वह (दरकार) नहीं होती। पैसा खर्च करे, दान दे, इसलिए मानों धर्म हो गया, ऐसा मानते हैं।

साहूजी बहुत पैसा देते थे। हमारी ८७ वीं (जन्म–जयन्ती) वहाँ थी न! मुम्बई में ८७ वीं जन्म–जयन्ती थी, उस समय ८७ हजार दिये थे। तीर्थ में! तीर्थ फण्ड में ८७ हजार दिये। वह ८७वीं जन्म–जयन्ती थी, (इसलिए) ८७ हजार (दिये थे)। लोगों को ऐसा हो जाता है कि आहाहा! ८७ हजार क्या, ८७ लाख दे तो भी क्या? उसमें राग मन्द किया हो तो पुण्य है, परन्तु कीर्ति के लिए और दुनिया मुझे सम्मान दे, यह होवे तो वह पाप है। यहाँ तो यह बात है। आहाहा!

अब सम्यग्ज्ञान किसे कहना? **जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना..** आहाहा! शास्त्र का ज्ञान और यह ज्ञान, वह नहीं। जीवादि नौ पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप (होना)। उसका जो आत्मस्वभाव है, उस आत्मस्वभावरूप परिणमना। उस ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना, आत्मस्वभावरूप आत्मा का परिणमना। आहाहा! वह ज्ञान है, बाकी यह सब ज्ञान बाहर के व्याकरण और संस्कृत, वह कोई ज्ञान नहीं है। आहाहा! शास्त्रज्ञान, ग्यारह अंग का ज्ञान, वह कोई ज्ञान नहीं है।

यहाँ तो आत्मा ज्ञानमूर्ति प्रभु है, उस ज्ञानरूप से परिणमे, ज्ञानरूप से ज्ञाता का ज्ञान परिणमे, उसका नाम ज्ञान है। आहाहा! बाहर के शास्त्र के पठन-बठन, (वह कोई ज्ञान नहीं है)। आया है, परमात्मप्रकाश में आया है। भाव के अवलम्बे सूत्र का अभ्यास करना। आवे। आहाहा! परन्तु वह तो भगवान चैतन्यस्वरूप है, जिसमें पूरा ज्ञान भरा है। शास्त्र के शब्दों में कहाँ ज्ञान भरा है? वह तो शब्दज्ञान है। वह तो शब्द का ज्ञान है। आहाहा! यह तो आत्मज्ञान। आत्मज्ञान किसे कहते हैं? कि जिसे राग का तो नहीं परन्तु उसकी पर्यायसम्बन्धी का भी नहीं। आहाहा!

आत्मज्ञान! आत्मा जो ज्ञानस्वरूप त्रिकाली ध्रुव है, उसका ज्ञान, उसे ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! है? **जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप..** आत्मस्वभावरूप आत्मा का होना, परिणमना। आहाहा! यह आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वभावरूप स्वभावरूप परिणमे, उसे ज्ञान कहते हैं। आहा! दूसरे को बुलाना आया और बोलना आया तथा समझाना आया, इसलिए ज्ञान है, यह ज्ञान की व्याख्या ही नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम।

जीवादि पदार्थ.. इसमें जीव-अजीव सब आया न? पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। सबका ज्ञान है, वैसा ज्ञानरूप परिणमना। आत्मा (का)ज्ञानरूप परिणमना। आहाहा! उसका नाम ज्ञान कहने में आता है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २३५, गाथा १५५-१५६ दिनाङ्क २४-०५-१९७९, गुरुवार

बैशाख कृष्ण १४

(समयसार, १५५ गाथा चलती है) फिर से (लेते हैं)। **मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।** यह इसका सिद्धान्त सिद्ध करना है। अब सम्यग्दर्शन किसे कहना? **उसमें, सम्यक्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप...** आत्मा का होना, आत्मा का परिणमना। **वह है...** आत्मा जो पवित्र पूर्ण स्वभाव है, उस पवित्र स्वभाव का श्रद्धारूप से परिणमना। अकेली श्रद्धा अर्थात् विकल्प की श्रद्धा वह

नहीं। चैतन्यस्वरूप जो वीतरागस्वभावस्वरूप प्रभु, उसका दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन, वीतरागस्वभाव की पर्यायरूप से आत्मा का परिणमना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! यह कल आ गया है।

वे लोग ऐसा ही कहते हैं कि जीवादि (पदार्थों की) श्रद्धा, वह समकित है। परन्तु श्रद्धा अर्थात् क्या? श्रद्धा अर्थात् विकल्प है? यह जीवादि विकल्प है, वह श्रद्धा है? चैतन्यस्वरूप रागरहित पूर्ण शुद्ध पवित्र स्वरूप, अनन्त गुण का पिण्ड, वह उसका अनन्त गुण का शुद्ध स्वरूप है, वह पर्याय में सम्यग्दर्शनरूप से, वीतरागपर्यायरूप से होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

(अब) सम्यग्ज्ञान (किसे कहते हैं)? **जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप..** अनन्त गुण (स्वरूप) जो जीववस्तु है, उसके ज्ञान का होना, स्वभाव का-ज्ञान का होना, आत्मस्वभाव का-ज्ञान का परिणमना, वह ज्ञान है। आहाहा! उसे ज्ञान कहते हैं। यह सब वकालात और डॉक्टर का, एम.ए. का और एल.एल.बी. का यह सब कुज्ञान है। ऐ.. कनुभाई! जज का ज्ञान कुज्ञान है, ऐसा कहते हैं। वह तो ठीक, कुज्ञान, परन्तु यह शास्त्र का ज्ञान करे, वह भी कुज्ञान है-परलक्ष्यी है (इसलिए)। आहाहा!

भगवान आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण की राशि-महा ढ़ेर! शुद्धस्वरूप का परिणमना। ज्ञान अर्थात् आत्मा। उस आत्मा का ज्ञानरूप से अर्थात् स्वभावरूप से, शुद्धस्वभावरूप से होना, उसका नाम ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! दो बोल तो आये थे।

अब चारित्र किसे कहना? आहाहा! **रागादि के त्यागस्वभावरूप..** आत्मा का परिणमना। आहाहा! महाव्रतादि तो राग है, वह कहीं चारित्र नहीं है। आहाहा! वह तो अचारित्र है। उन रागादि का (अर्थात्) राग, द्वेष, विकल्पादि के त्यागस्वभावरूप। राग के विकल्प के अभावस्वभावरूप, त्यागस्वभावरूप। राग का विकल्प है - चाहे तो पंच महाव्रत का हो परन्तु उस राग के त्यागस्वभावरूप, राग के अभावस्वभावरूप। **ज्ञान का..** अर्थात् आत्मा का होना। आहाहा!

आत्मा अपने आनन्द और अनन्त गुण के शुद्धस्वरूप में रमणता से होनेवाला जो चारित्र, उसे चारित्र कहते हैं। पंच महाव्रत और पाँच समिति और गुप्ति और अट्ठाईस

मूलगुण के विकल्प (आयें), वह चारित्र नहीं है। आहाहा! वह अचारित्र है, दोष है। ऐसी चारित्र की व्याख्या! आहा!

जो राग-द्वेषादि के त्यागस्वभाव (अर्थात्) उनका अभाव-स्वभाव। राग का अभाव-स्वभाव, राग का त्याग-स्वभाव, उसरूप आत्मा का होना। भगवान आत्मा जैसा वीतरागस्वभाव से है, ऐसे वीतरागस्वभाव की श्रद्धा, वीतरागस्वभाव का परिणमना ज्ञान और वीतरागरूप होना, रमना, उसका नाम चारित्र है। आहाहा!

रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना.. राग के सद्भाव से चारित्र होना, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसी व्याख्या। राग-विकल्प शुभ या अशुभ, उसके त्याग-अभावस्वभावरूप आत्मा का परिणमना। रागरूप न होना और वीतरागस्वभावरूप, राग के स्वभाव के अभावस्वभावरूप शुद्ध चारित्ररूप, शुद्ध पवित्ररूप परिणमना, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! है? **सो चारित्र है।**

अत: इस प्रकार ऐसा फलित हुआ.. अत: इस प्रकार ऐसा परिणाम आया। इसका परिणाम इस फलरूप आया कि **सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञान का ही भवन (-परिणमन) है।** ये तीनों मात्र आत्मा का भवन है, आत्मा का परिणमना है, रागादि नहीं। तीनों में... आहाहा! देखो, परिणाम लिया! अरे! भगवान आत्मा अनन्त गुण का अनन्त धाम! स्वयं ज्योति सुखधाम! यह सुखस्थान, आनन्दधाम, उसका आनन्दरूप से परिणमकर प्रतीति-सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वभाव (होवे), उसका नाम सम्यग्दर्शन; और आनन्द का ज्ञान-स्वभाव का ज्ञान; राग का नहीं, शास्त्र का नहीं; स्वभाव का ज्ञान—स्वभावसन्मुख होकर स्वभाव में से होनेवाला ज्ञान, वह ज्ञान और स्वभाव में राग के अभावस्वभावरूप से स्वभाव का-आत्मा का, ज्ञान का अर्थात् आत्मा का होना, उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा!

इस प्रकार, इसी प्रकार से **ऐसा फलित हुआ...** उसका फल यह आया, उसका परिणाम यह आया कि **सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों..** ये तीनों **एक ज्ञान का ही भवन..** मात्र आत्मा के स्वभाव का होना, वह है। आहाहा! सम्यग्दर्शन हो या सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्‌चारित्र हो, तीनों अनन्त शुद्ध पवित्र जो स्वभाव है, राग के अभावस्वभावरूप

ध्रुवस्वभाव, उस ध्रुवस्वभाव का परिणमना... आहाहा! पर्यायरूप से (परिणमित होना), उसमें शक्ति जो सत्व है, उसका पर्यायरूप से सत्वपना आना, उसे यहाँ दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। आहाहा!

जो सत्प्रभु है, अकारणिक सत् है। ज्ञायक अकारणिक है। सत् अनन्त-अनन्त गुण का भरपूर सत् है, उस सत् का सत्रूप से, उसका सत्व जो शुद्ध, पवित्र, वीतरागता है, उस वीतरागरूप से परिणमना, उस परिणमन को तीन प्रकार लागू पड़ते हैं—दर्शन-ज्ञान और चारित्र। आहाहा! ऐसी तो बात है।

प्रवचनसार में अन्त में आया न! राग छोड़कर। बीच में राग आता है, परन्तु वह कोई चारित्र नहीं है। छठवें गुणस्थान में भी राग आवे, वह चारित्र नहीं है - ऐसा कहते हैं। जितना स्वभाव का परिणमन हुआ है, उतना चारित्र है परन्तु राग का अभाव होकर जब चारित्र की सातवें गुणस्थान की परिणति हो, उसे यहाँ चारित्र वर्णन किया है। आहाहा! ऐसा मार्ग!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने महाव्रत पालन किये थे या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पालन नहीं किये थे। महाव्रत का विकल्प आया था, उसे जाना था कि यह दुःखरूप है। उनके स्वामी नहीं थे, उनके मालिक नहीं थे, उनका स्वामीपना उनमें नहीं था। आत्मा में स्वस्वामीसम्बन्ध नाम का सैंतालीसवाँ (शक्ति में) गुण है। वह आत्मा द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध, और पर्याय शुद्ध, वह उसका स्व और उसका वह स्वामी। राग हो, उसका वह स्वामी नहीं और वह उसका स्व नहीं। उसका स्व नहीं, इसलिए उसका स्वामी नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

जो अपना द्रव्य स्व-शुद्ध, त्रिकाली गुण स्व-शुद्ध और वर्तमान पवित्र पर्याय, वीतरागी अनन्त गुण की निर्मल पर्याय स्व-शुद्ध, इनका वह स्वामी है। बीच में रागादि आवे, परन्तु उनका यह स्वामी नहीं, उनका मालिक नहीं। आहाहा! मेरे स्वामी बिना का वह माल है। आहाहा!

एक बार बहुत लाखों रुपयों का माल समुद्र के किनारे आया था। फिर उसमें ऐसा था कि यदि वह पकड़ में आये तो बहुत बड़ा गुनाह हो, ऐसा था। इसलिए उस माल का

स्वामी हुआ नहीं। लाखों का, बहुत लाखों का माल था। (कोई) मालिक नहीं हुआ। इसी प्रकार भगवान आत्मा, बीच में राग आवे, उसका स्वामी नहीं होता। पकड़ में आ जाए, स्वामी हो तो पकड़ में आ जाए। खम्भात के किनारे बड़ा हुआ था-बहुत लाखों की कपड़े की गाँठें (आयी थी)। बहुत लाखों की गाँठें (आयी थी)। कुछ अपराध से छिपाकर लाये होंगे। उसमें कोई कहे कि यह है किसकी? वह पकड़ में आया। इसलिए उसका मालिक (कहे), यह मेरा माल नहीं है। हो गया। आहाहा!

इसी प्रकार आत्मा में पवित्र भगवान पूर्णानन्द का नाथ जहाँ आनन्द और शान्तिरूप परिणमता है, उसकी प्रतीतिरूप से, उसके ज्ञानरूप से और उसके राग के अभाव के स्वभावरूप से परिणमता है, वह चारित्र, दर्शन और ज्ञान है। आहाहा! ऐसा है। मुद्दे की रकम की बात छोड़कर सब बातें (करते हैं)। ऐसे पालन करो और यह करो और वह करो, देश सेवा करो, व्रत पालन करो, अपवास करो, शास्त्र बनाओ, शास्त्र की प्रभावना करो, प्रसार करो... परन्तु किसका? बापू! क्या है यह? आहाहा! करोड़ों शास्त्र बनाओ, पच्चीस लाख के-पचास लाख के (बनाओ), फिर शास्त्र की प्रभावना करो। परन्तु उसमें क्या है? वह तो सब विकल्प है।

मुमुक्षु : शास्त्र प्रकाशित करने की प्रभावना तो आपने की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रभावना नहीं है। इसे अन्दर राग से रहित ऐसी दृष्टि-ज्ञान और रमणता (करना), वह इसकी प्रभावना है, स्व प्रभावना है, परन्तु बीच में ऐसा राग आवे, उसे व्यवहार प्रभावना कहा जाता है, परन्तु है बन्ध का कारण। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

तीनों का परिणाम कहा - **ऐसा फलित हुआ कि सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञान का ही भवन..** (है) एक आत्मा के स्वभाव का भवन है, जिसमें राग के अंश की बिल्कुल मदद या सहायता नहीं है। आहाहा! शास्त्र में व्यवहाररत्नत्रय को निमित्त कहा जाता है परन्तु उस निमित्त की सहायता नहीं है और निमित्तरूप कहा, वह तो उसे उपचार से कहा है, वस्तुस्थिति तो यह है। आहाहा! वीतरागमार्ग कठिन है।

तीनों की व्याख्या की है। फिर कहा कि ये **तीनों एक ज्ञान का ही भवन..** एक

आत्मस्वभाव का होना, ऐसा। देखा? एक (कहा है)। उस एक पर वजन है। दोकला राग का विकल्प भी शामिल नहीं। दो होवे तो बिगड़ेगा, एकड़े एक और बिगड़े दो। आहाहा! एक चैतन्यस्वरूप भगवान पूर्णानन्द और पूर्ण चैतन्यज्योति, अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड, वह इसके गुण के स्वभावरूप से पर्याय में परिणमना, स्वभावरूप से परिणमना, वह तीनों **एक ज्ञान का ही भवन..** (है)। अकेला आत्मस्वभाव का होना है। आहाहा! ऐसी स्पष्ट बात है। उसमें व्यवहारचारित्र और राग की गन्ध भी यहाँ नहीं है। आहाहा! उसके कारण पालते-पालते (शुद्धता) होगी, यह फिर कितने ही कहते हैं। टीका में कहीं आता है (कि) व्यवहार साधन-साध्य। वह तो समझाया है। आहाहा!

अकेला भगवान राग और विकल्परहित जो गुण-स्वभाव, ऐसा अकेला प्रभु, अपने शुद्धस्वभावरूप द्रव्य और गुण से है, उस प्रकार से पर्याय में शुद्धरूप से, उसका जो सत्व है, वह पर्यायरूप से सत्व आया—परिणमना, उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। आहाहा! कठिन काम है। यहाँ तो जरा बाल ब्रह्मचारी लड़कियाँ हों, दीक्षा ले (तो) ओहोहो! क्या चारित्र! धूल में भी चारित्र नहीं है। आहाहा! अभी सम्यग्दर्शन, शुद्धस्वभाव के परिणमन की खबर नहीं, (वहाँ चारित्र आया कहाँ से)?

आहाहा! त्रिकाली भगवान महासत्ता जिसकी शुद्धपवित्र, उसके होनेरूप, उसके होनेरूप है, वैसा ही होनेरूप परिणमन में-पर्याय में-अवस्था में आवे, तब तो उसे अभी सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा ही परिणमन आवे, तब उसे ज्ञान कहते हैं और वैसा ही स्वभाव का परिणमन आवे, उसे रागादि के त्यागस्वभावरूप चारित्र कहते हैं। आहाहा! है या नहीं उसमें?

पहले तीनों की बात तो की है, फिर लिया कि **तीनों एक ज्ञान का ही भवन..** है। एक आत्मस्वभाव का होना है। आहाहा! भाषा रखी, देखा? अकेला स्वभाव शुद्ध चैतन्य प्रभु, अकेले ज्ञान और आनन्द और शुद्धस्वभाव का होना, जिसमें व्यवहार की गन्ध नहीं, व्यवहार की सहायता नहीं.. आहाहा! व्यवहार ऐसा होवे तो यह निश्चय पावे, (ऐसी) जिसमें गन्ध नहीं। यह बात ही झूठी है। आहाहा! व्यवहार की बातें करे, (इसलिए) लोग प्रसन्न हों। ऐसा करो, ऐसा करो, साधर्मी को मदद करो। अरे! परन्तु साधर्मी है कहाँ?

तू अभी साधर्मी (नहीं है), मिथ्यादृष्टि है। साधर्मी को ऐसा करो, (ऐसा कहे) तो लोगों को ऐसा लगे कि आहाहा! एक तो साधारण दीन हो। साधर्मी को ऐसा देना, मदद करना, अमुक करना, ऐसा करना, वह प्रभावना है, वह सम्यग्दर्शन की प्रभावना है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा का कहा हुआ कुन्दकुन्दाचार्य सन्त कहते हैं और उनके टीकाकार उसमें से निकालकर यह भाव कहते हैं। आहाहा! पाठ है न! देखो न! **'रागादी–परिहरणं चरणं'** पाठ में है। **'जीवादी–सद्दहणं सम्मत्तं'** यह भी रागरहित जो स्वभाव की श्रद्धा, ऐसा है। **'जीवादी–सद्दहणं'** आया, इसलिए मानो जीव की श्रद्धा और अजीव और नव तत्त्व की श्रद्धा हुई, इसलिए हो गया। आहाहा! (ऐसा नहीं है)।

ये तीनों एक.. आत्मा का भवन। एक आत्मा के शुद्धस्वरूप का भवन–होना। भवन (होना)। **भवन ही है,..** ऐसा है, देखा? एक आत्मा के स्वभाव का होना ही है। (ये) तीनों एक आत्मा के स्वभाव का होना ही है। आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों एक आत्मस्वभाव का होना ही है। उसमें बिल्कुल रागादि की, निमित्त की मदद नहीं है। आहाहा! और व्यवहाररत्नत्रय से इस स्वभाव का परिणमन हो, ऐसी यह वस्तु नहीं है। आहाहा!

एक ज्ञान का... अर्थात् स्वभाव का अर्थात् आत्मा का **(–परिणमन) ही है।** आहाहा! एक आत्मा का परिणमन ही है, एक आत्मा के स्वभाव का परिणमन ही है। राग के परिणमन का अंश जिसमें बिल्कुल नहीं है। आहाहा! इसमें है या नहीं इसमें? कोई कहे कि सोनगढ़वाले एकान्त निश्चय की ही बातें करते हैं। साथ में व्यवहार की (बात) कहते नहीं। परन्तु कथन में विकल्प आवे तो भी आवे वह वस्तु नहीं है। आहाहा! यह समयसार क्या कहता है? यह अभी का समयसार है? दो हजार वर्ष पहले का कुन्दकुन्दाचार्यदेव का (रचा हुआ है) और यह अभिप्राय तो अनादि का है। यह (अभिप्राय) कहीं एक कुन्दकुन्दाचार्यदेव का नहीं है। अनादि सन्त दिगम्बर मुनि, केवलियों का यह अभिप्राय है। आहाहा! 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' उसके दो भाग नहीं होते कि ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है। आहाहा! कठिन पड़े, एकान्त लगे। अनेकान्त चाहिए, व्यवहार से भी होता है, स्वभाव से भी होता है, (ऐसा कहो) परन्तु एक 'ही', 'एक ही',

एक स्वभाव 'ही', स्वभावरूप से परिणमना 'ही' वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। एक और ही, दोनों जोड़ दिये। आहाहा! अरे! प्रभु! सत्य का मार्ग तो ऐसा है न प्रभु! दुनिया कुछ माने और मनवा दे, उसे लाखों लोग मानें... ओहोहो! क्या व्यवहार यह है और अमुक यह है! आहाहा! बड़ा गजरथ निकाला, दस लाख खर्च किये, इसलिए उसमें धर्म हो गया!

मुमुक्षु : संघवी की पदवी मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : पदवी अज्ञानी दे। संघवी की पदवी दे। आहाहा! यह तो संघ बड़ा भगवान अनन्त गुण का संघ! आहाहा! उसकी पदवी जिसने पर्याय में प्राप्त की है, आहाहा! जिसे निमित्त और राग के साथ लेना-देना कुछ नहीं। व्यवहाररत्नत्रय के साथ निश्चयरत्नत्रय जो यह है, उसे दूसरे का लेना-देना कुछ नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : निश्चय तो व्यवहार का निषेध करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभाव, स्वभावरूप से परिणमता है, वह अभावपना बताता है कि व्यवहार था, उसका अभाव स्वभाव। आहाहा! व्यवहार से होता है, (ऐसा जो कहे) वह तो जैनदर्शन नहीं, वह वीतरागमार्ग नहीं। आहाहा!

पहले आत्मा की व्याख्या की। आत्मा इस प्रकार स्वभावरूप से परिणमे, वह सम्यग्दर्शन; स्वभावरूप से परिणमे, वह ज्ञान; स्वभावरूप में रागादिरहित होकर परिणमे, वह चारित्र। पश्चात् इकट्ठा करके एकदम एकान्त कर दिया। ये **तीनों एक..** आत्मा का भवन है, जिसमें राग और निमित्त की कुछ लेश अपेक्षा नहीं। निरपेक्षरूप से (परिणमता है)। आहाहा! एक आत्मा के स्वभाव का भवन ही। भवन अर्थात् होना, परिणमना। **इसलिए ज्ञान ही परमार्थ मोक्ष का कारण है।** लो, अन्तिम परिणाम (यह किया)। ज्ञान अर्थात् आत्मा। आत्मा का स्वभाव जो शुद्ध है, वही परमार्थ से मोक्ष का कारण है। उस शुद्ध का परिणमन होना, वह (मोक्ष का कारण है)। जो त्रिकाल शुद्ध है.. आहाहा! उस शुद्ध का परिणमन होना, वही परमार्थ से मोक्ष कारण है। चार लाईन, पाँच लाईन में बहुत भरा है! आहाहा!

भावार्थ : आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है। अब यहाँ क्या कहते हैं? कि ज्ञान, ज्ञान क्यों कहा? आत्मा नहीं लिया और ज्ञान.. ज्ञान क्यों कहा? (क्योंकि)

आत्मा का असाधारण.. अर्थात् किसी दूसरे में यह (गुण) नहीं है, इसे दूसरा कोई ऐसा गुण नहीं है। **असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है।** कि जो स्व और पर को जानने की स्वतः सामर्थ्य है। दूसरे गुण जानने की सामर्थ्य नहीं रखते और रागादि की बात तो यहाँ है ही नहीं। आहाहा!

आत्मा का असाधारण.. अर्थात् दूसरा कोई नहीं, ऐसा स्वरूप यह **ज्ञान ही है। और इस प्रकरण में..** इस अधिकार में **ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है।** ज्ञान का होना, ज्ञान का होना, राग का होना नहीं, राग का होना नहीं। आहाहा! इस ज्ञान को ही मुख्य करके व्याख्यान है। इसलिए **ज्ञान को ही..** आत्मा के ज्ञान को ही। **प्रधान..** मुख्य **करके विवेचन किया है। इसलिए..** ऐसा क्यों कहा? कि दूसरे गुण अन्दर शामिल हैं अवश्य परन्तु ज्ञान को प्रधान करके कहा, इसलिए राग को गौण करके कहा, ऐसा यहाँ नहीं (कहना है)। यहाँ तो गुण जो अनन्त हैं, उनमें असाधारण जो ज्ञान है, उसे ही मुख्य करके कहा है। अन्दर दूसरे अनन्त गुण हैं। समझ में आया? परन्तु ज्ञान को मुख्य करके कहा, इसलिए अन्दर राग भी गौणरूप से है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग सुनना कठिन पड़ता है। यह भव के अन्त की बातें हैं न, प्रभु! जिसमें भव का अन्त न आवे, बापू! वह भवभ्रमण कर-करके मर गया है। आहाहा!

अष्टपाहुड़ में तो कहते हैं, प्रभु! तूने साधु के द्रव्यलिंग इतनी बार धारण किये.. आहाहा! कि उसके पश्चात् भी तूने अनन्त भव किये हैं। द्रव्यलिंग दिगम्बर साधु पंच महाव्रतधारी, ऐसे द्रव्यलिंग इतनी बार धारण किये कि अनन्त-अनन्त बार पालन किये और उसके पश्चात् अनन्त बार तूने अनन्त भव किये हैं। आहाहा! और तेरे जन्म की जननी माता (के), तेरे दुःखों को देखकर तेरे रुदन के आँसू ऐसे गिरे, तेरी माँ को (इतने आँसू आये...) आहाहा!

ऐसे बीस वर्ष का युवक, छह महीने-बारह महीने का विवाहित हो, इकलौता पुत्र हो और उसकी माँ उसे देखती हो (कि) अरे! अब (मरने की) तैयारी है। अर र! आहाहा! चला यह! ऐसा कहा था, भाई! कैसा लाखाणी? मूलजी लाखाणी! मूलजी का बड़ा लड़का था न? भानुभाई! जवान व्यक्ति। भूराभाई के यहाँ विवाह हुआ था, पोरबन्दर। उसकी बहू कहे, यह लड़का चला। आहा! विवाहित! क्या कहलाता है जैनप्रकाश?

अपना आत्मधर्म! भानु का था। पहले वह भानु का था। सम्पादकरूप से (वह था)। विवाहित बड़े गृहस्थ में। आहाहा! जिसके विवाह में ऐसे प्लेन में आम उतरे थे और बड़ा प्रीतिभोज किया था। उसकी माँ कहे, देखो! लड़का (चला)। देह छूट गयी एकदम! आहा! ऐसा मरण होने पर तेरी माँ के आँसू, जननी आँसू के ढ़ेर करे तो पूरे समुद्र भर जाएँ, कहते हैं। समुद्र भरे, इतने तेरी माँ ने तेरे पीछे (आँसू बहाये हैं), बापू! आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। अनन्त-अनन्त भव में कहाँ भीड़ पड़ गयी है और कहाँ दुःखों का ढ़ेर भोगा है? भाई! तू भूल गया। आहाहा! तेरे दुःख को देखकर दूसरे को रुदन आया है, प्रभु! ऐसे दुःख भोगे हैं, भाई! आहाहा! वह तो इस स्वरूप की प्राप्ति बिना। इसके बिना सब हुआ। द्रव्यलिंग भी धारण किया, पंच महाव्रत अनन्त बार पालन किये, दिगम्बर साधु अनन्त बार हुआ। आहाहा! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ।' मुनिव्रत पालन किया। पंच महाव्रत (पालन किये)। वस्त्र का त्याग (किया), एक धागा (रखा) नहीं, ऐसा मुनिव्रत पालन किया, परन्तु अन्दर सम्यग्दर्शन—आत्मस्वभाव की दृष्टि बिना सब व्यर्थ निकला। आहाहा!

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

परन्तु आत्मा राग से भिन्न है, उसका ज्ञान और समकित बिना इसे सुख का स्वाद नहीं आया। यह पंच महाव्रत के परिणाम का स्वाद, वह दुःख है। आहाहा! पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, वे दुःख हैं। बापू! तूने दुःख भोगा। तुझे सुख नहीं मिला। आहाहा! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं **इस प्रकरण में ज्ञान को ही..** मुख्य करके। मुख्य करके का अर्थ, उसके अनन्त गुण हैं, इस अपेक्षा से। ज्ञान को मुख्य करके अर्थात् व्यवहार को गौण करके, ऐसा (आशय) यहाँ नहीं है, यहाँ ऐसी अपेक्षा नहीं है। आहाहा! **ज्ञान को ही..** मुख्य करके **विवेचन किया है।** और, **इसलिए 'सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है'..** तीनों स्वरूप से ज्ञान ही परिणमता है। **यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।**

ज्ञान है, वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है... देखा? यह तो ज्ञान (से) बात की है, बाकी अभेद से तो वह आत्मा ही है। आहाहा! **ज्ञान है, वह अभेद...** ज्ञान और द्रव्य आत्मा, दोनों। अभेद कथन में ज्ञान, वही आत्मा है। **ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है,.** आहाहा! **इसीलिए टीका में कई स्थानों पर आचार्यदेव ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है।** ज्ञानस्वरूप भगवान को 'ज्ञान' शब्द से ही कहा है। ज्ञान का परिणमना.. ज्ञान का परिणमना.. ज्ञान का परिणमना; राग का परिणमना नहीं अर्थात् आत्मा का परिणमना, ऐसा अर्थ लेना। आहा!

गाथा–१५६

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति–

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठ–मस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।१५६।।

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वान्सः प्रवर्तन्ते।
परमार्थ–माश्रितानां तु यतीनां कर्म–क्षयो विहितः।।१५६।।

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषाञ्चिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्, परमार्थमोक्षहेतोरेवैक–द्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात्।।१५६।।

अब, परमार्थ मोक्षकारण से अन्य जो कर्म, उनका निषेध करते हैं:–

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करे।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ–आश्रित संत के।।१५६।।

गाथार्थ : [निश्चयार्थं] निश्चयनय के विषय को [मुक्त्वा] छोड़कर [विद्वांसः] विद्वान [व्यवहारेण] व्यवहार के द्वारा [प्रवर्तंते] प्रवर्तते हैं; [तु] परन्तु [परमार्थम् आश्रितानां] परमार्थ के (–आत्मस्वरूप के) आश्रित [यतीनां] यतीश्वरों के ही [कर्मक्षयः] कर्मों का नाश [विहितः] आगम में कहा गया है। (केवल व्यवहार में प्रवर्तन करनेवाले पण्डितों के कर्मक्षय नहीं होता)।

टीका : कुछ लोग परमार्थ मोक्षहेतु से अन्य, जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म–स्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्त ही का निषेध किया गया है; क्योंकि वह (मोक्ष हेतु) अन्य द्रव्य के स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है, इसलिए उसके स्व–भाव

से ज्ञान का भवन (होना) नहीं बनता–मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्य के स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है, इसलिए उसके स्वभाव के द्वारा ज्ञान का भवन (होना) बनता है।

भावार्थ : क्योंकि आत्मा का मोक्ष होता है, इसलिए उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिए। जो अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है? शुभ कर्म पुद्गलस्वभाववाले हैं, इसलिए उनके भवन से परमार्थ आत्मा का भवन नहीं बन सकता; इसलिए वे आत्मा के मोक्ष के कारण नहीं होते। ज्ञान आत्मस्वभावी है, इसलिए उसके भवन से आत्मा का भवन बनता है; अत: वह आत्मा के मोक्ष का कारण होता है। इस प्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्षहेतु है।

गाथा – १५६ पर प्रवचन

अब, परमार्थ मोक्षकारण से अन्य जो कर्म, उनका निषेध करते हैं:– मोक्ष के कारण से अन्य जो रागादि, व्यवहाररत्नत्रय आदि, उसका इसमें निषेध करते हैं। १५६

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठ–मस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।१५६।।

आहाहा! **'विद्वत्‌जन भूतार्थ तज'** विद्वान तुम अन्दर निश्चय को छोड़कर व्यवहार, व्यवहार की बातें करने लग पड़े हो और व्यवहार में वर्तन, व्यवहार का वर्तन (करते हो)। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य के समय में (ऐसे) लोग होंगे। **विद्वान् जन भूतार्थ तज,..** निश्चय वस्तु है उसे छोड़कर, अरे रे! विद्वानों तुमने क्या किया? तुम्हारी विद्वता में यह क्या फल लाये? आहाहा! व्यवहार करो, व्यवहार करो, व्यवहार से होगा। आहाहा! है या नहीं अन्दर? भाई! पाठ है या नहीं? आहाहा! **विद्वान् जन भूतार्थ तज,..**

जयसेनाचार्यदेव ने जरा दूसरा अर्थ किया है। विद्वान व्यवहार को नहीं करते, निश्चय को करते हैं, व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते, ऐसा कहते हैं। ऐसा अर्थ किया है। यहाँ मूल पाठ तो अमृतचन्द्राचार्य की शैली से (कहते हैं) आहाहा! **मोक्षकारण से अन्य जो कर्म उनका निषेध करते हैं:–** आहाहा!

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करे।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ-आश्रित संत के।।१५६।।

आहाहा! अभी तो पहचान भी नहीं होती, श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता और चारित्र ले गये और मोक्ष जाएँगे, (ऐसा कहते हैं)। बापू! कठिन बात है, भाई!

दीपचन्दजी हो गये हैं, दीपचन्दजी! उन्होंने अध्यात्म का 'पंच संग्रह' (बनाया है)। अध्यात्म पंच संग्रह में लिखा है। दीपचन्दजी क्या कहलाते हैं? चिद्विलास बनाया है न? अनुभव प्रकाश! उन्होंने कहा, तब ऐसा कहा, हों! 'अभी किसी (की) आगम प्रमाण मुझे श्रद्धा दिखायी नहीं देती, यदि मुँह से कहने जाएँ तो सुनते नहीं।' ऐसा उसमें लिखते हैं। अध्यात्म पंच संग्रह है। पाँच बड़ी पुस्तकें हैं। वह पाँच का एक संग्रह है। है, सब देखे हैं न! आगम प्रमाण श्रद्धा (दिखायी नहीं देती)। उस समय, दो सौ वर्ष पहले! आगम प्रमाण किसी की श्रद्धा (मैं) देखता नहीं। आहाहा! मुँह से कहना चाहें तो सुनते नहीं; इसलिए लिख जाता हूँ। ऐसा लिखा है।

मुमुक्षु : आज तो सुननेवाले बहुत हो गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब तो सही। अब सुननेवाले हुए हैं। लाखों लोग (सुननेवाले हो गये हैं)। जरा विचार में फेरफार करके विचार करते हैं। मार्ग तो कुछ दूसरा है।

टीका, १५६ की टीका। **परमार्थ मोक्षहेतु से अन्य,..** (अर्थात्) मोक्ष के कारण से अन्य। **व्रत, तप..** शील, तप **इत्यादि शुभकर्म..** शुभपरिणाम **कुछ लोग मोक्षहेतु मानते हैं,..** उसे मोक्ष का कारण कितने ही अज्ञानी मानते हैं। आहाहा! उस विद्वान का अर्थ कितने ही लोग कर डालते हैं। आहाहा! परमार्थ मोक्षकारण से—हेतु अर्थात् कारण। मोक्ष के कारण से-हेतु से भिन्न। यह व्रत, तप मोक्ष का हेतु नहीं है। आहाहा! पंच महाव्रत और समिति, गुप्ति व्यवहार और अट्ठाईस मूलगुण.. आहाहा! अभी तो उनका भी कहाँ ठिकाना है? हमेशा उनके लिए चौका करके आहार लेते हैं। आहाहा! उद्दिष्ट आहार—उनके लिए (बनाया हुआ आहार लेते हैं)। व्यवहार अट्ठाईस मूलगुण का ठिकाना नहीं (तो वहाँ) निश्चय तो कहाँ था? आहाहा! आहाहा! उनके लिए सब बनावे। पानी, आहार, मौसम्बी का रस, अमुक.. आहाहा!

कोई यहाँ कहता था (कि) जयपुर में विद्यानन्दजी थे। एक महीने के तीस दिन के सेठ निश्चित करे। इस दिन (इस) जगह जाना, इस (दिन) इस जगह (जाना, ऐसा) तीस के स्थान (निश्चित करे)। उनके लिए बनावे और सेठ बनावे और वहाँ लेने जाए। अभी कोई कहता था। कौन कहता था? कोई कहता था। श्रीपालजी? दिल्लीवाले! आहाहा! श्रीपालजी, एक महीने के (घर) निश्चित हों। इस दिन इनके घर जाना। उनके यहाँ उनके लिए सब एक-एक बना हो। अरे रे! अरे भाई! जहाँ अट्ठाईस मूलगुण का छेद है। अष्टपाहुड़ में पाठ है। उनके मूलगुण में छेद है, उनका सब खोटा है, एक भी सच्चा नहीं है। आहाहा! क्या हो? अभी पूरी बात कहाँ करना? आहाहा!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्यदेव के समय में भी ऐसा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है, इसलिए पुकार किया है। आहाहा!

परमार्थ से मोक्ष के हेतु से अन्य। मोक्ष के हेतु से अन्य अर्थात् बन्ध का कारण। **व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म..** अर्थात् शुभ उपयोग, शुभपरिणाम, वह **मोक्षहेतु कितने ही..** अर्थात् अन्दर (पाठ में) जो वह विद्वान कहा न! ऐसे **कुछ लोग मानते हैं,..** आहाहा! **उस समस्त ही का निषेध किया गया है;..** सम्पूर्ण व्यवहार (निषेध किया गया है)। आहाहा! कठिन काम है।

समस्त ही.. अर्थात् क्या कहा? व्रत इत्यादि शुभपरिणाम, वह समस्त निषेध किया गया है। शुभ के अनेक प्रकार हैं, असंख्य प्रकार हैं। शुभभाव, वह व्यवहार प्रभावना.. परन्तु वह सब शुभभाव तो निषेध किया गया है। आहाहा! बाहर में कोई समझे, इसलिए व्यवहार प्रभावना (करते हैं), वह (कुछ प्रभावना नहीं है)। उसे क्या सम्बन्ध है? उसे शुभभाव आया है, वह व्यवहार प्रभावना। निश्चयस्वभाव की एकाग्रता अन्दर है, वह निश्चय प्रभावना और शुभ (भाव) आया है, वह व्यवहार। वह भी निषेध किया गया है। आहाहा!

(ऐसा सुनकर) फिर सोनगढ़वालों का एकान्त है, कहे न! व्यवहार से कुछ भी होता है, पाँचवाँ काल है, हल्का काल है और अकेले निश्चय-निश्चय की बातें करते हो, ऐसा कहते हैं। बापू! मार्ग तो यह है, भाई! और वह भी हित के लिए है, भाई! यह देह छूटकर चला जाएगा, बापू! यह व्यवहार के पक्ष से धर्म मानकर मिथ्यात्व सेवन कर..

आहाहा! कहीं अनजाने क्षेत्र में (चला जाएगा)। विशेष तो मिथ्यादृष्टि निगोद में जाए, उसकी बात है और चौदह बोल में पशु हो, ऐसा पाठ है। पशु! समयसार में अन्त में चौदह बोल है न! पशु! 'पश्यति इति पशु पद्यते' मिथ्यात्व से बँधे हैं, वे सब पशु हैं। आहाहा! और उस पशु में अवतार (होता है) वह निगोद भी पशु है न! तिर्यंच है न! निगोद तिर्यंच है न! आहाहा!

जिसकी श्रद्धा (ऐसी है कि) व्यवहार से होता है, निश्चय का लाभ होता है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है.. आहाहा! उसके फलरूप से तो निगोद है और निगोदरूप से जाए उसे पशु भी कहा है। आहाहा! चौदह बोल पीछे आते हैं। तत्, अतत्, एक, अनेक (इत्यादि)। (प्रत्येक श्लोक में) पशु है। चौदह बोल पीछे आते हैं। प्रत्येक श्लोक में पशु.. पशु (कहा है)। संस्कृत में उसका अर्थ किया है। 'पश्यति इति पशु, बध्यति इति पशु' आहाहा! बन्धन अर्थात् मूल तो मिथ्यात्व। मिथ्यात्व से बँधता है, वह पशु है। आहाहा! और उसके फलरूप से पशु में जाएगा। आहाहा! भाई! बाहर में कोई मदद करे कि इतना किया था न!

रामविजय के गुरु प्रेमविजय थे न! श्वेताम्बर! यह रामविजय के गुरु मरते हुए बेचारे बोल गये, अरे रे! मैंने जैन धर्म का विरोध किया। मुझे कोई भेदज्ञान सुनाओ। समाचार -पत्र में आया था। श्वेताम्बर! आहाहा! अन्त में उसे बेचारे को मरते हुए हो गया, मैंने जैनधर्म का विरोध किया है। आहाहा! अब मुझे कोई भेदज्ञान सुनाओ। कौन सुनावे ? दूसरे कहे, नहीं, नहीं साहब! आपने तो बहुत काम किया है! आपने तो (बहुत किया है), आहाहा! क्या हो ? अरे रे! दुनिया प्रसन्न हो और माने उससे क्या ? मिथ्यात्व का छोटा सा कण, शल्य भी अनन्त-अनन्त संसार का कारण है। आहाहा! चारित्रदोष, वह अलग वस्तु है।

दर्शनपाहुड़ में पहले (तीसरी गाथा में) कहा न! '**दंसणभट्टा ण सिज्झंति.. सिज्झंति चरियभट्टा**' चारित्र भ्रष्ट होगा, चारित्र नहीं होगा, वह सीझेगा, उसकी दृष्टि में ख्याल है कि मुझमें दोष है। '**दंसणभट्टा ण सिज्झंति..**' परन्तु दर्शन-श्रद्धा भ्रष्ट है। आहाहा! वह मुक्ति को नहीं जाएगा। '**सिज्झंति चरियभट्टा**' सम्यक्त्व होगा और चारित्र नहीं हो, चारित्रदोष सेवन करता होगा तो भी उसके ख्याल में है कि यह दोष है। वह आगे उसे टालकर स्थिर होकर मोक्ष जाएगा। '**सिज्झंति चरियभट्टा**' ऐसा पाठ है। आहाहा! यहाँ

(अज्ञानी) अकेले व्रत, नियम और क्रियाएँ, व्यवहार की बात (करे), उससे मोक्ष होगा, (ऐसा कहता है)। आहाहा! इसमें क्या हो?

यहाँ (कहते हैं) **परमार्थ मोक्षहेतु से अन्य, जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म-स्वरूप मोक्षहेतु कुछ लोग..** अर्थात् वह जो विद्वान कहा था, वे। **उस समस्त ही का निषेध किया गया है; क्योंकि वह (मोक्ष हेतु) अन्य द्रव्य के स्वभाववाला..** आहाहा! व्रत, तप और भक्ति-पूजा का भाव.. आहाहा! वह तो अन्य द्रव्य के स्वभाववाला होने से। **अर्थात् (पुद्गलस्वभाववाला) है..** आहाहा! यह राग की क्रिया है, वह पुद्गलस्वभावी है, आहाहा! वह भगवानस्वभावी नहीं। आहाहा! एक लाईन, एक गाथा भी बराबर समझे तो (कल्याण हो जाए) परन्तु ऐसे के ऐसे बड़े-बड़े व्यर्थ पढ़े न, ऐई! दस-दस हजार, बीस-बीस हजार लोग इकट्ठे हों। ओहोहो! गजब किया, गजब किया (ऐसा लोग कहें)।

मुमुक्षु : गजब किया!

पूज्य गुरुदेवश्री : गजब अर्थात् ऐसे तो अनुकूल ऐसा कहना चाहते हैं। भारी प्रभावना हुई! सभा में बीस हजार लोग! आहाहा! उसमें क्या हुआ? चींटियों का ढ़ेर सब इकट्ठा हुआ इसलिए। चींटियों का ढ़ेर इकट्ठा हो, इसलिए कहीं वह मनुष्यों की संख्या गिनी जाएगी? आहाहा!

यहाँ प्रभु कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव महासन्त भगवन्त स्वरूप हैं, वे ऐसा कहते हैं। आहाहा! कि व्रत, तप, शील, संयम, और दमन, यह अन्य द्रव्य का स्वभाव है, भाई! तेरे द्रव्य का स्वभाव नहीं, प्रभु! आहाहा! वह तो पुद्गलद्रव्य का स्वभाव है, भाई! आहाहा! है?

अन्य द्रव्य के स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है, इसलिए उसके स्व-भाव से ज्ञान का भवन (होना) नहीं बनता... यह व्रत, तप और भक्ति, लाख, करोड़, अरब तू कर। आहाहा! छहढाला में आता है न!

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।
छोड़ि सकल जग द्वंद्व-फंद (निश्चय) आतम उर ध्याओ॥

छहढाला में आता है। आहाहा! पहले के पण्डितों ने बहुत अच्छा काम (किया है)।

टोडरमलजी, बनारसीदास, भागचन्दजी बहुत काम कर गये! आहाहा! भले गृहस्थाश्रम में (होवे) परन्तु दर्शनशुद्धि की बहुत सरस बात (कर गये हैं)। आहाहा!

उसके स्व-भाव से ज्ञान.. अर्थात् आत्मा। व्रत, तप और भक्ति आदि के राग से आत्मा के ज्ञान का **भवन नहीं बनता..** उससे आत्मा का निश्चयस्वभाव शुद्ध है, उसका होना नहीं होता। आहाहा! यह व्यवहार की इतनी-इतनी क्रियाएँ लाख-करोड़ करे, परन्तु क्लेश है, कहते हैं। उससे आत्मा के स्वभाव का परिणमना नहीं होता। आहाहा! कठिन काम, प्रभु!

उसके स्व-भाव से.. अर्थात् पुद्गलस्वभाव द्वारा अर्थात् व्रत, तप के विकल्प, वे पुद्गलस्वभाव हैं, उनसे आत्मा का भवन नहीं होता। उनसे आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र नहीं होता। **मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही..** परमार्थ मोक्ष का कारण ही। यहाँ तो 'ही' लगा दिया है। **एक द्रव्य के स्वभाववाला..** आहाहा! एक जीवद्रव्य के स्वभाववाला मोक्षहेतु। जीवद्रव्य जो है, प्रभु! उसका स्वभाव अत्यन्त वीतरागी, आनन्द, शान्ति, अतीन्द्रिय पवित्र भगवान.. आहाहा! वह एक ही **द्रव्य के स्वभाववाला..** और वह द्रव्य के स्वभाववाला मोक्षमार्ग है। आहाहा! ऐसा स्पष्टीकरण करने जाए तो कहे, ऐ.. एकान्त है.. एकान्त है। परन्तु इसमें.. बापू!

मुमुक्षु : आचार्य का है परन्तु छपाया तो सोनगढ़ ने न!

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ ने छपाया हो तो भले छपाया। चाहे जिसने (छपाया हो), भाव, शब्द किसके हैं? अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली (यह कहते हैं)। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं, वह सर्वज्ञ कहते हैं, वह कहते हैं। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव हजार वर्ष पहले हुए परन्तु अनन्त तीर्थंकर और केवली और सन्त कहते हैं, वही कहते हैं। आहाहा! उनकी परम्परा है, वह सर्वज्ञ की परम्परा है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं न! आहाहा! भगवान अनन्त सन्त और भगवान केवली हुए, उनके स्वभाव के अनुसार परमार्थ से भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं। आहाहा!

मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्य के स्वभाववाला.. देखा? यह जीवस्वभावी है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प-राग पुद्गलस्वभावी है, अन्य द्रव्य स्वभावी है।

जबकि सच्चा मोक्ष का मार्ग एक जीवद्रव्य स्वभावी है, एक जीवद्रव्य स्वभावी है। पुद्गल व्यवहार का और निमित्त का उसमें कुछ सम्बन्ध और संग नहीं है। आहाहा! अरे रे! अनन्त तीर्थंकरों का यह मार्ग है, भाई! भगवान का विरह पड़ा, प्रभु रहे वहाँ। आहाहा! और मार्ग को कुछ अलग-अलग प्रकार से मिलावे। सुननेवालों को खबर न हो, इसलिए प्रसन्न-प्रसन्न हो जाते हैं। आहा! अरे.. प्रभु! आहाहा!

व्रत और तप और जितने शुभभाव के भाव और असंख्य प्रकार के आचरण, वह सब पुद्गलस्वभावी है। आहाहा! इसलिए उसे मोक्ष के हेतु का निषेध किया है। एक जीवद्रव्य स्वभाव, एक जीवद्रव्य अपना भगवान! आहाहा! विकार तो एक समय की पर्याय में है। बाकी पूरा द्रव्य तो पवित्र धाम है। आहाहा! ध्रुवधाम बड़ा परिपूर्ण गुण से भरपूर भगवान है। उसका स्वभाव—एक द्रव्यस्वभावी—एक ही द्रव्य। उसमें दूसरे द्रव्य का संग और निमित्त की आवश्यकता नहीं है। आहाहा!

एक द्रव्यस्वभावी अर्थात् जीवस्वभावी। **उसके स्वभाव के द्वारा ज्ञान का भवन (होना) बनता है।** उस द्रव्य के-जीव के स्वभाव द्वारा ज्ञान अर्थात् स्वभाव का (अर्थात् कि) ज्ञान का, श्रद्धा का, शान्ति का, आत्मा का परिणमन होता है। एक द्रव्य के स्वभाव द्वारा शुद्ध परिणमन होता है। बाकी अन्य द्रव्य का जो रागादि स्वभाव है, वह सब पुद्गल का स्वभाव है। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २३६, गाथा-१५६, कलश-१०६-१०८ दिनाङ्क २६-०५-१९७९, शनिवार
ज्येष्ठ शुक्ल १

समयसार, १५६ गाथा का भावार्थ। **आत्मा का मोक्ष होता है...** मोक्ष अर्थात् परम आनन्द का लाभ या अनन्त गुण की पूर्ण पर्याय का लाभ आत्मा को होता है। **इसलिए उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिए।** मोक्ष का कारण; मोक्ष जब आत्मा का होता है, **इसलिए उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिए।** क्योंकि आत्मा के जो अनन्त गुण हैं, वे सब शुद्ध हैं। कोई गुण विकाररूप हो, ऐसा कोई गुण नहीं है।

इसलिए उसके अनन्त गुण जो स्वभाव हैं, वह उसका-मोक्ष का वह कारण है। अनन्त गुण का स्वभाव, उसका जो आश्रय, उसका जो परिणमन; उस आत्मा को मोक्ष होता है तो आत्मा का स्वभाव मोक्ष का वह कारण है। दया, दान, व्रत, व्यवहाररत्नत्रय इन सबका निषेध है। यहाँ (इन्हें) पुद्गलस्वभावी कहा है क्योंकि आत्मा का यह कोई गुण नहीं है। पर्याय में होता है, वह निमित्त के आधीन (होता है, इसलिए होता है)। इसलिए **उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिए।** आहाहा!

जो अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है? यह पुण्य और पाप का भाव कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है। अनन्त गुण में कोई गुण नहीं है। पर्याय में है, इसलिए वह पर्याय में पर के आधीन हुआ होने से... आहाहा! अन्य द्रव्य के स्वभाववाला होने से **उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है?** आहाहा!

शुभ कर्म पुद्गलस्वभाववाले हैं... दया, दान, व्रत, भक्ति, नामस्मरण, चिन्तवन आदि सब वह शुभभाव पुद्गलस्वभावी है; आत्मस्वभावी नहीं। आत्मा के अनन्त-अनन्त गुण हैं, परन्तु सब शुद्ध हैं और शुद्धरूप से परिणमे, वह उसका स्वभाव है। इसलिए पर्याय में / अवस्था में जो कर्म के निमित्त के लक्ष्य से होते हैं, वे सब पुद्गल के स्वभाव गिनकर मोक्ष के कारण में उनका कारण नहीं है। आहाहा!

अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है? शुभ कर्म पुद्गलस्वभाववाले हैं... इस अपेक्षा से। उसका त्रिकाली पुद्गल जो है, पर्याय में उसके आश्रय से होता है। कोई भी गुण आत्मा का नहीं है-कोई भी स्वभाव नहीं है कि विकार हो। आहाहा! इसलिए यह दया, दान, व्रत, भक्ति (का) होना, (वह) पुद्गलस्वभावी है। जीवस्वभावी त्रिकाल नहीं, इसलिए पुद्गलस्वभावी है। आहाहा! ऐसा है। लोगों को (ख्याल नहीं)। होता है इसकी पर्याय में, परन्तु पर्याय में होते-होते इसका ऐसा कोई गुण नहीं है। गुण, वह विकाररूप परिणमे, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! इस कारण से दया, दान, व्रत, भक्ति आदि अन्य द्रव्यस्वभावी है। शाश्वत् प्रभु का स्वभाव... आहाहा! वह तो पूर्ण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द आदि पूर्ण गुण का स्वभाव, अनन्त शक्ति का स्वभाव शुद्ध है और उसकी अनन्तानन्त शक्ति का किसी शक्ति का गुण या स्वभाव विकाररूप हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! दया, दान के

विकल्परूप परिणमे, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! इसलिए उसे अन्य द्रव्यस्वभाव (कहा है)।

इसलिए उनके भवन से परमार्थ आत्मा का भवन नहीं बन सकता;.. आहाहा! वांचन, श्रवण, मनन, चिन्तवन सब विकल्प / राग है। आहा! वह राग पुद्‌गलस्वभावी है; जीवस्वभावी नहीं। भगवान तो पूर्ण अनन्त गुणों का पिण्ड, वह तो पवित्रस्वभाव है। वह पवित्र स्वभावी भगवान, पवित्र पूर्ण मोक्ष का कारण है परन्तु विकार का कारण वह नहीं है। आहाहा! विकार का कारण तो पुद्‌गल है, वह निमित्त है और अध्धर से पर्याय में उसके लक्ष्य से होता है, इसलिए उसे पुद्‌गलस्वभावी कहा है। आहाहा! व्रत, नियम और तप, वह सब पुद्‌गलस्वभावी है, ऐसा कहा है।

वह **शुभ कर्म..** कर्म अर्थात् कार्य। **पुद्‌गलस्वभाववाले हैं, इसलिए उनके भवन से..** उनके होने से **परमार्थ आत्मा का भवन नहीं बन सकता;..** परमपदार्थ ऐसा भगवान आत्मा, उसका होना उससे (शुभकर्म से) नहीं हो सकता। **इसलिए वे आत्मा के मोक्ष के कारण नहीं होते।** आहाहा! इसलिए व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान, स्मरण, चिन्तवन इत्यादि वे सब कोई आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं होते।

ज्ञान आत्मस्वभावी है.. ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वह आत्मा का स्वभाव है। उस आत्मस्वभावी ज्ञान से **उसके भवन से..** (अर्थात्) उसके परिणमन से। शुद्ध पूर्ण अनन्त गुण के आश्रय से जो परिणमन होता है, वह आत्मा का भवन होता है। इसलिए उसके स्वभाव से (परिणमित होने से), ज्ञानस्वभावी होने से उसका भवन—होने से। **आत्मा का भवन..** अर्थात् आत्मा का पूर्ण स्वरूप परिणमता है। **अतः वह आत्मा के मोक्ष का कारण होता है।** आहाहा!

कल तो भक्ति में आया नहीं था? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा'.. आहा! तुझमें क्या कमी है? भाई! आहाहा! 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आस कहाँ करे प्रीतम।' प्रभु! प्रीतम कहकर कहा, हे प्रेम करनेवाले भगवान! तू प्रीतम है, प्रभु! आहाहा! अन्य की आश कहाँ करे प्रीतम? 'कई बाते तू अधूरा?' किस भाव से, किस गुण से, किस शक्ति से तू अधूरा कहाँ है? आहाहा!

एक-एक गुण जो जीवत्वशक्ति आदि है, उसमें अनन्त गुण का रूप है, ऐसा एक-

एक गुण परिपूर्ण, प्रभुत्व आदि से भरपूर परिपूर्ण, ऐसे अनन्त गुण का रूप प्रभु तेरा है, वह कहाँ अधूरा और विरुद्ध है। आहाहा! वह तो परिपूर्ण प्रभु है, उस परिपूर्ण प्रभु के आश्रय से जो भवन होता है अर्थात् दशा होती है, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा!

आत्मा के मोक्ष का कारण होता है। इस प्रकार ज्ञान ही.. आत्मा का स्वभाव जो ज्ञानादि है, उसका परिणमन ही **वास्तविक मोक्षहेतु है।** उसका परिणमन (कहा)। ज्ञान अर्थात् ज्ञान का परिणमन, आत्मा का परिणमन। त्रिकाली परिपूर्ण प्रभु का परिणमन (होता है), वही मोक्ष का कारण / हेतु है। आहाहा! वास्तविक तो वह मोक्ष का कारण है। विकार, वह पुद्‌गलस्वभावी होने से, चैतन्य के कोई गुणस्वभावी नहीं होने से वह पुद्‌गलस्वभावी (है और) वह आत्मस्वभाव का—मोक्ष का कारण नहीं होता। आहाहा! ऐसा कठिन पड़ता है।

चिन्तवन, मनन, विकल्प आदि (पुद्‌गलस्वभावी हैं)। आहाहा! प्रभु तो परिपूर्ण भगवान है। गुण से परिपूर्ण पड़ा है न, प्रभु! उसमें विकल्प उठाना, वह उसकी जाति नहीं है। आहाहा! वह पुद्‌गलस्वभावी जाति, कुजाति है। उससे आत्मा का मोक्ष और परिपूर्ण (दशा का) कारण परिपूर्ण स्वभाव की शक्ति की व्यक्तता का कारण वह नहीं होता। आहाहा!

कलश–१०६

अब इसी अर्थ के कलशरूप दो श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ।।१०६।।

श्लोकार्थ : [एकद्रव्यस्वभावत्वात्] ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (-जीवस्वभावी-) होने से [ज्ञानस्वभावेन] ज्ञान के स्वभाव से [सदा] सदा [ज्ञानस्य भवनं वृत्तं] ज्ञान का भवन बनता है; [तत्] इसलिए [तद् एव मोक्षहेतुः] ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।।१०६।।

श्लोक - १०६ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ के कलशरूप दो श्लोक कहते हैं:-

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्।।१०६।।

आहाहा! यह १०६ कलश है न! इसमें उस स्वरूपाचरण (के) छह बोल लिखे हैं। इसमें - **'ज्ञानस्य भवनं वृत्तं'** नीचे है न दूसरा? उसके अर्थ में (लिखे हैं) ज्ञान का भवन अर्थात् कि स्वरूपाचरण। अर्थात् कि स्वरूप जो शुद्धचैतन्य है, उसका परिणमन / आचरण (होना) वही एक मोक्ष का कारण है। आहाहा!

'एकद्रव्यस्वभावत्वात्' ज्ञानादि अनन्त गुण जो शुद्ध हैं, वह एक द्रव्यस्वभावी है। एक ही द्रव्यस्वभावी है, दूसरे द्रव्य का वहाँ अवलम्बन, निमित्त है ही नहीं। आहाहा! **एकद्रव्यस्वभावी..** पूर्ण प्रभु, अनन्त गुण से प्रभु पूर्ण है, ऐसा एक द्रव्यस्वभाव। आहाहा! **'स्वभावत्वात्'** है न? एक द्रव्यस्वभाव होने से, ऐसा। एक द्रव्य का वह स्वभाव होने से। आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुण जो पवित्र प्रभु, उसका एक द्रव्यस्वभावी अर्थात् उन गुणों का परिणमन शुद्ध हुआ, वह एक द्रव्यस्वभावी है। आहाहा! **ज्ञान..** अर्थात् गुण। शान्ति, वीतराग आनन्द इत्यादि। **एकद्रव्यस्वभावी..** एक आत्मद्रव्यस्वभावी वह वस्तु है। उसका परिणमन। **'ज्ञानस्वभावेन'** आहाहा! ऐसे **'एकद्रव्यस्वभावत्वात्'** एक द्रव्य के स्वभाव होने से। परिपूर्ण पवित्र एक द्रव्यस्वभाव ऐसा जो होने से **'ज्ञानस्वभावेन'** उस शुद्ध का परिणमन होना। आहाहा! शुभाशुभ का परिणमन (होना), वह अशुद्ध परिणमन है (और वह) पुद्गलस्वभावी कहा गया है। आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना, वह भी पुद्गल-स्वभावी है।

अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त का अन्त नहीं, इतने गुण! परन्तु कोई एक गुण विकृतरूप से परिणमे, ऐसा कोई गुण उसमें नहीं है। आहाहा! इन गुण का गुण, अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुणों का गुण विकाररूप होना, वह गुण का गुण नहीं है। आहाहा!

वह गुण का गुण अनन्त पवित्र जो गुणों की संख्या, उस गुण का गुण पवित्ररूप से परिणमना, वह गुण का गुण है। आहाहा! अरे! इसे अपनी महिमा की खबर नहीं होती। अपने माहात्म्य की खबर नहीं होती कि यह चैतन्यतत्त्व क्या है? करोड़ों की कीमत का हीरा कहलाता है, उसके पासा होते हैं। यह तो अनन्त पासावाला, पवित्र पासावाला पवित्र तत्त्व प्रभु (है, इसमें) अनन्त गुण के पासा भरे हैं। आहाहा! ऐसा एक द्रव्यस्वभाव, जिसमें पर का लक्ष्य और पर्याय में पर का आश्रय है, वह इसमें नहीं है। आहाहा!

यहाँ इन तीन लाइनों में पूरा किया है। कलश (टीका) में पूरा पृष्ठ भरा है! छह बार स्वरूपाचरण, स्वरूपाचरण ऐसे शब्द हैं। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तपादि स्वरूपाचरण नहीं है। आहाहा! यह तो विभाव आचरण है, इसलिए यह पुद्गलस्वभाव है।

भगवान आत्मा, अनन्त गुण से परिपूर्ण स्वभाव से भरपूर प्रभु के गुण से गुण का परिणमित होना। उसके गुण का गुण शुद्ध निर्विकारी आनन्द, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता और प्रभुता, ऐसी निर्मल पर्यायरूप होना, वह गुण का गुण है। आहाहा! इस गुण ने क्या गुण किया? आहाहा! यह अनन्त-अनन्त गुण हैं, इनने क्या गुण किया? कि इनका आदर करने से शुद्ध परिणमन किया, यह गुण किया। आहाहा! लोग कहते हैं न, भाई! इसके संग से तुझे क्या लाभ हुआ? ऐसे प्रभु! भगवान! तू परिपूर्ण है, प्रभु! आहाहा! (तुझमें) विकार तो नहीं परन्तु अपूर्णता नहीं। आहाहा! ऐसा परिपूर्ण स्वभावी अनन्त गुण से भरपूर प्रभु, उसका गुण तो शुद्धरूप से, पवित्ररूप से, आनन्दरूप से, शान्तिरूप से, स्वच्छतारूप से, ईश्वरतारूप से होना। अनन्त गुण का गुणरूप परिणमन होना, वह उसका गुण और वह मोक्ष का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : मन्द कषाय करते-करते शान्ति हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं होता। मन्द कषाय है, (वह) जहर है। जहर करते-करते अमृत होगा? लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आवे तो शुभभाव करते-करते शुद्धता हो। आहाहा!

यहाँ तो एकद्रव्यस्वभावी वस्तु अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, परिपूर्ण प्रभु का परिणमन, वह गुण का परिणमन (मोक्ष का कारण कहा है)। आहा! अनन्त-अनन्त गुणों का वर्तमान

पर्याय में परिणमन, वह एकद्रव्यस्वभावी होने से, एक स्वद्रव्य का स्वभाव, वह परिणमन हुआ, वह मोक्ष का कारण है। राग की मन्दता लाख, करोड़, अनन्त करे, अनन्त बार की है, (तथापि वह मोक्ष का कारण नहीं है।) आहाहा!

मुमुक्षु : विशुद्धिलब्धि कही है, विशुद्धिलब्धि प्रगट हो, पश्चात् शुद्ध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लब्धि-बब्दि बाद में, यहाँ तो सीधा स्वभाव (प्रगट करे)। लब्धि सुनता है, सुना है। देशनालब्धि, उससे नहीं होता क्योंकि वह तो परलक्ष्य से सुना। स्वलक्ष्य से सुनने में जाए, तब तो परलक्ष्य छूट जाता है। (वह) हो, परन्तु उससे नहीं होता। आहाहा! यह तो उसमें-भावपाहुड़ में पहले आया नहीं था? कि मोक्षमार्ग होता है तो अन्दर के निर्मल भाव से, परन्तु द्रव्यलिंग नग्न और पंच महाव्रत, ऐसा द्रव्य साथ में होता ही है। भाव और द्रव्य दोनों आये थे। परन्तु वह द्रव्य (लिंग) मोक्ष का कारण (नहीं है), तथापि वह निमित्तरूप से होता अवश्य है। आहाहा!

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अन्दर तत्पर होकर जब.. आहाहा! परिणमित होता है... आहाहा! तब वहाँ अन्दर आनन्द की लहर उठती है। उसके साथ अनन्त गुणों का परिणमन उठता है, वह एक द्रव्यस्वभावी होने से, वह एक द्रव्यस्वभाव ऐसा जो मोक्ष; मोक्ष आत्मा का स्वभाव है, इसलिए आत्मा के द्रव्यस्वभाव से उसका मोक्ष होता है। आहाहा! उसका संग करने से क्या लाभ हुआ? पूर्णानन्द के नाथ का संग करने से क्या हुआ? वह असंग है, उसका संग करने से (क्या लाभ हुआ)? आहाहा! अन्दर वह असंग वस्तु है। जिसको राग का भी संग नहीं। वस्तु त्रिकाल निरावरण असंग शुद्ध (पड़ी है)। आहाहा! उसका संग करने से क्या हुआ? कि उसका संग करने से मोक्ष का कारण (प्रगट) हुआ। आहाहा! क्योंकि उसका संग पूर्ण करने से मोक्ष होता है, तो शुरुआत का संग करने से मोक्ष का कारण होता है। आहाहा! अब ऐसी बातें लोगों को सुनने को मिलती नहीं, बाहर में समय मिलता नहीं। अरे रे! ऐसा अवसर-समय मिला।

इस एक श्लोक में छह बार स्वरूपाचरणचारित्र डाला है। छह बार! स्वरूपाचरण.. स्वरूपाचरण। राग वह करूपाचरण-पुद्गलाचरण है। आहाहा! '**वृत्तं**', '**वृत्तं**' का अर्थ वहाँ यह किया है। स्वद्रव्य आचरण। है न? **ज्ञानस्य ज्ञान के स्वभाव से सदा.. सदा** अर्थात् हमेशा, त्रिकाल-तीनों काल में। आहाहा! '**ज्ञानस्य भवनं वृत्तं**' ज्ञान का होना-

स्वरूपाचरण, द्रव्यस्वरूप का आचरण, द्रव्यस्वभाव का वर्तन, द्रव्यस्वभाव का परिणमन, वह मोक्ष का कारण होता है। आहाहा!

कल तो भक्ति में आया था, नहीं ? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा' 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आश कहाँ करे प्रीतम' मेरे नाथ! प्रेम का नाथ! सागर! 'पर की आश' राग और पर की आश तू क्या करता है। 'पर की आश कहाँ करे प्रीतम, कई बातें तू अधूरा' किस बात से तू अधूरा है ? आहाहा! तू किस भाव से अधूरा है कि पर की आशा रखता है ? कि इस दया से, राग से, पुण्य से, (धर्म) होगा। अरे! प्रभु! यह तू क्या करता है ? तुझमें कहाँ अपूर्णता है और कहाँ पूरा नहीं भरा है ? आहाहा! यह पूरा होगा, वह छलकेगा। आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुण का सागर प्रभु, ऐसा जो उसका **'वृत्तं'** अर्थात् स्वरूपाचरण.. वह इस **'ज्ञानस्य भवनं वृत्तं'** आत्मा का होना, वह चारित्र है। **'वृत्तं'** अर्थात् चारित्र। व्रत, तप और भक्ति वह कोई चारित्र नहीं है। वह तो अचारित्र है। आहाहा! **'ज्ञानस्य'** आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव का पर्याय में **'भवनं'** अर्थात् सत् का जो सत्व है, (उसका परिणमन)। सत् ऐसा जो प्रभु, उसका जो सत्व अनन्त गुण है, उसका पर्याय में परिणमित होना.. आहाहा! तीनों एक जाति हो जाए। आहाहा!

द्रव्य पदार्थ प्रभु! जिसे चैतन्य का आश्रय है.. आहाहा! चैतन्य ऐसे गुण का जिसे आश्रय है, उसका आश्रय है.. आहाहा! ऐसा स्वस्वभावी भगवान... आहाहा! एक साधारण बात में ललचा जाए, लोभी हो जाए और प्रसन्न हो, उसे ऐसा मेरा नाथ प्रभु पूर्ण स्वरूप है, उसे उसका प्रेम कैसे आवे ? आहाहा! साधारण कोई पाँच-पच्चीस लाख पैसा (रुपये) हुए, लड़के दो-पाँच कमावे, कर्मी हुए, कर्मी! कर्मी हुए और कुछ स्त्री ठीक हुई और स्त्री पीहर में से पाँच-पच्चीस लाख लेकर आयी, वहाँ तो ऐसा मानो... आहाहा! (हो जाता है)। क्या है प्रभु तुझे ? आहाहा! इस दुःख के स्थान में तुझे प्रसन्नता! इस आनन्द के नाथ की तुझे प्रसन्नता नहीं आती, नाथ! आहाहा!

अतीन्द्रिय अनन्त गुण का सागर प्रभु, आहाहा! जिसमें अनन्त गुणों के एक-एक गुण का अनन्तरूप, ऐसा छलाछल, लबालब परिपूर्ण प्रभु भगवान है न, नाथ! आहाहा! प्रभु! उसके सन्मुख देख न! उसका संग कर न! इस राग और विकार के संग से तो संसार में दुःखी है, प्रभु! वर्तमान दुःखी है, ऐसा आया है, कल आया था। पैसेवाले आदि

करोड़पति वर्तमान दु:खी हैं। आहाहा! क्योंकि उनका लक्ष्य पर के ऊपर-धूल के ऊपर जाता है। आहाहा! या पन्द्रह-पच्चीस हजार मासिक वेतन हो तो मानो ओहोहो! मानो हम बढ़ गये! धूल में! धूल में बढ़ गये। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव... **'ज्ञानस्य भवनं वृत्तं'** यह (आया), इतना अर्थ यहाँ चलता है। यह भगवान पूर्णस्वरूप जो है, उसका **'वृत्तं'**, वृत्तं अर्थात् उसका आचरण। समझ में आया? उसे **'वृत्तं'** कहा, परन्तु स्वरूप का आचरण, वह निश्चय व्रत है। आहाहा! अरे! आत्मा का होना - **'भवनं'** सत्व प्रभु जो है, सत् का सत्व। प्रभु सत् है, चिदानन्द वह गुणों का पूर्ण स्वरूप है, वह सत्व है, उस सत्व का परिणमन होना... आहाहा! अर्थात् उस सत्व का नहीं परन्तु सत् का परिणमन होना। आहाहा! उस सत् का सत्व है, उसका-सत् का परिणमन, सत्वरूप से पर्याय में होना। यह चिद्विलास में आता है। गुण का परिणमन नहीं, द्रव्य का परिणमन है। गुण का परिणमन (अर्थात्) एक गुण भिन्न (परिणमित होता है), ऐसा नहीं है, पूरे द्रव्य का परिणमन। गुण का परिणमन, वह द्रव्य का परिणमन नहीं है, परन्तु द्रव्य का परिणमन वह गुण का परिणमन है। चिद्विलास में आता है। आहाहा! अब ऐसी बातें कहीं सुनी न हो, सब दूसरा प्रकार। मार्ग बहुत अलग है, भाई! आहाहा!

कहते हैं कि आत्मा जो स्वभाव से परिपूर्ण है, उस स्वभाव का होना, अर्थात् उस स्वरूप का आचरण होना, उस स्वरूप का पर्याय में आचरण होना, उसे यहाँ व्रत कहने में आता है और वह व्रत, मोक्ष का कारण है। आहाहा! है या नहीं अन्दर?

आत्म-भवनं (अर्थात्) आत्मा का पर्याय में होना, वह व्रत, वह चारित्र है। आहाहा! भगवान परिपूर्ण अनन्त गुण से भरपूर है, ऐसा जो द्रव्यस्वभाव, वह स्वभाव स्वयं-द्रव्य पूरा पर्याय में परिणमता है। आहाहा! शुद्ध शुद्धरूप, शुद्ध-उपयोगरूप से परिणमन हुआ, उसे यहाँ चारित्र कहा है। आहाहा! यह बात तो पड़ी रही और बाहर के यह व्रत और यह तप और यह अतिचार (किये), रस त्याग किया और अमुक त्याग किया और धूल। परन्तु आत्मरस त्याग दिया, उसका क्या करना?

आत्मरस! भगवान अनन्त गुण का रस! उसकी तो दृष्टि छोड़ दी और राग के रस के रस में पड़ा है, प्रभु! वह तो मिथ्या आचरण है। भले इसने (दूसरे) रस छोड़ दिये हों, एक ही रस खाता हो, पाँच रस छोड़कर अमुक किया। आहाहा! और वह भी रस का त्याग

करे, तब कहते हैं कि इसे दो रस चलते हैं, यह दो रस बनाओ। इसे चलते हैं, वह बनावे न! अर र!

प्रभु का मारग बहु शूरों का, यह कायर का काम नहीं। आहाहा! यहाँ नामर्द का काम नहीं है। यह आ गया था। पुण्य-परिणाम में रुकनेवाले नामर्द हैं, क्लीब है। आहाहा! यह अपने पहले आ गया है। कौन सी गाथा है? १५४, १५४ (गाथा में) आया है। ***'नपुंसकता के कारण' 'दुरंत कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण...'*** आहाहा! (जिसने) भगवान के स्मरण और विकल्प को जरा भी स्पर्श नहीं किया, आहाहा!

एक ओर कहा कि द्रव्य अपने गुण-पर्याय को चुम्बन करता है। वह तो परद्रव्य से भिन्न करके (कहा)। पश्चात् जब स्वद्रव्य में भिन्न, अपने द्रव्य के पवित्र को चुम्बन करता है, अपवित्र को वह चुम्बन नहीं करता और स्पर्श नहीं करता। वह अध्धर जैसे पानी के दल में तेल की बूँद ऊपर-ऊपर रहती है, पानी के दल में तिल के तेल की बूँद अन्दर नहीं जाती; इसी प्रकार भगवान आनन्द का सागर प्रभु है, उसमें ये पुण्य के परिणाम तेल जैसे (हैं, वे) अन्दर नहीं जाते। वे ऊपर-ऊपर रहेंगे। आहाहा! वह इसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप कठिन पड़ता है।

(यहाँ कहते हैं) **'ज्ञानस्य भवनं वृत्तं'** आत्मा के अनन्त गुण पवित्र हैं, उस पवित्र का पिण्ड प्रभु आत्मा द्रव्य, उसका होना। जो पवित्र गुण हैं, उनरूप द्रव्य का परिणमन होना। आहाहा! उसे चारित्र कहते हैं। यह चारित्र की व्याख्या! आहाहा! यह **'ज्ञानस्य भवनं'** स्वरूप का होना, वह स्वरूपाचरण है। स्वरूप का होना, वह स्वरूपाचरण है। स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य है, उसका परिणमित होना, वह स्वरूपाचरण है। स्वरूप का आचरण है, वह चारित्र है। आहाहा! ऐसा है।

सम्प्रदाय में से तो विरोध खड़ा करे.. ऐ.. एकान्त है, यह तो एकान्त है। जा, जाकर प्रभु को कह। प्रभु को कह, यह एकान्त है, एकान्त है। आहाहा! क्या करे? लाख शास्त्र पढ़ा हो, परन्तु पढ़-पढ़कर निकाला हो वापस यह कि राग से लाभ होता है और व्यवहार से लाभ होता है। आहाहा!

यहाँ परमात्मा कहते हैं, परमात्मा ने कहा हुआ ही सन्त कहते हैं। आत्मा का

परिणमन.. भवन अर्थात् परिणमन। सत् का अनन्त गुण का जो सत्व-गुण, उनका परिणमन वह व्रत है, वह चारित्र है। आहाहा! इसलिए **'तद् एव मोक्षहेतुः' 'तद् एव मोक्षहेतुः'** एक **'तत्'** तत् का अर्थ यह किया। **'तत् तत् एव मोक्षहेतुः'** वही, वही मोक्ष का हेतु, ऐसा। बात ऐसी है। **'तत् तत् एव मोक्षहेतुः'** वही, वही मोक्ष का हेतु-कारण है। आहाहा! इसमें दो तत् ही हैं। हाँ, तत् ही हैं। दो बार तत्, तत् करके (बात की है)। वही, वही मोक्ष का कारण है। इसमें है। दो टीका है न! एक यह टीका है और एक वह टीका है- कलश टीका। दो टीका है। आहाहा! यहाँ तीन लाईन है, वहाँ तो पूरा पृष्ठ भरा है। आहाहा!

स्वरूपाचरण! व्रत, तप, दया, दान के विकल्प (होते हैं), वह पुद्गल आचरण है। आहाहा! दो भाग ही किये हैं। एक ओर पुद्गल आचरण तथा एक ओर स्वरूपाचरण। आहाहा! भगवान परिपूर्ण स्वभाव से भरपूर प्रभु का परिणमन होना, परिपूर्ण द्रव्य का परिपूर्ण रूप से परिणमन होना, परिपूर्ण परिणमन होना, वह तो मोक्ष (हुआ), परन्तु वह परिपूर्ण परिणमन (होना), वह द्रव्य का स्वभाव है। इस प्रकार यहाँ परिपूर्ण द्रव्य का परिणमन भले अधूरा है, उसे यहाँ चारित्र-मोक्ष का मार्ग कहते हैं। आहाहा!

इसलिए.. 'तद् एव मोक्षहेतुः' ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। यह तो एकान्त 'ही' कहा। **'एव'** है न, एव। आत्मा का शुद्ध परिणमन, शुभ-अशुभभाव से रहित, शुद्धस्वभाव से शुद्ध के उपयोग का परिणमन (होना), वह एक ही मोक्ष का कारण है। उसे एक ही मोक्ष का कारण है, मोक्ष के कारण दो नहीं हैं कि व्यवहार और निश्चय.. आहाहा! ऐसा कठिन काम। धन्धा, स्त्री-पुत्र, पाप के कारण निवृत्त नहीं होता, थोड़ा समय मिले (और) घण्टे भर सुनने जाए, वहाँ वे ऐसी बातें करें कि आहा! व्रत करो और तप करो और रस त्याग करो, ऐसा करो और वैसा करो। आहाहा! पर का त्याग-ग्रहण तो आत्मा में है नहीं। त्यागग्रहण शून्य है। आहाहा! पर का त्याग और पर रजकण के ग्रहण से तो शून्य है। फिर रस का त्यागना, वह कहाँ (आया)? रस को कब ग्रहण किया था तो वह त्यागे? आहाहा! मात्र राग को पर्याय में ग्रहण किया था, वह स्वभाव का आश्रय लेकर उसे त्यागता है, ऐसे यह नाम कथन है, नाम कथन है। आहाहा! राग का त्याग करता है, वह भी नाम कथन है। परमार्थ से तो यह वस्तुस्वभाव है, वह तो रागरूप तो हुआ नहीं। फिर हुआ नहीं, उसे छोड़ा? (यह कैसे बने)? आहाहा!

मुमुक्षु : राग होवे तो भी!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह होवे तो भी वस्तु उसरूप नहीं हुई। आहाहा! वस्तु ने तो राग का त्याग (किया), यह भी व्यवहार है। वस्तु स्वयं ज्ञानस्वभाव छोड़कर रागरूप हुई नहीं। परद्रव्यरूप तो हुई नहीं, प्रश्न ही नहीं, परन्तु रागरूप हुई नहीं। तो फिर राग का त्याग करना, वह तो नाममात्र है। आहाहा! यह तो वस्तुस्वरूप पवित्र प्रभु है, इसमें जम जाता है, स्थिर हो जाता है, बस! उसका नाम चारित्र है। इसने अचारित्र का – राग का त्याग किया, वह भी यहाँ तो उपचारमात्र है। व्यवहाररत्नत्रय का त्याग किया, यह भी उपचारमात्र कथन है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। परन्तु करे क्या?

'तद् एव मोक्षहेतुः'.. 'तद् एव' आत्मा के स्वभाव का परिणमन, शुद्ध का पवित्र परिणमन होना, वह राग की क्रिया के अभावस्वभावरूप से परिणमना, वह एक ही मोक्ष का कारण है; दूसरा कोई मोक्ष का कारण है नहीं। आहाहा!

कलश-१०७

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ।।१०७।।

श्लोकार्थ : [द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्] कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी (–पुद्गलस्वभावी) होने से [कर्मस्वभावेन] कर्म के स्वभाव से [ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं] ज्ञान का भवन नहीं बनता; [तत्] इसलिए [कर्म मोक्षहेतुः न] कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।।१०७।।

श्लोक – १०७ पर प्रवचन

दूसरा श्लोक

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ।।१०७।।

आहाहा! **'द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्' कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी (-पुद्गलस्वभावी) होने से**... आहाहा! यह व्यवहार, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दया और दान के भाव (होते हैं, वे) कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी (हैं अर्थात्) यह कार्य है, वह अन्य द्रव्यस्वभावी है। चैतन्य स्वभावी वह कार्य नहीं है। आहाहा! चैतन्यस्वभाव तो विकाररूप होना, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! कर्म अर्थात् पुण्य के परिणाम, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि **अन्य द्रव्यस्वभावी..** वह तो **(-पुद्गलस्वभावी) होने से..** आहाहा!

'कर्मस्वभावेन' कर्म के स्वभाव से.. यह पुण्य के परिणाम के स्वभाव से अर्थात् कर्म के स्वभाव से। **'ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं'** आत्मा का होना नहीं होता। आहाहा! **'ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं'** चारित्र—ज्ञान का होना नहीं, वह चारित्र। ज्ञान का होना नहीं, वह चारित्र नहीं, ऐसा (कहना है)। आहाहा! **'ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं'** वे व्रत पुद्गल के परिणाम हैं, वह ज्ञानभवन नहीं है। आहाहा! वह तो पुद्गल का स्वभाव है। आहाहा!

कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी (-पुद्गलस्वभावी) होने से.. एक ओर भगवानस्वभावी का परिणमन तथा एक ओर कर्मस्वभावी परिणमन (अर्थात्) राग, दया, दान, व्रतादि। आहाहा! दो बातें (की हैं)। बाहर की धमाधम... पंच कल्याणक हो, इसलिए रथ जोड़े, हाथी जोड़े, हाथी (लावे) और बोली बोले, तीस-तीस लाख, पचास लाख इकट्ठे हों और (माने कि) ओहोहो! क्या धर्म हुआ! यहाँ कहते हैं कि वह धर्म नहीं है, बापू! वह तो पुद्गलस्वभावी वस्तु है। ऐसा है। आहाहा!

कर्म के स्वभाव से.. अर्थात् विकारी भाव तो कर्म का स्वभाव है; आत्मा का स्वभाव (तो) विकाररूप होना, ऐसा स्वभाव नहीं है। आहाहा! इसीलिए कर्मस्वभाव से आत्मा का **'भवनं न हि वृत्तं' ज्ञान का भवन..** चारित्र। **नहीं बनता;..** कर्म के स्वभाव से आत्मा का ऐसा चारित्र नहीं होता। आहाहा! **इसलिए.. 'कर्म मोक्षहेतुः न'** (अर्थात्) वे पुण्य के परिणाम, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे कर्म हैं। कर्म अर्थात् कार्य। वह **कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।** आहाहा! शुभरूपी कार्य, वह मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग का तो कारण है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिलकुल नहीं। मोक्षमार्ग की बात ही यहाँ चलती है। मोक्षमार्ग

का कारण जरा भी नहीं है। बन्ध का मार्ग-संसार मार्ग है। ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : जयसेनाचार्यदेव की टीका में बहुत बार आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; वह तो था, उसका ज्ञान कराया है। दूध किसमें था, दही किसमें था, उस बर्तन का-निमित्त का ज्ञान कराया है। निमित्त होता है, परन्तु उस निमित्त से अन्दर (कुछ) नहीं होता। यहाँ पहले कहा न! भावचारित्रपना सम्यग्दर्शन, अनुभवपूर्वक अन्दर जहाँ प्रगट होता है, वहाँ आगे व्रतादि के विकल्प और नग्नपना ही होता है। द्रव्यपना-द्रव्य ऐसा ही होता है। जैसा यहाँ भाव-स्वभाव शुद्धरूप परिणमित हुआ तो उसका निमित्त भी वहाँ नग्नपना और पंच महाव्रत वे ही निमित्त होते हैं, तथापि उनसे होता है - ऐसा नहीं है। आहाहा! आहाहा!

वे कहते हैं न! 'जाति वेश का भेद नहीं, कहा मार्ग जो होय' चाहे जिस जाति और चाहे जो वेश हो, ऐसा नहीं है। नग्नपना और पंच महाव्रत के परिणाम ही निमित्तरूप से, द्रव्यरूप (द्रव्यलिंगरूप से) होते हैं। त्रिकाली स्वभाव का, मोक्ष का कारणरूप जो परिणमन हुआ, वहाँ निमित्त ऐसा ही होता है, तथापि उससे मोक्ष नहीं होता तो भी निमित्त होवे तो ऐसा ही होता है। आहाहा! कोई वस्त्रसहित हो तो भी मानो मुनि हो, (ऐसा) तीन काल-तीन लोक में नहीं है।

मुमुक्षु : इस लोक में तो सब मुनि होते हैं, आचार्य होते हैं, उपाध्याय होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे आचार्य, उपाध्याय होते हैं, वह सब विकल्प। कहाँ था? कठिन काम, बापू! बहुत मुश्किल प्रभु! है तो प्रभु तेरे हित की बातें। बापू! यह देह आया। देह छूट जाएगा। भाई! यह तो अवधिवाली चीज़ है। तू तो अनादि-अनन्त है, प्रभु! यह तो अवधि की चीज़ है। अवधि है, तब तक रहेगी, (पश्चात्) चली जाएगी। आहाहा! फिर कहाँ जाएगा? प्रभु! आहाहा! यदि तेरी दृष्टि राग और पुण्य पर होगी तो, प्रभु! तू पुद्गल में जाएगा, भटकने में जाएगा। आहाहा! और जो रागरहित प्रभु आत्मा शुद्धचैतन्यघन है, ऐसी यदि दृष्टि होगी तो यहाँ से जाकर भी तू आत्मा में ही रहेगा। चाहे जहाँ अवतार हो, पश्चात् मनुष्य का या देव का, परन्तु तू वहाँ आत्मा में ही रहेगा। तू गति में नहीं जा सकेगा। निमित्तरूप से भले (गति में) हो। आहाहा! ऐसी बातें। **कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।** यह १०७ (श्लोक पूरा) हुआ।

कलश-१०८

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:-

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ।।१०८।।

श्लोकार्थ : [मोक्षहेतुतिरोधानात्] कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करनेवाला है, और [स्वयम् एव बन्धत्वात्] वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है [च] तथा [मोक्षहेतुतिरोधायि-भावत्वात्] मोक्ष के कारणों का तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्ता) है, इसलिए [तत् निषिध्यते] उसका निषेध किया गया है।।१०८।।

श्लोक - १०८ पर प्रवचन

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:-

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ।।१०८।।

आहाहा! पुण्य के परिणाम **मोक्ष के कारणों का तिरोधान करनेवाला है,..** ढाँकनेवाला घातक है। आहाहा! जो इसकी पर्याय में होते हैं, तथापि वह पर्याय उस द्रव्य के गुण से नहीं हुई है। आहाहा! वह पुद्गल अध्धर... एक ओर द्रव्य भगवान आत्मा और एक ओर पुद्गल। तो वह पुद्गलस्वभावी दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम। वह **कर्म मोक्ष के कारणों का..** घात करनेवाला है। तिरोधान अर्थात् घात करनेवाला है। आहाहा! **'स्वयम् एव बन्धत्वात्'** एक बात - घात करनेवाला है और (दूसरा) स्वयं बन्धस्वरूप है। आहाहा! ये दया, दान, व्रत, भावबन्धस्वरूप है। आहाहा! कर्म, द्रव्यबन्धस्वरूप है। भगवान शुद्धस्वभावस्वरूप है। आहाहा!

स्वयं ही बन्धस्वरूप है.. पुण्य के परिणाम शुभ दया, दान, व्रत, भक्ति स्वयं बन्धस्वरूप है। आहाहा! **और 'मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्' मोक्ष के कारणों का**

तिरोधायिभावस्वरूप... विरुद्धभावस्वरूप, ऐसा। आहाहा! वह घात करनेवाला था, पहले में आया था न! कलश (टीका) में कहा था। द्रव्यचारित्र जो दया, दान, व्रतादि जो क्रिया है, वह दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है। विषय कषाय के परिणाम की भाँति वह भी बन्ध का कारण है। उसमें आया था। बताया था न?

कलश टीका, १०८ (कलश) लो, यही आया! देखो! **कारण कि व्यवहारचारित्र...** (अर्थात्) ये पंच महाव्रत के परिणाम, पाँच समिति, गुप्ति आदि। व्यवहार के सब विकल्प। **होता हुआ दुष्ट है..** व्यवहारचारित्र, वह दुष्ट है। यह कलश टीका है, राजमलजी कृत है। **अनिष्ट है...** दुष्ट है, अनिष्ट है और **घातक है..** व्यवहारचारित्र; निश्चयचारित्र की अपेक्षा से दुष्ट है, अनिष्ट है और शान्ति का घातक है। आहाहा! अब यह बातें गुप्त पड़ी रही और ऊपर की सब बातें करना। दर्शनशुद्धि कैसे हो और उसका स्वभाव होवे तो उसका क्या स्वरूप कहलाये? यह बात पड़ी रही और ऊपर की सब बातें हो.. हा.., हो.. हा..! दस-दस हजार, बीस-बीस हजार लोग इकट्ठे हों, (इसलिए) प्रसन्न हों, लोकरंजन हो। आहाहा! अब ऐसे तो...

मुमुक्षु : लोकरंजन अर्थात् रागरंजन।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोकरंजन, भावपाहुड़ में आया था। रंजन! वेश पहनकर लोकरंजन करना नहीं। ऐसे महाव्रत के वेश पहनकर लोकरंजन करना नहीं कि हम साधु हैं। भावपाहुड़ में आया था और भाई तारणस्वामी तो वहाँ कहते हैं, उनके श्लोक में तो बहुत आता है कि लोकरंजन करनेवाले निगोद में जानेवाले हैं। लोक को प्रसन्न करे। आहाहा! शुभभाव करते (करते) भी लाभ होगा... बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : इस काल में तो शुभभाव ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : और इस काल में शुभभाव ही होता है, (ऐसा तू कहे)। अरे.. प्रभु! आत्मा नहीं? और आत्मा है तो उसकी (आत्मा की) प्रतीति और अनुभव, वह शुभभाव है? नहीं। प्रभु! प्रभु! क्या करे? बाह्य का त्याग नग्नपना देखकर बेचारे लोग मूर्च्छित हो जाते हैं।

मुमुक्षु : व्यवहारचारित्र को छोड़ना नहीं, उसकी पर्याय की ऐसी स्थिति हरो।

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ने का यहाँ कहाँ प्रश्न है ? है ही नहीं न इसमें, फिर छोड़ना कहाँ है ? स्वरूप में स्थिर होता है, वह चारित्र है। पहला (शुभराग)। चारित्र नहीं है। शुभ (शुभभाव) हैं, वह भिन्न रह गया, छूट गया। छोड़ना पड़ता भी नहीं। आहाहा! राग को छोड़ना नहीं पड़ता। स्वरूप में चारित्र में रमणता में वह उत्पन्न नहीं होता, इस अपेक्षा से छोड़ा, ऐसा नाम से कहा जाता है।

यहाँ तो (कहते हैं) **विषय-कषाय की भाँति क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है...** विषय-कषाय की भाँति (ऐसा कहा है)। आहाहा! जैसे विषय-कषाय का भाव पाप है, वैसे यह व्यवहारचारित्र भी (उसी की भाँति) निषेध करनेयोग्य है। आहाहा! दोनों निषेध है। आहाहा! उसमें पूरा १०८ बड़ा श्लोक है। राजमलजी की टीका है।

(यहाँ कहते हैं) **तिरोधायिभावस्वरूप..** है। वर्तमान भाव, विरोध भाव होने से। वह तो घातक है और यह तो स्वभाव से विरुद्ध भाव भावस्वरूप होने से **उसका निषेध किया गया है**। लो! विशेष कहेंगे...... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१५७–१५९

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति –

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल–मेलणासत्तो।
मिच्छत्त–मलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं।।१५७।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल–मेलणासत्तो।
अण्णाण–मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं।।१५८।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल–मेलणासत्तो।
कसाय–मलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।।१५९।।

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मल–मेलनासक्तः।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम्।।१५७।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मल–मेलनासक्तः।
अज्ञान–मलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम्।।१५८।।
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मल–मेलनासक्तः।
कषाय–मलावच्छन्नं तथा चारित्र–मपि ज्ञातव्यम्।।१५९।।

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वा–त्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्।

ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्।

ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्।

अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धम्।।१५७–१५९।।

अब पहले, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करनेवाला है:-

मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
मिथ्यात्वमल के लेप से, सम्यक्त त्यों ही जानना।।१५७।।

मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
अज्ञानमल के लेप से, सद्ज्ञान त्यों ही जानना।।१५८।।

मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
चारित्र पावे नाश लिप्त कषाय मल से जानना।।१५९।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्र का [श्वेतभाव:] श्वेतभाव [मलमेलना-सक्त:] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [नश्यति] नष्ट हो जाता है-तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसी प्रकार [मिथ्यात्वमलावच्छन्नं] मिथ्यात्वरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ-लिप्त होता हुआ [सम्यक्त्वं खलु] सम्यक्त्व वास्तव में तिरोभूत होता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिए। [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्र का [श्वेतभाव:] श्वेतभाव [मलमेलनासक्त:] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [नश्यति] नाश को प्राप्त होता है-तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसी प्रकार [अज्ञानमलावच्छन्नं] अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ-लिप्त होता हुआ [ज्ञानं भवति] ज्ञान तिरोभूत हो जाता है, [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिए। [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्र का [श्वेतभाव:] श्वेतभाव [मलमेलनासक्त:] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [नश्यति] नाश को प्राप्त होता है-तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसी प्रकार [कषायमलावच्छन्नं] कषायरूपी मैल से व्याप्त-लिप्त होता हुआ [चारित्रम् अपि] चारित्र भी तिरोभूत हो जाता है, [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिए।

टीका : ज्ञान का सम्यक्त्व जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से, तिरोभूत हो जाता है-जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञान का ज्ञान जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है - जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञान का चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप

कषाय नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत होता है–जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्र का स्वभावभूत श्वेत स्वभाव तिरोभूत हो जाता है। इसलिए मोक्ष के कारण का (–सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का–) तिरोधान करनेवाला होने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन–ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वकर्म से तिरोभूत होता है; ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानकर्म से तिरोभूत होता है; और ज्ञान का चारित्ररूप परिणमन कषायकर्म से तिरोभूत होता है। इस प्रकार मोक्ष के कारणभावों को कर्म तिरोभूत करता है, इसलिए उसका निषेध किया गया है।

प्रवचन नं. २३७, गाथा १५७-१६०, दिनाङ्क २७-०५-१९७९, रविवार
ज्येष्ठ शुक्ल २

समयसार, १५६ गाथा पूरी हुई। १५७ (गाथा), इसका उपोद्घात।

अब पहले कर्म.. जो शुभ-अशुभभाव, मिथ्यात्वभाव वह **मोक्ष के कारणों का..** आच्छादन करनेवाला है। शुभ-अशुभभाव, वह मेरा है-ऐसा मिथ्यात्वभाव और स्वरूप का अज्ञान तथा अचारित्र, यह स्वरूप को आच्छादन करनेवाला है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र ऐसा जो स्वरूप, उसे नहीं प्रगट करने देकर, आच्छादन करनेवाला है, यह कहते हैं। गाथा

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल–मेलणासत्तो।
मिच्छत्त–मलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं।।१५७।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल–मेलणासत्तो।
अण्णाण–मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं।।१५८।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल–मेलणासत्तो।
कसाय–मलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।।१५९।।

हरिगीत

मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
मिथ्यात्वमल के लेप से, सम्यक्त त्यों ही जानना।।१५७।।
मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
अज्ञानमल के लेप से, सद्ज्ञान त्यों ही जानना।।१५८।।
मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
चारित्र पावे नाश लिप्त कषाय मल से जानना।।१५९।।

टीका : ज्ञान का सम्यक्त्व.. आहाहा! भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप प्रभु का सम्यक्त्व। उसका ज्ञान होकर उसकी स्वसंवेदन में प्रतीति होना, उसका जो ज्ञान का सम्यक्त्व। ज्ञान का सम्यक्त्व अर्थात् आत्मा का सम्यक्त्व। **जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है..** सम्यक्त्व जो आत्मा का सम्यक्त्व, वह मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है। आहाहा!

वह **परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल..** मिथ्यात्व मैल है। विपरीत मान्यता, वही मूल तो मैल है। वह मिथ्यात्व नाम का कर्म अर्थात् विपरीत भाव, वह मैल है। उसके **द्वारा व्याप्त होने से,..** विपरीत मान्यता के भाव से समकित का ढँक जाना। आहाहा! व्याप्त, **मैल के द्वारा व्याप्त होने से,..** (होने से) **तिरोभूत हो जाता है..** अर्थात् सम्यग्दर्शन को ढँक देता है। सम्यग्दर्शन होने नहीं देता। आहाहा!

जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। परभावस्वरूप मैल से वस्त्र की सफेदी ढँक जाती है। आहाहा! उसी प्रकार आत्मा का सम्यग्दर्शन, मिथ्यात्व के भाव से ढँक जाता है। आहाहा! आच्छादन हो जाता है। कर्म तो निमित्त से है। वास्तव में तो वह भाव-मिथ्यात्वभाव, श्वेत वस्त्र को जैसे श्वेतपना मैल से ढँक जाता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा का सम्यक्त्व, वह मिथ्यात्वभाव से ढँक जाता है अर्थात् होता नहीं है। आहाहा!

उसी प्रकार.. अब दूसरा। वह जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत होता है उसी प्रकार। उसी प्रकार आत्मा का सम्यक्त्व, मिथ्यात्व की विपरीत मान्यता के मैल से ढँक जाता है, आच्छादन हो जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : मैल आता है कहाँ से?

पूज्य गुरुदेवश्री : मैल स्वयं करता है। आवे कहाँ से? स्वयं मिथ्यात्व मैल करता है, (उस) मैल से ढँक जाता है, ऐसा कहते हैं। जो सम्यक्त्व करना चाहिए, (उसे) न करके, विपरीत मान्यता के मैल से वह सम्यक्त्व आच्छादन हो जाता है अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। पश्चात् बन्ध का कारण लेंगे और पश्चात् लेंगे, वह मोक्ष के कारण (रूप) सम्यक्भाव से विरुद्ध भाव है। इसके पश्चात् तीन गाथा में लेंगे।

यहाँ तो तीन प्रकार (लेते हैं)। पहला यह कि जैसे श्वेत को मैल ढँक देता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा के सम्यक्त्व को मिथ्यात्वभाव ढँक देता है। तीसरे में ऐसा आयेगा... दूसरे में बन्धस्वरूप आयेगा (और) तीसरे में ऐसा आयेगा कि जो सम्यक्त्व कारण है, उससे वह विरुद्ध भाव है। मिथ्यात्व है, वह विरुद्ध भाव है। यहाँ कहते हैं कि मिथ्यात्व है, उससे सम्यक्त्व ढँक जाता है, आच्छादन हो जाता है। वस्त्र का श्वेतपना मैल से (ढँक जाता है)। (उसमें कोई पूछता है कि) मैल आया कहाँ से? कि मैल है, वस्त्र में मैल है, उस मैल से सफेदाई ढँक जाती है; इसी प्रकार भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन है नहीं परन्तु वह मिथ्यात्व के कारण ढँक जाता है अर्थात् होता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : शक्ति में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ ऐसा नहीं है। शक्ति तो त्रिकाल है। यहाँ तो सम्यक्त्व जो प्रगट होना, सम्यग्दर्शन जो प्रगट होना, उसे मिथ्यात्वरूपी भाव ढाँक देता है अर्थात् होने नहीं देता। पर्याय की बात है। शक्ति में है, वह अभी (नहीं)। शक्ति में तो त्रिकाल है। आहाहा! यहाँ ज्ञान का समकित कहा है न! ज्ञान का समकित अर्थात् त्रिकाल की श्रद्धा, वह नहीं। ज्ञान का समकित अर्थात् आत्मस्वभाव की जो सम्यक् प्रतीति होना वह। उसे मिथ्यात्वरूपी मैल ढाँक देता है। आहाहा! यह मूल पहली चीज़ है।

अधिकार तो पुण्य-पाप का है न! आहाहा! पुण्य-पाप का भाव मेरा है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव.. उस ज्ञान का समकित-आत्मा का समकित, उसे वह ढाँक देता है। आहाहा! (अर्थात्) होने नहीं देता। आहाहा! पश्चात् तीसरे बोल में आयेगा कि समकितरूपी कारण का मिथ्यात्व है, वह विरुद्ध भाव है। मोक्ष के कारण का वह विरुद्ध भाव है। यहाँ कहते

हैं कि मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, जो आत्मा का सम्यग्ज्ञान, उसे मिथ्यात्व ढाँक देता है, तिरोधायी कर डालता है। आहाहा!

दूसरा, **ज्ञान का ज्ञान..** है? आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है.. **ज्ञान का ज्ञान..** अर्थात्? आत्मा का ज्ञान। आत्मा जो वस्तु त्रिकाल है, उसका पर्याय में ज्ञान (होना)। **जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है..** देखा? वह तो कारणरूप स्वभावपर्याय की बात है न! आहाहा! **ज्ञान का ज्ञान..** त्रिकाल वस्तु भगवान चैतन्य ज्ञानस्वरूप का पर्याय में ज्ञान (होना)। वह **मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है..** ज्ञान का ज्ञान, मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है; ज्ञान का समकित, मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यह पहले आ गया है। आहाहा! पर्याय की बात है। द्रव्य को तो कहाँ ढँकना है? वह तो त्रिकाली निरावरण है। आहाहा! वस्तु है, वह तो त्रिकाल निरावरण अखण्ड शुद्ध ज्ञानघन अखण्ड है। उसका तिरोभाव भी नहीं और आविर्भाव भी नहीं। आहाहा! वह तो ज्ञान हो, तब आविर्भाव हुआ, ऐसा कहने में आता है। वह तो है, वह है। ज्ञात नहीं होता, उसे तिरोभाव हो गया, ऐसा कहने में आता है। द्रव्य (तिरोभाव हो गया, ऐसा कहने में आता है परन्तु) यहाँ पर्याय की बात है। ११वीं गाथा में है न! आविर्भाव और तिरोभाव। वह ज्ञायक की बात है। आहाहा!

त्रिकाली चैतन्यभगवान-ज्ञानमूर्ति, वह जिसे जानने में नहीं आता, उसे वह तिरोभूत हो गया, तिरोभाव हो गया, वह तो है वह है, परन्तु जिसे जानने में नहीं आता, उसे तिरोभाव ही है और जिसे जानने में आता है, उसे वह ज्ञायकभाव आविर्भाव है। ज्ञायकभाव तो आविर्भाव-तिरोभावरहित त्रिकाल है, परन्तु पर्याय में जब आत्मा नहीं जानने में आया और विरोध हुआ, तब वह ज्ञायकभाव तिरोभूत है। आहाहा! और जब जानने में आया कि है भगवान सच्चिदानन्द प्रभु निर्मल शुद्ध चैतन्य, ऐसा ज्ञात हुआ, तब वह ज्ञायकभाव आविर्भाव हुआ। पर्याय की अपेक्षा से आविर्भाव और तिरोभाव (कहा है)। वहाँ पाठ तो ऐसा है कि ज्ञायकभाव तिरोभाव-आविर्भाव (हुआ)। ज्ञायकभाव तिरोभाव-आविर्भाव (नहीं होता)। वस्तु है, वह तो त्रिकाली एकरूप शुद्ध चैतन्यघन है, परन्तु इसके ख्याल में नहीं आया, इसलिए वह ज्ञायक इसे तिरोभूत हो गया और ख्याल में आया, तब इसे वह ज्ञानभाव— ज्ञायकभाव आविर्भाव हो गया, प्रगट हो गया। वह तो है, वह है परन्तु पर्याय में जानने में

आया, तब प्रगट हुआ, ऐसा (कहने में आता है)। आहाहा! अब ऐसी सब बातों (का) निर्णय करना। (ऐसा) कहीं (नहीं है), बापू!

जगत के झगड़े, जगत के तूफान.. आहाहा! तूफान तो तूने अन्दर में खड़ा किया है, कहते हैं। जो आत्मा का सम्यक्त्व है, जो मोक्ष का कारण है, उसे तूने मिथ्यात्वभाव से ढँक दिया है। आहाहा! तूने झगड़ा खड़ा किया है।

ज्ञान का ज्ञान है, पर्याय में, हों! वह ज्ञानस्वरूप भगवान शुद्ध चैतन्य, उसका ज्ञान है, वही ज्ञान मोक्ष के कारण (रूप) स्वभाव है। आहाहा! **वह, परभावस्वरूप अज्ञान..** स्वरूप का अज्ञान, ऐसा जो भाव। **अज्ञान नामक कर्ममल के द्वारा..** अज्ञान अर्थात् अज्ञान के भाव द्वारा। **व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है..** आहाहा! (अर्थात्) उसे ज्ञान नहीं होता। ज्ञान ढँक जाता है। आहाहा!

यह तो कर्ता-कर्म (अधिकार की) ६९-७० (गाथा में) आया न! भाई! ऐसा कि अवस्था है, उसे प्रगट होने नहीं देता। अवस्था मानो कि (प्रगट) होवे नहीं। कर्ता-कर्म (की) ६९-७० (गाथा)। ज्ञायक की अवस्था, उसे उत्पन्न नहीं होने देता अर्थात् अवस्था मानो हुई हो। उसे ढाँक दी है। ६९-७० में आता है। ढाँकी है, इसका अर्थ कि उसे प्रगट नहीं किया। इसलिए वह पर्याय ढँक गयी है, इसलिए यह द्रव्य उसे दृष्टि में ढँक गया है। आहाहा! ऐसा है।

परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममल.. विकारभाव **के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है-जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ..** श्वेतपना तो उसका स्वभाव है और मैल है, वह तो परभाव है। उस **परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है।** आहाहा! **इसी प्रकार..** यह ज्ञान। ज्ञान का ज्ञान, अज्ञान द्वारा तिरोभूत होता है। बस! दो बोल हुए—दर्शन और ज्ञान।

(अब कहते हैं), चारित्र **ज्ञान का चारित्र..** आहाहा! स्वरूप जो भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायकभाव है, उसका चारित्र अर्थात् उसमें ही रमणता। आहाहा! भगवान आत्मा! यह तो कल तो आया था न! वीतरागभावरूप चारित्र शुद्ध उपयोगरूपी धर्म। आहाहा! वीतराग, परम वीतराग, चारित्रस्वरूप। आहाहा! शुद्ध उपयोगरूप जो धर्म। आहाहा! वह यह चारित्र। वह (इस) अचारित्र के परिणाम से ढँक जाता है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञान का चारित्र.. अर्थात् आत्मा का चारित्र। अर्थात् कि आत्मा का परम वीतराग -चारित्ररूप शुद्ध उपयोगरूपी धर्म। आहाहा! वह **मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है..** जो आत्मा का चारित्र है, वह तो मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है। आहाहा!

वह, परभावस्वरूप कषाय.. देखो! आहाहा! कषाय मैल। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग -द्वेष। ये चार क्रोध, मान, (आदि) राग-द्वेष के प्रकार हैं। राग—माया और लोभ, द्वेष—क्रोध और मान। ऐसा जो कषाय, परभावस्वरूप कषाय मैल। आहाहा! **मैल से व्याप्त हुआ.. परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत होता है..** चारित्र प्रगट नहीं होता, उसे ढाँक देता है। अकषाय चारित्र, परम वीतराग, चारित्ररूप शुद्धोपयोगरूपी धर्म। '**चारित्तं खलु धम्मो**' वह धर्म। उसे परभाव ऐसा जो विकार कषायभाव, उसे ढाँक देता है। आहाहा! चाहे तो शुभराग हो तो भी वह परमचारित्र को ढाँक देता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा! है इसके घर में परन्तु घर में जाए, देखे, तब खबर पड़े न!

आहाहा! जो ज्ञान का चारित्र। ज्ञान का समकित, ज्ञान का ज्ञान, (वह) दो तो आ गये। (अब) आत्मा का चारित्र (कहते हैं)। भगवान आत्मा चिदानन्द शुद्ध चैतन्य का चारित्र (अर्थात्) परम वीतरागरूप शुद्ध उपयोगरूपी धर्म, वह मोक्ष का कारण है, उसे कषाय ढँक देती है। आहाहा! कहो, हीराभाई! ऐसी सूक्ष्म बात है। यह तो भाई! बहुत धीरज से काम लेना चाहिए। आहाहा! यह कहीं उतावल से आम पके, ऐसा नहीं है। गुठली बोयी और आम तुरन्त हो जाए, ऐसा है? इसीलिए लोग नहीं कहते, उतावल से आम नहीं पकते। गुठली बोयी हो, इसलिए कि लाओ आम-आम, परन्तु ऐसा नहीं होता भाई! जरा धीरज रख।

इसी प्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, इसका समकित, वह मिथ्यात्वभाव से ढँक जाता है। पूर्णानन्द के नाथ प्रभु का ज्ञान, वह अज्ञान से ढँक जाता है। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, ऐसा जो चारित्र—परम वीतरागचारित्ररूप शुद्ध उपयोग—ऐसा जो धर्म, वह अशुद्ध उपयोग ऐसा जो विकार कषाय, उससे ढँक जाता है। आहाहा! अब ऐसी बातें!

जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्र का स्वभावभूत श्वेत स्वभाव

तिरोभूत हो जाता है। इसलिए मोक्ष के कारण का (–सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का–) तिरोधान करनेवाला होने से.. तिरोभूत (अर्थात्) ढंक देता होने से। **कर्म का निषेध किया गया है।** यह पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, पुण्य और पाप के भाव को जाननेवाला, वह अज्ञान और पुण्य तथा पापरूपी भाव, वह अचारित्र। आहाहा! उसे **तिरोधान करनेवाला होने से कर्म का निषेध किया गया है।** यह मिथ्यात्वरूपी भाव, अज्ञानरूपी भाव और शुभ-अशुभरूपी मैल-भाव का निषेध किया गया है। आहाहा! इस कारण से निषेध किया गया है, ऐसा कहते हैं।

आत्मा का जो सम्यग्दर्शन पर्याय में होना चाहिए, वह विपरीत मान्यता के मैल से ढँक जाता है। इसलिए वह कर्म अर्थात् शुभाशुभभाव और उन्हें अपना मानना, इसका यहाँ निषेध किया गया है। निषेध किया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : मोक्ष के कारणरूप स्वभाव व्यक्त है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, व्यक्त कहाँ है? होता नहीं, ढँक देता है—ऐसा कहा न! कर्ता-कर्म (अधिकार में) कहा न! कर्ता-कर्म का नहीं कहा? ६९ गाथा। दृष्टान्त दिया है न!

मुमुक्षु : तिरोधान कर्ता होने से (ऐसा कहा न)?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होने नहीं दिया, इसलिए उसका अर्थ यह हुआ। देखो!

देखो! **जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से; ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञातादृष्टामात्र) अवस्था का त्याग करके..** अर्थात् अवस्था थी? थी उसका त्याग करके नहीं परन्तु वह अवस्था होती नहीं, उसका त्याग (करके, ऐसा) इसका अर्थ है। आहाहा! ज्ञातादृष्टा की अवस्था हुई नहीं, उसका इसने अज्ञान, मिथ्यात्वभाव से त्याग किया, (ऐसा कहना है)। आहाहा! है? **ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञातादृष्टामात्र) अवस्था..** मानो हो। **उसका त्याग करके..** अर्थात् उस अवस्था को उत्पन्न न होने देकर, ऐसा। उसका त्याग किया, मिथ्यात्व आदि को ग्रहण किया। आहाहा! ऐसा यहाँ (लेना)।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। वह प्रगट है, पर्याय है-ऐसा नहीं। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है, ऐसा सिद्ध किया। उस

ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन.. आत्मा का समकितरूपी परिणमन। **मिथ्यात्व..** मैल से **तिरोभूत होता है;..** मिथ्याश्रद्धारूपी मैल, पुण्य से धर्म है, व्यवहार से निश्चय होता है, उससे मुझे लाभ है—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उससे सम्यक्त्व नहीं होता परन्तु सम्यक्त्व को ढाँक देता है, ऐसा।

मुमुक्षु : जब तक मिथ्यात्व है, तब तक सम्यक्त्व होता नहीं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व है परन्तु यहाँ तो मिथ्यात्व से ढँक जाता है, यह बात करनी है। मिथ्यात्व है, वह तीसरे बोल में लेंगे। सम्यक्त्व से विरुद्ध भाव है, वह बाद में लेंगे। यहाँ तो पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग है, वह यहाँ नहीं है, उसे ढँक देनेवाला मिथ्यात्व, अज्ञान और राग-द्वेष है। इतनी बात है। समझ में आया?

तीन प्रकार लेंगे – एक तो भगवान आत्मा का जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है नहीं परन्तु वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का कारण है, उसे मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ढँक देते हैं। अर्थात् उसे वह है नहीं। उसे है मिथ्यात्व, अज्ञान और राग-द्वेष। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : जो है नहीं, उसे कैसे रख सकते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहा न! बात की न! होना चाहिए, वह उसे होने दिया नहीं, इसलिए हुई नहीं, (ऐसा कहा)। इसलिए तो पहले ६९ (गाथा) बतायी थी। ज्ञातादृष्टा की उदासीन अवस्था (का त्याग किया)। ऐसा कहकर उसे होने नहीं दिया, उसका त्याग किया। त्याग किया अर्थात् हुई है और त्याग किया है, ऐसा नहीं है। हुई नहीं, उसका नाम त्याग किया। यह तो पहले ६९-७० (गाथा का) दृष्टान्त दिया। सूक्ष्म बात है, बापू! बहुत कठिन बात! आहाहा! जैनधर्म यह समझना वस्तु का स्वभाव है। आहाहा!

यहाँ तो ६९-७० (गाथा में) कहा नहीं? ज्ञातादृष्टा की उदासीन अवस्था का त्याग करके। अर्थात् अवस्था है? त्याग ही है।

मुमुक्षु : अनादि से त्याग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : त्याग ही है। इसे अवस्था हुई ही नहीं। मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय के कारण उस अवस्था का त्याग है। त्याग है अर्थात् (वह) अवस्था इसे नहीं है,

यह अवस्था है। आहाहा! (अर्थात्) मिथ्यात्व, अज्ञान और राग-द्वेष की अवस्था है। मोक्ष के कारण की अवस्था का इसने त्याग किया है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! शब्द फेर से (बड़ा फेर हो जाता है)। यह तो शास्त्र है न! यह तो अध्यात्म शास्त्र है, गम्भीर शास्त्र है, भाई! इसमें अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका! आहाहा! खोल दिया है कपाट! कहते हैं कि खोल दिये वे कपाट की जो दशा चाहिए, उस दशा को मिथ्यात्व ने ढाँक दिया है और खोला है नहीं। शशीभाई! आहाहा!

यह पहली तीन (बातों में) कहा न! श्वेतवस्त्र है, उसका श्वेतपना प्रगट चाहिए, उसे मैल ने ढँक दिया है। त्रिकाली श्वेत है, ऐसा नहीं, परन्तु श्वेत की जो श्वेत पर्याय चाहिए, उसे मैल ने ढँक दिया है अर्थात् श्वेत की पर्याय रही नहीं। उसे ढँक दिया है। पर्याय की बात है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा अमृत का सागर प्रभु है। उसकी दशा तो ज्ञातादृष्टा और समकित की होना चाहिए। आहाहा! उस दशा को न होने देकर उसका त्याग करके, मिथ्यात्वभाव ने उसे ढँक दिया है अर्थात् होने नहीं दिया है, ऐसा (आशय है)। आहाहा! एक न्याय बदले तो पूरी वस्तु बदल जाए। यह तो वस्तुस्थिति है। यह ६९-७० (गाथा में) कहा न! ज्ञातादृष्टा की उदासीन अवस्था का त्याग करके। त्याग करके अर्थात् अवस्था थी? वह अवस्था नहीं हुई, उसका त्याग किया, ऐसा उसका अर्थ है। आहाहा! भगवान आत्मा की अवस्था तो ज्ञातादृष्टा होनी चाहिए। राग का भी ज्ञान और पर का ज्ञान और पर की उदासीन अवस्था होनी चाहिए। उस उदासीन अवस्था का त्याग करके। त्याग करके अर्थात् उदासीन अवस्था प्रगट न होने देकर। आहाहा! मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ने उस पर्याय को ढँक दिया है अर्थात् प्रगट है और ढँक दिया है - ऐसा नहीं है। प्रगट नहीं होने दिया। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, भाई! आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो भाई! है, वह है। आहाहा!

भावार्थ : सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। यह तो समझाते हैं। एक आत्मा का **सम्यक्त्वरूप परिणमन..** देखा? वह **मिथ्यात्वकर्म से तिरोभूत होता है;..** (अर्थात् कि) परिणमन हुआ नहीं। मिथ्याश्रद्धा (अर्थात्) राग, पुण्य से मुझे धर्म होगा, पाप में सुखपना है, (ऐसी मान्यता)। आहाहा!

आगे के अधिकार में तो अन्त में ऐसा लेंगे कि भाई! यह अधिकार तो व्यवहार

सम्यग्दर्शन-चारित्र का चलता है और इसमें तुम यह व्यवहार है, वह झूठा है। यह तो अन्त में आता है। पुण्य है, वह वास्तव में तो पवित्र है और अधिकार तो पाप का चलता है। अर्थात् कि व्यवहाररत्नत्रय का अधिकार चलता है और तुम (कहते हो) अधिकार पाप का चलता है, वहाँ तुम व्यवहाररत्नत्रय को क्या कहना चाहते हो? बापू! व्यवहाररत्नत्रय है, वह निश्चय से तो पाप है। वह व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय के साथ होने से व्यवहार से पवित्रता का कारण है, ऐसा आरोप से कहा जाता है, तथापि वह पवित्रता का कारण न होकर, होना चाहिए और परम्परा से मोक्ष का कारण है व्यवहार (वह) निश्चय है इसलिए। परन्तु ऐसा न होकर... आहाहा! वह वस्तु के स्वरूप से पतित हो जाता है, निश्चयनय से पतित हो जाता है, इसलिए उस व्यवहाररत्नत्रय को हम यहाँ पाप कहते हैं। पहले पवित्रता, निश्चयरत्नत्रय (की) पवित्रता का निमित्तपना है, ऐसा कारण कहा तो भी फिर गुलांट खाकर बात की है। आहाहा! कि भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ पवित्र है, उसमें से हट जाता है। व्यवहाररत्नत्रय में-राग में च्युत हो जाता है, पतित होता है, इसलिए उस व्यवहाररत्नत्रय को पाप कहते हैं। आहाहा! संस्कृत टीका में अन्त में है।

मुमुक्षु : जयसेनाचार्यदेव की टीका में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है न! सब बात हो गयी है, बहुत बात हो गयी। यह तो १९वीं बार चलता है, यह तो १९वीं बार पढ़ा जाता है। अठारह बार तो पढ़ा गया है। यह पहले से ठेठ तक पूरा अठारह बार पढ़ा गया है। वापस १९वीं बार (चलता है)। आहाहा! यह आयेगा तब लेंगे।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। यह तो स्वरूप बतलाया। उसे प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं। **ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन..** ऐसा चाहिए। त्रिकाली भगवान आत्मा सच्चिदानन्द शुद्ध प्रभु का सम्यक्त्व का परिणमन चाहिए। वस्तु का स्वरूप है, उसका परिणमन (चाहिए)। श्रद्धा का सम्यक् परिणमन चाहिए। वह मिथ्यात्वरूप भाव से **तिरोभूत होता है;..** जड़ मिथ्यात्वकर्म निमित्त है परन्तु यहाँ मिथ्यात्वभाव-मैल है। मिथ्यात्वरूपी मैल से ढँक जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा!

ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन.. देखो! ज्ञान अर्थात् आत्मा। उसका **ज्ञानरूप..** अर्थात्

ज्ञान आत्मारूप परिणमन। शुद्धस्वरूप का शुद्धरूप से परिणमन, वह ज्ञान, परिणमन। वह अज्ञानरूप मैल से तिरोभूत होता है। अज्ञानरूप मैल से स्वरूप का अज्ञान और राग का ज्ञान, उसकी ओर के लक्ष्य से ऐसे अज्ञानभाव से उस ज्ञान का ज्ञान—स्वरूप का ज्ञान, वह तिरोभूत हो जाता है। आहाहा! अकेला राग और निमित्त का ज्ञान करने जाता है, तब जो आत्मा का ज्ञान है, वह वहाँ तिरोभूत हो जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सामने पुस्तक है न? किस शब्द का अर्थ होता है? आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू! आहाहा! यह कहीं 'हल्दी की गाँठ से पंसारी' हुआ जाए, ऐसा नहीं है। गम्भीर चीज़ है। प्रभु का वीतरागमार्ग बहुत गम्भीर है। आहाहा!

और ज्ञान का चारित्ररूप परिणमन.. देखो न, स्पष्ट भाषा ली है! ज्ञान अर्थात् आत्मा, उसका चारित्र अर्थात् वीतराग चारित्र शुद्धोपयोगरूपी धर्म का परिणमन। **कषायकर्म से तिरोभूत होता है।** वह परिणमन नहीं होता। पुण्य और पाप के भाव होने पर वीतरागी चारित्र है, वह नहीं होता; इसलिए वह ढँक गया है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, बापू!

(यह तो) तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की वाणी है। सन्त यह वाणी कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव दिगम्बर सन्त.. आहाहा! भगवान की वाणी से कहते हैं। बन्ध अधिकार में आता है न! भगवान ऐसा कहते हैं, लो! स्वयं कहते हैं, ऐसा नहीं कहते। जिनवरदेव ऐसा कहते हैं, (ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।) स्वयं कहते हैं, वह सत्य है (क्योंकि ये स्वयं) मुनि हैं, परन्तु जिनवरदेव ऐसा कहते हैं कि पर को जिला सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसा जिनवरदेव कहते हैं। पर की दया पाल सकता हूँ,... तुझे कठिन तो लगे प्रभु! कहता हूँ कि यह तो जिनवरदेव कहते हैं। आहाहा! तू पर की दया पाल सकता तो नहीं परन्तु पर की दया का भाव, राग होता है.. आहाहा! वह भी स्वरूप की हिंसा होती है। वीतरागभाव होने पर वीतरागभावस्वरूप में राग होने पर पर्याय की वीतरागता का ह्रास होता है, ऐसा जिनवरदेव कहते हैं, प्रभु! तुझे कठिन लगता हो तो। आहाहा! अरे! कहाँ जाना? आहा!

ज्ञान का.. अर्थात् आत्मा का **चारित्ररूप परिणमन..** परिणमन-पर्याय लेनी है

न यहाँ! वह होने नहीं देता, ऐसा कहते हैं। कषायरूपी कर्म (अर्थात्) पुण्य और पाप के भाव, वे सब कषाय हैं, अचारित्र हैं। उस अचारित्र से चारित्र तिरोभूत होता है। आहाहा! यह जो दया, दान, व्रत के परिणाम के प्रेम में गया तो वहाँ चारित्र है, वह नहीं होता, ढँक जाता है। वह अचारित्र खड़ा हुआ। आहाहा! महाव्रत के परिणाम में गया, (उनके) प्रेम में वहाँ गया.. आहाहा! तो वहाँ वह अचारित्र खड़ा होता है, वहाँ चारित्र ढँक जाता है। ऐसी बात है। जयन्तीभाई! कहीं नहीं मिलती, सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! आहाहा!

इस प्रकार मोक्ष के कारणभावों को.. देखा? मोक्ष के कारणभावों (रूप) पर्याय को **कर्म तिरोभूत करता है..** यह पुण्य और पाप का भाव, मिथ्यात्व आदि ढँक देता (होने से) **उसका निषेध किया गया है।** इसलिए उसका निषेध किया गया है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्ष का कारण है, उसे व्यवहाररत्नत्रय के रागादिभाव वे मेरे और वे मुझे लाभदायक हैं, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह चारित्र होनें नहीं देता, दर्शन होने नहीं देता, ज्ञान (होने नहीं देता), इसलिए उनका निषेध किया है। समझ में आया?

यह पुण्य-परिणाम मेरे, ऐसी मान्यता। पुण्य-परिणाम के ऊपर अकेला ज्ञान और पुण्य-परिणाम की रमणता, ये तीनों, प्रभु! आत्मा का समकित, ज्ञान और चारित्र होने नहीं देता, इसलिए इसका हमने निषेध किया है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? **उसका निषेध किया गया है।** लो!

अब कर्म स्वयं बन्धस्वरूप है, इसकी एक गाथा है। पुण्य और पाप का भाव, वह मेरा है, यह मिथ्यात्वभाव; इसका ज्ञान, वह अज्ञान और इसका आचरण, वह अचारित्र। ये तीनों मोक्ष के मार्ग को ढँकनेवाले होने से, इनका हमने निषेध किया है। आहाहा! अब यह कहते हैं कि यह स्वयं पुण्य-पाप का भाव, वह मेरा—ऐसा मिथ्यात्वभाव और पुण्य-पाप का भाव, वह स्वयं कर्मस्वरूप है, बन्धस्वरूप है (-ऐसा कहते हैं)। वह तो बन्धस्वरूप ही है।

भगवान आत्मा अबन्धस्वरूप है। आहाहा! **'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं'** आता है न! १४ और १५ गाथा (समयसार)। वह अबद्धस्वरूप जो भगवान आत्मा है, उसमें पुण्य और पापभाव, वह बन्धस्वरूप है। वह पुण्य और पाप का भाव, कर्म अर्थात् कार्य, वह बन्धस्वरूप है। आहाहा! स्वयं बन्धस्वरूप है।

गाथा–१६०

अथ कर्मण: स्वयं बन्धत्वं साधयति –

सो सव्वणाण–दरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो।
संसार–समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।।१६०।।

स सर्वज्ञान–दर्शी कर्म–रजसा निजेनावच्छन्न:।
सन्सार–समापन्नो न विजानाति सर्वत: सर्वम्।।१६०।।

यत: स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमान–कर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वत: सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते, ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बन्ध:। अत: स्वयं बन्धत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्।।१६०।।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है:–

यह सर्वज्ञानी–दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से।
संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से।।१६०।।

गाथार्थ : [स:] वह आत्मा [सर्वज्ञानदर्शी] (स्वभाव से) सर्व को जानने–देखनेवाला है तथापि [निजेन कर्मरजसा] अपने कर्ममल से [अवच्छन्न:] लिप्त होता हुआ–व्याप्त होता हुआ [संसार समापन्न:] संसार को प्राप्त हुआ वह [सर्वत:] सब प्रकार से [सर्व] सर्व को [न विजानाति] नहीं जानता।

टीका : जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (–सर्व पदार्थों को) सामान्य–विशेषतया जानने के स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि काल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही, बन्ध–अवस्था में सर्व प्रकार से सम्पूर्ण अपने को अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को

जाननेवाले अपने को न जानता हुआ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से (–अज्ञानदशा में) रह रहा है; इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। इसलिए, स्वयं बन्धस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ : यहाँ भी 'ज्ञान' शब्द से आत्मा समझना चाहिए। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभाव से तो सबको जानने–देखनेवाला है परन्तु अनादि से स्वयं अपराधी होने के कारण कर्मों से आच्छादित है, इसलिए वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता; यों अज्ञानदशा में रह रहा है। इस प्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा कर्मों से लिप्त होने से अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है, इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं। अत: कर्मों का निषेध किया गया है।

गाथा – १६० पर प्रवचन

यह सिद्ध करते हैं कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है:– १६० (गाथा)। आहाहा! सेठ हुकमचन्दजी आये थे, तब यह अधिकार चला था।

सो सव्वणाण–दरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो।
संसार–समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।।१६०।।

यह सर्वज्ञानी–दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से।
संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से।।१६०।।

यह सर्वज्ञानी–दर्शि भी,.. भगवान स्वयं सर्वज्ञान–सर्वदर्शी है। आहाहा! आहाहा! कोई भी चीज़ पर को मारनेवाला नहीं तथा पर से अपने में हो ऐसा होनेवाली नहीं। वह तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी स्वभावी प्रभु है। आहा!

यह सर्वज्ञानी–दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से। देखो! यहाँ 'रज' (शब्द) रखा है, तथापि पुरुषार्थ लेंगे। कर्मरज शब्द है। तब यहाँ जीवन्धरजी और वे थे। आहाहा! देखो! यह कर्मरज (शब्द) है, इसका अर्थ करेंगे – पुरुषार्थ। इसका पुरुषार्थ उल्टा है। **संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से।** आहाहा! गाथा.. **जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण..** भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। जैसे आँख ज्ञानस्वरूप है, वैसे दूसरे सबको

उससे जाननेवाली है। किसी को रचनेवाली और किसी को तोड़नेवाली, किसी की पर्याय का उत्पाद करनेवाली, किसी की पर्याय का व्यय करनेवाली आँख नहीं है। इसी प्रकार भगवान ज्ञानस्वरूप है, वह अपने अतिरिक्त पर की किसी पर्याय का उत्पाद करनेवाला और किसी पर्याय का व्यय करनेवाला आत्मा नहीं है। आहाहा!

जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण.. वह जाननेवाला.. जाननेवाला.. जाननेवाला चन्द्रमा, जिनचन्द्र प्रभु! आहाहा! वीतरागी ज्ञानस्वरूपी शीतल प्रभु आत्मा, **स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (–सर्व पदार्थों को)..** सर्व पदार्थ। **सामान्यविशेषतया जानने के स्वभाववाला है,..** आहाहा! भगवान आत्मा अकेला ज्ञान और दर्शनस्वभाव, उसका यह त्रिकाली स्वभाव है। इसलिए वह परपदार्थ को जानने–देखने के स्वभाववाला है। आहाहा! यह सामान्य अर्थात् दर्शन से और विशेष अर्थात् ज्ञान। जानने–देखने के स्वभाववाला है।

ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य,.. ऐसा। मूल तो यह द्रव्य लेना है न! ऐसा जो **आत्मद्रव्य, अनादि काल से..** देखो! वह कर्मरज शब्द था न! 'कर्मरज आच्छाद को' कर्मरज से ढँका हुआ है। उसका अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अर्थ किया है। वह **अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान..** जीवन्धर, सेठ थे, तब यह अर्थ किया था। उन लोगों को कर्म निकालना (था)। सबको कर्म, कर्म, कर्म बाधक है और कर्म के कारण (विकार होता है)। जैन में कर्म घुस गया। दूसरों में ईश्वरकर्ता घुस गया। (वहाँ) ईश्वरकर्ता (और) इन्हें (जैन को) जड़कर्म कर्ता। उनको चैतन्यकर्ता। आहाहा! जहाँ हो वहाँ कर्मकर्ता, कर्मकर्ता.. राग होवे तो कर्म के कारण होता है, द्वेष होवे, (वह) कर्म के कारण, विषय वासना कर्म के कारण होती है.. ऐई! जड़ के कारण तुझमें विकार होता है, यह तू क्या कहता है? वह (अन्यमति) ईश्वरकर्ता कहे, तू तेरे भाव का जड़कर्म को कर्ता कहे। आहाहा! मूढ़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : आपने नया ढ़िंढ़ोरा पीटा!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है। इतना शान्ति से कहा। कितने वर्ष हुए? चौंसठ! चौंसठ वर्ष हुए। (संवत्) १९७१ से 'लाठी' में ढिंढ़ोरा पीटा था। दोपहर को एक घण्टे पढ़ना पड़ता था, (तब कहा था), कर्म के कारण विकार होता है, यह बात है नहीं। भगवती

(सूत्र) पढ़ता था, भगवती (सूत्र)! उसका तीसरा अध्ययन आया था। उसमें संशय का अधिकार आया था। उसमें से निकाला था। तब तो यह समयसार हाथ (में) कहाँ था? समयसार तो (संवत्) १९७८ में मिला। उसे कहकर दोपहर के व्याख्यान में रखा था। कर्म के कारण, ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान ढँकता है, दर्शनमोहनीय के कारण मिथ्यात्व होता है, यह बात शास्त्र में नहीं है, कहा। यह कर्म जड़ है, प्रभु! तू तेरी भूल करता है, वह तुझे नुकसान कर्ता है। आहाहा!

यहाँ पाठ में कर्मरज शब्द है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अर्थ किया **अपने पुरुषार्थ के अपराध से..** ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान ढँकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तेरे पुरुषार्थ की विपरीतता है, प्रभु! तुझे खबर नहीं। तू भगवान को भूला, भूल के कारण भटकता है और वह भूल तेरी यह (है कि)... श्रीमद् में आता है कि, पर को अपना मानना, स्वयं अपने को भूल जाना, (यह तेरी भूल है)। आहाहा! देखा? पाठ में क्या था? '**कम्मरएण**' है न? दूसरा पद '**कम्मरएण**' कर्मरूपी रज। अर्थ किया कि अपना अपराध। वह कर्म अर्थात् भाव - विकारी परिणाम, वह कर्मरज। आहाहा! जड़ बेचारे क्या करे? 'कर्म बेचारे कौन भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहै घनघात लोह की संगति पाई' अकेली अग्नि को कोई घन नहीं मारता परन्तु वह अग्नि यदि लोहे में गयी... उस लोहे का पाट होता है न? उस पहिये का पाट, गाड़ी का। गर्म होती है, ऐसे घन पड़ते हैं।

इसी प्रकार भगवान आत्मा अकेला ज्ञातादृष्टा रहे, उसे दु:ख नहीं होता परन्तु वह राग और पुण्य और पाप में घुस जाता है, वे मेरे हैं, (ऐसा जो मानता है), उसे दु:ख के घन पड़ते हैं, बापू! आहाहा! अष्टपाहुड़ में यहाँ तक लिया है पैसेवाले के लिए कि, तू वर्तमान में दु:खी है, हों! ऐसा लिया है। वर्तमान में तू दु:खी है, दु:खी। भूतकाल में हो गया, वह नहीं, परन्तु तू वर्तमान में दु:खी है। आत्मा का ज्ञान नहीं, आत्मा कौन है, उसका भान नहीं, तू वर्तमान में दु:खी है। आहाहा! वह दु:ख के परिणाम मिथ्यात्व, अज्ञान, राग-द्वेष वह परिणाम तूने किये हैं। तेरे अपराध के कारण तुझमें हुए हैं। कर्म के कारण हुए हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। इसे नहीं जँचती न, (इसलिए) बेचारा विरोध करे कि यह तो बिल्कुल कर्म से कुछ होता नहीं, (ऐसा ही कहते हैं)। जैनदर्शन तो कहता है, कर्म-कर्ता और कर्म का भोक्ता। उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में आता है। 'अप्पा कर्ता

विवर्तीये।' अनाथी मुनि के अधिकार (में आता है), बापू! वह कर्ता कौन? कहा। अपने अशुद्ध परिणाम का कर्ता है, इसलिए कर्म निमित्त (देखकर) कहा कि वह कर्ता है। वह तो आरोप देकर कर्ता कहा है। आहाहा! जड़ को स्पर्श नहीं करता, प्रभु! और चैतन्य स्वयं जड़ को स्पर्श नहीं करता। अब स्पर्श किये बिना एक-दूसरे के भाव दूसरा करता है, प्रभु! यह क्या है? आहाहा! ऐसी बात है।

विश्व को.. स्वयं ही ज्ञान और ज्ञानस्वरूप और तथा दर्शनस्वरूप है। ज्ञान की प्रधानता से कहा है न! परन्तु ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप ज्ञातादृष्टा। वहाँ ज्ञातादृष्टा लिया है न? ६९-७० (गाथा में)। ६९-७० (गाथा में) ज्ञातादृष्टा (लिया है)। ज्ञातादृष्टा की उदासीन अवस्था होनी चाहिए, उसका त्याग करके वह राग का कर्ता होता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान—आत्मा जो विश्व को जानने के स्वभाववाला है। **जानने के स्वभाववाला है,..** ज्ञान अर्थात् आत्मा। **ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि काल से..** निगोद में भी अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तित हुआ है। आहाहा! निगोद में कर्म का जोर है और यहाँ मनुष्य हुआ, तब कर्म का जोर कुछ कम है; इसलिए यहाँ (ज्ञान का) उघाड़ हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अनादि काल से.. जब निगोद में था तब। अनन्त काल में तो त्रस हुआ है, प्रभु! उसमें से लट और चींटी अनन्त काल में हुआ। उसमें से अनन्त काल में मनुष्यपना मिला है। आहाहा! उसमें जैन कुल मिला और जैन की वाणी मिली, वहाँ तक प्रभु! तू आया है न! सब अवसर आ गया है। आहाहा! आहाहा!

विवाह में गाते हैं 'पाछे नहीं फरे रे, नाणा नो बल नो वलियो' ऐसा कुछ गाते हैं। यह तो मैंने सुना हुआ है, इसलिए (याद है)। वर तोरण से वापस नहीं फिरता। क्यों? कि नाणा का वलिया वर है। नाणू अर्थात् पैसे के बल का वलिया है। विवाह में गाते हैं, विवाह में। इसी प्रकार आनन्द और ज्ञान का बलिया आत्मा, वह वापस नहीं फिरता। अब संसार में नहीं जाता। आहाहा! 'तोरण में आया..' ऐसा कुछ है अवश्य, सुना है। खुशालभाई के विवाह में तो मैं ऐसे अलग रहा, परन्तु कुँवरजीभाई का रथ निकला था। उनका यह दूसरा विवाह हुआ, यह दूसरा विवाह का लड़का है। तब मैं वहाँ उपाश्रय में था। (संवत्)

१९७२, रथ निकला। ऐसे वहाँ अन्दर बोलते थे। 'नाणाणों बलियो पाछो तोरणथी नहीं फरे' ऐसा कुछ है, महिलाएँ गाती हैं। आहाहा!

इसी प्रकार ज्ञान और आनन्द का बलवाला प्रभु, वह अब वापस नहीं फिरेगा। यह अपने ९२ गाथा में आ गया है। दोपहर में। आगम को शल्य और आत्मज्ञान द्वारा मिथ्यात्वदृष्टि नष्ट हो गयी है, वह हमें अब फिर से होनेवाली नहीं है। आहाहा! यह उन सन्त की पुकार! आहाहा! यह सन्त कहलाते हैं, बापू! आहाहा! शान्ति को प्राप्त करावे, उन्हें सन्त कहते हैं, उनके दासानुदास होकर रहते हैं। आहाहा!

यह **आत्मद्रव्य, अनादि काल से..** अनादि काल से। निगोद से लेकर, हों! कोई ऐसा कहे कि नहीं, नहीं। वहाँ कर्म का जोर है, इसलिए वहाँ रह गया है। ऐसा नहीं है। बहुत से ऐसा कहते हैं कि निगोद में है तो कर्म का जोर है। फिर अब बाहर आया (तो) कर्म का जोर घट गया। 'कच्छवी कम्म बलियो, कच्छवी जीवो बलियो' इष्टोपदेश में आता है। टीका में आता है। वहाँ यह डालते हैं - किसी समय कर्म का जोर है और किसी समय जीव का जोर है। यह प्रभाशंकर पटणी यहाँ बोला था। दीवान था! भावनगर का दीवान था न! प्रभाशंकर पटणी! व्याख्यान में आया था। (संवत्) १९९३ के वर्ष की बात है। १९९३! कितने हुए? ४२ वर्ष हो गये। वह ऐसा बोला था। बड़ा दीवान, खड़ा होकर बोला था (कि) किसी समय कर्म का जोर है और किसी समय आत्मा का जोर है। व्याख्यान सुनकर फिर (यह बोला था)। अरे! कहा, यह तो सब उल्टा किया! प्रभाशंकर पटणी दीवान था न!

यहाँ कहते हैं कि **अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा...** देखा? वह उल्टा पुरुषार्थ है, वह कर्ममल है। आहाहा! कर्म जड़ है, अजीव है, उसे तो कभी छूता नहीं। एक द्रव्य अपने गुण-पर्याय के अतिरिक्त पर की पर्याय को कभी तीन काल में स्पर्श नहीं हुआ है। आहाहा!

अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से.. आहाहा! **होने से ही, बन्ध-अवस्था में..** पहले कहा न! **विश्व को (-सर्व पदार्थों को)..** जानने-देखने का स्वभाव है, ऐसा आत्मद्रव्य है। वस्तु तो ऐसी है परन्तु **बन्ध-अवस्था में सर्व प्रकार से सम्पूर्ण अपने को अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों**

को जाननेवाले अपने को न जानता हुआ,.. आहाहा! **सर्व प्रकार से सम्पूर्ण अपने को अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को जाननेवाले अपने को न जानता हुआ,..** यह तो सर्व का जाननेवाला-देखनेवाला है, उसे नहीं जानता हुआ। आहाहा! वह अपने अपराध के कारण है, कर्म के कारण है - ऐसा नहीं। आहाहा!

बन्ध अवस्था में अपने अपराध से प्रवर्तते हुए मैल की दशा में। आहाहा! **सर्व प्रकार से सम्पूर्ण अपने को..** स्वयं आत्मा सर्व प्रकार से और सम्पूर्ण ऐसे अपने को **सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को जाननेवाले अपने को न जानता हुआ,..** आहाहा! **इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से (-अज्ञानदशा में) रह रहा है;..** स्वयं अपने कारण से (वर्तता है)। **इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है।** यह भावकर्म -पुण्य-पाप आदि यह सब बन्धस्वरूप है। **इसलिए, स्वयं बन्धस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।** लो, विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २३८, गाथा १६०-१६३, दिनाङ्क २८-०५-१९७९, सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल ३

समयसार, १६० गाथा का भावार्थ। क्या कहते हैं? **यहाँ भी 'ज्ञान' शब्द से आत्मा समझना चाहिए।** ज्ञान का कहा न? ज्ञान का समकित, ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का चारित्र। **यहाँ भी 'ज्ञान'..** अर्थात् **आत्मा..** त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, वह आत्मा। **ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभाव से तो सबको देखनेवाला है..** यह पाठ में है न? **'सव्वणाण'** इसका स्वभाव तो सम्पूर्ण अपने को जाने, तब यह विश्व को जाने, ऐसा इसका स्वभाव है। स्वयं ज्ञायक चैतन्यस्वरूप है। वह सर्व को अपने स्वरूप को सर्व को जानना, वह जाने तब सर्व को-पर को भी जानना, उसमें आ जाता है। आहाहा!

यह **आत्मद्रव्य..** वस्तु **स्वभाव से तो सबको जानने-देखनेवाला है..** अर्थात् यहाँ सर्व को देखनेवाला-जाननेवाला है, ऐसा कहकर उसका स्वभाव सर्व को जानना-देखना, इस स्वरूप है, (ऐसा कहना है)। इस देह में प्रभु आत्मा (विराजता है), उसका

स्वभाव तो सम्पूर्ण सर्व को-सबको जानना-देखना ऐसा उसका स्वभाव है। ज्ञातादृष्टा पूर्णरूप से हो, यह तो उसका स्वभाव है। आहाहा! किसी का करे, यह बात यहाँ है नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि अनादि काल से **स्वयं अपराधी होने के कारण..** यह शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव, वे मेरे हैं—ऐसी मान्यता (जो करता है), वह अपराधी है। आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि, स्वरूप का अपराधी है। आहाहा! स्वरूप में वे पुण्य-पाप के भाव उसमें नहीं हैं और उसके नहीं हैं। उसमें नहीं, उसके नहीं। वह तो पर्याय में पुद्गल के निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न होते होने से, उन्हें पुद्गलस्वभावी कहा है। आहाहा! काम बहुत (कठिन है)।

यहाँ (कहते हैं कि) अनादि काल से स्वयं स्वयं का अपराधी होने से। कर्म के कारण नहीं। सर्व को जाननेवाला-देखनेवाला इसका स्वभाव होने पर भी अपने अपराध से स्वयं ही अल्पज्ञपने रागादि में रहकर और यही मेरा स्वरूप है, ऐसा मानता है। वह स्वयं का अपराध है। आहाहा! पाठ में 'कर्मरज' (शब्द था)। **कर्म रज आच्छाद से** (ऐसा है)। इसका अर्थ आचार्य ने किया कि स्वयं का अपराध है। कर्मरज कहने से स्वयं का स्वरूप जो चिदानन्द, ज्ञानानन्द है, उसे न जानकर उस राग को और पुण्य को जानने में रुक गया, वह इसका अपराध है। आहाहा! इस पुण्य परिणाम के कर्तापने में रुकना और पुण्य-परिणाम में जानने में रुकना, यह इसका अपराध है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी बातें!

इसलिए **अनादि से स्वयं अपराधी होने के कारण कर्मों से आच्छादित है,..** वास्तव में यह पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, (ऐसा मानता है), उसके कारण यह ढँक गया है। इसका स्वरूप ढँक गया है। इस स्वरूप में नहीं और इसकी जाति नहीं, तथापि यह पुण्य और पाप के भाव अपने मानकर, स्वरूप का अज्ञान करके अपने अपराध से ही स्वयं ढँक गया है। आहाहा!

अपराधी होने के कारण कर्मों से.. अर्थात् पुण्य-पाप के भाव। उनके द्वारा ढँक गया है। अर्थात्? इसे अपना स्वरूप शुद्ध है, वह देखना चाहिए, उसे जानना चाहिए, उसे देखना चाहिए, ऐसा न करके इस पुण्य के परिणाम, पाप के भाव को इतने में जानने में

रुका, यह इसका अपराध है। सर्व को जानने-देखनेवाला, यह राग को जानने में रुका, यह इसका अपराध है। आहाहा! ऐसा मार्ग!

वीतरागदेव जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ की वाणी यह है। सन्त इस प्रभु की वाणीरूप से बताते हैं। आहाहा! प्रभु! तू सर्व को जानने-देखनेवाला है न! इस सर्व को जानने-देखनेवाले पर तेरी दृष्टि नहीं है, इसलिए पुण्य और पाप के परिणाम जो बन्धस्वरूप है, (उन्हें जानने में रुक गया है)। अबन्धस्वरूप तो सर्व को जाननेवाला-देखनेवाला है, वह अबद्धस्वरूप है परन्तु उस पर तेरी दृष्टि नहीं होने से पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव को ही, उतने को ही ज्ञेय करके ज्ञान में वहाँ रुक गया है। आहाहा! उतने ही ज्ञेय का ज्ञान करके रुक गया है। नहीं तो सर्व को जाने। अपना स्वरूप सम्पूर्ण जाने तो सर्व ज्ञेय को जाने। समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मा स्वयं चैतन्यस्वभाव सर्व को जानने-देखने का ही इसका स्वभाव है परन्तु वह कब? कि स्वयं अपने को देखे और जाने, तब वह स्वभाव जानने-देखने का है, ऐसा इसके अनुभव में आवे, परन्तु उस पर तो अनादि से नजर नहीं है। इसकी नजर वर्तमान दया, व्रत, भक्ति और पूजा करता हूँ—ऐसा जो विकारी भाव, उतने को ज्ञेय बनाकर और ज्ञान का विषय इतना है और ज्ञान इतना है... आहाहा! (ऐसा माना), यह इसका अपराध है। समझ में आया? आहाहा!

बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! जिनेश्वरदेव का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। अभी तो बाहर की स्थूल बातों में सब रुक गये हैं। यह व्रत किये और तप किये और अपवास किये भक्तियाँ की और पूजा की और यात्रायें की। आहाहा! यह तो सब राग की क्रियाएँ हैं। (इतना ही) ज्ञेय है, ऐसा जानकर वहाँ इतने में ज्ञान रुक गया। आहाहा! यह इसका अपना अपराध है; कर्म के कारण नहीं है। कर्म ने इसे वहाँ राग में रोका है, ऐसा नहीं है। अकेले पुण्य-पाप के भाव में ज्ञान रुका है, वह कर्म के कारण है, ज्ञानावरणीय कर्म के कारण वह ज्ञान वहाँ रुक गया है, ऐसा नहीं है।

सर्व को जाननेवाला-देखनेवाला प्रभु.. पाठ ऐसा लिया है न! देखो न! '**सव्वणाणदरिसी**' आहाहा! वह तो सर्व को जानना-देखना, वह इसका स्वरूप है। उस

स्वभाव पर नजर न रखकर, अनादि से वह प्रभु सर्व को जाननेवाला-देखनेवाला, सर्व को जाननेवाला-देखनेवाला—ऐसा स्वभाव है, उस पर नजर न करके, वर्तमानमात्र पुण्य और पाप के भाव (होते हैं), उसमें मेरा यह कर्तव्य है और यह मैं हूँ, यह मेरा आचरण है-ऐसा वहाँ रुका, वही उसका अपराध है। समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात है परन्तु यह तो सूक्ष्म रहस्य है। समयसार अर्थात् भगवान की वाणी बहुत गहरी! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : अखण्ड प्रतिभास चाहिए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अखण्ड प्रतिभास चाहिए। वह नहीं है, इसलिए खण्ड में रुका, वह इसका अपराध है। है अबद्धस्पृष्ट। यह तो आ गया है न पहले! मुक्तस्वरूप है। आहाहा! अबद्धस्पृष्ट है। आहाहा! ऐसा होने पर भी इसे.. इसे.. इसे जानता नहीं। इसे जाने, तब तो यह सर्वज्ञ—सर्वदर्शी स्वभाव है। इसलिए उस राग में रुककर उसे जानने में रुके, इतना (स्वरूप) नहीं है। आहाहा!

अपने भगवान आत्मा का स्वभाव, सब आत्मा भगवानस्वरूप है, उसका स्वभाव ही सब पूर्ण अपने को जानना और पूर्ण अपने को जाने, इससे पर जानने में उसमें आ जाता है। समझ में आया?

अपने अपराध से आच्छादित है, ढँक गया है। आहाहा! **इसलिए वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को..** देखा? इसलिए वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को **नहीं जानता;..** ऐसा लिया है। भगवान आत्मा सम्पूर्ण इसका स्वरूप तो जानना-देखना है। यह जानना-देखना इसका स्वरूप है, उसे यह नहीं जानता। अनादि से दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा आदि के भाव—राग को जानने में रुक गया। इसका जानने का स्वभाव तो अपने में अपना पूर्ण स्वरूप है, उसे जानने का स्वभाव है और उस पूर्ण को जानने से दूसरे सब जानने में आ जाते हैं। परन्तु ऐसा न जानकर... आहाहा! यह शुभ और अशुभभाव, पुण्य और पाप के भाव में रुककर, उतने को ज्ञेय बनाकर, उतना ही ज्ञान मेरा, उसे जाननेवाला ज्ञान उतना मैं... आहाहा! और यह राग है, वह मेरा स्वरूप है; यह राग मेरा कर्तव्य है—ऐसा अपने अपराध से वहाँ रुक गया है। आहाहा! कठिन बात है, बापू! वीतरागमार्ग (बहुत सूक्ष्म है)।

क्या कहा? देखो! **इसलिए वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता;..** ऐसा

कहा न? आहाहा! यह राग—पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव, वह पुण्य है—राग है। उसे जानने में रुकना और वे मेरे हैं, ऐसा मानकर वहाँ रुका है। आहाहा! **इसलिए वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता;..** आहाहा! अब ऐसी बात पकड़ना कब? वाड़ा बंधी बाँधकर (उसमें) पड़कर जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू तो सर्व को तेरे पूर्ण स्वरूप को जाननेवाला है न! इस सम्पूर्ण को जाननेवाला है, अर्थात् सर्व विश्व को जाननेवाला है, ऐसा। आहाहा! विश्व में स्वयं और पर दोनों आ गये न! आहाहा!

यह भगवान आत्मा अन्दर चैतन्य सर्वज्ञस्वरूपी है। सर्वदर्शी, सर्वज्ञ कहा न! पाठ में ऐसा आया न? '**सव्वणाणदरिसी**' यह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी इसका स्वभाव है। भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी परमात्मा अरिहन्त हुए, वे कहाँ से हुए? वह (दशा) कहीं बाहर से आती है? आहाहा! यह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी उसकी शक्ति, उसका सत्व, उसका स्वभाव है। आहाहा! उसे सम्पूर्णरूप से, जो अपना स्वरूप है, उसे जानना चाहिए... आहाहा! उस अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता। उसे जानना चाहिए, उसे नहीं जानता। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु!

वीतराग परमेश्वर का हुकम, उनकी आज्ञा कोई अलग प्रकार की है। अभी तो सब गड़बड़-गड़बड़ (चलती है)। पूरा रास्ता विपरीतता लाईन में चढ़ गया है। आहाहा!

क्या कहा? यह सर्व को देखनेवाले-जाननेवाले का अर्थ—अपने सम्पूर्ण स्वरूप को जानना-देखना, वह इसका स्वरूप है। आहाहा! उसे न देखकर, उस पुण्य और पाप के, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव हों, वहाँ ज्ञान की पर्याय को रोककर... वस्तु तो वस्तु है, (परन्तु) पर्याय को वहाँ रोककर। आहाहा!

मुमुक्षु : (अपने भगवान को) देखने की विधि आपने बतायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है। भगवान तीन लोक के नाथ पुकार करते हैं! आहाहा! सीमन्धरस्वामी भगवान महाविदेह में विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। आहाहा! प्रभु! विराजते हैं, पाँच सौ धनुष की देह है, करोड़पूर्व की आयुष्य है। बीसवें मुनिसुव्रत भगवान के वाड़ा में से स्वयं केवलज्ञान पाये हैं। उस काल में वहाँ केवलज्ञान पाये हैं। अरबों वर्षों

से हैं और अभी अरबों वर्ष रहनेवाले हैं। आगामी चौबीसी के तेरहवें तीर्थंकर यहाँ होंगे, तब वे अरिहन्त पद से छूटकर सिद्धपद को (प्राप्त) होंगे। अभी णमो अरिहंताणं में हैं। महावीर आदि परमात्मा णमो सिद्धाणं में हैं। अभी णमो अरिहंताणं में नहीं हैं। यहाँ थे, तब अरिहंताणं में थे। अभी प्रभु णमो सिद्धाणं में हैं। आहाहा!

अरिहन्त भगवान विराजते हैं, वे अभी सिद्धपद में नहीं हैं, अभी वे अरिहन्त पद में हैं। चार कर्म बाकी, चार कर्मों का छेदन किया। केवलज्ञान हुआ परन्तु अभी चार अघातिकर्म बाकी हैं। आहाहा! उन भगवान के पास कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे। अरे रे! (लोगों को) यह भी विश्वास नहीं आता।

उसमें विचार आया है। विद्यानन्दजी की ओर से समयसार (बाहर) प्रकाशित हुआ है न? समयसार। आज और किसी ने वहाँ रखा था। उसमें इन (कुन्दकुन्दाचार्यदेव के) महाविदेह में गये, यह विश्वसनीय नहीं है, ऐसा (लिखा है)। अररर! आचार्यों ने कहा, जयसेनाचार्यदेव ने कहा। महामुनि! टीका में (कहा है)। जयसेनाचार्यदेव की टीका है। पंचास्तिकाय में, इसमें नहीं। पंचास्तिकाय की टीका में है कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव संवत् ४९ में नग्न मुनि, दिगम्बर मुनि भगवान के पास गये थे। देवसेनाचार्यदेव (कहते हैं कि) भगवान के पास गये थे और यह यदि वहाँ से ऐसा मार्ग न लावे तो हम मुनिपना कहाँ से समझते? आहाहा! अरे रे!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि अपना स्वभाव तो सर्व को जानना-देखना है—ऐसा होने पर भी, अपना अपराध अर्थात् अल्पज्ञान को राग में रोककर, इसने वहाँ मिथ्यात्व का अपराध किया है। आहाहा! इस मिथ्यात्व के अपराध द्वारा सर्व को जानने-देखने का (स्वरूप), वह आच्छादित हो गया है। यह बन्धस्वरूप की व्याख्या चलती है न! ढँक गया है, यह पहली तीन गाथाओं में आया था। यह तो (कहते हैं) बन्धस्वरूप ही है, पुण्य-पाप वह बन्धस्वरूप है, इसलिए अबन्धस्वरूप ऐसा भगवान सर्व को जाननेवाले-देखनेवाले को ही न जानकर... आहाहा! अपने अपराध से मात्र यह दया, दान, व्रत, भक्ति और काम-क्रोध के शुभाशुभभाव को जानकर, उसे हो गया कि मानो ओहोहो! हमने मानो बहुत जाना! ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह बन्धभाव है। वह अबन्धभाव से विरुद्ध भाव है। बन्धभावरूप से, हों! मोक्ष के मार्ग के परिणाम से विरुद्ध भाव (है, ऐसा) आगे की तीन

गाथाओं में आयेगा। यह तो अबन्ध से विरुद्ध भाव बन्ध है, इतनी बात है। समझ में आया?

पहली तीन गाथाओं में ऐसा आया था कि भगवान आत्मा का जो मोक्षमार्ग-आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसे मिथ्यात्वादि ने ढँक दिया है। ऐसा आया था, और इसमें ऐसा आया कि भगवान आत्मा अबद्धस्वरूप सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है, तथापि रागादि के बन्धस्वरूप में रुक गया है। इसलिए वह बन्धस्वरूप है, इसलिए वह निषेध किया गया है। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा के परिणाम हों, परन्तु हैं वे बन्धस्वरूप - राग। आहाहा! कठिन पड़े, भाई! लोगों को बेचारों को, क्या करे? कभी जिन्दगी में सुना नहीं और यह उपदेश होता नहीं। उपदेश तो यह करो... यह करो... यह करो... पालीताणा की यात्रा करो, गिरनार की करो, सम्मेदशिखर की करो, जाओ! परन्तु यह तीन लोक का नाथ है, इसकी तो यात्रा एक बार कर! ऐसी पर की यात्राएँ तो अनन्त बार की हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा! **अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता;..** आहाहा! ऐसा कहा, देखा? **यों अज्ञानदशा में रह रहा है।** अपना जानना-देखना सम्पूर्ण स्वरूप है, उसे नहीं जानता नहीं; इसलिए उस राग को अकेले को जानने में रूककर अज्ञान में वर्तता है। **इस प्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा..** देखा? आहा! वहाँ ये रागादि बन्धस्वरूप है, (ऐसा कहा न)! यहाँ (आत्मा) मुक्तस्वरूप है, आहा! यहाँ ज्ञान की पर्याय मात्र राग में रुकी है, जबकि उसका स्वरूप केवलज्ञान, पूरा केवलज्ञान है। आहाहा! श्रीमद् ने कहा है कि समकित होने पर श्रद्धा में केवलज्ञान प्रगट होता है। ऐसे वस्तु थी, परन्तु उसे श्रद्धा में न आयी, तब तक क्या? आहाहा! समझ में आया?

एक यह प्रश्न आया था। अमूर्त का आया न? अमूर्त का! कर्म के छेदने से फिर अमूर्तपना प्रगट होता है। उसका अर्थ यह कि अमूर्तपना तो है, परन्तु इसकी दृष्टि में न आवे, तब तक वह अमूर्तपना इसे नहीं है। ऐसी व्याख्या आती है न! इसमें अमूर्त की व्याख्या है, देखो! कितना बोल है यह? अमूर्त। २१ में आया है, २०... २०! २० है। **कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादिशून्य (-स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से रहित) ऐसे आत्म-प्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति।** इसलिए लिया कि अमूर्तशक्ति तो है परन्तु उसकी प्रतीति में आ जाए, तब (उसके लिए) अमूर्तशक्ति है। राग से भिन्न पड़कर, बन्ध से भिन्न पड़कर, अबन्ध जब शक्ति तो अमूर्त है, तब उसे अमूर्तशक्ति की पर्याय में

प्रगटता हुई, उसे यह अमूर्त है, ऐसा जानने में आया। अज्ञानी को तो राग और पुण्य और मूर्त हूँ, ऐसा अनादि से मानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बहुत गम्भीर है।

यहाँ तो कर्म के अभाव से व्यक्त किये गये, ऐसा कहा न? **सहज, स्पर्शादिशून्य.. ऐसे आत्म-प्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति।** आहाहा! अर्थात् जिसे अन्दर में राग की एकता टूटकर स्वरूप का ज्ञान हुआ है, उसे अमूर्तशक्ति है, ऐसी उसे प्रतीति हुई। आहाहा! भगवान तो त्रिकाल अमूर्त ही है। भगवान तो त्रिकाल कारणपरमात्मा है परन्तु कारणपरमात्मा की दृष्टि हुए बिना 'यह है' उसे राग की एकता टूटकर स्वभाव की एकता करे, तब उसे कारण परमात्मा है, ऐसा प्रतीति में / दृष्टि में आया। आहाहा!

यह तो त्रिभुवन वारिया ने प्रश्न किया था न! कि कारणपरमात्मा है, तब तो कार्य आना चाहिए। सब कारणपरमात्मा अन्दर वस्तु भगवानस्वरूप है और कार्य तो आता नहीं। आहाहा! ऐसा प्रश्न किया था। परन्तु भाई! कारणपरमात्मा है... बापू! मार्ग प्रभु! (क्या कहें) ? यह कारणपरमात्मा पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... अनन्त गुण का पिण्ड पूर्ण है। आहाहा! ऐसी जिसे स्वसन्मुख होकर दृष्टि हुई है, उसे कारणपरमात्मा है। उसे कार्य समकित हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? अरे रे! अब ऐसी बातें! जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! सत्य को भगवान ने कहा, वह सत्य एक ओर पड़ा रहता है और बाहर में मिथ्या ढोंग करके जिन्दगी (पूरी करते हैं)। आहाहा!

परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह पुकार है, प्रभु! आहाहा! तू है तो कारणपरमात्मा। परमाणु को कारणपरमाणु कहा है न! नियमसार में (कहा है)। आहाहा! परन्तु वह वस्तु तो है, वह त्रिकाल आनन्दकन्द अबद्ध है, मुक्तस्वरूप है। यहाँ आया न? **केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा..** है। है तो ऐसा यह त्रिकाल। वस्तु को आवरण नहीं है, वस्तु में विपरीतता नहीं है, वस्तु में हीनता नहीं है। आहाहा! परन्तु कर्म पुण्य और पाप के भाव में रुका हुआ, उनसे लिप्त होने से... आहाहा! वह शुभ और अशुभभाव जो मलिन भाव है। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का, यात्रा का हो परन्तु वह राग मलिन है, रागभाव है। यह दुनिया को खबर नहीं है। दुनिया माने (कि) यह धर्म है, (ऐसा मानती है)। आहाहा!

धर्म तो अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान को राग से भिन्न अपना पूर्ण स्वरूप है, ऐसा

जब जाने और माने और अनुभव करे, तब उसे धर्म होता है। आहाहा! उसके बदले यह दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा के परिणाम में ज्ञान रूका हुआ (रहता है), इसलिए उस पूर्ण को जानता नहीं। अल्प को जानने में रुकने से पूर्ण को जानता नहीं, यही इसका अपराध है। आहाहा! अब ऐसा पकड़ में नहीं आवे, फिर विरोध करे।

मुमुक्षु : बराबर सुने, समझे नहीं और विरोध किया करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करे? भाई! 'जिसमें जितनी बुद्धि है, इतनो दिये बताय; बाँको बुरौ न मानिये और कहाँ से लाये?' कहाँ से लाये? भाई! आहाहा!

अन्दर महाप्रभु विराजता है। तीनों काल में चैतन्यद्रव्य तो निरावरण पड़ा है। आहाहा! उसे राग में रुककर आवरण में—यह भाव आवरण में डाल दिया। पर्याय में, पर्याय में। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा आदि का भाव राग है। उसमें रुक गया, उस मुक्तस्वरूप को इसने ढँक दिया। केवलज्ञानस्वरूप प्रभु अन्दर है, उसका इसने अनादर किया है। ऐसी बातें हैं। दुनिया पागल माने ऐसा है। अरे रे! पूरी बात (बदल गयी)। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले मन्द करे, फिर (शुद्ध में आ जाए)।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्द करे, वह अज्ञान है। मन्द है, वह करना ही नहीं। मन्द है वह राग है, जहर है। उसे करे, फिर (धर्म होता है, वह तो) लहसुन खाये, फिर कस्तूरी का डकार आवे, तो यह शुभभाव करे तो इसे धर्म हो, (उसके जैसी बात है)। बापू! मार्ग अलग है, प्रभु! क्या करें? आहाहा! प्रभु का भरत में विरह पड़ा, भगवान विराजते हैं वहाँ, परन्तु वाणी का विरह नहीं है। वाणी तो भगवान की जो है, वह वाणी है। आहाहा!

यहाँ तो सम्पूर्ण जाननेवाला, वह अपने सम्पूर्ण (स्वरूप को) न जानकर अपूर्ण अथवा विपरीत पर्याय को जानने में रुका, वह इसका अपराध है। आहाहा! वह इसका मिथ्यात्व का अपराध है। आहाहा! बहुत कठिन बात है, बापू! आहाहा!

इस प्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा.. अपने विकारी परिणाम **से लिप्त होने से..** आहाहा! लिप्त होने से (अर्थात्) मिथ्यात्वभाव से ढँका हुआ होने से **अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है,..** स्वरूप के अज्ञानरूप और राग के बद्धरूप में वर्तता है। आहाहा! **इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं।**

पुण्य और पाप के भाव, प्रभु! वे बन्धस्वरूप हैं। प्रभु! तू तो अबद्धस्वरूप पूरा भिन्न है। आहाहा! अरे! कैसे जँचे? अभी मैं अबद्धस्वरूप हूँ। भगवान! तेरा स्वरूप तो अबद्धस्वरूप ही है। अबद्ध न हो तो पर्याय में अबद्धपना / मुक्तपना कहाँ से आयेगा? भाई! कोई बाहर से नहीं आता। आहाहा!

मुमुक्षु : एकाएक किस प्रकार से हो जाएगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकाएक यहाँ तो टूट पड़े ऐसा है। एक समय का अन्तर है। एक समय में राग को देखनेवाला एकता रोकी है, वह गुलांट खाकर आत्मा को देखे तो एक समय का अन्तर है।

मुमुक्षु : स्व-परप्रकाशकपना तो है, स्व-परप्रकाशक तो था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह है। वह स्वयं अपने को ही जाना नहीं। ऐसा कहा न? उस पर को, राग को, दया को जानने में रुक गया। वह स्व को जानने में जाए, उसे एक समय की बात है। आहाहा! क्या हो? मार्ग तो यह है, प्रभु! दुनिया फिर साधु के नाम से, पण्डितों के नाम से चाहे जो गड़बड़ी चलावे, वह मार्ग वीतराग का नहीं है, बापू! आहाहा!

अतः कर्मों का निषेध किया गया है। कर्म अर्थात् पुण्य-पाप। पुण्य-पाप बन्ध -स्वरूप है, शुभ-अशुभभाव बन्धस्वरूप है। पहले में ऐसा कहा था कि पुण्य-पाप के भाव मेरे, ऐसा मानकर सम्यग्दर्शन को उत्पन्न होने नहीं देता, ढाँक दिया, घात किया, घात किया। इसमें कहा कि वह बन्धस्वरूप है। आहाहा!

अब तीसरा बोल। दो बोल गये। ये दो बोल। कौन से? कि एक तो भगवान आत्मा, आत्मा का समकित, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का चारित्र, उनका मिथ्यात्वभाव से घात होता है, उनका उनमें घात होता है। पुण्य-परिणाम मेरे, ऐसे मिथ्यात्व से समकित उत्पन्न नहीं होता, उसे घात करते हैं, (ऐसा कहा)। ये रागादि हैं, उन्हें अपना मानने से, राग बन्धस्वरूप है, उसे अबन्धस्वरूप की दृष्टि न करके बन्ध में है, बन्धस्वरूप है, इसलिए निषेध है। अब तीसरे में (कहते हैं), ये भाव समकितदर्शन, ज्ञान, चारित्र से विरुद्ध भाव है। आहाहा! ये तीनों मिथ्यात्व—पुण्य में धर्म है, दया, दान, व्रत, भक्ति में धर्म है, ऐसा मिथ्यात्वभाव। वह मिथ्यात्वभाव, समकित भाव से विरुद्ध है। यह तीसरे बोल में है।

गाथा–१६१–१६३

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति –

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो।।१६१।।
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो।।१६२।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो।।१६३।।

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः।।१६१।।
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः।।१६२।।
चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः।।१६३।।

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम्।

ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्या–ज्ञानित्वम्।

चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वम्।

अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्।।१६१–१६३।।

अब, यह बतलाते हैं कि कर्म मोक्ष के कारण के तिरोधायिभावस्वरूप (अर्थात् मिथ्यात्वादि भावस्वरूप) हैं:–

सम्यक्त्वप्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना।।१६१।।

त्यों ज्ञानप्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने यह जानना।।१६२।।

चारित्रप्रतिबन्धक करम, जिनने कषायों को कहा।
उसके उदय से जीव चारितहीन हो यह जानना।।१६३।।

गाथार्थ : [सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं] सम्यक्त्व को रोकनेवाला [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व है, ऐसा [जिनवरैः] जिनवरों ने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदय से [जीवः] जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि होता है, [इति ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए। [ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं] ज्ञान को रोकनेवाला [अज्ञानं] अज्ञान है, ऐसा [जिनवरैः] जिनवरों ने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदय से [जीवः] जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [भवति] होता है, [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए। [चारित्रप्रतिनिबद्धः] चारित्र को रोकनेवाला [कषायः] कषाय है, ऐसा [जिनवरैः] जिनवरों ने [परिकथितः] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदय से [जीवः] जीव [अचारित्रः] अचारित्रवान [भवति] होता है, [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए।

टीका : सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है, उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है; वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के मिथ्यादृष्टिपना होता है। ज्ञान जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, उसे रोकनेवाला अज्ञान है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अज्ञानीपना होता है। चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, उसे रोकनेवाली कषाय है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अचारित्रपना होता है। इसलिए, स्वयं मोक्ष के कारण का तिरोधायिभावस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ : सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं, उनसे विपरीत मिथ्यात्वादि भाव हैं; कर्म मिथ्यात्वादि भाव-स्वरूप हैं। इस प्रकार कर्म, मोक्ष के कारणभूत भावों से विपरीत भावस्वरूप हैं।

पहले तीन गाथाओं में कहा था कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों का-सम्यक्त्वादि का घातक है। बाद की एक गाथा में यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। और इन अन्तिम तीन गाथाओं में कहा है कि कर्म, मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है-मिथ्यात्वादिस्वरूप है। इस प्रकार यह बताया है कि कर्म, मोक्ष के कारण का घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारणस्वरूप है, इसलिए निषिद्ध है।

अशुभ कर्म तो मोक्ष का कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है; इसलिए निषिद्ध ही है; परन्तु शुभकर्म भी कर्म सामान्य में आ जाता है, इसलिए वह भी बाधक ही है, इसलिए निषिद्ध ही है, ऐसा समझना चाहिए।

गाथा - १६१-१६३ पर प्रवचन

अब, कर्म मोक्ष के कारण के तिरोधायिभावस्वरूप (अर्थात् मिथ्यात्वादि भावस्वरूप) हैं:- देखा? सम्यग्दर्शन के बदले मिथ्यात्वादि भाव (होते हैं), वे मोक्ष के मार्ग से विरुद्ध भाव हैं। आहाहा! बन्धभाव तो उसमें गया। यहाँ तो उसे विरुद्ध भाव (रूप से) सिद्ध करना है। वस्तु के स्वरूप से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम चाहिए, उससे ये मिथ्यात्वादि विरुद्ध परिणाम हैं। आहाहा! समझ में आया?

(मिथ्यात्वादि भावस्वरूप) हैं.. देखा? तीन गाथाएँ हैं।

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो।।१६१।।
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो।।१६२।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो।।१६३।।

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं। आहाहा! देखो! आचार्य सन्त भी भगवान का नाम लेकर कहते हैं। **जिणवरेहि परिकहियं** तीन लोक के नाथ जिनवरदेव

सर्वज्ञ महाविदेह में विराजते हैं, उन्होंने यह कहा है। आहाहा! **तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो।** इसमें भी कितनी ही विपरीत गड़बड़ है। तीनों में जिनवर, जिनवर, जिनवर लिखा है। नीचे हरिगीत।

सम्यक्त्वप्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना।।१६१।।
त्यों ज्ञानप्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने यह जानना।।१६२।।
चारित्रप्रतिबन्धक करम, जिनने कषायों को कहा।
उसके उदय से जीव चारितहीन हो यह जानना।।१६३।।

सम्यक्त्वप्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा। उसके उदय से.. अर्थात् प्रगट होने से।

टीका : सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है.. देखा? भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन पूर्णानन्द के सन्मुख की प्रतीति, ज्ञान करके होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! जो अनन्त काल में (एक) सेकेण्ड किया नहीं। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ' मुनि हुआ, दिगम्बर हुआ, वस्त्र का टुकड़ा नहीं रखा परन्तु आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन बिना वह सब भव के भ्रमण का कारण हुआ। आहाहा!

यहाँ क्या कहते हैं? **सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है..** परिणति, हों! त्रिकाली स्वभाव नहीं। त्रिकाली शुद्ध चैतन्यघन प्रभु है, उसका ज्ञान होकर उसकी निर्विकल्प प्रतीति होना, वह **सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है..** (अर्थात्) मोक्ष के कारणरूप परिणाम है। आहाहा! अब ऐसी बातें। इसकी अपेक्षा एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया, जीविहा तस्स मिच्छामि दुक्कडम् (करो), जाओ! और ओसरे... ताऊकायठायणं, अप्पाणं, वोसरे (करे तो) हो गयी सामायिक! अरे! भगवान! बापू! लोगस्स में 'उज्जोयगरे..' किया। 'विहुय रयमला, पहेण जरमरणा...' इसके अर्थ की खबर नहीं होती। अरे! भाई!

यहाँ तो सम्यक्त्व जो भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप पूर्णानन्द, पुण्य-पाप के

रागरहित है, उसके अनुभव में प्रतीति होना, उसे समकित कहते हैं। आहाहा! वह **सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप..** परिणाम **स्वभाव है..** देखा? यह परिणाम की बात है। **उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है;..** भाव, वर्तमान मिथ्यात्व है – ऐसा कहते हैं। समकित से विरुद्ध ऐसा मिथ्यात्वभाव वर्तमान है। चाहिए समकित। त्रिकाली ज्ञायकभाव की प्रतीति अनुभव में (होनी चाहिए) परन्तु उससे विरुद्ध मिथ्यात्व, वह इसके पास है। वह समकित के भाव से विपरीत भाव है। आहाहा! पहले में घातक कहा था। इसमें उससे विपरीत भाव है, ऐसा कहते हैं। बीच में बन्धस्वरूपी (कहा) था।

आहाहा! ऐसा सूक्ष्म मार्ग। व्यापारी को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, पूरे दिन पाप! धन्धा.. धन्धा.. धन्धा.. दुकान। निवृत्त होवे तो स्त्री, पुत्र को प्रसन्न रखने जाए। अर र! छह-सात घण्टे नींद में जाए। उसमें यह वस्तु क्या है? वीतराग क्या कहते हैं? इसका निर्णय करने का समय नहीं मिलता। अरे! आहाहा! यह जीवन किसका जीवन? यह जीवन सब पशु जैसा जीवन है। फिर भले करोड़ोंपति और अरबोंपति हो। आहाहा!

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं कि जो समकित है, वह मोक्ष के कारण (रूप) परिणाम है, उससे मिथ्यात्व, वह विरुद्धभाव है। सम्यग्दर्शन के भाव से मिथ्यात्व (विरुद्ध परिणाम है)। मिथ्यात्व, वह परिणाम है। समकित, वह परिणाम है परन्तु समकित के परिणाम से मिथ्यात्व परिणाम विपरीत है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति यात्रा के भाव मेरे और मुझे लाभ करेंगे, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह समकितभाव से विरुद्ध भाव है। समझ में आया?

बापू! यह पागलपने नहीं कहलाता। भाई! दुनिया पूरी पागल है। आहाहा! अरे रे! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव को क्या कहना है? इस सत्य बात को पागल सिद्ध करते हैं। पागलों की बात को सच्ची सिद्ध करते हैं! आहाहा! प्रभु! एक बार तत्त्वज्ञान तो कर। तत्त्वविचार तो कर, जानपना, तुलना तो कर कि समकित जो है, वह त्रिकाली चैतन्य भगवान प्रभु का ज्ञान होकर उसमें 'यह है' ऐसी प्रतीति होना, ऐसा सम्यग्दर्शन जो मोक्ष का कारण है, उसमें अभी पुण्य के परिणाम मेरे और मुझे लाभ करेंगे, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह समकित से विरुद्ध भाव है। आहाहा! ऐसी बातें पकड़ना कठिन पड़ती है। आहाहा! है?

वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है,.. (अर्थात्) विकार भाव है। वह समकित

है, वह तो मोक्ष के कारणरूप परिणाम था और उससे यह मिथ्यात्व है, वह परिणाम तो मिथ्यात्वरूपी कर्म-कार्य है, विपरीत श्रद्धा का कार्य है। स्वयं ही एक कर्म है। वह धर्म नहीं तथा आत्मा नहीं। आहाहा!

आहाहा! दो बातें की हैं कि सम्यग्दर्शन जो है, वह आत्मा का जो सम्यग्दर्शन है, वह मोक्ष का कारण है। ऐसा कहा न? अब उससे विरुद्ध जो मिथ्यात्व है, वह विरुद्ध भाव है, वह मिथ्यात्व कार्य है। आहाहा! **उसके उदय से..** अर्थात् उसके प्रगट होने से। विपरीत भाव के प्रगट होने से ज्ञान को मिथ्यादृष्टिपना होता है। वे निमित्त से कर्म ले, परन्तु यहाँ तो विपरीत भाव प्रगट हुआ, उससे वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर की भ्रमणता से?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं की है। वह कर्म निमित्त है।

अपनी विपरीत मान्यता के उदय से, प्रगट होने से.. आहाहा! **ज्ञान के मिथ्यादृष्टिपना होता है।** उससे आत्मा को मिथ्यादृष्टिपना होता है। आहाहा! कर्म का उदय है, वह तो जड़ है। जड़ कहीं आत्मा को मिथ्यात्व नहीं कराता। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें उसके उदय से 'ही' लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं का (मिथ्यात्व) स्वभाव विपरीत जड़ है। भावकर्म जड़ है। उसके उदय से अर्थात् उसके प्रगट होने से। आहाहा!

उसके उदय से ही.. अर्थात् मिथ्या श्रद्धा के प्रगट होने से ही **मिथ्यादृष्टिपना होता है।** आहाहा! अब इसमें कितनी बात याद रखना? एक घण्टे में सुनी हुई बात सब दूसरी निकले। अरे! प्रभु! क्या करता है? भाई! मार्ग अलग रह गया, प्रभु! आहाहा! और दूसरे रास्ते चढ़ गया। विपरीत रास्ते चढ़कर हम जैनधर्मी हैं, ऐसा माने! आहाहा!

यह कर्म (अर्थात्) जड़ उदय लेना परन्तु उसे उदय तब कहा जाता है कि यहाँ परिणाम विपरीत किये तो उसे उदय कहा जाता है। नहीं तो वह उदय क्या? वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! जड़ की पर्याय का चैतन्य को स्पर्श भी नहीं है। भगवान आत्मा तो अरूपी है और जड़कर्म है, वह तो रूपी है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाला है, परन्तु उसके उदय के काल में स्वयं अपने से विपरीत मान्यता करता है, वही उसे रोकनेवाली है।

अर्थात् वही विपरीत भाव है। यहाँ तो विपरीत भाव बताना है न? समकित से विरुद्ध भाव, वह मिथ्यात्व है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

पहले तीन गाथा में ऐसा (कहा) था कि समकित को ढाँक देनेवाला है, इसलिए वह कर्म है; पश्चात् मिथ्यात्वादि है, वह भावबन्ध है (ऐसा कहा)। भावबन्ध है, इसलिए अबन्ध (स्वरूप से) भिन्न जाति है। इसमें कहते हैं कि समकितरूपी मोक्ष के कारण से विरुद्ध मिथ्यात्व, वह विपरीत भाव है। कहो, समझ में आया? वजुभाई! ऐसा सब सूक्ष्म है, बापू! धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं की। आहाहा! कोई कहीं शरण नहीं है, प्रभु! आहाहा! कहते हैं कि यह दया, दान (का) राग है, वह शरण नहीं है परन्तु उस राग को अपना माना है, वह मिथ्यात्वभाव, समकित (जो कि) मोक्ष का कारण है, उससे विरुद्ध भाव है। आहाहा! यह तो वीतराग की वाणी है, बापू! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं है। तीन लोक के नाथ, जिन्हें इन्द्र सुनने आवें, गणधर सुनने आवें, उसी वन के बाघ और सिंह तथा नाग सुनने आवें। भाई! समवसरण में प्रभु विराजते हैं। यहाँ भगवान थे, तब समवसरण था। वीर प्रभु विराजते थे तब। अभी तो सिद्ध हो गये। आहाहा! बापू! वह वाणी कैसी होगी! एकावतारी इन्द्र सुनने आवें, वह वाणी कैसी होगी! एक भव में मोक्ष जानेवाले, पहला इन्द्र हैं। उनकी इन्द्राणी भी एक भव में मोक्ष जानेवाली है। वे जब प्रभु की सभा में आते हैं। आहाहा! बापू! यह दया पालन करो, व्रत करो, यह तो वह कुम्हार भी कहता है।

कहा नहीं था पहले, हमारे उमराला जन्म गाँव में ७५ वर्ष पहले की बात है (संवत्) १९८०। श्रावण महीना लगे, उस भादव शुक्ल पंचमी तक, जो सेठ हों वे तेली की घानी हो, तेली की! और कुम्हार का आव हो, उनके पास जाते हैं। पाँच सुपारी देते हैं तो वे समझ जाते हैं कि बनियों का पर्यूषण आया है। श्रावण शुक्ल एकम से भाद्र शुक्ल पंचमी (तक) मुसलमान घाणी चलाते नहीं। जन्मगाँव उमराला! सब देखा है न! अब ऐसा तो मुसलमान करते थे। एक महीना और पाँच दिन घाणी नहीं करते। कुम्हार एक महीना और पाँच दिन आव नहीं करता। निभाणो समझते हो? ईंट (बनावे), फिर भी जरा हरीफाई चले। पंचमी के पश्चात् पहले कौन शुरु करता है? क्योंकि पाप है। ऐसा तो वे मुसलमान भी उस समय (समझते थे), वहाँ तेली मुसलमान है, परन्तु ३५ दिन बन्द कर देते हैं। महाजन लोगों का वहाँ जोर था।

हमारे एक 'रुखड़' सेठ था, (वह तो गुजर गया), लड़के मुम्बई में रहते हैं। ऐसे बेचारे साधारण थे परन्तु बहुत खानदानी लोग। पैसा-वैसा बहुत नहीं था। पाँच सुपारी (लेकर) जाए। इसलिए उन्हें ऐसा हो कि ३५ दिन बन्द करना है, घाणी चलाना नहीं है। अब ऐसा तो मुसलमान (भी करते थे) बापू! वीतराग की वाणी कोई अलग है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, समकित जो मोक्ष का कारण... आहाहा! उसे रोकनेवाला वर्तमान विरुद्ध मिथ्यात्वभाव है। यह विरुद्ध भाव बतलाना है। रोकनेवाला उसमें कहा था, वह तो ढाँक देनेवाला (कहा था)। मिथ्यात्व से समकित को ढाँकना और यह घात करनेवाला। और यहाँ कहते हैं कि वर्तमान मिथ्यात्वभाव है। समकित से मिथ्यात्वभाव विरुद्ध भाव है। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, हों! भाषा कोई ऐसी (कठिन) नहीं है। बापू! भाव तो क्या करे? प्रभु की वाणी (ऐसी है)। आहाहा! कल गाया नहीं था? प्रभु की वाणी जोर रसाल, सुनने तरसते हैं। आहाहा! आहाहा!

तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं, प्रभु! तेरा पूर्ण स्वरूप सर्वज्ञ सर्वदर्शी, अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसी अनन्त शक्ति! एक-एक शक्ति पूर्ण ऐसी अनन्त पूर्ण (शक्तियों का) रूप! उसके सन्मुख होकर अनुभव होना और अनुभव होकर प्रतीति होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन से विरुद्ध भाव, वह मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण और मिथ्यात्व है, वह बन्ध का कारण है। बन्धस्वरूप है, यह तो आ गया, परन्तु यह मिथ्यात्व विपरीत भाव है। आहाहा!

यह हा.. हो.. और यात्रावाले आवे न! यहाँ दर्शन करने आवे परन्तु हा.. हो.. सुनकर (चले जाते हैं)। सुनने-बुनने में कुछ (खबर नहीं पड़ती)। यह पालीताणा यात्रा की और गिरनार यात्रा की, (इसलिए) हो गया धर्म! धूल में भी धर्म नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आपसे प्रार्थना करते हैं कि दो मिनिट सुनाओ, दो मिनिट।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वे कहते थे। मैंने कहा, व्याख्यान होवे तब। व्याख्यान सुनो। इस समय यहाँ व्याख्यान रखा था। आहाहा!

स्वयं कर्म ही है,.. उसके प्रगट होने से ही आत्मा को **मिथ्यादृष्टिपना होता है।** आहाहा! पर्याय में मिथ्यादृष्टिपना (होता है)। पुण्य के परिणाम और पाप के परिणाम दोनों

मेरे हैं, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, उसका उदय होने से अर्थात् प्रगट होने से। आहाहा! आत्मा को **मिथ्यादृष्टिपना होता है।** ज्ञान को अर्थात् आत्मा को। है?

पहली दो लाईनें। आहाहा! पहली दो लाईनों में मोक्ष का कारण है, ऐसा कहा और मिथ्यात्व है, वह मोक्ष के कारण से विपरीत भाव है, ऐसा कहा। आहाहा! इस पुण्य-परिणाम से मुझे धर्म होगा, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह समकित भाव से विरुद्ध भाव है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म कातना... मार्ग बापू! प्रभु का बहुत अलग प्रकार का है, भाई! आहाहा!

ज्ञान.. शब्द से समझ में आया? ज्ञान अर्थात् आत्मा। उसके प्रगट होने से-विपरीत श्रद्धा होने से आत्मा को **मिथ्यादृष्टिपना होता है।** आहाहा! उसे मिथ्यादृष्टिपना वर्तमान (है वह) सम्यग्दर्शन (जो कि) मोक्ष का कारण है, उससे विपरीत भाव वह मिथ्यादृष्टिपना है, वह विपरीत भाव है। सम्यग्दर्शन, वह मोक्ष के कारण का अविपरीतभाव है और यह मिथ्यात्व है, (वह) आत्मा के मोक्ष के कारण से विपरीत भाव है। और बन्ध के कारणरूप है, बन्धरूप है। यह बात की। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २३९, गाथा १६१-१६३, दिनाङ्क २९-०५-१९७९, मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल ४

समयसार, १६१ से १६३ गाथा की टीका। एक शब्द चला है, नहीं? टीका है न? **सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है..** टीका, १६१ से १६३ की टीका। इन्हें बताओ। अन्तिम तीन गाथा की (टीका)। क्या कहते हैं? सम्यक्त्व जो है, वह आत्मा शुद्ध परिपूर्ण अखण्ड आनन्द (स्वरूप है), उसके सन्मुख होकर, उसका ज्ञान होकर, उसकी प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन, वह पर्याय है। पर्यायरूप भाव है। है न? सम्यक्त्व वह पर्याय है। त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप भगवान (में) अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन अनन्त काल में हुआ नहीं, ऐसे स्वभाव का अनुभव होकर प्रतीति होने का नाम सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन

सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है.. यह मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है। सम्यग्दर्शन की पर्याय मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है।

उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है;.. इस सम्यग्दर्शन से विरुद्ध; सम्यग्दर्शन की पर्याय जो मोक्ष का कारण है, उससे विरुद्ध मिथ्यात्वभाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में धर्म मानना, पर का मैं कुछ कर सकता हूँ—ऐसी मिथ्याश्रद्धा, इस मिथ्याश्रद्धा के स्थूलरूप से असंख्य (प्रकार) हैं और सूक्ष्म अनन्त (प्रकार) हैं। यह मिथ्यात्वभाव, समकितरूपी भाव से विरुद्ध है। समझ में आया?

सम्यक्त्व (अर्थात्) सम्यक्पना, सत्यपना। यह पूर्ण सत्यस्वरूप प्रभु के अनुभव में प्रतीति होना और आत्मा का आत्मारूप से शुद्ध परिणमन होना। पुण्य और पाप के विकल्प-राग से भिन्न (परिणमन होना), ऐसा जो सम्यग्दर्शन है, वह मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है। आहाहा! मोक्ष अर्थात् आत्मा का पूर्ण आनन्दरूपी लाभ, वह मोक्ष है और पूर्ण दु:ख से मुक्त होना, वह मोक्ष है। उस मोक्ष का सम्यग्दर्शन कारणरूप स्वभाव है। आहाहा! कारणरूप स्वभाव है, उससे विपरीत, मिथ्यात्वभाव उससे विपरीत है।

मिथ्यात्वभाव का अर्थ कि पुण्य के दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वह पुण्य है, उन्हें धर्म माने और उन्हें धर्म का कारण माने तो वह मिथ्यात्वभाव है। वह मिथ्यात्वभाव, सम्यग्दर्शन जो कि मोक्ष के कारण (रूप) स्वभाव (है, उससे) विरुद्ध भाव है।

मुमुक्षु : पुण्य में दोष क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व दोष है। अनन्त संसार का कारण विपरीत मान्यता। श्रद्धा विपरीत है। जैसा सत्य है, वैसी मान्यता नहीं करके, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर से मुझमें लाभ-नुकसान होता है और मुझमें जो दया, दान, व्रतादि परिणाम होते हैं, वे धर्म हैं और धर्म का कारण है, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्वभाव मोक्ष के कारणरूप स्वभाव (ऐसे) समकित से विपरीत है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। इतना तो कल आ गया है। इतना तो कल आया था। यह तो आज हिन्दी लोग आये हैं न, (इसलिए फिर से लिया है)।

सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है.. देखो! पर्याय को स्वभाव कहा,

हों! समकितरूपी पर्याय जो है, वह स्वाभाविक पर्याय है। शुद्ध चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु का जैसा पूर्ण स्वरूप है, वैसा ज्ञान में आकर, उसमें प्रतीति, विश्वास, रुचि, दृष्टि होना, वह सम्यक्त्व है। वह अनन्त काल में अनन्त काल से हुआ नहीं। वह **सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है..** पर्याय है न! **उसे रोकनेवाला..** उससे विपरीत **मिथ्यात्व है;..** आहाहा! **वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है,..** विपरीत मान्यता जो है, उल्टी श्रद्धा जो है, वह स्वयं कर्म है। वह कोई आत्मा की दशा, आत्मा है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

अनन्त काल में सम्यग्दर्शन (प्रगट नहीं किया)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'-छहढाला में आता है। मुनिव्रत लिया, दिगम्बर साधु (होकर) अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत (पालन किये) परन्तु मिथ्यादृष्टि रहा। यह क्रियाकाण्ड मेरी क्रिया है और पंच महाव्रत परिणाम मुझे लाभदायक हैं—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह सम्यक् मोक्ष के कारण से विपरीत भाव है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है।

स्वयं कर्म ही है,.. वह आत्मा नहीं। आहाहा! मिथ्यात्वभाव-विपरीत मान्यता (अर्थात्) धर्म को अधर्म मानना और अधर्म को धर्म मानना; जीव को अजीव मानना और अजीव को जीव मानना। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव जो मैल हैं, उन्हें धर्म का कारण मानना- ऐसा जो मिथ्यात्वभाव; वह सम्यक्त्व जो मोक्ष के कारण (रूप) स्वभाव है, उससे विपरीत भाव है। आहाहा! है?

उसके उदय से.. (अर्थात्) उसके प्रगट होने से, विपरीत प्रतीति प्रगट होने से। कर्म का उदय तो निमित्त है। **उसके उदय से ही..** विपरीत श्रद्धा के प्रगटपने के कारण से ही **ज्ञान के मिथ्यादृष्टिपना होता है।** ज्ञान शब्द से (आशय है) आत्मा। आत्मा को विपरीत श्रद्धा के कारण मिथ्यादृष्टिपना होता है। आहाहा!

यह तो दोपहर को बहुत आया था। कल दोपहर को आया था न? अपनी पर्याय को द्रव्य करता है। अपनी पर्याय विकृत हो या अविकृत, वह अपने द्रव्य से होती है। कर्म से विकार नहीं होता और राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता। उसमें आया है। आहाहा! उसके बदले मानना कि कषाय की मन्दता का भाव पुण्य, उससे मुझे धर्म होगा - ऐसा जो

मिथ्यात्वभाव, वह सम्यक् मोक्ष का कारण (जो) स्वभाव है, उससे विपरीत भाव है। ऐसा है। यहाँ तक तो कल आया था।

अब ज्ञान। ज्ञान अर्थात्? अपना शुद्ध स्वरूप का स्वसंवेदन ज्ञान। अपना स्वरूप जो चैतन्यमूर्ति भगवान, अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय पूर्ण गुण से भरपूर पड़ा प्रभु आत्मा, उसका ज्ञान। यह पर्याय की बात है न! **ज्ञान जो कि मोक्ष का कारणरूप..** है। यह सम्यग्ज्ञान जो त्रिकाली चैतन्य प्रभु का ज्ञान। त्रिकाली वस्तु तो ध्रुव है परन्तु उसके आश्रय से जो (ज्ञान हुआ, वह) सम्यग्ज्ञान। शास्त्रज्ञान नहीं, पर का ज्ञान नहीं। वह ज्ञान (अर्थात्) आत्मा का ज्ञान। जो ज्ञान जो कि **मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है..** आहाहा! आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान। त्रिकाली ज्ञान नहीं। उसकी वर्तमान ज्ञान की पर्याय। आहाहा! वह मोक्ष का कारणरूप सम्यग्ज्ञान है। उससे विरुद्ध अज्ञान है। राग को ही जानना। दया, दान के परिणाम को ही जानना और अपने को न जानना, वह अज्ञानभाव, सम्यग्ज्ञान से विरुद्ध भाव है।

आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव महाविदेह में तो सीमन्धर भगवान विराजते हैं, वहाँ से यह बात आयी है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव संवत् ४९ में प्रभु के पास गये थे। संवत् ४९ (अर्थात्) दो हजार वर्ष (पहले)। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर (सन्त)। (यहाँ परमागम मन्दिर में) बीच में मुनि हैं वे। उन्होंने वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं तो इस शास्त्र में तो यह कहा है कि सम्यग्ज्ञान (अर्थात्) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का स्वसंवेदन ज्ञान। स्व (अर्थात्) अपने वेदन का ज्ञान। वह ज्ञान, मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है। उस ज्ञान से विपरीत, राग और पर्याय को ही जानना और पर को ही जानना और अपने को भूल जाना, उस पर को जानने में रुकना होता है, वह अज्ञानभाव है। आहाहा! अपने को जाननेरूप जो भाव है, वह मोक्ष का कारण है, वह मात्र पर को जानने में रूक गया, वह अज्ञान (अर्थात्) ज्ञान से विरुद्ध भाव है। अब ऐसी बातें। समझ में आया?

ज्ञान, जो आत्मज्ञान... इस आत्मज्ञान का अर्थ कोई निमित्त का नहीं, राग का नहीं, पर्याय का (ज्ञान नहीं)। आत्मा जो भगवान पूर्णानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द—सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्दादि गुण का भण्डार, ऐसे आत्मा का ज्ञान; वह ज्ञान, मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। उस ज्ञान से विपरीत मात्र शुभ-अशुभभाव अथवा ज्ञान को पर में रोकना, वह

अज्ञान है। वह अज्ञान, आत्मज्ञान (कि) जो मोक्ष का कारण है, उससे यह अज्ञान विपरीत भाव है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : चौदह गुणस्थान जीवसमास वाँचन करें और पढ़ें तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञान अनन्त बार पढ़ा। अभेददृष्टि नहीं की, अभेद का ज्ञान नहीं किया, वहाँ वह सब व्यर्थ है।

मुमुक्षु : ग्यारह अंग पढ़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : ग्यारह अंग अनन्त बार पढ़ा। एक आचारांग में अठारह हजार पद और एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक, ऐसे ग्यारह अंग भी अनन्त बार पढ़ा। आहाहा! और पंच महाव्रत तथा पंच समिति, गुप्ति व्यवहार भी अनन्त बार किया। वह तो राग की क्रिया है। शास्त्र का ज्ञान (किया), वह तो परसन्मुख के लक्ष्यवाला ज्ञान है। आहाहा! उस पर के लक्ष्य में रुकने से अपना जो आत्मज्ञान, जो आत्मा के ज्ञान की सम्यक् पर्याय, जो मोक्ष का कारण है, उस ज्ञान को मात्र पर में रोकना, वह अज्ञान (है और) वह ज्ञानस्वभाव से विरुद्ध भाव है। आहाहा! सूक्ष्म कठिन बात है, प्रभु!

मोक्ष का मार्ग, भगवान जिनेश्वरदेव की अलौकिक बात है, वह कहीं साधारण बात नहीं है। आहाहा! अनन्त काल में कभी किया नहीं। अनन्त बार दिगम्बर साधु हुआ परन्तु मिथ्यादृष्टि (रहा)। राग किया है, महाव्रत का राग, वह आस्रव, दुःख है। उसे चारित्र माना और उसे धर्म माना है। ऐसा जो आत्मज्ञान से विरुद्ध ज्ञान, वह अज्ञान है, आत्मज्ञान से विरुद्ध है। आहाहा! अकेला पर का ज्ञान, वह अपने स्वरूप के ज्ञान से विरुद्ध है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग धर्म, वीतराग जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ की बात अलौकिक है!

वह ज्ञान अर्थात् त्रिकाली ज्ञान नहीं। त्रिकाली आत्मा का ज्ञान जो मोक्ष का कारणरूप स्वभाव... है? **उसे रोकनेवाला अज्ञान है;..** ज्ञान पर में रुक गया, वह अज्ञान है। आहाहा! अपने को जानना था, ऐसा जो ज्ञान, वह ज्ञान मात्र पर में रुक गया, यह अज्ञान है। यह अज्ञान, ज्ञान (कि जो) मोक्ष का कारण (है, उससे) विपरीत भाव है, ऐसी बात है। यहाँ तो (अज्ञानी कहते हैं) बाहर से यह करो, यह करो, दया पालन करो, व्रत करो। अब यह तो सब राग की क्रिया है और राग की क्रिया में धर्म मानना, वह मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धा है। ऐसी बात है, भाई! समझ में आया?

(ज्ञान) **मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है**.. ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान, आत्मा का ज्ञान। भगवान स्वरूप प्रभु का ज्ञान, सम्यग्ज्ञान जो मोक्ष के कारण (रूप) पर्याय है, उससे विरुद्ध। **रोकनेवाला**.. अर्थात् विरुद्ध। पर के ज्ञान में रुक गया तो अपने ज्ञान से विरुद्ध अज्ञान है। वह अज्ञान अपने सम्यग्ज्ञान से विरुद्ध भाव है। आहाहा! भले अकेला शास्त्र का ज्ञान हो, परन्तु अपने ज्ञान से वह विरुद्ध है, परलक्ष्यी ज्ञान है। आहाहा! वह शब्दज्ञान है, वह आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई!

वह तो स्वयं कर्म ही है,.. क्या कहते हैं? कि अपने स्वरूप का जो ज्ञान है, निर्मल पर्याय होनी चाहिए, उसे छोड़कर मात्र पर के ज्ञान में रुक गया, वह ज्ञान कर्म है। वास्तव में तो वह विकारी भाव है। आहाहा! वह आत्मा का ज्ञान नहीं। शास्त्र का शाब्दिक ज्ञान हो, वह भी अज्ञान है। आहाहा! मात्र पर में रुक गया और स्व का आत्मज्ञान है, वह पर में रुक गया, वह अपने ज्ञान से विपरीत अज्ञान है तो वह ज्ञान को रोकनेवाला अथवा ज्ञान से विरुद्ध वह अज्ञान है। आहाहा! ऐसी बात, लो!

स्वयं कर्म ही है,.. वह कार्य है। विकार, अज्ञान, पर को जानना, वह समान कार्य ही है, कर्म ही है; वह आत्मा नहीं है। **उसके उदय से**.. मात्र पर के ज्ञान में रुकने से। उसके उदय से (अर्थात्) प्रगट होने से, अपना जो आत्मज्ञान है, उससे वह ज्ञान विरुद्ध है। आहाहा! **ज्ञान के अज्ञानीपना होता है।** इस ज्ञान शब्द से (आशय यह है कि) आत्मा को अज्ञानीपना होता है। आहाहा! भाषा किस प्रकार की! अटपटा जैसा नया लगे! वे (अज्ञानी) कहते हैं यात्रा करो, भक्ति करो और यह करो, उससे धर्म (होगा)। यहाँ कहते हैं कि उसमें धर्म माननेवाले को आत्मज्ञान से विरुद्ध भाव है, अज्ञान है। आहाहा! दो बोल हुए।

तीसरा (बोल)। **चारित्र**.. तीसरा बोल। **चारित्र**.. चारित्र किसे कहते हैं? कि अपना शुद्धस्वरूप जो आनन्दकन्द प्रभु है, उसमें लीन होना, रमणता करना, चरना, रमना, जम जाना। यह चारित्र पर्याय में, हों! आत्मा का गुण चारित्र है, वह तो त्रिकाल है परन्तु उस चारित्रगुण में वर्तमान पर्याय उस गुण में, आनन्द में रमे, (वह चारित्र है)। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, आहाहा! उसमें रमना। रमना कब होता है? जब उसका ज्ञान होता है, दृष्टि में-श्रद्धा में वह वस्तु आ गयी हो तो उसमें रमणता होती है। उसमें जो

रमणता होती है, वह चारित्र है। वह चारित्र जो है, वह मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है। वह चारित्र, हों! पंच महाव्रत के परिणाम (होवें), वह चारित्र नहीं है। आहाहा! वह तो अचारित्र है, परन्तु यहाँ जो चारित्र, मोक्ष का कारण है, (उसकी बात है)। यह अचारित्र भाव चारित्र से विरुद्ध भाव है। आहाहा!

पंच महाव्रत के परिणाम, व्यवहार समिति, गुप्ति के भाव, वह जो आत्मा का चारित्र है, जो मोक्ष के कारण (रूप) स्वभाव है, उससे विपरीत भाव है। आहाहा! अचारित्र है। पंच महाव्रत के परिणाम, व्यवहार अट्ठाईस मूलगुणादि, वह सब अचारित्र है। वह चारित्र से विरुद्ध अचारित्र है। वह चारित्र के भाव से विरुद्ध भाव है। आहाहा! ऐसा है। अभी तो गड़बड़-गड़बड़ सब ऐसी चली है, कहीं मूल तत्त्व—पूरी बात को ही जगत में फेरफार कर दिया है। लोगों को निवृत्ति नहीं मिलती और सिर पर (गुरुरूप से) जो कहे वह जी... हाँ... जी... हाँ...! करके (मान लेते हैं)। आहाहा!

यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतरागदेव का यह कथन है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान के पास संवत् ४९ में गये थे। वहाँ दो हजार वर्ष पहले (गये थे) आठ दिन वहाँ रहकर यहाँ आये थे। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त! यह आता है न! 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम्।' वे कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ भगवान के पास गये थे। अभी भगवान विराजते हैं। महाविदेह में समवसरण में विराजते हैं। दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे, वहाँ से आकर ये शास्त्र बनाये हैं। आहाहा! भाषा समझ में आती है न, भाई! बात सूक्ष्म है, भगवान! बहुत सूक्ष्म तत्त्व, प्रभु! आहाहा!

तेरी प्रभुता... आहाहा! अपने भजन नहीं आया था? पण्डितजी ने नहीं गाया था? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आश कहाँ करे प्रीतम, पर की आश कहाँ करे प्रीतम, किस बातें तू अधूरा, प्रभु मेरे...' आहाहा! 'प्रभु सब बातें तुम पूरा..' आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता... ऐसी अनन्त शक्तियों का भण्डार भगवान आत्मा है। पूर्णानन्द प्रभु आत्मा है। आहाहा! 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा'। आहाहा! भजन है। 'पर की आश कहाँ करे प्रीतम' अरे!.. प्रिय प्रभु! इस शुभ के राग द्वारा, दान और पर की आशा रखकर उससे धर्म होगा, (ऐसा मानता है), प्रभु! तुझे यह क्या हुआ? क्या हुआ तुझे? 'पर

की आश कहाँ करे प्रीतम, किस बातें तू अधूरा' प्रभु! तू किस बात से अधूरा है? अन्दर पूर्णानन्द है न, नाथ! कैसे जँचे? आहाहा!

उस पूर्ण आनन्द और पूर्ण स्वभाव में रमना, चरना, रमना, आनन्द का भोजन करना... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करना, वह चारित्र है। वह चारित्र। वह चारित्र, मोक्ष के कारण (रूप) स्वभाव है। उस चारित्र से विरुद्ध पंच महाव्रत के परिणाम आदि दया, दान के परिणाम आदि राग, वह चारित्र से विरुद्ध भाव है। आहाहा! कहो, समझ में आया? आहाहा!

चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है,.. आहाहा! चारित्र अर्थात् क्या? बापू! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसहित आत्मा के आनन्द में रमना, चरना, जम जाना। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव-वेदन करना, वह चारित्र है।

मुमुक्षु : वह चारित्र तो आठवें गुणस्थान में होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : छठे गुणस्थान से चारित्र है, आंशिक चौथे से है। स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन से (शुरु) होता है। आहाहा! यह चारित्र सातवें का लिया है। सातवें से नीचे छठवें में आते हैं, (तब) पंच महाव्रत का विकल्प उठता है, तो कहते हैं कि वह चारित्र से विपरीत भाव है। आहाहा! अरे रे! सत्य बात सुनने को मिलती नहीं।

परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह हुकम है कि चारित्र जो है, वह तो मोक्ष के कारणरूप पर्यायस्वभाव है, वह वीतरागी पर्याय है। आहाहा! चारित्र जो है... आत्मा जिनस्वरूप है, 'घट-घट अन्तर जिन बसै, घट-घट अन्तर जैन; मत मदिरा के पान सो, मतवाला समझे न'। 'घट-घट अन्तर जिन बसै' प्रभु! जिनस्वरूपी तू है, भगवान! ऐसा करके आचार्य बुलाते हैं। आहाहा! भगवान! 'घट-घट अन्तर जिनस्वरूपी' तू है न, प्रभु! आहाहा! पूर्ण जिनस्वरूपी स्वभाव जिनस्वरूप न हो तो वीतराग जिनस्वरूप की पर्याय कहाँ से आयेगी? आहाहा! समझ में आया? तेरा स्वरूप जिनस्वरूप है, उसमें रमना, वह वीतरागी चारित्र हुआ। आहाहा! यह अपने आ गया था, नहीं? परम वीतराग चारित्ररूप शुद्ध उपयोगरूपी धर्म। आया था न? आहाहा! परम वीतराग वीतरागी चारित्र... आहाहा! बापू! (ऐसा) चारित्र कहाँ है? परम वीतरागी चारित्र शुद्ध उपयोग, दया, दान, व्रत के

परिणाम तो अशुद्ध उपयोग हैं, वह तो मैल है। आहाहा! यह जो शुद्ध उपयोग, वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोग, वह धर्म और चारित्र है। वह चारित्र, मोक्ष का कारण (रूप) स्वभाव है। उससे विरुद्ध जितने दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव आते हैं, भाव, वह सब अचारित्र है। वह चारित्र से विरुद्ध भाव है। आहाहा!

चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है,.. कारणरूप भाव है, स्वभाव है। पश्चात् इसमें-भावार्थ में भाव (ऐसा अर्थ) किया है। **कारणरूप स्वभाव है, उसे रोकनेवाली..** भाव क्यों कहा? वह पर्याय है न! कोई (ऐसा) मान न ले कि यह त्रिकाली स्वभाव है। त्रिकाली स्वभाव तो शुद्ध ध्रुव त्रिकाली शुद्ध चैतन्य है, ध्रुव! उसमें रमना, आनन्द में रमना, वह चारित्र पर्याय है। वह चारित्र की पर्याय मोक्ष का कारण है। वह चारित्र की पर्याय। व्यवहार पंच महाव्रत के परिणाम, पाँच समिति, गुप्ति का भाव, वह चारित्र से विरुद्ध भाव है। आहाहा! चारित्र से विरुद्ध भाव है, उसे यहाँ (लोग) चारित्र मानते हैं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! इसका मार्ग अलौकिक है, लौकिक के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है,.. भाव है, पर्याय है न इसलिए। कोई ऐसा मान न ले कि यह फिर त्रिकाली स्वभाव है। **उसे रोकनेवाली कषाय है;..** यह पुण्य और पाप के भाव वे कषाय हैं। चाहे तो दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का, पंच महाव्रत का (भाव), वह कषायभाव है, राग है, कषायभाव है। चारित्र जो आत्मा का चारित्र है, जो वीतरागी दशा, शुद्ध उपयोग, धर्म है, उससे यह राग विरुद्ध है। कषाय उससे विरुद्ध है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात आयी है, भाई! गाथा ही ऐसी है वहाँ (क्या हो)?

पहली तीन गाथाओं में ऐसा आया था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को घात करनेवाला है—मिथ्यात्व, अव्रत, विकल्प और पर का ज्ञान, वह घात करनेवाला है। दूसरी गाथा में ऐसा आया कि पुण्य और पापभाव बन्धस्वरूप ही है। बन्धस्वरूप ही है तो बन्ध का कारण है। इन तीन गाथाओं में ऐसा आया कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तेरा निर्मल स्वभाव है, पर्याय, त्रिकाली स्वभाव का अनुभव, दर्शन-ज्ञान और चारित्र, यह जो मोक्ष का कारण है, उससे यह राग (भाव) वह विपरीत भाव है। सम्यक्त्व से मिथ्यात्व विपरीत है। सम्यग्ज्ञान से पर में रुका हुआ ज्ञान (ऐसा) अज्ञान विपरीत है। स्वरूप का चारित्र जो मोक्ष

का कारण है, उससे कषाय विपरीत है। चाहे तो पंच महाव्रत का शुभराग हो, परन्तु वह चारित्र से विपरीत है। आहाहा! ऐसा है। भगवान की वाणी ऐसी है। आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रभु के पास गये थे। संवत् ४९! यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव! और यह टीका है अमृतचन्द्राचार्यदेव की। एक हजार वर्ष पहले हुए। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले हुए और टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्यदेव हजार वर्ष पहले हुए। उनकी यह टीका है। आहाहा! समझ में आया? ये तो पद्मप्रभमलधारिदेव हैं, नियमसार की टीका करनेवाले (परमागम मन्दिर में) इस ओर पद्मप्रभमलधारिदेव दिगम्बर सन्त-मुनि! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि चारित्र जो है, वह तो मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। क्या? चारित्र किसे कहना? कि चारित्र अर्थात् चरना, रमना। भगवान आत्मा के दर्शन हुए हैं और ज्ञान हुआ है तो ज्ञान में जो पूर्णानन्द चीज़ जानने में आयी, उसमें रमना-लीन होना, चरना, अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट करना, इसका नाम चारित्र है। यह चारित्र मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है और इससे यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम कषाय हैं, राग हैं। वे चारित्र से विरुद्ध हैं। आहाहा!

उसे रोकनेवाली कषाय है;.. परन्तु अभी कषाय किसे कहना, यह खबर नहीं होती। ये पंच महाव्रत के परिणाम (किये), इसलिए मानो यह तो चारित्र (हो गया) परन्तु यह कषाय है, राग है, विकल्प है। आहाहा! आहाहा!

मुमुक्षु : महाव्रत तो बड़े पुरुष भी धारण करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अन्दर स्थिरता है, तीन कषाय के अभाव की उस भूमिका में ऐसा व्यवहार होता है, ऐसा कहकर उसे बड़े पुरुष (धारण करते हैं), ऐसा कहा। बड़े पुरुष को बड़े महाव्रत हैं न! परन्तु कौन? अन्दर भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर उछलता है, उसका दर्शन, ज्ञान और चारित्र हुए... आहाहा! समझ में आया? उसके साथ जो पंच महाव्रत के विकल्प हैं, वह व्यवहार है। उसमें स्थिरता की प्रशंसा करने के लिए महाव्रत को बड़ा कहा है। आहाहा! बाकी महाव्रत, पंच महाव्रत हैं, (वह तो राग है)। यह आयेगा। आगे के श्लोक में यह आयेगा। कलश में है, भाई! मिथ्यादृष्टि का जो यतिपना

है, वह व्यवहाररत्नत्रय बन्ध का कारण है और सम्यग्दृष्टि के जो व्यहाररत्नत्रय के परिणाम हैं, वे उसे मोक्ष का कारण है-ऐसा है नहीं। सम्यग्दृष्टि का शुभभाव हो या मिथ्यादृष्टि का हो, वह बन्ध का ही कारण है। है न इसमें ? यह श्लोक अब आयेगा। यह श्लोक है न ? ११०वाँ श्लोक आयेगा। देखो! इसमें है। इसमें - कलश-टीका!

यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा जो मिथ्यादृष्टि का यतिपना क्रियारूप.. पंच महाव्रतादि क्रियारूप। **सो बन्ध का कारण है, सम्यग्दृष्टि का है जो यतिपना..** शुभभाव पंच महाव्रतादि वह। **शुभ क्रियारूप, सो मोक्ष का कारण है..** ऐसा कोई अज्ञानी मानता है। **कारण कि (आत्मा का) अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूप क्रिया दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं।** ऐसा कितने ही अज्ञानी मानते हैं। **ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते हैं।** कलश की राजमल्लजी की टीका है।

वहाँ समाधान ऐसा—जितनी शुभ-अशुभ क्रिया,.. आहाहा! चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी के भाव हों; चाहे तो दया, दान, व्रत, संयम, शील के भाव (हों), आहाहा! दया, दान, व्रत, तप, संयम के विकल्प। **बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यों का विचाररूप अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्मबन्ध का कारण है। ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि का ऐसा भेद तो कुछ नहीं। ऐसी करतूति से (कृत्य से) ऐसा बन्ध है।** आहाहा! **शुद्धस्वरूप परिणमनमात्र से मोक्ष है।** आहाहा! कथन बड़ा है, पूरे दो पृष्ठ भरे हैं। (अपने) आगे का श्लोक आयेगा न! ११०वाँ आयेगा। अब १०९ आयेगा, पश्चात् ११० वाँ आयेगा। उसमें यह है। आहाहा!

चारित्र जो आत्मा के आनन्द में रमना, अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन करना, प्रचुर वेदन! अल्प वेदन तो समकिती को भी चौथे गुणस्थान में होता है परन्तु जिन्हें सच्चा मुनिपना होता है, उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द प्रचुर होता है। अतीन्द्रिय आनन्द जो अन्दर स्वरूप में है, वह पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन होता है, वह चारित्र है। वह चारित्र, मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। उसे रोकनेवाली यह कषाय है। आहाहा! उससे विरुद्ध तो पुण्यभाव है। आहाहा! यह चारित्र जो मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, उससे विरुद्ध भाव, अन्दर कहा न! दया, दान, व्रतादि भाव, वे सब... आहाहा! कषाय हैं। **वह तो स्वयं कर्म ही है,..** वह कषाय तो कर्म ही है, वह कहीं आत्मा नहीं है। आहाहा! बहुत

कठिन काम, भाई! दरकार कहाँ है? ऐसे का ऐसा जगत में जहाँ जन्मा, उसमें जो कोई सिर पर बैठा हो (उसने जो) कहा वह हाँ किया। जाओ! जिन्दगी पूरी। आहाहा! चार गति में भटकना है, बापू! चौरासी लाख योनि! एक-एक में अनन्त बार अवतार किये। मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (के कारण अवतार किये)। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि चारित्र जो है स्वरूप में चरना, आनन्द में रमना—ऐसी जो चारित्र की दशा, वह तो मोक्ष का कारण है, उससे विपरीत कषायभाव है। चाहे तो व्रत, तप, दया, दान का विकल्प उठता है, वह चारित्र से विरुद्ध भाव है। आहाहा! वह कषाय है। **वह तो स्वयं कर्म ही है,..** वह आत्मा नहीं। वह तो स्वयं राग कर्म ही है। आहाहा! भावकर्म।

उसके उदय से ही ज्ञान के अचारित्रपना होता है। राग के उदय से ही, प्रगटपने से ही स्वरूप की वीतराग चारित्रदशा (होनी चाहिए, वह न होकर)... आहाहा! उससे आत्मा को अचारित्रपना होता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा लेना। उसके उदय से आत्मा को अचारित्रपना होता है। आहाहा! चाहे तो लाख व्रत, तप, भक्ति और पूजा अनन्त बार करे परन्तु वह भाव राग है, वह चारित्रभाव से विपरीत भाव है। अचारित्र भाव है, कषाय भाव है, कर्म है, स्वयं कर्म है। आहाहा! **उसके उदय से..** ऐसे कषाय के भाव के कारण **ज्ञान..** अर्थात् आत्मा को **अचारित्रपना होता है।** यहाँ ज्ञान अर्थात् आत्मा लेना। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए **(कर्म) स्वयं मोक्ष के कारण का..** स्वयं मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो निर्मल निर्विकल्प अनुभव आदि, उस कारण के **तिरोधायिभावस्वरूप..** (अर्थात्) उससे विरुद्ध भावस्वरूप। मोक्ष के कारणरूप स्वभाव से विरुद्ध भावस्वरूप **होने से कर्म का निषेध किया गया है।** यह क्रियाकाण्ड का राग, वह धर्म नहीं है, ऐसा निषेध किया है। आहाहा! अन्दर है या नहीं।

मुमुक्षु : उसमें तो है परन्तु आप समझाओ, तब समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उन्नीसवीं बार चलता है। समयसार (पर) पहले से (अन्त तक) अठारह बार तो व्याख्यान हो गये हैं। अठारह... अठारह। उन्नीसवीं बार

चलता है। यहाँ तो ४४ वर्ष हुए। जंगल में! ४४ वर्ष (हुए) और ४५ वाँ चलता है। पैंतालीस वर्ष में आये थे, ९०वाँ वर्ष शरीर को चलता है। शरीर को नब्बे, हों! आत्मा को नहीं, आत्मा तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! यहाँ तो ४४ वर्ष से अठारह बार तो सभा में पढ़ा गया है। यह उन्नीसवीं बार चलता है। व्याख्यान भी हो गये हैं, एक पुस्तक हो गयी है। बाईस-तेईस लाख तो पुस्तकें प्रकाशित हो गयी हैं।

अब मुम्बई में बहुत पुस्तकें प्रकाशित होंगी। वहाँ सात लाख रुपये इकट्ठे किये न! ९०वीं जन्मजयन्ती! वैशाख शुक्ल दूज, आज तो चतुर्थी है। एक महीना और दो दिन हो गये। मुम्बई! एक सात लाख निकाले हैं, उसमें से व्याख्यान की पुस्तकें बनेंगी। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात सम्प्रदाय का आग्रह हो, उसे कठिन लगती है। अरे रे! यह क्या? बापू! सब खबर है, भाई! आहाहा!

भावार्थ : सम्यक्दर्शन, (सम्यक्) ज्ञान और (सम्यक्) चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं.. वह स्वभाव कहा था न! इसलिए कोई यह न समझ जाए कि त्रिकाली (की बात) है। इसलिए पण्डितजी ने 'भाव' (शब्द) लिखा है। आहाहा! ऊपर 'स्वभाव' (शब्द) आया था न! इसलिए वापस कोई त्रिकाली न समझ जाए। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह वर्तमान निर्मल पर्यायरूप भाव है। मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह वर्तमान शुद्ध निर्मल पर्यायरूप भाव है। त्रिकाली भगवान ध्रुव है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो उत्पादरूप पर्याय हुई, वह तो पर्यायरूपी भाव है और पर्याय के अतिरिक्त ध्रुव जो है, वह तो त्रिकाली ध्रुव सत् त्रिकाल वस्तु पड़ी है। वह स्वभाव स्वरूप, स्वभाव का पिण्ड, स्वभाव का गंज, स्वभाव का पूरा पोटला है। आहाहा! प्रभु! अन्दर ध्रुव है।

यह तत्त्वार्थसूत्र में आता है न! उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, तो यह चारित्र पर्याय है, वह उत्पाद है। वीतरागी पर्याय उत्पन्न होती है, वह मोक्ष का मार्ग है और वह पर्याय, ध्रुव जो स्वरूप है, उसके आश्रय से होती है। उस चारित्र से विपरीत जो विकल्प-राग उठता है, (वह बन्ध का कारण है)। इसमें (कलश-टीका में) बहुत आया है, शुद्ध (स्वरूप का) विचार करे, वह विकल्प भी बन्ध का कारण है। आहाहा! उसमें बहुत लिखा है। अभी उसमें पढ़ा न! राजमल्लजी ने बहुत स्पष्ट किया है।

भावार्थ : सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं, उनसे विपरीत मिथ्यात्वादि भाव हैं;.. यह लेना है न! मिथ्यात्व, अज्ञान और अचारित्र ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव से ये तीन भाव विपरीत भाव हैं। आहाहा! पहले यह सब कहा गया है। **कर्म मिथ्यात्वादि भाव-स्वरूप हैं।** यह कर्म ही मिथ्यात्वादि स्वरूप है। यह आत्मा नहीं। पुण्य और पाप के भाव, वे कर्मस्वरूप ही हैं।

इस प्रकार कर्म.. अर्थात् विकारी भाव **मोक्ष के कारणभूत भावों से..** मोक्ष के कारणरूप भाव से (अर्थात्) पर्याय से **विपरीत भावस्वरूप हैं।** लो! है? आहाहा! बहुत कठिन काम। यहाँ तो थोड़े व्रत लो और अपवास करो तो हो गया! भाई! सुन तो सही, प्रभु! वह तो विकल्प है, राग है और यह राग है, वह मोक्ष के कारण (रूप) स्वभावभाव से विपरीत भाव है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? यह सोनगढ़ का नहीं है।

मुमुक्षु : भगवान का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ऐसा कहते हैं। तीन लोक के नाथ सीमन्धर परमात्मा गणधर और इन्द्रों के बीच परमात्मा की दिव्यध्वनि यह आयी है। समझ में आया? आहाहा!

इस प्रकार कर्म मोक्ष के कारणभूत भावों से विपरीत भावस्वरूप हैं। पहले तीन गाथाओं में कहा था कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों का-सम्यक्त्वादि का घातक है। समकित आदि का घातक है। पहले तीन गाथा—१५७, १५८, १५९, ये तीन। पश्चात् १६०, एक, १६१, १६२, १६३ तीन (ऐसी) सात गाथाओं में (यह सिद्ध किया)।

पहले तीन गाथाओं में कहा था कि कर्म.. अर्थात् विकारी भाव, वह **मोक्ष के कारणरूप भावों का-सम्यक्त्वादि का घातक है।** आहाहा! **बाद की एक गाथा में यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है।** १६० (गाथा)। यह पुण्य और पाप के भाव कर्मस्वरूप हैं, आत्मस्वरूप है ही नहीं, बन्धस्वरूप है। आहाहा! बन्ध के कारणरूप भाव, वह बन्धस्वरूप ही हैं। पंच महाव्रतादि के परिणाम बन्धस्वरूप है। (ऐसा सुनकर) शोर मचाते हैं। आहाहा!

इन अन्तिम तीन गाथाओं में.. यह चली वे। **कहा है कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है..** देखा? कर्म जो पुण्य-पाप के भाव हैं,

वे मेरे हैं-ऐसा मिथ्यात्वभाव; पर का ज्ञान, ऐसा अज्ञान और राग-द्वेष भाव, ये तीनों **मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है..** यह कर्म जो विकारी भाव है, वह मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है। आहाहा! **मिथ्यात्वादिस्वरूप है।** विरोधी भावोस्वरूप है अर्थात्? मिथ्यात्वादिस्वरूप है। आहाहा! यह पुण्य-परिणाम में धर्म मानना, वह मिथ्यात्वभावस्वरूप सम्यग्दर्शन से विपरीत भाव है और उस राग को ही जानना और पर को जानने में ज्ञान को रोकना, वह अज्ञान है। अकेला परप्रकाशक ज्ञान है। यह स्व का ज्ञान जो हुआ, उस ज्ञान से वह भाव - अज्ञान विरुद्ध है और स्वरूप की चारित्रदशा है, उससे राग कषायभाव विरुद्ध है।

इस प्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्ष के कारण का घातक है,.. (पहली) तीन गाथाएँ। **बन्धस्वरूप है..** १६० (गाथा) **बन्ध का कारणस्वरूप है,..** वह यह १६१, १६२, १६३ (गाथा में कहा)। आहाहा! मार्ग तो बापू...! आहाहा! अनन्त-अनन्त काल चौरासी के अवतार करते.. करते... करते... द्रव्यलिंग इतनी बार धारण किया, जैन दिगम्बर साधु (हुआ), सम्यग्दर्शन अनुभव बिना राग से भिन्न भगवान है, उसके सम्यग्दर्शन बिना द्रव्यलिंग इतनी बार धारण किया कि फिर (आकाश के) प्रत्येक प्रदेश में अनन्त बार जन्म लिया। भावपाहुड़ में आया है। द्रव्यलिंग धारण करके मुनिव्रत पंच महाव्रत धारण किये, वह द्रव्यलिंग है, वह वस्तु आत्मा नहीं है। नग्नपना, पंच महाव्रत, ऐसा द्रव्यलिंग तो अनन्त बार धारण किया और अनन्त बार धारण करने के बाद भी इस लोक के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त बार जन्म-मरण हुए। आहाहा! इतनी बार पहले भी अनन्त बार द्रव्यलिंग धारण किया। महाव्रतादि अनन्त बार लिये परन्तु उनमें धर्म माना और उन महाव्रत के परिणाम को चारित्र माना... आहाहा! और देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, वह राग हे, उसे समकित माना और शास्त्र का ज्ञान (जो) परज्ञेयनिष्ठ है, उसे अपना ज्ञान माना। आहाहा! जरा मस्तिष्क को फैलाना पड़े ऐसा है, बापू! यह कोई कथा-वार्ता नहीं, यह कोई कथा नहीं। यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ भगवान की वाणी है। अभी की प्रचलित सब (बातों से) उल्टी है। आहाहा!

तुम्हारे लाडनूं में तो वह एक तेरापन्थी है, तुलसी। कहाँ का है वह? लाडनूं का, खबर है। स्थानकवासी में तुलसी है। विपरीत मान्यता, महाविपरीत (मान्यता)। खबर है

न ! लाडनूं तो हम दो बार आये हैं। आहाहा ! वह तुलसी आया था परन्तु यहाँ नहीं आया। यहाँ आवे नहीं, (क्योंकि) विपरीत मान्यता न ! वह सब क्रियाकाण्ड में धर्म माननेवाले। उन्हें अध्यात्म माननेवाले। यह क्रिया करना, व्रत और यह सब अध्यात्म है। आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि वह अध्यात्म नहीं, वह तो कर्म है। आहाहा ! बहुत कठिन काम, भाई !

भगवान अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त गुण से परिपूर्ण भरपूर प्रभु अन्दर है। ऐसे अनन्त आत्माएँ हैं। परमात्मा सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव ने तो ऐसा कहा है कि सभी जीव जिनवर स्वरूप हैं। अर्थात् सर्व जीव सिद्ध समान हैं। नियमसार में आया है, नियमसार ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने नियमसार में कहा है न (कि) मैंने मेरे लिए बनाया है। उसमें आया है। नियमसार ! सर्व जीव सिद्ध समान हैं। सिद्ध समान स्वरूप न हो तो सिद्धपना पर्याय में आयेगा कहाँ से ? आहाहा ! यहाँ तो राग की क्रिया (होवे उसे) हमारे धर्म हुआ माने। मिथ्यात्व हुआ है और उस मिथ्यात्व के भाव में तो अनन्त संसार का गर्भ है। गर्भ है उसमें, अनन्त जन्म-मरण की उत्पत्ति का वह गर्भ है। उसमें से उत्पत्ति होगी। आया ?

इस प्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्ष के कारण का घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारणस्वरूप है, इसलिए निषिद्ध है। अशुभ कर्म तो मोक्ष का कारण है ही नहीं,.. हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, वह तो अकेला पाप है। वह तो अशुभकर्म है, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है, वह तो पाप है। **अशुभ कर्म तो मोक्ष का कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है;..** वह अशुभभाव तो विघ्न करनेवाला है। **इसलिए निषिद्ध ही है;..** निषिद्ध ही है। **परन्तु शुभकर्म भी कर्म सामान्य में आ जाता है..** शुभपरिणाम, वह कर्म सामान्य में वह शुभभाव आ गया। आहाहा ! वह शुभकर्म कहो या शुभभाव कहो। चार बोल आये थे न ! वे सामान्य में आ जाते हैं, इसलिए **वह भी बाधक ही है..** वह शुभकर्म और शुभकार्य भी विघ्न करनेवाला है। आहाहा ! ऐसा कठिन पड़ता है। निवृत्ति नहीं मिलती, पूरे दिन धन्धा, स्त्री, पुत्र। एकाध घण्टा, दो घण्टा मिले (और) सुनने जाए, वहाँ ऐसी बातें करे कि इसे समझ में आये कि यह दया पालो, यह व्रत करो, यह अपवास करो। यहाँ कहते हैं कि वह सब करने-करने का जो विकल्प-राग है, वह तो विकार है, वह आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध भाव है, भाई ! आहाहा ! लो ! **ऐसा समझना चाहिए।**

यह क्या कहा ? कि अशुभभाव जो है, वह तो निषिद्ध ही है। आहाहा! क्योंकि वह तो बाधक ही है, परन्तु शुभभाव भी (बाधक ही है)। शुभ-अशुभ कर्म / भाव का निषेध किया तो उसमें शुभभाव भी आ गया। इसलिए वह भी बाधक ही है। शुभभाव भी विघ्न कारक है। **इसलिए निषिद्ध ही है, ऐसा समझना चाहिए।** कलश विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश-१०९

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(शार्दूलविक्रीडित)

सन्न्यस्तव्य-मिदं समस्त-मपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
सन्न्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादि-निजस्वभाव-भवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्,
नैष्कर्म्य-प्रतिबद्ध-मुद्धत-रसं ज्ञानं स्वयं धावति ।।१०९।।

श्लोकार्थ : [मोक्षार्थिना इदं समस्तम् अपि तत् कर्म एव संन्यस्तव्यम्] मोक्षार्थी को यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है। [संन्यस्ते सति तत्र पुण्यस्य पापस्य वा किल का कथा] जहाँ समस्त कर्मों का त्याग किया जाता है फिर वहाँ पुण्य या पाप की क्या बात है? (कर्ममात्र त्याज्य है, तब फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है-ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ है? कर्म सामान्य में दोनों आ गये हैं।) [सम्यक्त्वादि-निजस्वभावभवनात् मोक्षस्य हेतुः भवन्] समस्त कर्म का त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होने से-परिणमन करने से मोक्ष का कारणभूत होता हुआ, [नैष्कर्म्य-प्रतिबद्धम् उद्धतरसं] निष्कर्म अवस्था के साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रस प्रतिबद्ध है ऐसा [ज्ञानं] ज्ञान, [स्वयं] अपने आप [धावति] दौड़ा चला आता है।

भावार्थ : कर्म को दूर करके, अपने सम्यक्त्वादिस्वभावरूप परिणमन करने से

मोक्ष का कारणरूप होनेवाला ज्ञान अपने आप प्रगट होता है, तब फिर उसे कौन रोक सकता है?।।१०९।।

प्रवचन नं. २४०, कलश-१०९-११०, दिनाङ्क ३०-०५-१९७९, बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल ५

(समयसार) १०९ कलश।

सन्न्यस्तव्य-मिदं समस्त-मपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
सन्न्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादि-निजस्वभाव-भवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्,
नैष्कर्म्य-प्रतिबद्ध-मुद्धत-रसं ज्ञानं स्वयं धावति।।१०९।।

क्या कहते हैं? देखो **'मोक्षार्थिना इदं समस्तम् अपि तत् कर्म एव संन्यस्तव्यम्' मोक्षार्थी को..** राजमलजी की टीका में ऐसा कहा है कि मोक्षार्थी (अर्थात्) जिसे मोक्ष की अभिलाषा है, जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ हो। अतीन्द्रिय आनन्द के अभिलाषी को कलश-टीका में मोक्षार्थी कहते हैं। राजमलजी की टीका है न? १०९ कलश, मोक्षार्थी - **सकलकर्मक्षय मोक्ष-अतीन्द्रिय पद, उसमें जो अनन्त सुख, उसे उपादेय अनुभव करता है...** अतीन्द्रिय आनन्द मोक्ष में है, वह अतीन्द्रिय आनन्द जो अनुभव करता है, वह जीव। आहाहा! मोक्ष का अभिलाषी - मोक्षार्थी का अर्थ यह है। आत्मा का जो अनन्त आनन्द है, सहज स्वरूप, उसका अनुभव होकर उपादेयरूप से मानता है... आहाहा! वह जीव मोक्षार्थी की व्याख्या बड़ी लम्बी है।

(यहाँ कहते हैं) **मोक्षार्थी को यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है।** पुण्य और पाप के भाव सब त्यागने योग्य हैं। आहाहा! चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, काम, क्रोध हो या चाहे तो दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, वह सब भाव, बन्ध के कारण हैं। आहाहा! **मोक्षार्थी को..** अनन्त आनन्द, सुख को उपादेयरूप से अनुभव करता है, ऐसे मोक्षार्थी को **समस्त ही कर्म..** कर्म शब्द से शुभाशुभभाव। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, यह सब **त्याग करने योग्य है।** वह धर्म नहीं है। आहाहा! **'संन्यस्ते**

सति तत्र पुण्यस्य पापस्य वा किल का कथा' जहाँ समस्त कर्मों का त्याग किया जाता है.. आहाहा! जहाँ समस्त पुण्य और पाप के भाव का त्याग किया जाता है, **फिर वहाँ पुण्य या पाप की क्या बात है?** कि पुण्य ठीक है और पाप अठीक है।

रात्रि में तुम्हारा समानजाति का प्रश्न हुआ था न, वह मैं समझा नहीं था। समानजाति तो यहाँ लेना है। द्रव्य और गुण समानजाति में लेना है। यहाँ द्रव्यपर्याय लेना है न! द्रव्यपर्याय लेना है न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जिसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसे अनुभव में उपादेयरूप से जानता है, ऐसे मोक्षार्थी को पुण्य और पाप दोनों भाव कर्मरूप हैं, इसलिए त्यागनेयोग्य हैं। उसमें फिर यह पुण्य ठीक और पाप अठीक, ऐसी बात कहाँ है? दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! व्रत और तप, दया और दान, पूजा और भक्ति, हिंसा और झूठ, चोरी और विषय-वासना, सब कर्म विकार है, वह त्यागनेयोग्य है। आहाहा!

फिर वहाँ पुण्य या पाप की क्या बात है? कि पुण्य शुभभाव व्रत, तपादि ठीक हैं, ऐसी बात कहाँ आयी? ऐसा कहते हैं। आहाहा! **(कर्ममात्र त्याज्य है, तब फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है-ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ है?)** आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! शुद्धचैतन्य परमानन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा का जिसे शुद्ध परिणमन करना है और पूर्ण परिणमन का अभिलाषी है, उसे तो पुण्य-पाप में पुण्य ठीक और पाप अठीक - ऐसा कुछ है ही नहीं। दोनों छोड़ने योग्य हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य तो सिद्ध में छूटता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, पहले से ही दृष्टि में से छोड़ना। फिर जब शुद्ध उपयोग पूर्ण होगा, तब वह अस्थिरता में से छूट जाएगा, परन्तु दृष्टि में से तो पहले छोड़ना। श्रद्धा में से तो पहले ही छोड़ना। पश्चात् जब शुद्धोपयोग पूर्ण होगा, तब वह शुभपरिणाम उत्पन्न नहीं होगा, परन्तु यहाँ तो पहले से श्रद्धा में पुण्य और पाप दोनों त्यागनेयोग्य है और त्रिकाली आनन्दस्वरूप ही उपादेय है, ऐसा पहले से श्रद्धा में लेना। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! सूक्ष्म बात है, बापू!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ, इस वीतरागभाव में मोक्षमार्ग बताते हैं। राग

में मोक्षमार्ग नहीं (कहते)। आहाहा! वीतराग है, सर्वज्ञ परमात्मा है। वे वीतराग कैसे हुए? कि वीतरागभाव से वीतरागभाव हुआ। राग की क्रिया से वीतरागभाव नहीं होता है। आहाहा! शुभ या अशुभ दोनों भाव कर्मबन्ध के कारण हैं। इसलिए दोनों भाव त्याज्य हैं। दो में से किसी भाव से वीतरागता होगी, ऐसा है नहीं। आहाहा!

(ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ है? कर्म सामान्य में दोनों आ गये हैं।) 'सम्यक्त्वादि–निजस्वभावभवनात् मोक्षस्य हेतुः भवन्' तब अब शुभ और अशुभ का त्याग है तो मोक्ष का कारण क्या? जब शुभ–अशुभभाव, मोक्ष का कारण नहीं और त्याज्य है तो अब मोक्ष का कारण क्या है? **समस्त कर्म का त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होने से–परिणमन करने से मोक्ष का कारणभूत होता हुआ,...** अपना पूर्णानन्द प्रभु, उसका सम्यग्दर्शन–शुद्धस्वभाव, पूर्ण शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध परिणमन है, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा! शुभ–अशुभभाव दोनों अशुद्ध परिणमन होने से मोक्ष के कारण को त्याग दिया है। उसमें मोक्ष का कारण नहीं है। चाहे लाख व्रत, तप करे, भक्ति–पूजा करे करोड़ों बार, परन्तु वह तो शुभराग है, उसमें कोई मोक्ष का कारण है नहीं। मोक्ष का कारण तो शुद्धचैतन्य प्रभु का सम्यग्दर्शन में शुद्ध परिणमन (हो), शुद्धपरिणमन (हो, वह मोक्ष का कारण है)। शुभ–अशुभभाव है, वह अशुद्धपरिणमन है। पुण्य और पाप के दोनों भाव अशुद्धभाव हैं। वह आत्मा के स्वभाव के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन (हुआ, वह मोक्ष का कारण है)। कहा है, देखो!

सम्यक्त्वादि.. (अर्थात्) सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र **अपने स्वभावरूप होने से..** वह तो अपनी पर्याय में अपना स्वभाव है। त्रिकली नहीं, त्रिकाली स्वभाव तो ध्रुव है। वह तो पर्याय में अपना सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, यह स्वभाव है। विभावरहित स्वभाव है। आहाहा!

सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होने से.. अर्थात्... **परिणमन करने से..** वह त्रिकाली स्वभाव नहीं। त्रिकाली शुद्ध भगवान आत्मा, '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, यह ११वीं गाथा (में कहा है)। त्रिकाल भूतार्थ भगवान पूर्ण आनन्द, ध्रुव चैतन्य के अवलम्बन से, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। वह सम्यग्दर्शन शुद्धपरिणमन है। निश्चय सम्यग्दर्शन, वह शुद्ध परिणमन है। व्यवहार समकित (कहा,

वह तो) राग को आरोप करके कहा है, वह कोई (समकित) है नहीं। व्यवहार-ब्यवहार समकित है ही नहीं। आहाहा! यह तो निश्चय समकित है, वहाँ राग को व्यवहार समकित का आरोप देकर समझाया है परन्तु वह समकित है ही नहीं। निश्चय सम्यक्त्व, वही सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप, पूर्ण अतीन्द्रिय अनन्त आनन्दादि गुण का सागर है। आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का गोदाम है। गोदाम समझ में आता है? बड़ा मकान हो, उसमें गोदाम हो, (उसमें) बड़ी चीज़ रह सके, ऐसा गोदाम। गोदाम कहते हैं न? हमारे यहाँ पालेज में तेरह गोदाम हैं। पालेज, हमारी वहाँ दुकान थी न! पालेज! भरुच और बड़ोदरा के बीच में पालेज है, गुजरात में है, वहाँ हमारी दुकान थी न! मैंने तो (संवत्) १९६८ से छोड़ दी थी, परन्तु (अभी) दुकान चलती है। बड़ी दुकान है। तेरह तो गोदाम हैं। पचास-पचास, साठ-साठ हजार के तेरह गोदाम! बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं। चार लाख की वर्ष की आमदनी है। पालेज, भरुच और बड़ोदरा के बीच में है। तेरह गोदाम हैं। अन्दर माल पड़ा होता है। चावल की बोरियों की थप्पी पड़ी होती है। इसी प्रकार यह भगवान गुणी! यह चावल की बोरी का बड़ा गोदाम होता है। यह गुणी आत्मा गुण का गोदाम है। आहाहा! भगवान आत्मा! आहाहा!

सम्यक्त्वादि.. आदि अर्थात् तीनों। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र। इन **अपने स्वभावरूप होने से..** पर्याय, हों! त्रिकाली नहीं। पर्याय जो है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो अपने स्वभावरूप शुद्ध परिणमन है। आहाहा! उस स्वभावरूप होने से अर्थात् लाईन (लम्बा डेश अर्थात्) अर्थात्। **परिणमन करने से..** त्रिकाली भगवान आत्मा में जो अनन्त गुण भरे हैं, श्रद्धागुण है, चारित्रगुण है, आनन्दगुण त्रिकाल है। उसके आश्रय से पर्याय में शुद्धस्वभाव का परिणमन होना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह मोक्ष का कारण है, ऐसी बात है। सम्प्रदाय में लोगों ने तो बाहर से कुछ मनवा लिया है। यह अपवास करो, यह वर्षी तप करो और क्या कहलाता है? भगवान की भक्ति करो, पूजा करो। यह भाव होता है, परन्तु वह भाव, बन्ध कारण है; मोक्ष का कारण नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : हेय मानेगा तो कोई करेगा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : करे नहीं, यही सत्य है। करनेयोग्य है नहीं, परन्तु होंगे। करनेयोग्य नहीं। सम्यग्दृष्टि को राग आता है परन्तु करनेयोग्य है, ऐसा नहीं मानता। इस प्रकार वह हितकर है, ऐसा नहीं मानता और वह अपना स्वभाव है, ऐसा नहीं मानता और वह मोक्ष का कारण है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! कठिन बात, भाई! दुनिया कुछ (अलग) मार्ग में चढ़ गयी है। प्रभु का मार्ग अन्दर कहीं रह गया है। आहाहा!

परिणमन करने से मोक्ष का कारणभूत होता हुआ,.. देखो! आहाहा! सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र, वह अपना शुद्ध परिणमन है। दया, दान, व्रत, भक्ति तो अशुद्ध परिणमन है। यह शुद्ध परिणमन है। पर्याय है परन्तु शुद्ध है। त्रिकाली के आश्रय से उत्पन्न हुई पर्याय है, वह शुद्ध है। वह शुद्ध पर्याय ही मोक्ष का कारण है। आहाहा! क्योंकि मोक्ष भी पर्याय है, मोक्ष भी पर्याय है और उसका कारण मोक्ष का मार्ग भी पर्याय है और संसार भी पर्याय है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष की पर्याय, वह संसार है। संसार अपनी पर्याय में है। संसार बाहर में नहीं रहता। आहाहा! इसी प्रकार मोक्षमार्ग अपनी पर्याय में है, बाहर में नहीं है। मोक्ष भी अपनी शुद्ध पूर्ण पर्याय है, बाहर में मोक्ष नहीं है। आहाहा! अपना शुद्ध परिणमन होना, (वह मोक्षमार्ग है)।

'नैष्कर्म्य-प्रतिबद्धम् उद्धतरसं' आहाहा! **निष्कर्म अवस्था के साथ..** यह पुण्य और पाप के भाव तो कर्म अवस्था है। यह (सम्यक्त्व आदि) निष्कर्म अवस्था है। आहाहा! निष्कर्म अवस्था, हों! वस्तु तो त्रिकाल है परन्तु त्रिकाल के अवलम्बन से निष्कर्म अवस्था प्रगट होती है। पर्याय! अवस्था कहो, पर्याय कहो, अल्पदशा कहो, वर्तमान शुद्ध परिणमन कहो। आहाहा!

निष्कर्म अवस्था के साथ.. यह पुण्य-पाप के परिणाम तो कर्म हैं। इनसे रहित निष्कर्म अवस्था आत्मा में होती है। स्वभाव के अवलम्बन से पुण्य और पाप की कर्म - अवस्था से भिन्न निष्कर्म अवस्था होती है। आहाहा! उस अवस्था के साथ **जिसका उद्धत (उत्कट) रस प्रतिबद्ध..** है। वह शुद्ध परिणमन में लीन है। धर्मात्मा अपने मोक्ष के मार्ग में शुद्ध परिणमन में वह लीन है, वही मोक्षमार्ग है। आहाहा! **(उत्कट) रस प्रतिबद्ध..** है। निर्मलानन्द नाथ पर्याय, पर्याय, हों! शुद्ध निर्मल पवित्र पर्याय उत्कट रसवाली है। अतीन्द्रिय आनन्द के रसवाली है। आहाहा!

सम्यग्दर्शन में, सम्यग्दर्शन जब होता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। राग, दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति है, वह दु:ख का स्वाद है। आहाहा! वह आस्रव है, राग है, दु:ख का स्वाद है और आत्मस्वभाव में जब दृष्टि हुई, ज्ञान हुआ तो अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का वेदन हुआ तो उस स्वाद के वेदन में उत्कट रस प्रतिबद्ध है। आहाहा! मोक्षमार्ग की पर्याय अतीन्द्रिय आनन्द के रस में प्रतिबद्ध है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म! लोगों को क्रियाकाण्ड में घुसा दिया और धर्म मनवाकर सम्प्रदाय चलाया। वीतरागमार्ग भिन्न है, प्रभु! आहाहा! ओहोहो! क्या कहते हैं?

निष्कर्म अवस्था के साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रस.. अतीन्द्रिय आनन्द का रस जिसमें प्रतिबद्ध है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का जिसमें वेदन है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारणरूप पर्याय है। आहाहा! वस्तु तो भाई! आचार्यों ने बहुत संक्षिप्त में (समाहित कर दी)। दिगम्बर भावलिंगी सन्त हैं। प्रचुर स्वसंवेदन जिन्हें वर्तमान में है, उन्हें मुनि कहते हैं। समकिती को भी आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्द का अंश आता है, तब सम्यग्दर्शन होता है, तो मुनि तो प्रचुर स्वसंवेदन में हैं। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन होता है, तब सच्चे मुनि होते हैं। यह क्रियाकाण्ड, व्रत और तप और क्रिया, यह सब तो बन्ध का कारण है। इनमें मुनिपना नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : निष्कर्म अवस्था के साथ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निष्कर्म अवस्था है। राग कर्म है, उससे रहित मोक्ष की निष्कर्म अवस्था है।

मुमुक्षु : निष्कर्म अवस्था के साथ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, स्वयं निष्कर्म अवस्था ही है। जो मोक्ष का मार्ग है, वह निष्कर्म अवस्था है। साथ-बाथ की बात नहीं। मोक्ष का मार्ग है, वह निष्कर्म अवस्था है। साथ में राग होता है, वह तो कर्म अवस्था है, वह बन्ध का कारण है, इसलिए त्याग किया। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

निष्कर्म दशा! पुण्य के परिणाम हैं, वह कर्म दशा है। उससे भगवान मोक्ष के मार्ग की दशा निष्कर्म दशा है। उसमें कर्म अवस्था है ही नहीं। आहाहा! उसमें तो आत्मा अनन्त

गुण का पिण्ड प्रभु, उसका शुद्धपरिणमन हो, वह निष्कर्म अवस्था है। आहाहा! आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं।

अमृतचन्द्राचार्यदेव का कलश है। उनकी टीका है, गाथा कुन्दकुन्दाचार्यदेव की है, गाथा! यह कलश है और टीका है, वह अमृतचन्द्राचार्यदेव की है। उन्होंने बनायी है। एक हजार वर्ष पहले यहाँ सम्प्रदाय में थे, दिगम्बर सम्प्रदाय में! कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले थे। उनकी टीका अमृतचन्द्राचार्यदेव ने बनायी। मूल रहस्य! फिर एक टीका जयसेनाचार्यदेव की है। संस्कृत में दो टीकायें हैं। आहाहा! **ऐसा ज्ञान,..** अर्थात् आत्मा का स्वभाव। **अपने आप दौड़ा चला आता है।** आहाहा! क्या कहते हैं ? पुण्य और पाप के भाव का निषेध करके, जो अपना शुद्धस्वरूप का आश्रय करके निष्कर्म अवस्था जो प्रगट होती है, कहते हैं कि वह तो दौड़ती चली आती है। निर्मल परिणति, परिणति, परिणति... परिणति... एकदम... एकदम... दौड़ती आती है। आहाहा! उसमें एक में दौड़ता कहा है न! प्रवचनसार में! पर्याय दौड़ती—आयत समुदाय है। दोपहर को आया था न ? विस्तार समुदाय (अर्थात्) गुण। आयत समुदाय, वह पर्याय है। दौड़ती पर्याय, ऐसा पाठ है। दौड़ती अर्थात् एकदम एक के बाद एक होती हुई। इस प्रकार आनन्द की दशा दौड़ती हुई एक के बाद एक आनन्द की दशा अन्दर चलती है। आहाहा! उसे यहाँ प्रभु मोक्षमार्ग कहते हैं। आहाहा! अब ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान का तो भान नहीं और बाहर व्रत और तप, भक्ति, पूजा करके कायक्लेश करके मर जाए (तो भी हित नहीं होता)। ऐसी बात है, प्रभु!

आहाहा! **अपने आप दौड़ा चला आता है।** क्या कहते हैं ? कि जिसे राग की मन्दता की भी अपेक्षा नहीं, वह निर्मल अवस्था अपने आप दौड़ती आती है, ऐसे निर्मल होकर आती है। आहाहा! शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा पूर्णानन्द के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान शुद्ध हुआ, वह दौड़ती पर्याय उत्पन्न होती है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। **'स्वयं धावति' 'स्वयं धावति'** स्वयं से, अपने पुरुषार्थ से ये तीनों वीतरागदशा (प्रगट होती है)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीनों वीतरागदशा है। आहाहा! क्योंकि प्रभु स्वयं जिनस्वरूप है। आत्मा 'घट-घट अन्तर जिन बसे और घट-घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सों मतवाला समझे न।' 'घट-घट अन्तर जिन बसे' प्रभु! अन्दर वीतराग

मूर्ति आत्मा है। उसकी शक्ति-स्वभाव त्रिकाली वीतरागस्वरूप है। जिनस्वरूपी आत्मा है। आहाहा! स्वभाव! उस जिनस्वरूप में से... आहाहा! आश्रय लेकर जो पर्याय हुई, वह स्वयं अपने से (हुई है)। कोई संहनन या मनुष्य या देव-गुरु की कृपा से या मदद से वह शुद्ध परिणति होती है, ऐसा नहीं है। स्वयं अपने आप दौड़ती आती है। आहाहा! जैसे आयत दौड़ती आती है, कहा है; वैसे यहाँ स्वयं दौड़ती आती है, (ऐसा कहा है)। दौड़ती कहते हैं न हिन्दी (में)? आहाहा! एक के बाद एक निर्मल पर्याय प्रगट होती है। आहाहा! क्योंकि पर्याय तो एक समय की अवस्था है। ध्रुव त्रिकाल है। एक समय की अवस्था के पीछे दूसरी, तीसरी... ऐसे एक के बाद एक दौड़ती निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है। उस परिणति को मोक्ष का मार्ग कहने में आता है। ऐसा है, भगवान! आहाहा!

गाथा ७२ में भगवानरूप से तो बुलाते हैं। समयसार की ७२ गाथा है। आचार्य महाराज स्वयं 'भगवान आत्मा' (ऐसा कहते हैं)। आहाहा! ७२ वीं गाथा है। भगवान आत्मा!—ऐसा कहकर बुलाते हैं। आहाहा! हे जीव कर्मसहित,—ऐसा कहकर नहीं बुलाते। आहाहा! भगवान आत्मा, वह तो राग-पुण्य की क्रिया से भिन्न ऐसा भगवान आत्मा है। आहाहा! उस भगवान आत्मा के अवलम्बन से जो निष्कर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतराग अवस्था है, वह दौड़ती प्रगट होती है। एक के बाद एक, एक के बाद एक... वीतरागी पर्याय ही उत्पन्न होती है। मोक्षमार्ग का आश्रय लेनेवाली, मोक्षमार्ग की पर्याय का आश्रय द्रव्य; द्रव्य का आश्रय लेनेवाली वह पर्याय एक के बाद एक दौड़ती उत्पन्न होती है। आहाहा! यह बात सुनते हुए ही कठिन लगती है।

अभी तो व्रत करो और तप करो और अपवास करो, साधु हो जाओ, वस्त्र छोड़कर नग्न (हो जाओ)। अब नग्न अनन्त बार हुआ है। पंच महाव्रत के परिणाम (अनन्त बार किये हैं)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' यह छहढाला में आता है। 'पै आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' ये पंच महाव्रत के परिणाम दु:ख हैं, आस्रव हैं। आहाहा! परन्तु आत्मज्ञान, आनन्द का अनुभव, उसके बिना संसार में भटका। पंच महाव्रत पालन किये, दिगम्बर मुनि द्रव्यलिंगी (हुआ)। द्रव्यलिंगी मुनिपना नग्न (दशा) वस्त्र का एक टुकड़ा न रखे, उसमें क्या हुआ? अन्तर में दृष्टि का अनुभव नहीं, सम्यग्दर्शन (नहीं), आनन्द का स्वाद आया नहीं तो उस क्रियाकाण्ड में तो परिभ्रमण का कारण है। आहाहा!

ऐसा ज्ञान, अपने आप दौड़ा.. अर्थात् पर्याय। ज्ञान अर्थात् यहाँ आत्मा के ज्ञान की पर्याय, समकित की पर्याय, चारित्र की पर्याय, सबको ज्ञान कहते हैं। वह **ज्ञान, अपने आप दौड़ा चला आता है।** आहाहा! अपने आप! स्वयं और अपने आप। शुद्ध चैतन्य भगवान का अवलम्बन लेने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए, वह स्वयं अपने से और दौड़ते चले आते हैं। एक के बाद एक, एक के बाद एक शुद्धपरिणति उसे प्रगट होती है और शुद्धपरिणति पूर्ण हो जाए, वह मोक्ष है। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ : कर्म को दूर करके,.. (अर्थात्) शुभाशुभभाव को दूर करके। **अपने सम्यक्त्वादिस्वभावरूप परिणमन करने से..** अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञानस्वभावरूप परिणमन करने से (अर्थात् कि) पर्याय में परिणमन करने से, अवस्था प्रगट करने से। **मोक्ष का कारणरूप होनेवाला ज्ञान अपने आप प्रगट होता है,..** यह ज्ञान का समकित, ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का चारित्र अपने आप प्रगट होता है। **तब फिर उसे कौन रोक सकता है?** आहाहा! विकार भी स्वयं से होता है, वह कहीं कर्म से नहीं होता। 'कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई' स्तुति में आता है। सब ऐसा कहते हैं कि राग, कर्म से होता है, कर्म से होता है। अरे! कर्म तो जड़ हैं, धूल है और राग-विकार तो अरूपी तेरी दशा में है। उसे तो निकाल डालने के लिए पुद्गल का कहा है। है तो तेरी पर्याय का विकार। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि मोक्ष के कारणरूप होता अपना आत्मा, उसकी पर्याय, अपने आप प्रगट होती है। उसे व्यवहार की भी अपेक्षा नहीं कि मन्दराग का व्यवहार किया तो वह शुद्ध समकित दर्शन (हुआ), (ऐसी) उसकी कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा! इसके लिए स्वयं कहते हैं और दौड़ा (आता है, ऐसा कहा)। अन्दर से एक के बाद एक निर्मल पर्याय चली आती है। द्रव्य का अवलम्बन लिया तो अन्दर शुद्धपरिणति एक के बाद एक दौड़ती आती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। सम्प्रदाय में तो कठिन पड़े। धमाल... धमाल! ऐ... बड़े मन्दिर बनाओ और प्रतिष्ठा करो तथा उसमें इन्द्र बने और उसमें लाख-लाख रुपये के इन्द्रों को (ऐसा लगे कि) मानों धर्म हो गया! धूल में भी धर्म नहीं।

मुमुक्षु : धर्म का कारण तो होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध का कारण है। क्या कहा?

मुमुक्षु : धर्म का कारण होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! धर्म (क्या), पुण्य का कारण है। निश्चय से तो 'पाप को पाप सब कहे परन्तु अनुभवीजन पुण्य को पाप कहे।' योगीन्द्रदेव के दोहे में आता है। 'पाप को पाप सब कहे परन्तु अनुभवीजन...' समकिती 'पुण्य को पाप कहे।' पाप (अर्थात्) अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। आहाहा! ऐसी बात सुनने को मिलना मुश्किल है। जहाँ हो वहाँ यह व्रत करो, तप करो, अपवास करो। क्रियाकाण्ड में धर्म मान लिया। आहाहा!

कलश-११०

अब आशंका उत्पन्न होती है कि-जब तक अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादि के कर्म का उदय रहता है तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? और कर्म तथा ज्ञान दोनों (-कर्म के निमित्त से होनेवाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) एक ही साथ कैसे रह सकते हैं? इसके समाधानार्थ काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

यावत्पाक-मुपैति कर्म-विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञान-समुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्,
मोक्षाय स्थित-मेक-मेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः।।११०।।

श्लोकार्थ : [यावत्] जब तक [ज्ञानस्य कर्मविरतिः] ज्ञान की कर्मविरति [सा सम्यक् पाकम् न उपैति] भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, [तावत्] तब तक [कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः न काचित् क्षतिः] कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है; उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। [किन्तु] किन्तु [अत्र अपि] यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में [अवशतः यत् कर्म समुल्लसति] अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, [तत् बन्धाय] वह तो बन्ध का कारण है, और [एकम्

एव परमं ज्ञानं स्थितम्] जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही [मोक्षाय] मोक्ष का कारण है– [स्वत: विमुक्तं] जो कि स्वत: विमुक्त है (अर्थात् तीनों काल परद्रव्य–भावों से भिन्न है।)

भावार्थ : जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक सम्यक्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं–शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञान के परस्पर विरोध है, वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है, और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय –कषाय के विकल्प या व्रत, नियम के विकल्प अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार तक भी –कर्मबन्ध का कारण है, शुद्धपरिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।।११०।।

श्लोक - ११० पर प्रवचन

११० कलश। इसमें अभी बाकी है न? **अब आशंका उत्पन्न होती है कि–जब तक अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादि के कर्म का उदय रहता है..** क्या कहते हैं? कि सम्यग्दृष्टि को राग तो आता है। **तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है?** तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? क्या (कहा)? कि सम्यग्दर्शन हुआ, अनुभव हुआ, आत्मा के आनन्द का स्वाद आया, उसे भी राग तो आता है। वीतराग होवे तो राग नहीं होता। निचले दर्जे में राग तो आता है। भक्ति का, विनय का, वाँचन का, श्रवण का ऐसा राग तो आता है, तो कहते हैं इत्यादि **कर्म का उदय रहता है, तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? और कर्म तथा ज्ञान दोनों (–कर्म के निमित्त से होनेवाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) एक ही साथ कैसे रह सकते हैं?** (ऐसा) शिष्य का प्रश्न है। कि एक तो अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और निर्विकारी परिणति तथा साथ में राग, ये दोनों एक साथ किस प्रकार रह सकते हैं?

शिष्य का प्रश्न यह है कि जब तक आत्मा पूर्ण वीतराग न हो, तब तक आत्मा में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र (की) निर्मल परिणति भी है और साथ में राग भी है। यदि राग

न हो तो वीतराग हो जाए, तो एक साथ ये दोनों किस प्रकार रह सकते हैं? ऐसा पूछता है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को भी जब तक वीतरागता नहीं है, तब तक भक्ति का, विनय का शुभराग तो आता है परन्तु है बन्ध का कारण। तो कहते हैं कि एक समय में शुद्ध परिणमन और दूसरा अशुद्ध राग, ऐसा कैसे होता है? अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे, पाँचवें (गुणस्थान में) कहीं वीतराग नहीं है। अपने स्वभाव की दृष्टि हुई, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (हुए), इतनी तो वीतरागता है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं तो राग भी आता है। वह राग बन्ध का कारण और शुद्धपरिणमन अबन्ध का कारण, दोनों एक साथ किस प्रकार रह सकते हैं? ऐसा प्रश्न है। समझ में आया? आहाहा!

(शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) एक ही साथ कैसे रह सकते हैं? आहाहा! ऐसी शिष्य की आशंका है, हों! है न? शंका दूसरी चीज़ है। शंका (अर्थात्) तुम कहते हो, वह झूठ है, यह शंका है और तुम कहते हो वह ठीक है परन्तु मैं समझ नहीं सकता, उसे आशंका कहते हैं। शंका तो, तुम कहते हो, वह झूठ है, यह शंका है परन्तु आशंका (अर्थात्) तुम कहते हो, वह बराबर है, परन्तु मुझे समझ में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? आशंका कही न? **आशंका उत्पन्न होती है..** ऐसा कहा था। यह क्या? प्रभु!

आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, वह वीतरागी परिणति हुई, वह मोक्ष का मार्ग है परन्तु इतने में पूर्ण वीतरागता नहीं तो राग तो साथ में आता है। दया का, दान का, भक्ति का, विनय का, शास्त्र वाँचन का, सुनने का (राग तो आता है) तो दोनों एक साथ किस प्रकार रह सकते हैं? ऐसी आशंका है। आहाहा! ११०। इसमें तो बहुत थोड़ा है। उसमें (कलश-टीका में) दो पृष्ठ भरे हैं, कलश-टीका में इस ११०, कलश में दो पृष्ठ भरे हैं। राजमलजी की टीका!

यावत्पाक-मुपैति कर्म-विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञान-समुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्,
मोक्षाय स्थित-मेक-मेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः।।११०।।

आहाहा! **'यावत्' जब तक 'ज्ञानस्य कर्मविरतिः' ज्ञान की कर्मविरति..** ज्ञान

की कर्मविरति अर्थात् आत्मा की शुद्धपरिणति में जब तक राग की पूर्ण निवृत्ति जब तक नहीं, तब तक **ज्ञान की कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती..** आत्मा का ज्ञान, दर्शन, चारित्र शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से हुए परन्तु राग की क्रिया का जब तक पूर्ण अभाव नहीं होता, तब तक राग की परिणति साथ में है। आहाहा! है?

ज्ञान की कर्मविरति.. ज्ञान अर्थात् आत्मा की शुद्धपरिणति, वह जब तक राग की पूर्ण निवृत्ति न हो, राग से पूर्ण निवृत्ति न हो, (तब तक) **भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती तब तक.. 'कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः न काचित् क्षतिः'** तो पुण्य के परिणाम भी साथ में हों और ज्ञान भी साथ में है। स्वरूप शुद्ध चैतन्य की दर्शन, ज्ञान और चारित्र, वीतरागी पर्याय, परन्तु अपूर्ण वीतरागी पर्याय भी धर्मी को होती है और साथ में राग भी होता है। उसमें कुछ विरोध नहीं है। जितना राग आता है, उतना बन्ध का कारण है और जितना स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, (वह) अबन्ध का कारण है, मोक्ष का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए **उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है।** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा, शुद्धस्वरूप पवित्र आनन्दकन्द के सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र ऐसी निर्मल परिणति उत्पन्न हुई, परन्तु पूर्ण निर्मल नहीं तो साथ में राग भी आता है तो उसमें कोई विरोध नहीं है। जितना राग है, उतना बन्ध का कारण है। शुद्ध आत्मा के स्वभाव के आश्रय से जितना मोक्षमार्ग उत्पन्न हुआ, वह मोक्ष का कारण है। दोनों भले हो, दो धारा (भले हो)।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को एक धारा है, बन्ध की धारा है। वीतराग को एक अबन्ध का धारा है और साधक को दोनों (धाराएँ) हैं। मोक्षमार्ग की धारा भी है और राग की भी धारा है, दोनों साथ में हैं। आहाहा! क्या कहा? कि मिथ्यादृष्टि राग से धर्म मानता है, पुण्य से धर्म मानता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि को तो अकेली कर्मधारा, विकारधारा है, तो उसे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान कुछ है नहीं; और सर्वज्ञ वीतराग हुए, उन्हें कर्म, राग है नहीं; अकेली निर्मल धारा है। मिथ्यादृष्टि को अकेली मलिन धारा है, सर्वज्ञ को अकेली निर्मल धारा है और साधक जीव को चौथे गुणस्थान से निर्मल धारा भी है और मलिन (धारा) भी है। अपूर्णता है न! आहाहा! समझ में आया?

जब तक राग, पुण्य के दया, दान के परिणाम मेरे हैं और मुझे लाभ होगा, ऐसी मिथ्यादृष्टि है, तब तक तो अकेली मिथ्यात्व की मलिन धारा है और सर्वज्ञ परमात्मा को अकेली निर्मल धारा है, उन्हें राग है नहीं परन्तु जब तक चौथे गुणस्थान में, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में साधक है, तब तक दोनों धाराएँ साथ में हैं। आत्मा के आश्रय से जो निर्मल पवित्र पर्याय हुई, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी पर्याय भी हो और साथ में जरा राग भी हो, पूर्ण वीतराग नहीं तो राग आता है, तो उसमें कुछ विरोध नहीं है। दोनों साथ में (रहे, उसमें) विरोध नहीं है। हाँ, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन को साथ में रहने में विरोध है। सम्यग्दर्शन भी हो और मिथ्यादर्शन भी हो, यह (साथ में रहने में) विरोध है परन्तु आत्मा में शुद्धपरिणति है और अशुद्धपरिणति साथ में रहे, उसमें विरोध नहीं है। दोनों हो। आहाहा! समझ में आया? प्रभु का मार्ग, भाई! अलौकिक है, भाई!

अभी तो प्ररूपणा ऐसी चलती है, साधु भी ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि व्रत करो, तप करो, अपवास करो, ऐसा करो, वैसा करो... यह तो क्रियाकाण्ड है, राग है। सम्यग्दर्शन की बात पहले नहीं की, भाई! राग से भिन्न होकर, पुण्य-पाप की क्रिया से भिन्न होकर, अपना आत्मस्वभाव जो शुद्ध चैतन्यघन पड़ा है, उसका अवलम्बन लेने से जो सम्यग्ज्ञान, दर्शन होता है, वही मोक्ष का कारण है, वह धर्म है। धर्मी को बीच में राग आता है, वह धर्म नहीं है। आता है, होता है, वीतराग नहीं तब तक होता है। आहाहा! समझ में आया?

जब तक ज्ञान की कर्मविरति.. आत्मा में राग की पूर्ण विरति न हो। **भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती..** ज्ञान अर्थात् आनन्द की दशा, वीतरागी दशा परिपूर्ण न हो, **तब तक.. 'कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः न काचित् क्षतिः'** पुण्य के परिणाम और ज्ञान की निर्मलदशा (का) **एकत्रितपना शास्त्र में कहा है;..** दोनों, भगवान ने शास्त्र में कहा है कि दोनों साथ में चलते हैं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में है, उसकी सम्यग्दर्शन की पर्याय जो वीतरागी है, वह निर्मल है परन्तु साथ में अभी तीन कषाय का राग है, तो राग भी हो और यह भी हो, उसमें कुछ विरोध नहीं है परन्तु जितना राग है, वह बन्ध का कारण है और मोक्ष का कारण (निर्मल परिणति है)। दोनों होने से, दो धारा के दो फल हैं। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! **कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है;..** देखा? **'विहितः'**

है न ? ज्ञान **'कर्मज्ञानसमुच्चय: अपि विहित:'** शब्द में **'विहित:'** शब्द है। भगवान ने शास्त्र में कहा है कि जब आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, स्वभाव के आश्रय से शुद्ध आनन्द का स्वाद (आता है) परन्तु अपूर्ण है, उसे राग भी है, तो राग भी है और स्वभाव भी है, शुद्धपरिणति भी है, शास्त्र में कहा है, भगवान ने कहा है।

मुमुक्षु : सब ऐसा कहते हैं शास्त्र में है परन्तु मुझे अनुभव में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी पूर्ण नहीं है, तब तक राग है, ऐसा शास्त्र में भी कहते हैं।

मुमुक्षु : राग अनुभव में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग तो अनुभव में-वेदन में आता है। वेदन में तो दोनों आते हैं। (राग को) अपना नहीं मानता। वेदन आता है, राग का वेदन तो है। नय है, सैंतालीस नय हैं, उनमें लिया है। प्रवचनसार (में लिया है)। समकिती को भी राग का परिणमन है और राग का भोक्ता भी है परन्तु वह ज्ञान की दृष्टि से (कहा है)।

मुमुक्षु : अनुभव है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव भी है और राग का वेदन भी है, दोनों हैं। यदि एक होवे तो वीतराग हो जाए और एक राग ही होवे तो मिथ्यादृष्टि हो जाए।

मुमुक्षु : ज्ञानी को भी दोनों हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ भी दोनों हैं। अभी पूर्ण नहीं न ? उपशम है न ! उपशम है। बारहवें गुणस्थान में भी अभी पूर्ण नहीं है। केवलज्ञान पूर्ण नहीं हुआ वहाँ। आहाहा ! यहाँ तो निचले (गुणस्थान की) बात चलती है।

मुमुक्षु : यहाँ छठे गुणस्थान की बात चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे, पाँचवें, छठवें (गुणस्थान की बात चलती है)। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में अपने स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन—ज्ञान चैतन्य की निर्मल परिणति है, साथ में राग भी है। शास्त्र कहते हैं और हम भी कहते हैं।

मुमुक्षु : ज्ञान में पकड़ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ में आता है, जानता है। राग (है, ऐसा) जानता है। आत्मा

का ज्ञान (हुआ) और साथ में राग आया तो उस समय जानता है कि राग है, परन्तु वह मेरी चीज़ नहीं है, दुःखदायक है, (ऐसा जानता है)। आहाहा! यह १२वीं गाथा में आया है। व्यवहार उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। संस्कृत में 'तदात्वे' (शब्द है) निश्चय अपने भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ, त्रिकाल ज्ञायकभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। पर्यायदृष्टि से और राग से कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। ऐसा हुआ तो भी जब तक पर्याय में पूर्ण वीतरागता नहीं है, तब तक, जब तक ऐसा है, तब तक राग भी होता है। होता है परन्तु राग है, वह बन्ध का कारण है और स्वभाव के आश्रय से जो निर्मल (पर्याय हुई), वह मोक्ष का कारण है। दोनों साथ रहते हैं। साथ में आते हैं तो वह राग मोक्ष का कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

देखो! क्या कहा? **कर्म..** अर्थात् शुभभाव की क्रिया, परिणाम। **और ज्ञान..** अर्थात् आत्मा की शुद्धपरिणति। (दोनों का) **एकत्रितपना शास्त्र में कहा है;.. 'विहितः' उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है।** साथ में होते हैं, इसमें विरोध नहीं है। दो हैं तो दोनों (अपना-अपना) काम करते हैं। शुद्धपरिणमन है, वह मोक्ष के कारण का-निर्जरा का काम करता है और अशुद्ध है, वह बन्ध का काम करता है। आहाहा!

उसमें बहुत लिखा है कि जो सम्यग्दर्शन है, वहाँ मिथ्यादर्शन साथ में हो, ऐसा नहीं होता परन्तु यहाँ शुद्धपरिणति अल्प है, उसके साथ राग की परिणति (भी है, उसमें) विरोध नहीं है। सम्यग्दर्शन के साथ मिथ्यादर्शन का विरोध है। मिथ्यादर्शन के साथ सम्यग्दर्शन का विरोध है परन्तु शुद्धपरिणति के साथ राग का विरोध नहीं। राग होता है तो ज्ञान में खटक हो गयी अथवा मोक्षमार्ग चला गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग!

वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा महाविदेह में (विराजते हैं, उनकी) यह सब वाणी है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे (उन्होंने यह शास्त्र) बनाया है। इसके कलश अमृतचन्द्राचार्यदेव ने बनाये जो एक हजार वर्ष बाद हुए। अभी से एक हजार वर्ष पहले और भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के एक हजार वर्ष बाद (हुए) अभी से एक हजार वर्ष पहले और कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद। कुन्दकुन्दाचार्यदेव को दो हजार वर्ष हुए, अमृतचन्द्राचार्यदेव को एक हजार वर्ष (हुए)। आहाहा!

उसमें (कलश-टीका में) तो दो बड़े पृष्ठ भरे हैं। ११० (कलश) हैं न! दो पृष्ठ, हों! बड़े। आहाहा! देखो! यह ११०, ११० यहाँ से शुरु (होता है)। बड़ा लम्बा बहुत है। दो पृष्ठ भरे हैं। यह सब स्पष्टीकरण होता है। राजमलजी की टीका है। राजमल जैन धर्मी, जैनधर्म के मर्मी! यह सब पढ़ा गया है।

अभी (नहीं)। सामने पुस्तक न होवे न! व्याख्यान में सब पढ़ा गया है। यहाँ तो ४४ वर्ष हुए। ४० और ४! यह तो उन्नीसवीं बार समयसार चलता है। अठारह बार तो पूरा अक्षरश: अक्षर के अर्थ (सहित) चल गया है। यह (कलश-टीका) भी चल गयी, प्रवचनसार दोपहर में चलता है, वह भी छठी-सातवीं बार चलता है। वह चलता हो न तो साथ में हो तो उसका अर्थ निकले।

यहाँ इसका विस्तार यह है कि कर्म अर्थात् पुण्य-परिणाम—दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और ज्ञान का एकत्रितपना (अर्थात्) आत्मा के स्वभाव का शुद्धपरिणमन (दोनों) एक साथ रहने में विरोध नहीं है। साधकपना है तो बाधकपना भी है, साधकपना भी है। आहाहा! राग को धर्म माननेवाले जीव को अकेला बाधकपना, मिथ्यादृष्टिपना है और वीतराग अकेले पूर्णानन्द को प्राप्त हो गये तो अकेली वीतराग धारा है और सम्यग्दर्शन चौथे, पाँचवें, छठवें (गुणस्थान में) है, वहाँ आगे शुद्ध धारा भी है और अशुद्ध धारा भी है। दोनों एक साथ रहने में विरोध नहीं। एक साथ रहने में विरोध नहीं। है तो राग नुकसानकारक परन्तु (साथ में) रहने में विरोध नहीं। आहाहा!

इसमें (कलश-टीका में) विस्तार किया है। इसका विस्तार तो ऐसा किया है, देखो! पहला शब्द है, ११० है। **कोई भ्रान्ति करेगा कि मिथ्यादृष्टि का यतिपना..** (अर्थात्) जो दिगम्बर साधु हों और राग से धर्म मानते हैं, पुण्य से धर्म मानते हैं, महाव्रत से मुझे धर्म होगा, वह मिथ्यादृष्टि है। उस मिथ्यादृष्टि का **यतिपना क्रियारूप है, वह बन्ध का कारण है, सम्यग्दृष्टि का है, जो यतिपना..** कोई ऐसा कहे कि सम्यग्दृष्टि का जो मुनिपना है, उसमें भी उसे पंच महाव्रत के परिणाम तो आते हैं, तो वह **शुभ क्रियारूप, सो मोक्ष का कारण है..** ऐसा कोई कहता है। **क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूप क्रिया दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं। ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते हैं।** इसका तो यहाँ स्पष्टीकरण है।

वहाँ समाधान ऐसा है कि जितनी शुभ-अशुभ क्रिया, बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यों के विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्मबन्ध का कारण है। इतना (स्पष्टीकरण) दिया। बनारसीदास ने लिखा है 'राजमल्ल जैनधर्मी, जैनधर्म के मर्मी।' बनारसीदास (ने) समयसार नाटक बनाया है न! इसमें से बनाया है। उन्होंने समयसार नाटक लिखा है। पहले से सब देखा है न! (संवत्) १९७८ में समयसार मिला है। कितने वर्ष हुए? १९७८ के वर्ष में पहले समयसार मिला। २२ और ३५ = ५७ वर्ष पहले। ५० और ७। बनारसीदास ने भी समयसार नाटक में ऐसा कहा 'राजमल्ल जैनधर्मी, जैनधर्म का मर्मी है।' उन्होंने यह टीका बनायी है। आहाहा! वह बाद में मिला था।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को महाव्रत का भाव आता है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, जब मुनि स्वसंवेदन में होते हैं, आत्मा के आनन्द का उत्कृष्ट वेदन (होता है), उस दशा में महाव्रत के परिणाम आते हैं, परन्तु है बन्ध का कारण। यह तो कहते हैं कि आत्मद्रव्य के अवलम्बन से जितना सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र हुआ, वह मोक्ष का कारण है और बीच में पंच महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण, पाँच समिति, तीन गुप्ति का व्यवहार आता है, वह बन्ध का कारण है। यदि न आवे तो वीतराग हो जाए और बिल्कुल ज्ञानपरिणति न हो, शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान न हो तो मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्व है। उसे एक धारा है। यह तो दो धाराएँ हैं। शुद्धपरिणति भी है और अशुद्धपरिणति भी है। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) **उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है।** इसमें ऐसा लिखा है कि सम्यग्दर्शन (और) मिथ्यादर्शन (के साथ में) रहने में विरोध है परन्तु वीतरागी परिणति अल्प है, उसमें राग आना, वह कोई विरोध नहीं है। राग आता है परन्तु है बन्ध का कारण। बन्ध का कारण और मोक्ष का कारण एक साथ रहने में विरोध नहीं है।

मुमुक्षु : साधक को बाधक (भाव) होवे ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे ही; साधक किसे कहते हैं? साधक है, वहाँ तक थोड़ा बाधकभाव तो आता ही है। पूर्ण साध्य सिद्ध केवली हो गये, (उन्हें राग नहीं है)। या अकेले राग को धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि को अकेली अज्ञानधारा है। उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। आहाहा!

किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में.. 'अवशतः यत् कर्म समुल्लसति' अवशपने.. जो राग आता है; कर्म अर्थात् राग। राग करने का भाव नहीं है परन्तु राग आये बिना रहता नहीं। पुरुषार्थ की कमजोरी है न! चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में रौद्रध्यान भी है। पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान है। छठवें गुणस्थान में आर्तध्यान है। मलिन (भाव) आते हैं परन्तु निर्मल भी साथ में है और मलिन भी साथ में है। मलिन है, वह बन्ध का कारण है और निर्मल है, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा! अकेले पंच महाव्रत पालता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। पंच महाव्रत के परिणाम आस्रव हैं, उन्हें धर्म मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि की धारा एक ही है, परन्तु अपने में शुद्ध चैतन्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ और पंच महाव्रत के परिणाम बन्ध का कारण है, ऐसी दृष्टि हुई, आगे (जाने पर) उसकी स्वसंवेदन की दशा उग्र हो गयी तो पंच महाव्रत के परिणाम आते हैं, तो धारा निर्मल ही है और मलिन भी है। मलिन धारा बन्ध का कारण है, निर्मल धारा मोक्ष का कारण है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म पड़े। आहाहा! यह तो ले लो प्रतिमा! परन्तु अभी सम्यग्दर्शन बिना प्रतिमा-फ्रतिमा आयी कहाँ से? दो प्रतिमा, चार प्रतिमा, सात प्रतिमा, ग्यारह प्रतिमा...

मुमुक्षु : सात प्रतिमा तक तो कोई उसका भाव नहीं पूछता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ (प्रतिमा) है। यह है न, एक व्यक्ति यहाँ आया था (उसने कहा) मेरे पास सात प्रतिमा है तो भी अभी हमें कोई पूछता नहीं, इसलिए ग्यारह प्रतिमा ले लूँगा, फिर लोग पूछे तो सही! अरे रे! वह राजकोट आया था, राजकोट। पंच कल्याणक में (आया था)। वह तो अकेला क्रियाकाण्ड। आत्मा कौन है? राग से भिन्न है, उस राग की क्रिया का कर्ता मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। राग आता अवश्य है परन्तु ज्ञानी उसे कर्तारूप से-करनेयोग्य है—ऐसा नहीं मानते और राग में अपनेपने की बुद्धि नहीं है और परबुद्धिरूप से उसे जानते हैं कि जाननेयोग्य चीज़ है परन्तु है बन्ध का कारण। धर्मी को भी राग आया, वह बन्ध का कारण है। आहाहा!

छठवें गुणस्थान में सच्चे सन्त हों, उन्हें पंच महाव्रत के विकल्प आते हैं परन्तु है राग। उसे छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो, तब सातवें (गुणस्थान में) अप्रमत्तदशा आती है

और छठवाँ (गुणस्थान) भी पहले सम्यग्दर्शन हुआ हो, उसे मुनिपना आता है। सम्यग्दर्शन का अभी ठिकाना न हो, (वहाँ मुनिपना कहाँ से होगा?) मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ, (ऐसा माननेवाले) तो सब मिथ्यादृष्टि हैं। अपनी पर्याय में विकार होता है तो वह विकार कर्म से होता है, (ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। कर्म तो जड़ है। 'कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई।' मेरी भूल अधिक है। कर्म तो जड़ है। 'अग्नि सहै घनघात लोह की संगति पाई।' भजन में आता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **अवशपने..** अवश अर्थात् बलजोरी नहीं, ज्ञानी को करने का भाव नहीं, परन्तु अवशपने पुरुषार्थ की कमी से राग आता है। **वह तो बन्ध का कारण है,..** सम्यग्दृष्टि को और मुनि को भी जो पंच महाव्रत का विकल्प आता है, सम्यग्दृष्टि को जो दया, दान, भक्ति के परिणाम आते हैं, वह बन्ध का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : अवशपने अर्थात् कर्म के उदय के कारण से?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् स्वयं को करने का भाव नहीं है, परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी से आवे, वह अवश, परवश हो गया। निमित्त के आधीन हो गया। निमित्त ने कराया नहीं। निमित्त के आधीन हो गया। पुरुषार्थ की कमी, वह अवश, परवश से (हुआ है)। परवश भी स्वयं अपने से हुआ है, परवश दूसरा कराता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **वह तो बन्ध का कारण है,..** है? परवशपने अर्थात् स्वयं को करने का भाव नहीं है, उसमें सुखबुद्धि नहीं है, हितबुद्धि नहीं है (और) राग आता है तो अवश कहने में आया। वह बन्ध का कारण है।

'एकम् एव परमं ज्ञानं स्थितम्' एक परम ज्ञानस्वरूप निर्मल परिणति, वह एक ही मोक्ष का कारण है। आहाहा! शुभ चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु, राग के विकल्प से निर्विकल्प भिन्न चीज़ है, उस निर्विकल्प स्वभाव के आश्रय से जो निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ, वह तो मोक्ष का कारण है। वह बन्ध का अंश भी कारण नहीं है। उसमें इससे भी स्पष्ट लिया है कि राग है, वह अंश भी मोक्ष का कारण नहीं है। बिल्कुल बन्ध का कारण है और मोक्ष का कारण है, वह अंश भी बन्ध का कारण नहीं है। उसके स्पष्टीकरण में यह लिया है। समझ में आया?

(अर्थात् तीनों काल परद्रव्य–भावों से भिन्न है।) आहाहा! मोक्ष की पर्याय जो कारण है, वह राग से तो तीनों काल भिन्न है। राग के साथ भले हो परन्तु वस्तु भिन्न है। राग से भिन्न है, वह मोक्ष का कारण है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २४१, कलश–११०–१११, दिनाङ्क ३१–०५–१९७९, गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल ५

समयसार, ११० कलश का भावार्थ है। **जब तक..** यथाख्यातचारित्र नहीं होता। भावार्थ में है। आत्मा में पूर्ण चारित्र होने पर जैसा अन्तर चारित्र का स्वरूप है, वैसा पर्याय में यथार्थचारित्र प्रगट (न) हो **तब तक सम्यक्दृष्टि के..** यथाख्यात पूर्ण चारित्र–स्वरूप की रमणता पूरी न हो, **तब तक सम्यक्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं...** दो धारा अर्थात् एक ज्ञानधारा और एक शुभाशुभ विकार धारा। शुभाशुभ कर्मधारा (और ज्ञानधारा) दोनों लिये। शुभ और अशुभ परिणाम वे भी होते हैं और ज्ञानधारा (अर्थात्) शुद्धस्वरूप की जैसी अनुभव दशा होकर जो शुद्धपरिणति हुई है, उसे यहाँ ज्ञानधारा कहते हैं अर्थात् शुद्धपरिणति हुई, उसे यहाँ ज्ञानधारा कहते हैं।

उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। शुद्धपरिणति भी हो और पुण्य–पाप के भाव भी हों। दो के रहने में विरोध नहीं है। विरोध नहीं अर्थात्? होते हैं। आत्मा का सम्यग्दर्शन–शुद्ध चैतन्यस्वरूप पूर्ण ध्रुव को ध्येय में लेकर जो सम्यग्दर्शन में अनुभव हो, वह शुद्ध धारा तो सदा रहती है और उसके साथ शुभाशुभ परिणाम के भाव भी साथ में होते हैं। ये **साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है।**

(जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञान के परस्पर विरोध है..) मिथ्याज्ञान हो और उस समय सम्यग्ज्ञान भी हो, ऐसा नहीं होता। मिथ्यादृष्टि भी हो और सम्यग्दृष्टिपना भी हो, ऐसा नहीं हो सकता। दोनों (में) अत्यन्त विरोध है।

मुमुक्षु : तीसरे गुणस्थान में होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीसरे में क्या है ? तीसरे में अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं, मिश्र है, परन्तु वह तो अन्तर्मुहूर्त की मिश्र की स्थिति है।

यहाँ तो चारित्रमोह का उदय और निर्मल धारा दोनों की बात करनी है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान और जितने अंश में शुद्धता हुई, वह धारा तो सदा रहती है और उसमें जितनी कमी है, उतना शुभाशुभभाव भी होता है। उन दोनों के साथ रहने में विरोध नहीं है।

मिश्र में तो जरा अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है। कुदेव को भी माने और सुदेव को भी माने, ऐसी एक सूक्ष्म साधारण बात है।

यहाँ तो रागधारा और आत्मा की शुद्धिधारा की बात है। चारित्रमोह का उदय हो, राग-द्वेष हो, विषय-कषाय भी हो और एक ओर आत्मा के सन्मुख की दृष्टि, ज्ञान और निर्मलता भी हो। यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक दो धाराएँ होती हैं।

(वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान एक समय में दोनों साथ में नहीं हो सकते। इसी प्रकार कर्मसामान्य... सामान्य अर्थात् शुभ-अशुभ। शुभ हो या अशुभभाव हो और आत्मा की शुद्धता। सम्यग्दर्शन की शुद्धता, ज्ञान का आंशिक वेदन और स्वरूप का आचरण इत्यादि। ऐसी धारा (साथ रहने में) विरोध नहीं है। कर्म सामान्य अर्थात् शुभाशुभभाव और इस ओर में स्वभाव के आश्रय से हुई शुद्धता, दोनों के एक साथ रहने में विरोध नहीं है।

ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है,.. आहाहा! शुभाशुभभाव होता है, वह अपना बन्ध का कार्य करता है। किसी समय ऐसा आवे कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है, वहाँ एकान्त खींच ले, ऐसा नहीं है। वह तो दृष्टि के जोर की अपेक्षा से बन्ध नहीं है और भोग निर्जरा का हेतु है, ऐसा भी कहा परन्तु वह भोग का भाव कहीं निर्जरा का हेतु नहीं है। वह भाव होता है, वह भाव अपना बन्ध का कार्य करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि का भोग तो निर्जरा का हेतु कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दृष्टि के जोर की अपेक्षा से बात है। (बाकी) भोग है, वह राग है। राग है, वह बन्ध का कारण है। यह तो दृष्टि के जोर की अपेक्षा से शुद्ध चैतन्यध्रुव पर जोर है, (इसलिए कहा)। परमस्वभावभाव पारिणामिक त्रिकाल ज्ञायकभाव के आश्रय

में पड़ा है, उस जोर से उसे रागादि आते हैं, वे खिर जाएँगे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जैसे भगवान को हिलने-चलने का उदय आता है, वह भी खिर जाता है। क्षायिकभाव है न!

यहाँ तो पुण्य-पाप के भाव में से चाहे जो कर्म सामान्य हो, रौद्रध्यान भी हो। पाँचवें गुणस्थान में, लो! छठवें में आर्तध्यान हो, चौथे-पाँचवें में रौद्रध्यान हो, ऐसे दो भाग होते हैं। इसीलिए उसमें **कर्म अपना कार्य करता है,..** शुभ-अशुभभाव आवें, वे बन्ध का कार्य करते हैं और **ज्ञान अपना कार्य करता है।** ज्ञान अर्थात् शुद्धपरिणति, हों! पर्याय में जितना सम्यग्दर्शन, ज्ञान शुद्ध हुआ है, उतना ज्ञान अपना कार्य करता है। अर्थात् कि वह तो निर्जरा का कार्य करता है। आहाहा! एक समय में दोनों हो सकते हैं। अन्धकार और प्रकाश में विरोध है, उनमें अविरोध नहीं है। प्रकाश हो, वहाँ अन्धकार नहीं होता और अन्धकार हो, वहाँ प्रकाश नहीं होता। ऐसे यह विरोध नहीं है। चैतन्य की द्रव्यदृष्टि ध्रुव (को) ध्येय करके जहाँ शुद्ध चैतन्य पर्याय में प्रगटा है, (वहाँ) अनन्त गुण की शुद्धि का अंश प्रगट हुआ है। आहाहा! उस अनन्त गुण की शुद्धि का अंश जो प्रगट हुआ है, वह अपना कार्य करता है। जानने-देखने का या निर्जरा का (कार्य करता है) और पुण्य-पापभाव बन्ध का कार्य करते हैं।

जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है.. आहाहा! पुण्य और पाप के जितने अंश में भाव हैं, **उतने अंश में कर्मबन्ध होता है..** लो! एक ओर ऐसा कहा कि समकिती को बन्ध नहीं है। उसमें से लोग पकड़ते हैं, देखो! समकिती को (बन्ध नहीं है)। दीपचन्दजी ने यह पकड़ा था न! कि समकिती को दुःख नहीं होता। यहाँ कहते हैं, शुभाशुभभाव है (तो) दुःख होता है। जहाँ तक यथाख्यातचारित्र न हो, वहाँ तक थोड़ा आनन्द का भी अनुभव होता है और शुभाशुभभाव का-दुःख का भी वेदन होता है। आहाहा! अपने पक्ष में पकड़ जाए न, तब कठिन पड़े उसे छूटना कठिन पड़ता है।

यहाँ तो यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक मुनि छठवें गुणस्थान में हों, उन्हें जितनी शुद्धि प्रगट हुई है, वह तो निर्जरा का काम करती है परन्तु उसके साथ पंच महाव्रत आदि के परिणाम हैं, वह बन्ध का काम करते हैं। आहाहा! दोनों के इस प्रकार से रहने में विरोध नहीं है।

जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है.. पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में भी लिया है न! पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में तीन गाथाएँ (२१२ से २१४) आती है न! जितने अंश में राग उतने अंश में बन्ध और जितने अंश में धर्म— सम्यग्दर्शन, उतने अंश में निर्जरा। तीन गाथाएँ हैं - दर्शन, ज्ञान और चारित्र। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय! किस अपेक्षा से कथन है, ऐसा न समझे (फिर) एकान्त खींचे कि सम्यग्दर्शन हुआ इसलिए फिर उसे उदय आकर खिर जाता है, उदय आकर खिर जाता है परन्तु उदय में जुड़ता है या नहीं? जुड़ता न हो, तब तो वीतराग हो जाए। आहाहा! उतना अपनी दशा में पराधीन (होकर) कर्ता-भोक्ता के परिणाम होते हैं। ज्ञाननय में ऐसा कहा कि ज्ञानी को भी कर्ता और भोक्ता के परिणाम होते हैं। परन्तु वे कर्ता-भोक्ता के जितने अशुद्ध परिणाम हैं, वह बन्ध का कारण है और जितनी द्रव्य के आश्रय से शुद्धता हुई है, वह पवित्रता का कारण है। आहाहा! **जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है।** देखा? उतने अंश में कर्म निर्जरित होते हैं।

विषय-कषाय के विकल्प.. होते हैं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि छह खण्ड के राज्य में पड़ा हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, उनकी ओर का राग भी हो और आत्मा की ओर की सम्यग्दर्शन की शुद्धता भी हो। दोनों साथ में होते हैं। **विषय-कषाय के विकल्प..** हों या **व्रत, नियम के विकल्प..** पहले अशुभ लिए और यह शुभ (लिए)। **शुद्ध स्वरूप का विचार तक भी..** शुद्धस्वरूप का विचार शब्द से (आशय) विकल्प है, वह तक भी **कर्मबन्ध का कारण है,..** आहाहा! शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ—ऐसा जो विकल्प उठता है, उसे यहाँ विचार कहकर, वह बन्ध का कारण (है, ऐसा कहा है)। आहाहा!

जितने अंश में वीतरागस्वरूप प्रभु है, उसके आश्रय से जितने अंश में वीतरागता प्रगट हुई है, उतने अंश में कर्म की निर्जरा है। आहाहा! जितनी स्व के आश्रय से परिणति प्रगट हुई है, वह निर्जरा का कारण है और परलक्ष्य से जितने शुभाशुभ हुए, उतना बन्ध का कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : विषय-कषाय और व्रत में परस्पर अन्तर है?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभाशुभ है न! भले नाम नहीं। यह आया न! कर्मधारा आयी न! **'यावत् ज्ञानस्य कर्मविरतिः'** पूर्ण हुई नहीं, ऐसा उसमें आया न! कर्म में आ गया या

नहीं ? कर्मविरति पूर्ण हुई नहीं, वहाँ शुभाशुभभाव है। आया या नहीं ? **'अवशतः यत् कर्म समुल्लसति'** यह अन्दर आया। उसे पराधीनरूप से कर्म अर्थात् शुभाशुभभाव उत्पन्न होते हैं। (मूल) कलश में है। **'अवशतः यत् कर्म समुल्लसति'** देखा ? **(जबरदस्ती से) जो कर्म प्रगट होता है अर्थात् उदय होता है..** यह शुभाशुभ है, वह बँधता है। आहाहा ! सामान्य बन्ध का कारण कहा, उसमें शुभाशुभभाव आ गये। अमृतचन्द्राचार्यदेव के कलश के पाठ में आ गये। कर्म सामान्य तथा एक ओर ज्ञानधारा। कर्म सामान्य में शुभाशुभ आये। आहाहा !

शुद्ध स्वरूप का विचार तक भी-कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है। एक आत्मा पवित्र शुद्ध चैतन्य ध्रुव ज्ञायकभाव के आश्रय से जो परिणति हुई, उतनी ही ज्ञानधारा है, वह मोक्ष का कारण है, क्योंकि आत्मा स्वयं मोक्षस्वरूप है, अबन्धस्वरूप है, मुक्तस्वरूप है। उसके अवलम्बन से जितनी परिणति हुई, वह सब मोक्ष का कारण है। आहाहा ! और उस क्षण जितने विषय-कषाय के परिणाम, शुभाशुभभाव हों या दया, दान, व्रत के (भाव) हों, वह बन्ध का कारण है। एक क्षण में दोनों के रहने में विरोध नहीं है। विरोध नहीं का अर्थ ऐसा नहीं कि शुद्ध परिणति से राग है, वह विरोध नहीं। वह शुद्ध परिणति से तो विरोध है परन्तु यहाँ साथ रहने में विरोध नहीं है, ऐसा। वरना शुद्ध परिणति से तो शुभाशुभभाव विरोध है। विरोध है, विरुद्ध भाव आया था न ? विरुद्ध भाव, परन्तु वह तो पवित्रता की दशा की अपेक्षा से विरोध है, ऐसा कहा परन्तु साथ में नहीं रह सकता, ऐसा विरोध नहीं है। सम्यग्दर्शन के साथ जैसे मिथ्यादर्शन नहीं रह सकता, वैसे यहाँ शुद्ध परिणति के साथ शुभाशुभभाव नहीं रह सकते, ऐसा नहीं है। आहाहा !

किसी जगह ऐसा कहा हो कि भाई ! सम्यग्दृष्टि को तो जो कुछ उदय है, वह खिर जाता है। निर्जरा की गाथा में आता है। इन्द्रिय का भोग है, वह सब निर्जरित हो जाता है। देखो ! (निर्जरा अधिकार की) पहली गाथा। किस अपेक्षा से कहते हैं ? इस शुद्धता के जोर से। नहीं तो वहाँ गाथा में तो सचेत-अचेत का भोग भी लिया है। सचेत-अचेत का भोग भी निर्जरा का हेतु है, ऐसा कहा। **'उवभोगमिंदियेहिं'** आहाहा ! वह तो स्वभाव की दृष्टि की ओर ढल गया भाव, अल्प जो पर के आश्रय रहा, उसे गौण करके बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा कहा है। आहाहा ! ऐसा करके कोई स्वच्छन्दी हो जाए कि सम्यग्दृष्टि हुआ,

अब फिर चाहे जितने विषय-कषाय सेवन करूँ तो मुझे बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं चलता। आहाहा!

जितने अंश में विषय-कषाय के परिणाम, शुभाशुभभाव जितने अंश में हों, उतने अंश में बन्धन है, उतने अंश में दुःख है, उतने अंश में आस्रव है। आहाहा! एक साथ रहने में विरोध नहीं है, इतना यहाँ सिद्ध करना है।

कलश-१११

अब कर्म और ज्ञान का नयविभाग बतलाते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्नाः कर्म-नयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्,
मग्ना ज्ञान-नयैषिणोऽपि यदति-स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।।१११।।

श्लोकार्थ : [कर्मनयावलम्बनपराः मग्नाः] कर्मनय के आलम्बन में तत्पर (कर्मनय के पक्षपाती) पुरुष डूबे हुए हैं [यत्] क्योंकि [ज्ञानं न जानन्ति] वे ज्ञान को नहीं जानते। [ज्ञाननय-एषिणः अपि मग्नाः] ज्ञाननय के इच्छुक (पक्षपाती) पुरुष भी डूबे हुए हैं [यत्] क्योंकि [अति स्वच्छन्दमन्दउद्यमाः] वे स्वच्छन्दता से अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं (-वे स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषयकषाय में वर्तते हैं)। [ते विश्वस्य उपरि तरन्ति] वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं, [ये स्वयं सततं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति] जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए-परिणमते हुए कर्म नहीं करते [च] और [जातु प्रमादस्य वशं न यान्ति] कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (-स्वरूप में उद्यमी रहते हैं)।

भावार्थ : यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया है क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है।

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बर को मोक्ष का कारण जानकर उसमें तत्पर रहते हैं–उसका पक्षपात करते हैं। ऐसे कर्मनय के पक्षपाती लोग–जो कि ज्ञान को तो नहीं जानते और कर्मनय में ही खेदखिन्न हैं वे–संसार में डूबते हैं।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूप को यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से अथवा अपने आप ही अन्तरंग में ज्ञान का स्वरूप मिथ्या प्रकार से कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं। वे अपनी परिणति में किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपने को सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं। ऐसे ज्ञाननय के पक्षपाती लोग जो कि स्वरूप का कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभ परिणामों को छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय–कषाय में वर्तते हैं, वे भी संसारसमुद्र में डूबते हैं।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मों को (अर्थात् शुभाशुभभावों को) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणति को ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं किन्तु शुभ कर्मों को भी छोड़कर, स्वरूप में स्थिर होने के लिए निरन्तर उद्यमी रहते हैं–वे सम्पूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। जबतक, पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता तबतक–यद्यपि स्वरूपस्थिरता का आन्तरिक–आलम्बन (अन्त:साधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है, तथापि–आन्तरिक–आलम्बन लेनेवाले को जो बाह्य आलम्बन होते हैं, ऐसे (शुद्ध स्वरूप के विचार आदि) शुभ परिणामों में वे जीव हेयबुद्धि से प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभ कर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मों का नाश करके, संसार से निवृत्त होते हैं।।१११।।

श्लोक – १११ पर प्रवचन

अब कर्म और ज्ञान का नयविभाग बतलाते हैं:– अब १११ श्लोक आया।

मग्ना: कर्म–नयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्,
मग्ना ज्ञान–नयैषिणोऽपि यदति–स्वच्छन्दमन्दोद्यमा: ।

विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।।१११।।

आहाहा! पुण्य-पाप व्याख्यान का यह कलश है। **'कर्मनयावलम्बनपराः मग्नाः'** **कर्मनय के आलम्बन में तत्पर..** अर्थात् कि व्रत, तप, भक्ति और पूजा का जिसे पक्ष है कि इनसे मेरा कल्याण होगा, वे **(कर्मनय के पक्षपाती) पुरुष डूबे हुए हैं..** आहाहा! व्रत, तप, भक्ति और पूजा तथा शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. हूँ—ऐसा जो विकल्प, वह भी बन्ध का कारण है, ऐसा न मानकर वह निर्जरा, धर्म है - ऐसा मानते हैं, वे डूब गये हैं। आहाहा! वे संसार में मिथ्यात्व में डूब गये हैं। आहाहा! मिथ्यात्व, वह संसार है।

आत्मा की पर्याय के अतिरिक्त संसार कहीं दूर नहीं रहता; इसलिए जो शुभाशुभभाव हो और ऐसा माने कि यह बन्ध का कारण नहीं, मुझे लाभ का कारण है - ऐसी जो मिथ्यादृष्टि; वह मिथ्यादृष्टि, वह संसार है। आहाहा! वे मिथ्यात्व में डूब गये हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से कल्याण होगा, ऐसा माननेवाले मिथ्यात्व में डूब गये हैं। आहाहा! है? **कर्मनय के आलम्बन में तत्पर पुरुष डूबे हुए हैं..** आहाहा!

क्योंकि वे ज्ञान को नहीं जानते। स्वरूप भगवान (आत्मा) पूर्णानन्द प्रभु, वह शुद्ध है, उसकी परिणति प्रगट नहीं करते और नहीं जानते। आहाहा! राग की क्रिया है, उसमें जो सर्वस्व मानकर बैठे हैं, वे मिथ्यात्व में डूब गये, संसार में डूबकर पड़े हैं। आहाहा! क्यों? कि **'ज्ञानं न जानन्ति'** चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्य वीतरागमूर्ति को तो वे पर्याय में जानते नहीं, पर्याय में उसे अनुभव नहीं करते, पर्याय में उसे श्रद्धा-ज्ञान में नहीं लेते। आहाहा! इस कारण से ज्ञान को अर्थात् आत्मा की शुद्ध परिणति उन्हें नहीं है, इसलिए वे मिथ्यात्व में डूब गये हैं। आहाहा!

'ज्ञाननय-एषिणः अपि मग्नाः' ज्ञाननय के इच्छुक.. इच्छुक कहा है। ज्ञाननय प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं। अनुभव प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं। आत्मा शुद्ध चैतन्य है, वह अनुभव में आया है, ऐसा नहीं, मात्र ज्ञान के क्षयोपशम की धारा को चाह करते हैं। उघाड़ हुआ, इसलिए मानो हमें ज्ञान हो गया! आहाहा! **ज्ञाननय के.. 'एषिणः'** शब्द है न! ज्ञाननय के शोधनेवाले, ज्ञान प्रगट हुआ नहीं। ज्ञानानन्दस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु, वह दृष्टि में-ज्ञान

में और परिणति में आया नहीं। मात्र ज्ञान के क्षयोपशम में... आहाहा! उसके इच्छुक। अर्थात् **(पक्षपाती)..** ज्ञान उघड़ा, उसका मात्र पक्षपाती कि हमें इससे मोक्ष होगा। भले हम विषय-कषाय चाहे जितने सेवन करें, परन्तु हमारे यह ज्ञान हुआ, इससे मुक्ति होगी। वे भी डूब गये हैं। आहाहा!

जैसे पुण्य-पाप के पक्षकार मिथ्यात्व में डूबे हैं, वैसे ज्ञानपरिणति, शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान है नहीं, अनुभव अन्तरवस्तु नहीं, अन्तर (स्वरूप) सन्मुख दृष्टि हुई नहीं, अन्तर्मुख करता नहीं। मात्र वर्तमान में ज्ञान के क्षयोपशम द्वारा हमें यह धर्म हुआ, ऐसा मानते हैं, वे भी मिथ्यात्व में डूब गये हैं। आहाहा! हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमें अब विषय-कषाय भोगने में क्या बाधा है? ऐसा माननेवाले (मिथ्यात्व में डूब गये हैं)। आहाहा! विषय-कषायभाव, भाई! दु:खरूप है। भगवान का स्वभाव तो आनन्द है। उस आनन्द की धारा जिसे प्रगट नहीं हुई और मात्र ज्ञान के उघाड़ की बातें करके विषय-कषाय में एकाकार लीन हो गये हैं, वे डूब गये हैं। आहाहा!

दो बातें की हैं। शुभ-अशुभभाव को मोक्ष माननेवाले, वे डूब गये हैं और शुद्धता का भान नहीं और यहाँ ज्ञान के क्षयोपशम में शुद्धता का अनुभव नहीं तथा शुद्धता की ओर मन्द उद्यम है। पाठ है न? **'मन्दउद्यमा:'** आहा! उस ओर का पुरुषार्थ मन्द है और विपरीत भाव में तीव्र पुरुषार्थ है। शुभाशुभभाव, विषय-कषाय के भाव में... आहाहा! तीव्र विपरीत भाव है। **प्रमादी हैं..** प्रमाद का पोटला! अन्दर ज्ञान का भान नहीं होता और हम ज्ञातादृष्टा हैं, ऐसा ज्ञान के क्षयोपशम की अकेली दशा से अन्तर्मुख के झुकाव की दशा बिना इस उघाड़ से ही मुझे धर्म की प्राप्ति होगी, वह भी कहते हैं कि ज्ञान के इच्छुक को स्वभाव का भान नहीं है और विषय-कषाय में तल्लीन हो गये हैं। वे भी डुबेगें। आहाहा! ऐसा है।

ज्ञाननय के.. 'एषिण:' ऐसा कहा न? वह तो मात्र इच्छुक है। वस्तु उघड़ी नहीं है तथा अन्तर्मुख प्रयत्न नहीं है। शुद्ध चैतन्यमूर्ति की ओर का झुकाव भी नहीं है। आहाहा! भावार्थ में है, इसमें-अर्थ में भी है। जो स्वरूप का कुछ पुरुषार्थ नहीं करते—जो स्वरूप का कुछ पुरुषार्थ नहीं करते। नीचे है, उसमें भी है - **'मन्दउद्यमा:'** है न? ऐसा शब्द है न? आहाहा! **'अति स्वच्छन्दमन्दउद्यमा:'** ऐसा है न? कैसे हैं? डूबे हुए क्यों हैं? कि **वे स्वच्छन्दता से अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं..** स्वरूप की ओर का प्रयत्न ही नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वरूप का प्रयत्न ही नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह नहीं है। स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य है, उस ओर का झुकाव ही नहीं, उस ओर का झुकाव ही नहीं और स्वच्छन्द सेवन कर ज्ञान के उघाड़ के नाम से विषय-कषाय सेवन करें तो भी हमें बन्ध नहीं है (-ऐसा माननेवाले) डूब गये हैं। आहाहा! वस्तु तो यह जितने अंश में जैसे है, वैसे है। आहाहा! ज्ञान के उघाड़ के नाम से हम पण्डित हैं, हमें जानकारी है (और) हमें निर्जरा अधिकार में कहा है कि अरतिभाव से सेवन करते हैं, उन्हें बन्ध नहीं है। आता है न? उसका हमें प्रेम नहीं है और हम सेवन करते हैं परन्तु प्रेम नहीं है और सेवन करते हैं, (ऐसा तू कहे तो) स्वरूप का उघाड़ होना चाहिए, तो प्रेम नहीं है। स्वरूप की दृष्टि की स्थिरता आदि श्रद्धा-ज्ञान में होवे तो उसमें (विषयादि में) प्रेम नहीं है, ऐसा कहा जाए परन्तु उसका प्रेम नहीं तो इसमें प्रेम है और विषय-कषाय में डूब गया है। आहाहा! ऐसा है। दोनों पहलुओं से (बात की है)। आहाहा!

ज्ञान के उघाड़ के नाम से अपनी महत्ता सेवन करे। आहाहा! दुनिया से पैसा माँगे, अनुकूलता ले और ऐसा कहे कि हमें तो ज्ञान है, परन्तु ज्ञान होवे तो निर्मलता होवे तो इस प्रकार का तीव्र लोभ ही नहीं होता। ज्ञान के उघाड़ के नाम से पर से माँगना, यह हो ही नहीं सकता। आहाहा! कठिन बात है, भाई! वीतराग की एक-एक बात ऐसी है। आहाहा!

देखो! इसका अर्थ किया, देखो! **वे स्वच्छन्दता से अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं..** अति मन्द उद्यमी हैं, ऐसा कहा है। **(-स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते,..)** अन्तर में झुकाव नहीं करते। अभी भले प्राप्त न हुए हों परन्तु अन्तर में झुकाव होता है, उसे भी यहाँ खड़ा रखा है, परन्तु जिसे अन्तर का झुकाव ही नहीं और अकेला मन्द उद्यम है, स्वभाव सन्मुख है नहीं और पुण्य-पाप की तीव्रता में पड़े हैं। आहाहा! है? **स्वच्छन्दता से अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं.. 'अति स्वच्छन्दमन्दउद्यमा:'** यह शब्द पड़ा है। सम्यग्दृष्टि न हो परन्तु सम्यग्दर्शन सन्मुख, मिथ्यादृष्टि हो, उसे यहाँ आगे इसमें नहीं रखा। समझ में आया? सम्यग्दर्शन के सन्मुख है; है अभी मिथ्यात्व परन्तु सन्मुख है, उसे इस पर की ओर के विषय-कषाय में लीनता नहीं होती, उसमें अन्दर रस नहीं होता। आहाहा! इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है—**'अति स्वच्छन्दमन्दउद्यमा:'**

अन्तर भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उस ओर का झुकाव और सन्मुखता जरा भी

नहीं और मात्र विषय-कषाय के परिणाम की ओर झुकाव में ही पड़ा है... आहाहा! गजब श्लोक है। जैसे वे पुण्य-पाप के करनेवाले भी धर्म मानकर डूबे हुए हैं, वैसे ही जिसे अन्तर्मुख का प्रयत्न ही नहीं, अन्तर्मुख (होने का) जो प्रयत्न चाहिए, वह प्रयत्न ही नहीं और अकेला बहिर्मुख का प्रयत्न है और ज्ञान का उघाड़ है, उससे हमें धर्म होगा, (ऐसा माननेवाले) भी डूबे हुए हैं। आहाहा! वे भी मिथ्यात्व में हैं, ऐसा कहना है। डूबे हुए अर्थात् कहाँ डूबे हैं? मिथ्यात्व में डूबे हुए हैं, वे संसार में डूबे हुए हैं। आहाहा!

वास्तविक अन्दर वस्तु प्रभु, शुद्ध आनन्दघन की ओर का झुकाव ही नहीं, झुकाव जरा भी नहीं और अकेले ज्ञान के उघाड़ के नाम से विषय-कषाय को सेवन करके स्वच्छन्दी (होकर) पैसा आदि अनेक प्रकार है न अभी? ज्ञान के नाम से पैसा उगाहे, हमें ज्ञान हुआ, इसलिए पैसा दो, ऐसा करो, वैसा करो। आहाहा! वह पर में एकदम लालसावाले (मिथ्यादृष्टि हैं।) अन्दर में तो अति मन्द उदय है अर्थात् उस ओर का झुकाव जरा भी नहीं। आहाहा!

स्वभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु, जो यही चीज़ है, वह आत्मा है। ऐसे पूर्णानन्द का ध्येय नहीं, ध्रुव का जिसे ध्येय नहीं और ज्ञान के उघाड़ में ध्येय (और) लक्ष्य तो मात्र पर की ओर है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर की ओर लक्ष्य है अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर की ओर नहीं, पर की ओर (ही है)। आत्मा के अतिरिक्त जितने परपदार्थ हैं, उतनी ओर का झुकाव है। आत्मा की ओर का मन्द उद्यम भी नहीं है और स्वच्छन्द में महा उद्यमवाले होकर (घूमते हैं)। आहाहा! ऐसी बात है।

(स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते,..) देखो! यह मन्द उदय की व्याख्या ऐसी की है। स्वरूप प्राप्ति का अन्तर झुकाव, पुरुषार्थ नहीं करते। प्रमादी (होकर) पड़े हैं। प्रमाद के पोटले हैं। आहाहा! **(और विषयकषाय में वर्तते हैं)**। वापस देखा? अति स्वच्छन्द है न! मन्द उद्यम अर्थात् स्व सन्मुख पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और अकेले विषय-कषाय में वर्तते हैं, ऐसा। आहाहा! वे भी डूबे हुए हैं। वह भी मिथ्यात्व में ही पड़े हैं, ऐसा कहना है। आहाहा!

'ते विश्वस्य उपरि तरन्ति' अब तीसरा, तीसरा... तीसरा (बोल) है। दो बोल

कहे, अब तीसरा। सम्यग्दृष्टि का (बोल कहते हैं)। **वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं..** कि.. **'ये स्वयं सततं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति'** आहाहा! **जो कि स्वयं निरन्तर..** आनन्दरूप होते हुए **ज्ञानरूप होते हुए–परिणमते हुए..** ज्ञान अर्थात् वस्तु जो ज्ञानस्वरूप है, उस प्रकार से परिणति में ज्ञानरूप होते हुए, ऐसा। आहाहा! जानने के क्षयोपशम का ज्ञान नहीं। वह तो जैसा स्वरूप चैतन्य है, उस प्रकार से उसका ज्ञान होने पर, उसका परिणमन होने पर, ऐसा। आहाहा!

जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए.. आहाहा! विश्व के ऊपर तैरते हुए अर्थात् राग से लेकर समस्त चीज़ों से भिन्न रहते हुए। ऊपर तैरते, ऐसा आता है न? १४४ (गाथा में)। ऊपर तैरते – (शब्द) आता है न! वहाँ आता है। विश्व ऊपर तरंता। राग से लेकर सब चीज़ से भिन्न रहकर। आहाहा! वे विश्व पर तरंता अर्थात् भिन्न रहते हुए। आहाहा! ज्ञानी को राग होता है, तथापि उससे वे भिन्न रहते हैं। आहाहा! स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसके ध्रुव के ध्यान में ध्येय तो ध्रुव है। उसमें अन्दर मग्न हैं, वे विश्व के ऊपर तैरते हैं। राग से लेकर सब चीज़ से भिन्न रहे हैं, ऐसा। तैरते हैं अर्थात् उससे भिन्न रहते हैं। आहाहा!

वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं.. 'ये स्वयं सततं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति' ऐसा। जो स्वयं निर्मल ज्ञानस्वरूप परिणमते हुए। ज्ञान अर्थात् आत्मस्वरूप (उस रूप) परिणमते हुए। पूरे आत्मा के स्वरूप का परिणमन करते हुए। आहाहा! **कर्म नहीं करते..** राग आवे, उसका कर्ता नहीं होता, अकर्तारूप से जानता है **और 'जातु प्रमादस्य वशं न यान्ति' कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (–स्वरूप में उद्यमी रहते हैं)।** आहाहा! धर्मी जीव तो सदा स्वरूप की ओर के झुकाव से चूकते नहीं। आहाहा! ध्रुव के ध्येय को भूलते नहीं। आहाहा! इसीलिए वे प्रमाद के वश नहीं होते। आहाहा! गजब, भाई! श्लोक! अमृतचन्द्राचार्य ने संक्षिप्त में बहुत डाला है! बहुत लिखा है!

'जातु प्रमादस्य वशं न यान्ति' कभी भी.. परन्तु.. कदाचित् कहते हैं न! **'जातु'** शब्द का (अर्थ) आता है न? कदाचित्, कभी, ऐसा। यहाँ 'कभी भी' डाला है। **प्रमादवश भी नहीं होते..** आहाहा! स्वरूप को भूलकर राग के वश नहीं होते। स्वरूप की जागृति तो धर्मी को सदा रहती है। फिर उसे भेदज्ञान नहीं करना पड़ता। आहाहा! भेदज्ञान हुआ

है, वह सदा रहा ही करता है। भेदरूप ही रहा करते हैं। स्वरूप-सन्मुख ही झुकाव जाने से राग से भिन्न की दशा सदा रहा ही करती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

भावार्थ : यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया है.. सर्वथा एकान्त। पुण्य-पाप के भाव से मोक्ष होगा, यह सर्वथा एकान्त मिथ्यात्व है। ऐसा आत्मा के स्वरूप सन्मुख के झुकाव बिना मात्र जानपने से मोक्ष होगा, यह भी एकान्त अभिप्राय है। आहाहा! **सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया है क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है।** आहाहा!

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानते नहीं.. भगवान तो ज्ञानस्वरूप ज्ञातादृष्टा है। त्रिकाली ज्ञातादृष्टा है, उसका तो ज्ञान नहीं, उसकी प्रतीति नहीं, उसका अनुभव नहीं **और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बर को..** आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान और दया, दान, व्रत के विकल्प। ऐसे **क्रियाकाण्ड के आडम्बर को..** सब क्रियाकाण्ड का आडम्बर है। आहाहा! उसमें घिर गया है। उससे भिन्न भगवान ज्ञातादृष्टा है, उसकी ओर तो झुकाव, सन्मुखता है नहीं और मात्र पुण्य की क्रिया में और पाप की क्रिया में। **क्रियाकाण्ड के आडम्बर को मोक्ष का कारण जानकर उसमें तत्पर रहते हैं..** आहाहा! अज्ञानी। **उसका पक्षपात करते हैं।**

ऐसे कर्मनय के पक्षपाती लोग.. कर्मनय अर्थात् यह पुण्य-पाप के भाव, वह (कर्मनय)। **जो कि ज्ञान को तो नहीं जानते..** भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव है, उसकी ओर तो ध्येय नहीं, झुकाव नहीं, विश्वास नहीं। उस ओर की रुचि की मन्दता है, ठिकाना नहीं। यहाँ बाहर में रुचि की उग्रता है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति (में) इतना उत्साह... इतना उत्साह... ओहोहो! मन्दिर में प्रतिमा स्थापित की तो मानो हमने क्या किया! कूदे, कूदे - ऐसे नाचे स्थापना करनेवाला! ऐसा कि आहाहा! हमने तो भगवान को (विराजमान किया)! परन्तु वह तो अकेला राग है। उस काल में आत्मा रागरहित है, उस ओर का झुकाव तो जरा भी नहीं है। शुद्ध चैतन्यघन आत्मा की ओर तो सन्मुखता, झुकाव है नहीं और मात्र परसन्मुख के राग में हमने मन्दिर स्थापित किया, हमने लाखों (रुपये) खर्च किये, पाँच लाख खर्च किये, दस लाख खर्च किये।

मुमुक्षु : पुण्य को हेय नहीं मानता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुण्य को उपादेय मानता है। आहाहा! अर्थात् धर्म का कारण मानता है। आहाहा!

ऐसे कर्मनय के पक्षपाती लोग-जो कि ज्ञान को तो नहीं जानते.. वस्तु भगवान शुद्ध चैतन्यघन है, उसकी ओर का तो झुकाव ही नहीं, उसकी ओर का तो कोई झुकाव ही नहीं। थोड़ा भी पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख हो, वह भी नहीं। सब पुरुषार्थ पुण्य और पाप में रोक दिया है, आहाहा! समझ में आया? **व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्ड..** वह सब क्रियाकाण्ड, राग है। आहाहा! पंच कल्याणक करे, धमाधम! उसमें लाख-दो लाख खर्च करे। इन्द्र हो। आहाहा! मानो कि हमने क्या किया! आहाहा! भाई! वह तो पर की ओर का झुकाववाला राग है। वह आत्मा के सन्मुखता की झुकाववाली दशा कहाँ है वहाँ? आहाहा! चाहे जितने पंच कल्याणक में करोड़ रुपये खर्च करे और पूरे गाँव को जीमावे। गाँव में प्रत्येक को (जीमावे क्योंकि) भगवान की प्रतिष्ठा की है! उससे क्या हुआ, कहते हैं। अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान की ओर का तो झुकाव नहीं और अकेले उस ओर के (बाह्य) झुकाव से धर्म मानता है, वे (मिथ्यात्व में) डूब गये हैं। आहाहा! यह बात...! हाथी निकाले, घोड़ा निकाले, आहाहा!

मुमुक्षु : अपने हाथी तो लाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं। लाते हैं तो भी उसकी मर्यादा है। उस ओर के वस्तु के भाग पर मर्यादा है, वहाँ जोर नहीं है। जोर यहाँ चाहिए। हो भले, वह तो कहा न! ज्ञानी को (ऐसा भाव) होता है, परन्तु उसमें वह एकाकार नहीं होता। आहाहा! हाथी, घोड़ा...

मुमुक्षु : लोग ऐसा कहते हैं कि तुम करो वह ठीक और हम करते हैं, वह ठीक नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा किसने कहा? जो कुछ आत्मा के स्वभाव की ओर झुकाव नहीं और करता है और अकेला पर की ओर झुकाव है, वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो यह (बात है)। चाहे वह बड़ी धमाल करे, पंच कल्याणक करे, गजरथ चलावे, उससे क्या हुआ? वह तो पर की क्रिया है। उस ओर भाव कदाचित् हो तो राग मन्द है और वह तो क्रियाकाण्ड है। उससे धर्म मानता है, वह तो डूब गया है। आहाहा! ऐसी बात है। उसमें

साधु को आहार-पानी दे और उसमें उत्साह करे... मानो अपना तो कल्याण हो जाएगा! भाई! वह तो परसन्मुख के झुकाव का भाव है, भाई!

मुमुक्षु : ऐसा तो शास्त्र में लिखा है कि मुनि को आहार दे तो संसार सीमित करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सीमित संसार किया, यह नहीं कहते। श्वेताम्बर में है, दिगम्बर में नहीं। श्वेताम्बर में कहते हैं (कि) इन साधु को आहार दे तो सीमित संसार (किया) बिल्कुल झूठ बात है। परद्रव्य की ओर के झुकाव का भाव, वह राग है; राग है, वह तो संसार का कारण है। उस समय अन्तर्दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होवे तो वह राग पुण्य का कारण है और यहाँ जितनी शुद्धता है, वह निर्जरा का कारण है। उसमें दोनों एक साथ होते हैं परन्तु आत्मा की शुद्धता की ओर उन्मुखता भी नहीं, झुकाव नहीं, रुचि नहीं... आहाहा! उसकी पूर्णता के प्रभुता की महिमा जिसे भासित नहीं होती और इस राग की क्रिया की जिसे महिमा भासित होती है, (वह मिथ्यात्व में डूबा हुआ है)। आहाहा! यह तो वीतरागमार्ग स्पष्ट है, बापू! इसमें कहीं (पोल चले ऐसा नहीं है)। आहाहा!

ज्ञान को तो नहीं जानते और कर्मनय में ही खेदखिन्न हैं.. देखा? इस शुभभाव में खेदखिन्न है। दुःख, अकेला दुःख वेदन करते हैं। **वे-संसार में डूबते हैं।** संसार (कहकर) मिथ्यात्व में डूब गये हैं, ऐसा कहना है।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूप को यथार्थ नहीं जानते.. जो भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानघन निर्मल स्वरूप को तो जानते नहीं **तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से अथवा अपने आप ही अन्तरंग में ज्ञान का स्वरूप..** आहाहा! **मिथ्या प्रकार से कल्पित करके..** वास्तविक स्वरूप की ओर झुकाव नहीं और मात्र बाहर के जानपने में (रुककर) आहाहा! **उसमें पक्षपात करते हैं। वे अपनी परिणति में किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना..** देखा? बात यहाँ है। इसमें भी है। अपनी दशा में कुछ भी अन्तर पड़े बिना, अन्तर्मुख के कुछ जरा भी झुकाव बिना। आहाहा!

वे अपनी परिणति में किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपने को सर्वथा अबन्ध मानते हैं.. हमारे अबन्ध है। हमारे क्या है? वह तो आता है न? निर्जरा अधिकार में नहीं आता? क्लेश करो तो करो.. आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य का एक कलश (कलश नंबर १४२) है। आहाहा!

मुमुक्षु : तपश्चर्या करते हैं, उसके लिए है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तपस्या करे, वह तो राग है, वह सब तपस्या कहाँ है ? आत्मा की ओर का झुकाव नहीं, (वहाँ) तपस्या (कैसी ?) छह-छह महीने के अपवास अनन्त बार किये। भगवान की आरती अनन्त बार उतारी, भगवान की सेवा, भक्ति, पूजा अनन्त बार (की है), वह तो पर की ओर का झुकाव तो राग है। आहाहा! '**परदव्वादो दुग्गई**' परद्रव्य के झुकाव की ओर तो चैतन्य की गति है ही नहीं। उसमें जानपने के नाम से उसमें रुक जाए और अन्तर का झुकाव नहीं करे, वे डूब गये हैं। आहाहा!

अपनी परिणति में किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना.. है न ? अति मन्द उद्यम है सही न! वे **अपने को सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं।** नहीं होती शुद्धता और अशुभ में पड़कर शुभ को छोड़ देते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्रियाकाण्ड शुभभाव है, उसे छोड़ देते हैं और अशुभ में पड़े हैं, शुद्धता का लक्ष्य नहीं है।

मुमुक्षु : क्रियाकाण्ड निरर्थक हुआ न।

पूज्य गुरुदेवश्री : निरर्थक ही है। क्रियाकाण्ड तो निरर्थक ही है परन्तु क्रियाकाण्ड निरर्थक है, वह ज्ञान के स्वरूप की खबर है, इस ओर सन्मुखता का झुकाव है, उसका क्रियाकाण्ड निरर्थक है। वह तो ज्ञानी को भी क्रियाकाण्ड निरर्थक है। वह तो इसमें आ गया न ? मिथ्यादृष्टि का यतिपना, वह बन्ध का कारण है और सम्यग्दृष्टि का यतिपना मोक्ष का कारण है - ऐसा है नहीं। यतिपना है, वे दोनों क्रियाकाण्ड हैं। यति के भरोसे रहना नहीं। अन्दर भगवान का भरोसा कर! आहाहा! बाहर के अट्ठाईस मूलगुण के भरोसे रहना नहीं। अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं, पंच महाव्रत पालते हैं, आजीवन ब्रह्मचर्य पालते हैं, उसके भरोसे रहना नहीं, क्योंकि वह तो परसन्मुख के झुकाव का भाव है। आहाहा!

व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं। ऐसा जानकर (छोड़ देते हैं)। स्वरूप की ओर दृष्टि नहीं, झुकाव नहीं और पुण्य को छोड़कर पाप में पड़े हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **ऐसे ज्ञाननय के पक्षपाती लोग जो कि स्वरूप का कोई पुरुषार्थ नहीं करते..** ऐसा। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसकी

ओर जरा भी झुकते नहीं, सन्मुखता नहीं, उस ओर के प्रयत्न का तो बिल्कुल अभाव है और मात्र ज्ञान के उघाड़ से धर्म मानकर विषय-कषाय का सेवन करते हैं। आहाहा! **ऐसे ज्ञाननय के पक्षपाती लोग जो कि स्वरूप का कोई पुरुषार्थ नहीं करते...** देखा? **और शुभ परिणामों को छोड़कर..** (छोड़) देते हैं, ऐसा लेते हैं। शुभ परिणाम को छोड़ देते हैं। वे **विषय-कषाय में वर्तते हैं, वे भी संसारसमुद्र में डूबते हैं।**

यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! जरा भी फेरफार होवे तो यहाँ ऐसा नहीं चलता, कहते हैं। ज्ञान का उघाड़ / क्षयोपशम है, वह परलक्ष्यी है। वह तो शब्दज्ञान है, वह कहीं आत्मज्ञान नहीं है। उस शब्दज्ञान में सन्तुष्ट होकर आत्मज्ञान की ओर झुकाव नहीं करते और बाकी कषाय के भाव तीव्र आया ही करें, तो भी दरकार नहीं करते। आहाहा! वे डूब गये हैं। आहाहा!

विषय-कषाय में वर्तते हैं,.. वापस ऐसा कहा न! स्वरूप का जरा भी उद्यम नहीं, **शुभ परिणामों को छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषाय में वर्तते हैं, वे भी संसारसमुद्र में..** मिथ्यात्व **डूबते हैं।** संसार समुद्र अर्थात् मिथ्यात्व। आहाहा! मिथ्यात्व ही संसार है। यह एकान्तपना है, यही मिथ्यात्व है और यही संसार है। अन्तर के स्वरूप की ओर झुकाव नहीं और मात्र ज्ञान के उघाड़ के भाव में ही धर्म मान (बैठे हैं)। शब्दज्ञान होकर, वह शब्दज्ञान तो ग्यारह अंग का ज्ञान अनन्त बार किया, वह यदि धर्म का कारण होवे तो ग्यारह अंग का ज्ञान अनन्त बार हुआ। आहाहा! उस शब्दज्ञान में सन्तुष्ट हो जाते हैं, परन्तु आत्मज्ञान की ओर झुकाव नहीं करते। यहाँ तो ऐसा है रोकड़-रोकड़ा, जितने हों उतने। आहाहा!

मुमुक्षु : सर्राफा की पैड़ी होवे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : आड़ा-टेढ़ा कुछ नहीं चलता। पहले ऐसा रिवाज था। रुपया खोटा हो तो चलने न दे। स्वयं जड़ दे, चौखट में जड़ दे। अपने चौखट में जड़ दे। वह इनकार करे तो कहे नहीं, चलने नहीं दूँगा। (यह तो) वीतराग की दुकान है, सर्राफी! उसमें कोई आड़ा-टेढ़ा चले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : उभयाभासी होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उभयाभासी भी वह है। आहाहा!

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए.. देखो! शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, ज्ञानरूप से परिणमते हुए धर्मी, **शुभाशुभ कर्मों को हेय जानते हैं..** तीसरे नम्बर के (जीव लिये)। **मोक्षमार्गी जीव..** शुद्धस्वरूप से परिणमते हुए। आहाहा! **शुभाशुभ कर्मों को हेय जानते हैं और शुद्ध परिणति को ही उपादेय जानते हैं।** वे तो शुद्धस्वभाव की निर्मल परिणति हो, वही उपादेय है, (ऐसा मानते हैं)। सम्यक्त्वी शुभभाव को उपादेय नहीं मानता। आहाहा!

वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं, किन्तु शुभ कर्मों को भी छोड़कर,.. शुभ—पुण्य। आहाहा! धर्मी **स्वरूप में स्थिर होने के लिए निरन्तर उद्यमी रहते हैं..** स्वरूप में स्थिर होने को निरन्तर उद्यमवन्त हैं। आहाहा! **वे सम्पूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं।** उस ओर वह पुरुषार्थ होता ही है। आहाहा! भेदज्ञान से... आता नहीं? भेदज्ञान से चारित्र होता है, (ऐसी) गाथा आती है न! यह उस ओर झुकाव ही होता है। अन्तर.. अन्तर.. अन्तर.. अन्तर्मुख। इससे वे **सम्पूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं।**

जबतक, पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता, तबतक–यद्यपि स्वरूपस्थिरता का आन्तरिक–आलम्बन (अन्तःसाधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है.. अन्तर ध्रुव ध्येय तो उसे ही है। आहाहा! ध्रुव का ही अवलम्बन है, ज्ञायक का ही अवलम्बन है। शुद्धभाव त्रिकाल अन्तरतत्त्व का ही अवलम्बन है। बहिर्तत्त्व रागादि का अवलम्बन भी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यद्यपि स्वरूपस्थिरता का आन्तरिक–आलम्बन (अन्तःसाधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है तथापि–आन्तरिक–आलम्बन लेनेवाले को जो बाह्य आलम्बन होते हैं, ऐसे (शुद्ध स्वरूप के विचार आदि) शुभ परिणामों में वे जीव हेयबुद्धि से प्रवर्तते हैं,.. समकिती को शुभभाव आता है, (परन्तु) हेय बुद्धि से प्रवर्तते हैं। आहाहा! **किन्तु शुभ कर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मों में..**

नहीं प्रवर्तते। बात यह है। (ऐसे) **प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी नहीं होती।** शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवर्तन करूँ, ऐसी बुद्धि कभी नहीं होती।

ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मों का नाश करके, संसार से निवृत्त होते हैं। लो! यह तीसरे बोल की बात की। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश-११२

अब, पुण्य-पाप अधिकार को पूर्ण करते हुए आचार्यदेव ज्ञान की महिमा करते हैं:-

(मन्दाक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रम-रस-भरान्नाटयत्पीत-मोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण।।११२।।

श्लोकार्थ : [पीतमोहं] मोहरूपी मदिरा के पीने से, [भ्रम-रस-भरात् भेदोन्मादं नाटयत्] भ्रमरस के भार से (अतिशयपने से) शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को जो नचाता है, [तत् सकलम् अपि कर्म] ऐसे समस्त कर्म को [बलेन] अपने बल द्वारा [मूलोन्मूलं कृत्वा] समूल उखाड़कर [ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्जजृम्भे] अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई। वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि जिसने [कवलिततमः] अज्ञानरूपी अन्धकार का ग्रास कर लिया है अर्थात् जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है, [हेला-उन्मिलत्] जो लीलामात्र से (-सहज पुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है और [परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि] जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है, ऐसी वह ज्ञानज्योति है। जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तब तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होने पर साक्षात् होती है।

भावार्थ : आपको (ज्ञानज्योति को) प्रतिबन्धक कर्म (भावकर्म) जो कि शुभाशुभ भेदरूप होकर नाचता था और ज्ञान को भुला देता था, उसे अपनी शक्ति से उखाड़कर ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्यसहित प्रकाशित हुई। वह ज्ञानज्योति अथवा ज्ञानकला केवलज्ञानरूपी परमकला का अंश है तथा वह केवलज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप को जानती है और उस ओर प्रगति करती है, इसलिए यह कहा है कि 'ज्ञानज्योति ने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।' ज्ञानकला सहजरूप से विकास को प्राप्त होती जाती है और अन्त में वह परम कला अर्थात् केवलज्ञान हो जाती है।।११२।।

टीका : पुण्य-पापरूप से दो पात्रों के रूप में नाचनेवाला कर्म एक पात्ररूप होकर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ : यद्यपि कर्म सामान्यतया एक ही है, तथापि उसने पुण्य-पापरूपी दो पात्रों का स्वांग धारण करके रंगभूमि में प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञान ने यथार्थतया एक जान लिया, तब वह एक पात्ररूप होकर रंगभूमि से बाहर निकल गया, और नृत्य करना बन्द कर दिया।

आश्रय, कारण, रूप, सवादसुं भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बन्ध भये सुखदु:खकरा रे।
ज्ञान भये दोउ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में पुण्य-पाप का प्ररूपक तीसरा अंक समाप्त हुआ।

प्रवचन नं. २४२, कलश-११२, दिनाङ्क ०१-०६-१९७९, शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल ६

समयसार, कलश ११२। अब, पुण्य-पाप अधिकार को पूर्ण करते हुए आचार्यदेव ज्ञान की महिमा करते हैं:- अन्तिम (कलश)।

भेदोन्मादं भ्रम-रस-भरान्नाटयत्पीत-मोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ।।११२।।

जिसने **मोहरूपी मदिरा के पीने से,..** ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसने मिथ्यात्व की शराब पी है **'भ्रम-रस-भरात्'** उसकी भ्रमणा के रस से-भार से-बोझ से। मिथ्याश्रद्धा **'पीतमोहं'** महामिथ्यात्व ऐसा मोह जिसने पीया है अर्थात् जिसके अनुभव में मिथ्यात्व है। आहाहा! वह जीव **भ्रमरस के भार से...** भ्रमणा के कारण **'भेदोन्मादं नाटयत्'** इन कर्म में भेद करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के रस (से) अतिशय भार से हुए **'भेदोन्मादं'** पुण्य और पाप दो में भेद करते हैं। पुण्य है, वह ठीक; पाप, वह ठीक नहीं - ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व के जोर के कारण, कर्म का एक ही प्रकार है, उसमें दो भेद करता है। आहाहा! **'भेदोन्मादं नाटयत्'** कर्म के भेद को - उन्माद को-पागलपन को। आहाहा! यह शुभभाव व्रत, तप, भक्ति ठीक है अथवा इससे धीरे-धीरे आगे जाया जा सकेगा, ऐसा अज्ञानी... आहाहा! भेदरूपी पागलपन के कारण। यह भेद पागलपन-पागल मिथ्यात्व है, इसलिए भेद करता है। आहाहा!

पुण्य और पाप दोनों भाव एक ही कर्म ही है। उसमें अज्ञानी पागलपन करके भेद करता है। कितने विशेषण दिये! मोह पीया है, मोह के भार से विशेषरूप से अतिशयरूप से मिथ्यात्व का जोर स्फुरित हुआ है। आहाहा! वे जीव, कर्म एक ही प्रकार के, पुण्य और पाप दोनों एक ही प्रकार हैं, (तथापि) अज्ञानी उनमें भेद करता है। आहाहा! ऐसा तो स्पष्टीकरण है, तो भी फिर सब डालते हैं। अन्दर डाले शुभभाव यह व्रत, तप, प्रतिमा में से भी निश्चय (में) जाया जाता है। कहो!

यहाँ कहते हैं **ऐसे समस्त कर्म को..** अब टालने की बात है। यह बात तो पागलपन -उन्माद होकर कर्म—पुण्य शुभ और अशुभभाव दोनों एक ही कर्म है, उसे पागलपन से भेद करता है। आहाहा! पागल होकर मिथ्यात्व के भ्रम में पुण्य, व्रत, नियम, तप ठीक है और पापपरिणाम ठीक नहीं, ऐसा अज्ञानी मिथ्यात्व का पीया हुआ, अनुभवी—मिथ्यात्व का अनुभवी... आहाहा! भेद के उन्माद (में) पागलपने नचाता है। कठिन बात है। ऐसा तो स्पष्ट है।

मुमुक्षु : आचार्य (उसे) पागल तो कहते हैं, दोनों में भेद करे उसे (पागल कहते हैं)।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल ही है। भेद को उन्माद कहा न! **'भेदोन्मादं'** भेद करता है, वही उन्माद, पागलपन है। आहाहा! अब अभी तो सब गड़बड़ यह चलती है, शुभभाव होवे, व्रत होवे, तप होवे, भक्ति (होवे)। अर र! ऐसी बात, प्रभु! आहाहा!

शुद्ध चैतन्य भगवान, अतीन्द्रिय अमृत का चैतन्य रसकन्द विराजता है, प्रभु! उसमें हीनता, खोट, विघ्न और आवरण है ही नहीं। ऐसा सत्त्व भगवान आत्मा का अनादर करके मिथ्यात्व की मदिरा पीये हुए। मिथ्यात्व की मदिरा पी है, ऐसा कहा। वह शराब नहीं। भेद का उन्माद—दो को भिन्न करता है। उन्माद और पागलपन के कारण (भेद करता है)। आहाहा! ऐसा कठिन लगता है। अभी सर्वत्र यह चलता है। साधुपने में प्रतिमाधारी (ऐसा कहे कि) प्रतिमा लो और यह लो। परन्तु अभी मूल में ठिकाना नहीं, (वहाँ) प्रतिमा का तो विकल्प है। वह अच्छा कहाँ से आया? आहाहा!

शुभ और अशुभभाव दोनों एक ही हैं। शुभाशुभकर्म आठों (ले लेना), तो भी उनके **भेदरूपी उन्माद (पागलपने) को जो नचाता है..** आहाहा! मिथ्यात्व परिणमाता है। आहाहा! भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप अमृत चैतन्य रत्नाकर का समुद्र, उससे विपरीत पुण्य और पाप में भेद करके गहलता खड़ी करता है। आहाहा! ऐसे कर्म को, **ऐसे समस्त कर्म को.. 'बलेन' अपने बल द्वारा..** अब सुलटा पड़ा। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध है, ऐसे अन्तर के बल द्वारा पुण्य और पाप दोनों को एक मानकर छोड़ देता है। आहाहा! **अपने बल द्वारा..** वापस, भाषा ऐसी है। आत्मा के बल—पुरुषार्थ द्वारा। वह पुरुषार्थ कोई राग की मन्दता हुई, इसलिए यह बल उन्हें नाश करने का प्रगट हुआ, (ऐसा नहीं है)। जिसे नाश करना है, उससे बल कैसे प्रगट हो? आहाहा! उसे तो भिन्न करना है, उसका नाश करना है। वह उसके बल में मदद कैसे करे? इसलिए शब्द प्रयोग किया है—**अपने बल द्वारा..** ऐसा कहते हैं। आत्मा के बल द्वारा।

शुद्ध भगवान परमात्मा अमृतस्वरूप, अमृत का महासमुद्र, स्वयंभूरमण! आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण की पवित्रता से विराजमान प्रभु के बल द्वारा—आत्मा की ओर के बल

द्वारा धर्मी जीव.. आहाहा! **'मूलोन्मूलं कृत्वा'** मूल से उन्मूलनं (अर्थात्) उसका मूल उखाड़ डालता है। आहाहा! मिथ्यात्व का एक अंश न रहे, इस प्रकार से उखाड़ डालता है, ऐसा कहते हैं।

आहाहा! नटुभाई! तुम्हारे पालीताणा कुछ चलता है या नहीं? आहाहा! वे नानुभाई यहाँ आये है न? पालीताणा नहीं? यहाँ बोर्डिंग में वे कहते थे कि ऐसा हमारे यहाँ पालीताणा में तो चलता नहीं। वहाँ तो पूरे दिन होली सुलगती है। यह चढ़े और उतरे यह किया और वह किया, अमुक किया, डोली में बैठकर गये और आये। आहाहा! माला गिनकर चढ़े और माला गिनकर उतरे। देखा है न! आहाहा!

कहते हैं कि ऐसा जो भेद करता है कि यह यात्रा का भाव अच्छा और घर में बैठे विषय-कषाय का भाव (होवे वह) खराब, (वह मिथ्यादृष्टि है)। आहाहा! दुकान का, व्यापार का भाव खराब और भक्ति तथा यात्रा का भाव अच्छा, ऐसा मिथ्यादृष्टि के जोर से भेद को गहलता से भिन्न करता है - ऐसा कहते हैं। उसे **समस्त कर्म को..** समस्त कर्म अर्थात् शुभ हो या अशुभ हो, ऐसा। पुण्य हो या पाप हो, ऐसा। दोनों को, समस्त कर्म का अर्थ यह है। शुभ हो या अशुभ हो, दोनों को **अपने बल द्वारा..** भगवान आत्मा, शुद्ध स्वभाव के आश्रय से, बल द्वारा, उसके अवलम्बन से.. आहाहा! **'मूलोन्मूलं कृत्वा'** आहाहा! शुभ और अशुभ को मूल में से उखाड़ डालता है। आहाहा! जैसे गधा घास चरता है, वह मूल में से निकालता है। इसी प्रकार यह ज्ञानी मूल में से (मिथ्यात्व को उखाड़ डालते हैं)। आहाहा! वह (घास को मूल से उखाड़नेवाला) गधा है और यह ज्ञानी है। कठिन काम।

और कहेंगे कि पूरे दिन काम करना और फिर कहे.. बापू! कौन करे? भाई! भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु, आनन्द का बड़ा बादशाह! आहाहा! अनन्त चैतन्य रत्नाकर बादशाह का जहाँ पुरुषार्थ में जोर आया, उसके बल द्वारा। भेद को-उन्माद को अज्ञानी नचाता था, उसको मूल में से उखाड़ डालता है। आंशिक भी राग का अंश रहता है, (ऐसा नहीं)। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव ठीक है, (ऐसा नहीं) उस भाव को भी यहाँ मूल में से उखाड़ डालता है। आहाहा! ऐसी बात है। मूल में से उखाड़ डालकर...

तीन शब्द हैं न **'मूलोन्मूलं कृत्वा'** मूल में से उन्मूलनं-उन्मूलनं-उखाड़ डालकर, जड़ तोड़ डालकर अर्थात् उखाड़ डालकर। आहाहा!

'ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्जजृम्भे' चैतन्यमूर्ति ज्ञातादृष्टा। **ज्ञानज्योति.. 'भरेण'** अर्थात् **अत्यन्त.. 'प्रोज्जजृम्भे' सामर्थ्ययुक्त..** आहाहा! अपनी **अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त..** परिणति में, हों! आहाहा! ज्ञानज्योति चैतन्यमूर्ति की दृष्टि होने पर शुद्ध पूर्ण परमात्मस्वरूप का आश्रय होने से ज्ञानज्योति पर्याय में प्रगट होती है, परिणमती है। वह (मोह को) **समूल उखाड़कर अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति..** अत्यन्त सामर्थ्यसहित (अर्थात्) उसे अब कोई विघ्न कर सके या (उस) पर्याय को कोई वापस गिरा दे, ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! पंचम काल के साधु सन्त ऐसी बात करते हैं। परमात्मा के विरह में रहे। आहाहा!

मुमुक्षु : परमात्मा का विरह भुला दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भगवान! उन परमात्मा को मिले तो वह तो राग है। आहाहा! इस परमात्मा को मिलने से वीतरागता होती है। आहाहा! तीन लोक के नाथ वीतराग तीर्थंकर की हाजिरी समवसरण में (होवे) उसमें क्या? उस ओर का सुनने का या भक्ति का झुकाव है, वह तो शुभराग है।

यहाँ तो आत्मबल द्वारा, शुभ या अशुभ किसी भी अंश को मूल में से उखाड़ डालकर। आहाहा! क्या वाणी! फिर से उत्पन्न न हो, इस प्रकार मूल में से उखाड़कर, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति.. 'भरेण' 'भरेण'** (शब्द) है न? भार.. भार, बोझा। **'प्रोज्जजृम्भे' प्रगट हुई।** ज्ञानज्योति अतिशय बल द्वारा प्रगट हुई। भगवान आत्मा चैतन्यसागर, बादशाह, अनन्त गुण का बादशाह। आहाहा! निर्मल पर्याय आदि मेरी प्रजा। ऐसा जो भगवान बादशाह, अपनी परिणति में निर्मलपने के जोर से राग के दो भाग को मूल से उखाड़ डालता है। आहाहा! यहाँ तो अभी (लोगों को) पाप से निर्वृत होने का समय नहीं मिलता। दुकान और धन्धा और वकालात... ऐई! नटुभाई! आहाहा! यह प्रभु पुण्य-पाप के परिणाम से निवृत्त स्वरूप ही है। आहाहा!

मुमुक्षु : वकालात का धन्धा पाप का है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालात का धन्धा अकेला पाप का है। बहुत लोगों को पाप

में जोड़ दिया। बहुतों को पाप में जीताया है। उस समय वकालात में यही बड़े कहलाते थे। काठियावाड़ में रामजीभाई अर्थात्... हमारे मनुभाई कहते हैं, 'कांप' में एक मनहरभाई वकील है।

मुमुक्षु : अहमदाबाद।

पूज्य गुरुदेवश्री : अहमदाबाद... अहमदाबाद, हों! वहाँ वे रात्रि को प्रतिदिन आते हैं, दिन में व्याख्यान में आते हैं। उनके समय में तो वे एक ही थे, बस! रामजीभाई अर्थात् रामजीभाई, बस!

मुमुक्षु : वकील एक ही होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही होता है, परन्तु पाप। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु अकेला आत्मा जिसे पुण्य, शुभाशुभभाव की जिसे गन्ध नहीं। जो प्रभु शुभाशुभभावरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! चाहे जितने शुभ-अशुभभाव किये हों, हुए हों, परन्तु वस्तु प्रभु है, वह चैतन्यरस अतीन्द्रिय अमृत का सागर प्रभु, स्वयंभूरमण समुद्र है। ऐसा स्वयंभू प्रभु आत्मा, वह शुभ और अशुभभाव से कभी हुआ नहीं। पर्याय में (मिथ्यात्व) था, उसे मूल से उखाड़ डाला। आहाहा! कहो, सुरेन्द्रभाई! ऐसी बातें हैं। लोगों को ऐसा लगता है कि यह एकान्त.. एकान्त.. एकान्त है। व्यवहार का तो लोप करते हैं। लोप भी नहीं, यहाँ तो व्यवहार को उन्मूल (मूल में से) निकाल डालते हैं। उसका मूल फिर से उत्पन्न न हो, ऐसे निकाल डालते हैं। आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी! यही वस्तु की स्थिति है। आहाहा!

प्रभावना का शुभभाव आवे। भगवान की प्रभावना करे, पुस्तक-शास्त्र बनावे, उसमें से कुछ लाभ होगा या नहीं? त्याग-ग्रहण में तो ऐसा आता है। नहीं वह दस प्रकार का? त्याग-ग्रहण। त्याग में ऐसा आता है कि अपने पास पुस्तक आदि हों तो दूसरे को देना। यह तो वहाँ प्रमाद के राग का अंश उस ओर ढला है, उसे घटाते हैं, नाश करते हैं। पुस्तक दूसरे को देने से वहाँ त्यागधर्म होता है, (ऐसा नहीं है)। पुस्तक का त्याग तो पहले से अन्दर है। त्याग-ग्रहणरहित ही आत्मा है। पुस्तक के त्याग-ग्रहण से तो रहित ही है, तथापि पद्मनन्दीपंचविंशतिका (में) ऐसा कथन आता है कि यह त्याग करे। अपने पास

पुस्तक हो, उसे कोई माँगे तो तुरन्त दे। उसका हेतु यह है कि उस ओर की जरा आसक्ति थी, वह छोड़ दे। मेरा प्रभु मेरे पास है। मुझे किसी शास्त्र की भी आवश्यकता नहीं है। आहाहा! यह सब शास्त्र निकले हैं, मेरी ज्ञान की शुद्ध परिणति हुई, उसमें से निकले हैं। आहाहा! केवलज्ञान की परिणति हुई, उसमें से शास्त्र निमित्त से निकले, तो उस शास्त्र में से मुझे मिले, ऐसा नहीं है। मैं शास्त्र को बनाऊँ, विकल्प होवे तो रचना (करूँ), ऐसा कहते हैं परन्तु उस विकल्प को मैं तो मूल में से उखाड़ डालता हूँ। वह मुझे लाभदायक है, ऐसा नहीं है। आहाहा! (ऐसा सुने) फिर सोनगढ़वालों को एकान्त कहे न! एकान्त है.. एकान्त है.. सब चिल्लाहट मचाते हैं। भगवान! खबर नहीं, उसे खबर नहीं।

एक ओर महाप्रभु विराजता है। एक पक्ष में पुण्य-पाप के भाव और एक पक्ष में परमात्मा है। अब तुझे किसके पक्ष में जाना है? आहाहा! एक ओर भगवान अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. इसमें कहीं कहेंगे, हों! **'परमकलया'** उसमें कहेंगे। आहाहा! **अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई। कैसी है वह ज्ञानज्योति 'कवलिततमः' अज्ञानरूपी अन्धकार का ग्रास कर लिया है.. 'कवलिततमः'** आहाहा! राग से धर्म होता है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसका तो नाश कर डाला है, ग्रास कर डाला है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप महाप्रभु, अनन्त-अनन्त अमृत के सागर से भरपूर, एक-एक गुण अमृतस्वरूप है। एक-एक गुण में सुख का रूप है। आहाहा! सुख, आनन्द आत्मा का स्वभाव है, उस आनन्द का रूप प्रत्येक गुण में है। अनन्त-अनन्त गुण में सुख का स्वरूप है। अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द के अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, आहाहा! उसकी दृष्टि के जोर से, उसके स्वीकार के जोर से, उस चीज़ की उपादेय और सत्काररूप से जहाँ दशा हुई, उसने पुण्य और पाप के भेद को मूल में से उखाड़ डाला है, ग्रास कर गयी है। आहाहा! यह वस्तु! जैनदर्शन की यह चीज़! वस्तु दर्शन की यह चीज़।

वस्तु है पूरी स्वयं और पुण्य-पाप तो भिन्न विकार जहर है। ऐसी ही वस्तु की स्थिति है। आहाहा! ये पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि के भाव, एक ओर भगवान परमात्मा अमृत सागर से भरपूर, उनसे तो विरुद्ध है अर्थात् जिसे भेद का उन्माद नाचता था, भेद करके पागलपने नाचता था कि बहुत अच्छा है, पुण्य अच्छा है, व्रत अच्छे

हैं, वह अन्तर आत्मा के चैतन्य के जोर के बल से, ये (विपरीत) श्रद्धा और पुण्य-पाप मेरे, उसमें से उखाड़ डाला। आहाहा! उन्मूल कर डाला। फिर से उगे नहीं, फिर प्रगट न हो, इस प्रकार से कर डाला। आहाहा! क्षयोपशम समकिती है, परन्तु जोड़नी क्षायिकवाले हैं! आहाहा!

बहिन (बहिनश्री चम्पाबेन) को जातिस्मरण में आया है न! जोड़नी क्षायिक! वह यह जोड़नी क्षायिकभाव है। आहाहा! क्योंकि अभी भगवान तो नहीं, इसलिए क्षायिक समकित की योग्यता नहीं है। कहते हैं कि हमारी योग्यता ऐसी है... आहाहा! कि हम क्षायिक ही लेनेवाले हैं। उस क्षयोपशम में से गिरनेवाले नहीं हैं। अविचलित चेतना विलास आत्मा व्यवहार (ऐसा) दोपहर को आया था। आहाहा!

भगवान अन्दर राग के पर्दे में पड़ा, राग के प्रेम में पर्दे में पड़ा, उसे भगवान दिखायी नहीं देता। इस राग का प्रेम छोड़े तो प्रभु का प्रेम हो, तब उसे आत्मा दिखायी दे। आहाहा! यह पुण्य और पाप के दोनों भाव बन्धन के कारणभूत हैं, ऐसा उनका प्रेम जिन्हें छूट गया है... आहाहा! उनका प्रेम, यह प्रेम तो करता है, प्रेम शब्द से (आशय है कि) अन्दर एकाग्रता, इस ओर एकाग्र हो। आहाहा! पुण्य की क्रिया करके एकाग्र होकर मानता था कि मैं कुछ अच्छा करता हूँ। वह एकाग्रता तोड़कर यहाँ प्रभु में एकाग्र होता है। आहाहा!

अनन्त-अनन्त अमृत के सागर से भरपूर स्वयंभू आत्मा! (प्रवचनसार) १६वीं गाथा में स्वयंभू कहा है न! प्रवचनसार! दोपहर को (आ गया है) स्वयंभू-स्वयं। स्वयं अपने से उत्पन्न हुआ है। वीतरागीदशा क्षायिक समकित आदि या क्षायोपशमिक, क्षायिक जोड़नी, वह अपने से उत्पन्न हुआ है। उसे किसी दूसरे की सहायता या मदद है नहीं। आहाहा! केवली के समीप, श्रुतकेवली के समीप क्षायिक समकित होता है; इसलिए उनकी मदद है तो क्षायिक हुआ है-ऐसा नहीं है। आहाहा! सामने निमित्तरूप से हो, परन्तु हुआ है अपने आत्मबल से। आहाहा! पूरा चैतन्यमूर्ति भगवान, उसे हिला डाला! जागृत किया।

अज्ञानरूपी अन्धकार को (ज्ञान) प्रकाश ग्रास कर गया। वह तो चैतन्य के प्रकाश का प्रकाश, पुण्य और पाप में भेद करता हुआ ऐसा जो अज्ञान अन्धकार, इस प्रकाश द्वारा अन्धकार नष्ट हुआ। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार नहीं होता; अन्धकार होता है, वहाँ

प्रकाश नहीं होता। आहाहा! जहाँ सूरज में प्रकाश है, वहाँ अन्धकार कैसा? इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति का जहाँ आदर होकर जहाँ स्वभाव की जागृति हुई... आहाहा! उसमें राग, दया, दान, व्रत ठीक है – ऐसा जो अज्ञान था, वह तो अन्धकार था, वह तो अन्धकार था। चैतन्य के प्रकाश से वह अन्धकार नाश हो गया। आहाहा! यह उसकी क्रिया है। चिमनभाई! आहाहा! ऐसा है।

उसमें आया नहीं? स्तवन में आया नहीं? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा' प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा। किसी भी प्रकार से भगवान तो पूरा अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शान्ति, उसके अनन्त गुण, उन अनन्त स्वरूप है। आहाहा! 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम' राग, पुण्य और पर की आशा (कहाँ करता है) ? भगवान मुझे दे, देव-गुरु मुझे दे, यह पर की आशा प्रभु (क्यों करता है) ? 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम, किस बात से तू अधूरा' 'किस बात से प्रभु तू अधूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा' आहाहा! ऐसा है।

(यहाँ कहते हैं) **अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त प्रगट हुई।** आहाहा! **'कवलिततमः'** अज्ञान को तो ग्रास कर गयी। अर्थात् मुख बड़ा और ग्रास छोटा। इसी प्रकार प्रकाश का जोर, चैतन्य की श्रद्धा का जोर, वह प्रकाश। उसमें अज्ञान अन्धकार (अर्थात्) राग ठीक है, पुण्य धर्म है, इस अन्धकार का नाश कर डाला। आहाहा! इस प्रकार से नाश किया कि फिर से उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा! पंचम काल के प्राणी-सन्त, आप छद्मस्थ, केवली के विरह में क्या कहते हो प्रभु यह आप? आहाहा! यह केवली का विरह पड़ा, परन्तु हमारे नाथ का विरह हमने तोड़ डाला, कहते हैं। आहाहा! हम जो राग की रमत में थे, उसे छोड़कर आत्मा की रमत में (आ गये हैं)। 'निज पद रमे सो राम कहिये।' आत्मा में रमता, आत्मा के जोर से कहते हैं कि अज्ञान अन्धकार का मूल में से उखाड़कर नाश कर दिया है। आहाहा! असंख्य प्रदेश में पुरुषार्थ के अंकुर फूटे! आत्मस्वभाव के पुरुषार्थ के अंकुर फूटे! आहाहा! उसने अन्धकार का नाश कर डाला। आहाहा!

जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है,.. **'हेला-उन्मिलत्'** आहाहा! अरे! वह तो लीलामात्र से अज्ञान का नाश किया है। आहाहा! क्रीड़ा में, आत्मा की क्रीड़ा करते-करते नाश हो गया है। आहाहा! शब्द तो देखो! आहाहा! कुछ कष्ट पड़ा

है और बहुत बाहर का जोर करना पड़ा है, किसी की मदद लेनी पड़ती है, ऐसा नहीं। **'हेला-उन्मिलत्'** लीलामात्र से। आहाहा! प्रभु की लीला - आत्मा की लीलामात्र से, अनन्त गुण से जागृत हुआ, उसकी लीलामात्र से हमने उसे (अज्ञान अन्धकार को) घात कर डाला है। आहाहा!

'हेला-उन्मिलत्' लीलामात्र से.. अर्थात् अन्तर के स्वाभाविक पुरुषार्थ से। आहाहा! **अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है,.. 'कवलिततमः'** है न? और **'हेला-उन्मिलत्'** है। **'हेला'** अर्थात् लीलामात्र से। **'उन्मिलत्'** आहाहा! उसका नाश किया। आहाहा! **लीलामात्र से (-सहज पुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है..** वहाँ तो ऐसा कहा। **'हेला-उन्मिलत्'** लीलामात्र से विकसित होता जाता है, कहते हैं। आहाहा! **लीलामात्र से (-सहज पुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है..** क्या कहा?

आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, जहाँ उसका स्वीकार हुआ, सत्कार किया, सच्चिदानन्द प्रभु जहाँ दृष्टि में आया... आहाहा! **'हेला-उन्मिलत्'** लीलामात्र से उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। रमणता में, आनन्द की-आनन्द रमणता में उन शक्तियों की शुद्धता का विकास बढ़ता जाता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। सुनना मुश्किल पड़े (लोगों को) वे व्रत करो, तप करो, और अपवास करो आदि (सरल लगता था)। आहाहा! देखो! यह पुण्य-पाप के (अधिकार की) पूर्णता का अन्तिम कलश। आहाहा!

'उन्मिलत्' का क्या अर्थ किया? **'उन्मिलत्'** बढ़ा दिया, ऐसा कहते हैं। उसमें **'उन्मिलत्'** अर्थात् मूल में से अन्धकार को तोड़ डाला। यहाँ **'हेला'** लीलामात्र से आत्मा की शान्ति और शान्ति की रमणता में, आनन्द में रमते-रमते आनन्द को बढ़ा डाला। आहाहा! शुद्धता के स्वभाव में रमकर शुद्धता बढ़ा डाली। आहाहा! इन पुण्य-पाप के भाव से यहाँ कुछ भी लाभ हुआ, (ऐसा नहीं है)। एक व्यक्ति और ऐसा कहता था, वह छोटालाल कहता था कि व्यवहार में आवे तो थोड़ा विश्राम मिले। अरे रे! भगवान! फिर बदल गया था, फिर अन्त में बदल गया था। अन्त में बदल गया था। पहले ठीक था, बीच में अठीक था, फिर बदल गया। यह बात...! आहाहा! अरे रे!

एक क्षण का पुण्य-पाप का दोष, वह पर्याय में है। उसे जो 'मेरा' मानकर...

आहाहा! भटकता था, आहाहा! उसने अपने भगवान आत्मा के स्वभाव के निधान खोल डाले। आहाहा! शक्तिरूप से स्वभाव जो परमात्मस्वरूप है, उसे व्यक्तरूप से पर्याय में प्रगट करके अतीन्द्रिय आनन्द में रमते-रमते प्रगट किया। आहाहा! **'उन्मिलत्'** बढ़ा दिया है। लीलामात्र से शुद्ध परिणति बढ़ा दी है। आहाहा! ऐसा श्लोक है। आहाहा! **'हेला-उन्मिलत्'** आहाहा! लीलामात्र से-स्वाभाविक पुरुषार्थ से। आत्मा की शान्ति में रमते-रमते **विकसित होती जाती है...** अपनी शक्ति। आहाहा! ओहोहो!

मुमुक्षु : देह दुःखमय, महा दुःखमय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें, श्वेताम्बर में है। यह तो यहाँ अपने आता है कि भाई! दुःख के समय यदि पूर्व में चेतेगा नहीं तो वापस सुख के समय तुझे भ्रष्ट होना पड़ेगा। इसलिए पुरुषार्थ से स्वभाव पर जा। अनुकूलता के समय तुझे धर्म है, धर्म है—ऐसा तुझे होगा परन्तु यदि सहन करने की शक्ति, ज्ञातादृष्टा के स्वभाव को विकसित नहीं किया होगा.. आहाहा! तो नाश हो जाएगा। आहाहा! विकार के प्रतिकूलता के दुःख के समय तेरा स्वरूप नहीं रह सकेगा। अनुकूल साता की वेदना में, अनुकूलता में हमने धर्म किया है, ऐसा है - ऐसा माना होगा परन्तु जब प्रतिकूलता आवे, उस समय भ्रष्ट हो जाएगा। आहाहा! आहार आवे नहीं, मुँह में पानी डाले तो उल्टी हो जाए, पेट संग्रह नहीं, शरीर में दूसरा रोग न हो, उसे क्या करना? कहाँ जाना? कोई दवा लागू पड़ती नहीं। आहाहा! ऐसे प्रतिकूल (प्रसंग) के समय, अनुकूलता के समय में ही शान्ति के सागर को जागृत कर देना। आहाहा! प्रतिकूल (प्रसंग) फिर भले आवे, परन्तु अनुकूलता के समय में, अनुकूल अर्थात् वस्तु तो है वह है, ज्ञेय अनुकूल-प्रतिकूल तो आवे। शरीर ठीक हो। जरा जरे पिल्लई। आता है न! यह तो उसके बल की पुरुषार्थ की उग्रता करने के लिए। इन्द्रियाँ हानि न पावे, शरीर में जीर्णता न आवे और शरीर में रोग न फटे, उससे पहले (आत्महित) कर लेना। यह तो पुरुषार्थ की कमजोरीवाले को पुरुषार्थ की उग्रता कराते हैं। आहाहा! बाकी सातवें नरक का नारकी... बापू! उसका दुःख सुना जाए नहीं। वह मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है। आहाहा!

उस सातवें नरक में असंख्य नारकी... आहाहा! मिथ्यात्व का अन्धकार लेकर गये

थे, परन्तु वहाँ पूर्व में सुना हुआ, प्रभु ! तू चैतन्य शुद्ध आनन्द है न ! आहाहा ! उसका जहाँ स्मरण आया, (वहाँ मिथ्यात्व के अन्धकार का नाश हो गया) । आहाहा ! सातवें नरक की पीड़ा, बापू ! ओहो ! संयोग की अपेक्षा से बात है । वैसे तो निगोद का दु:ख.. बहुत हीन हो गया है न ! निगोद में तो हीन दशा हुई है, तो नरक की अपेक्षा दु:ख अधिक है, क्योंकि दशा ही हीन हो गयी है और यहाँ भी हीन दशा और विपरीत दशा भाव, वह दु:ख का कारण है । आहाहा ! और ऐसे संयोग ! सातवाँ नरक ! शीत की एक लहर का टुकड़ा यहाँ आवे तो दस-दस हजार बीघा में लोग मर जाए। अरे ! ऐसी सर्दी में, नाथ ! तूने तैंतीस सागर निकाले, प्रभु ! एक बार नहीं, ऐसे अनन्त बार ! आहाहा ! भाई ! तुझे किसका मान चाहिए है ? आहाहा ! तुझे किससे गिनवाना है ? प्रभु ! आहाहा ! जो गिनती में गिनानेयोग्य है, उसे देख न ! आहाहा ! पुण्य-पाप, वे गिनती में गिनानेयोग्य नहीं है, उनके फल भी गिनानेयोग्य नहीं है । आहाहा ! वह सातवाँ नरक, बापू ! आहाहा ! तैंतीस सागर तक पानी बूँद नहीं । यहाँ सवेरे के छह घण्टे हों और प्यास लगी हो और पानी न मिले तो पानी लाओ, पानी लाओ, पानी लाओ (हो जाता है) । उसमें ऐसी गर्मी हो। एक बार गर्मी बहुत पड़ गयी... लू.. लू.. ! आहाहा ! इस लू से तो अनन्त गुनी उष्णता पहले नरक में है । पहले नरक में शीत नहीं, उष्ण है, नीचे शीत है । आहाहा !

ऐसी पीड़ा में भी गुलांट खा जाता है, पहलू बदल डालता है । आहाहा ! मेरा प्रभु चैतन्य आनन्द का नाथ ! आहाहा ! उस ओर पहलू, दृष्टि थी, वह पहलू बदल डालता है । ऐसे बदल डालता है । आहाहा ! और शक्ति को बढ़ाता ही जाता है । आहाहा ! निर्मल शक्ति की व्यक्तता को बढ़ाता जाता है । आहाहा ! और अज्ञान के अन्धकार को मूल में से छेद डाला है । आहाहा !

आहाहा ! श्रीमद् कहते हैं न ! दिगम्बर के वचनों की तीव्रता के कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है । उनकी भाषा तो देखो ! ओहो ! आहाहा ! प्रभु ! ऐसा है । आहाहा ! प्रभु ! तू अमृत का सागर है, प्रभु ! तुझे जँचता नहीं और जहाँ-तहाँ सुख है, सुख है-ऐसी बुद्धि, वह अज्ञान है, महामिथ्यात्व है । आहाहा !

अरे ! जरा ठण्डी हवा आवे, वहाँ तुझे ठीक लगे, प्रभु ! आहाहा ! और जहाँ गर्मी

आवे वहाँ (बोलने लगे) पंखा करो, पंखा करो! क्या है प्रभु? आहाहा! ऐसी जरा गर्मी और जरा सर्दी में तुझे चिल्लाहट होने लग जाती है, बापू! वहाँ नरक में अनन्त सर्दी और अनन्त गर्मी, प्रभु! तूने अनन्त सागरोपम भोगी है। एक भव में तैंतीस सागर, ऐसे अनन्त तैंतीस सागर किये हैं, प्रभु! आहाहा! परन्तु भगवान तेरा नाथ समीप में, पर्याय के समीप में ही पड़ा था। उसे तूने दूर करके रखा और पुण्य-परिणाम दूर है, उन्हें 'मेरा' करके रखा। मेरा करके रखा। माननेवाला! आहाहा!

भगवान ध्रुव चैतन्य ज्ञायकभाव भरा है न, प्रभु! उसके जोर से जिसने तम और अज्ञान का नाश किया, परन्तु यहाँ अपनी शक्ति को अब बढ़ाता ही जाता है। आहाहा! समय-समय में शुद्धि की वृद्धि होती है। आहाहा! भाषा जरा सादी है परन्तु भाव जरा बहुत गहरे हैं, बापू! आहाहा! दुनिया माने, न माने; इसकी संख्या थोड़ी हो या न हो, इसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! सत् तो ऐसा है। आहाहा!

अब (कहते हैं) वह शुद्धकला **विकसित होती जाती है और.. 'परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि'** आहाहा! उसने तो **परम कला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है..** आहाहा! क्या कहते हैं? (जो) पुण्य और पाप में भेद मानता था, वह मिथ्यात्व था, उसका तो ग्रास कर गया, नाश किया। इस ओर चैतन्य का प्रकाश प्रगट हुआ। उस चैतन्य के प्रकाश की प्रगट दशा केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करती है, क्रीड़ा! आहाहा! आओ केवलज्ञान, आओ थोड़े काल में! आता है न धवल में? आहाहा! मति-श्रुतज्ञान निर्मल होकर जहाँ आया, हुआ (तो वह) केवलज्ञान को बुलाता है। इस केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करता है। आत्मा के स्वभाव के अनुभव का मति-श्रुतज्ञान है। आहाहा! वह विकसित होती जाती जो शक्ति (है और) **'परमकलया सार्धम्'** परम कला जो केवलज्ञान। परम कला अर्थात् केवलज्ञान। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान में अभी अल्प कला है। आहाहा! **'परमकलया सार्धम्'** परम केवलज्ञान की क्रीड़ा शुरु कर दी है। **केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है..** आहाहा! आहाहा!

यहाँ तो यह सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ, वह पर्याय बढ़ती जाती है। बढ़ते-बढ़ते कहते हैं कि वह केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करती है। केवलज्ञान अल्प काल में प्रगट

होगा, इस प्रकार से उसका पुरुषार्थ है। आहाहा! अज्ञान का नाश हुआ, वह तो (अब) नहीं होगा परन्तु इतनी अल्पदशा में हम नहीं रह सकेंगे, नहीं रहेंगे। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ हाथ आया। आहाहा! गजब बातें हैं!

पूर्ण चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय गुण का समुद्र! वह पुण्य और पाप के भेद करता था, उस अज्ञान का नाश करके... आहाहा! अपनी शक्ति की व्यक्तता प्रगट की, वह व्यक्तता केवलज्ञान की व्यक्तता के साथ क्रीड़ा करती है। आहाहा! आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल पड़े, ऐसा है। कठिन पड़े कि यह एकान्त है। लाख तेरे दया, दान और व्रत, भक्ति, पूजा कर, यात्रा कर। मर जा तो उसमें धर्म नहीं है, ले! हमने सम्मेदशिखर की दस, बीस और पच्चीस यात्रा की! लाख कर न! अनन्त काल में अनन्त बार वहाँ रहा है, जा आया है। सम्मेदशिखर! वह तो सब राग की क्रिया है, वहाँ कहाँ उसमें धर्म था? आहाहा!

जिसने ऐसी चैतन्यस्वरूप की जागती ज्योति को जगाया और ये दया, दान के, व्रत के परिणाम ठीक हैं और मुझे मदद करते (हैं), ऐसे अज्ञान को तोड़ डाला, कहते हैं। तोड़ डाला अर्थात् वह अब रहा नहीं। विकसित ज्ञान, केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करता है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ... आहाहा! वह केवलज्ञान और केवल पूर्ण आनन्द... आहाहा! के साथ क्रीड़ा (करता है)। **'आरब्ध'** है न? आरब्ध (अर्थात्) शुरु की है... **'सार्धम् आरब्धकेलि'** यह **क्रीड़ा प्रारम्भ की है..** उसके साथ अब शुरु कर डाली। आहाहा! अरे! ऐसी बात कहाँ है?

मुमुक्षु : क्रीड़ा करता है अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकाग्रता बढ़ती जाती है। शुद्धता की एकाग्रता बढ़कर केवलज्ञान लेनेवाला है, ऐसा कहते हैं। यह मुनिराज ऐसा कहते हैं। हम पाँचवें काल के साधु, इसलिए हमें केवलज्ञान नहीं होगा, देर लगेगी - ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! भले इस भव में नहीं होगा परन्तु हमने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा शुरु की है। बीच में एकाध भव (होगा क्योंकि) पंचम काल में जन्म गये हैं। आहाहा! बीच में एकाध स्वर्ग का भव धर्मशाला के रूप में आएगा। धर्मशाला में उतारा किया परन्तु वहाँ तो आगे चले नहीं। वहाँ

से निकलकर हम पूरा कर देंगे। केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा शुरु कर दी है। आहाहा! हमें केवलज्ञान प्राप्त होगा ही, ऐसा कहते हैं। यहाँ मूल में (मिथ्यात्व) नष्ट किया है, यहाँ मूल पूरा करना है। आहाहा!

मुमुक्षु : जोड़नी क्षायिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह क्षायिक-वायिक, वह जोड़नी... वहाँ पहुँच जानेवाले हैं। आहाहा! प्रभु! ऐसी तेरी महिमा है, नाथ! प्रभु! तू ऐसा मान कि यह स्त्री का शरीर और बालक, युवा और वृद्ध और बनिया, यह तू नहीं। अरे! दया, दान के परिणाम (होते हैं) वह तू नहीं। आहाहा! तू तो परमात्मा जिनस्वरूपी प्रभु है न! आहाहा! आहाहा! उसकी दृष्टि होने पर जो ज्ञान का विकास हुआ, उस विकास की श्रेणी बढ़ते जाने पर केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करके केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा! कहो, इस एक कलश में कितना भरा है! पार नहीं, बापू! इसमें इतना भरा है, पार नहीं! उनके उस समय के हृदय में... आहाहा! ऐसा भाव मुनि की दशा में था। पंचम काल के मुनि हजार वर्ष पहले (हुए) और यहाँ (आजकल) कहते हैं कि पंचम काल में (शुभभाव ही होता है)। अरे! प्रभु! सुन न प्रभु! ऐसा क्या करता है? बापू! आहाहा! अरे! प्रभु! तू आचार्य-साधु नाम धराकर ऐसा क्या कहता है? भाई! तुझे शोभा नहीं देता, बापू! आहाहा! आहाहा!

केवलज्ञान के साथ **'आरब्ध'** लीला शुरु कर दी है, **क्रीड़ा प्रारम्भ की..** आहाहा! केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा की है। आहाहा! छोटे लड़के छोटे के साथ खेलते हों और बड़े घर में जाए (तो) ऐसा कहते हैं कि हम तो अब बड़े के साथ खेलेंगे। राग से तो नहीं, परन्तु इस साधक अवस्था-इतने में नहीं रहेंगे। आहाहा!

'आरब्धकेलि' शुरु कर दी है। आहाहा! परमात्मा केवलज्ञान लेने की हमने शुरुआत कर दी है। आहाहा! तुम पंचम काल के सन्त, क्या कहते हो? बापू! काल-फाल आत्मा में कहाँ है? काल से अन्दर में उतर गये हैं। सीढ़ियों का आरा (किनारा) होता है न?

आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका के समय की दशा कितनी जोरदार है!! आहाहा! नग्न मुनि हैं। व्रतादि के विकल्प हैं परन्तु उन्हें तो मूल में से नाश करने के लिए खड़े हुए हैं। उन्हें रखने के लिए खड़े नहीं हुए हैं; उन्हें पालने, रखने के लिए खड़े

नहीं हुए। व्यवहारनय में ऐसा आता है कि उन्हें पाले। अर्थात् होते हैं, यह बतलाया है, ऐसा। आहाहा!

ऐसी वह ज्ञानज्योति है। 'परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि'.. 'हेला–उन्मिलत्' ऐसी ज्ञानज्योति है। आहाहा! **(जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तब तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है,..)** अर्थात् केवलज्ञान नहीं है परन्तु शुद्धनय के जोर से भगवान आत्मा पूर्ण केवलज्ञानघन है, उसका जहाँ जोर आया है अर्थात् पर्याय में केवलज्ञान के साथ, वर्तमान प्रगट नहीं तो भी उसके साथ क्रीड़ा करती है। आहाहा! यह पुण्य-पाप अधिकार की पूर्णता में यह बात! आत्मा की पूर्णता की प्राप्ति। आहाहा! ऐसा एक श्लोक तो देखो! (श्वेताम्बर के) बत्तीस और पैंतालीस (आगम) पढ़े तो मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह (दिगम्बर) सन्त तो केवलज्ञानी के पथानुगामी हैं, प्रभु! आहाहा! दिगम्बर सन्त तो केवलज्ञानी के पुत्र हैं! आहाहा! केवलज्ञान उनका पिता है। वे केवलज्ञान लेनेवाले हैं। एक-दो भव में केवली होनेवाले हैं। ये अमृतचन्द्राचार्यदेव, कुन्दकुन्दाचार्यदेव, पद्मप्रभमलधारिदेव! आहाहा! (यहाँ की) स्थिति पूरी हो गयी। चलते-चलते पच्चीस कोस जाना था, १४-१५-१६ कोस चले, अन्धकार हो गया तो धर्मशाला में रुकना पड़ा, सवेरा होने पर वहाँ से चल पड़ेंगे। इसी प्रकार उस स्वर्ग में धर्मशाला के रूप में रुक गये हैं, परन्तु हम तो निकले हैं इकट्ठे वहाँ से केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा! क्योंकि कोई वह चीज़ बाहर से नहीं आती। हमारे पास ही है। आहाहा! और उसका स्वीकार करके विकास तो हुआ है, स्वीकार करके विकास तो हुआ है। वह विकास पूर्ण विकास के साथ क्रीड़ा करता है।

मुनिराज ऐसा कहते हैं कि हम पंचम काल में स्वर्ग में जाएँगे परन्तु हमने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा शुरु की है। ऐसा होकर वहाँ जाएँगे। आहाहा! स्वर्ग में भी हमारा साधकपना... आहाहा! छूटनेवाला नहीं है।

(सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है..) छद्मस्थ अर्थात् अभी आवरण में है। **(तब तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है,...)** प्रत्यक्ष केवलज्ञान अभी नहीं है। प्रतीति में आया है कि केवलज्ञान ऐसा होता है और

केवलज्ञान होता है और साधक, इस साधन से होता है, वह सब ख्याल में, दृष्टि में आया है। अब उस श्रेणी को बढ़ाते जाते हैं। निर्मल धारा को शुद्धता के आश्रय से पुण्य-पाप के भाव का नाश करके, पवित्रता का पिण्ड प्रभु, पवित्रता का पिण्ड परमात्मा, उसकी पवित्रता की प्रतीति और ज्ञान का अनुभव में विकास हुआ, परन्तु उस पवित्रता का प्रभु पूर्ण है, वह पवित्रता पर्याय में आवे, ऐसी हमने अब क्रीड़ा की है। आहाहा!

(केवलज्ञान होने पर साक्षात् होती है।) लो, ठीक! शुद्धनय क्रीड़ा करता है, केवलज्ञान होने पर साक्षात् प्रगट होता है। मोक्ष हो गया। जो स्वभाव और शक्ति से मोक्षस्वरूप था, वह पर्याय में मुक्तरूप दशा हुई। विशेष कहा जाएगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २४३, कलश-११२-११३, दिनाङ्क ०३-०६-१९७९, रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल ८

समयसार ११२ कलश का भावार्थ है न? ११२ कलश है, उसका भावार्थ। नीचे भावार्थ है। ११२ कलश का भावार्थ। श्लोकार्थ हो गया है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या कहते हैं? कि यह आत्मा जो है, वह तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय ईश्वरता-प्रभुता का पिण्ड प्रभु है। ऐसी जो यह ज्ञानज्योति प्रभु, उसे प्रतिबन्ध कर्म है। है भावार्थ में? क्या कहते हैं। कि यह चैतन्यस्वरूप जो चैतन्य, जिसे आत्मा कहते हैं, वह तो शुद्ध आनन्दकन्द और चैतन्यस्वरूप है। उसमें जो यह दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, यह भाव होते हैं, वे सब विकारी हैं। वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। वे आत्मा को धर्म का कारण नहीं है। आहाहा!

व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दया और दान इत्यादि भाव कर्म है, शुभराग है। आहाहा! वह राग कर्म है। **जो कि शुभाशुभ भेदरूप होकर नाचता था..** शुभभाव ठीक है और अशुभभाव अठीक है, ऐसा जो मिथ्यात्व में नाचता था.. आहाहा! अनादि काल से भगवान चैतन्य ज्योति में उसकी जाति से विरुद्ध जो पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव (होते

हैं), वे विरुद्ध हैं। विरुद्ध होने पर भी भेदरूप से नाचता था। अर्थात्? कि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा ठीक है और हिंसा, झूठ अठीक है, यह मिथ्यात्व है। इस भेदरूप से नाचता था, वह अज्ञान है। आहाहा! दोनों बन्ध के कारण हैं; धर्म का कारण एक भी नहीं है। सूक्ष्म बात, भाई! चाहे तो दया, दान का भाव हो या व्रत, तप का भाव - विकल्प हो, या पूजा, भक्ति का हो, वह भाव शुभराग है और राग वह आत्मा की चैतन्य ज्योति से विरुद्ध है।

अनादि से पुण्य परिणाम शुभभाव, वह ठीक है—ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मानता था। इसलिए पुण्य और पाप दो रूप से परिणमता और नाचता था। आहाहा! है? **और ज्ञान को भुला देता था..** यह शुभभाव या अशुभभाव मुझे मेरे ठीक हैं और मेरा कल्याण करेंगे, ऐसा मानकर आत्मस्वभाव को उन भावों ने भुला दिया था। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू! भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत्-चिद् और आनन्द का कन्द प्रभु है। उसमें दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव, वह विकार है; वह धर्म नहीं है तथा धर्म का कारण नहीं है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

अनादि से दया, दान, व्रत, भक्ति, तपादि, अपवास करूँ, दो-पाँच महीने के करूँ, वह तो सब विकल्प और राग है। यह दया, दान के, व्रत के परिणाम, वह भी एक शुभराग है। अज्ञान में वह शुभराग ठीक है और अशुभराग ठीक नहीं है - ऐसा मिथ्यात्वभाव में दो प्रकार से नाचते थे, आहा! वह **ज्ञान को भुला देता था..** चैतन्यस्वरूप पुण्य-पाप में रुककर उसे भिन्न भगवान चैतन्यस्वभाव, पुण्य को अपना मानकर आत्मस्वभाव को भुला देता था। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

अनन्त काल हुआ, इसने आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, सत्, शाश्वत्, चिदानन्द-ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु है, उसे भूलकर पुण्य-पाप के परिणाम में दो भेद करके, पुण्य ठीक है और पाप अठीक है, पुण्य धर्म है, और पुण्य धर्म का कारण है - ऐसा मानकर आत्मा का आनन्दस्वभाव सच्चिदानन्द प्रभु को वह भुला देता था। आहाहा! है?

उसे अपनी शक्ति से उखाड़कर... आहाहा! प्रभु चैतन्य जागृत हुआ। मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। मेरे स्वरूप में ये पुण्य और पाप के भाव मुझमें नहीं है, उनमें मैं नहीं हूँ और वे मुझे मेरे धर्म का कारण नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल से

भटकता है। सत्य वस्तु इसे मिलती नहीं, सुनने को मिलती नहीं। जहाँ हो, वहाँ व्रत करो, अपवास करो, तपस्या करो, भक्ति करो, पूजा करो और मन्दिर बनाओ, (यह बात चलती है)। यह तो सब पर की क्रिया का कर्ताभाव तो मिथ्यात्व है परन्तु उसमें होनेवाला शुभभाव, वह भी धर्म नहीं है। उसे धर्म मानकर आत्मा को भुला देता था। आहाहा! वह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव शुभ हैं, उनके प्रेम में प्रभु का प्रेम, आत्मा चिदानन्द का प्रेम भुला देता था। आहाहा! अरे रे! अनन्त काल से भटकता है, उसका मूल क्या है, उसकी इसे खबर नहीं है। यह कहा।

उसे अपनी शक्ति से.. मैं तो ज्ञानस्वभाव हूँ, सच्चिदानन्द प्रभु हूँ। आहाहा! मुझमें इन पुण्य-पाप की गन्ध नहीं है। ये पुण्य-पाप धर्म के कारण तो नहीं परन्तु ये बन्ध के कारण हैं। संसार की वृद्धि का, बन्ध का कारण है। आहाहा! भगवान की भक्ति का भाव भी राग है, क्योंकि वह परद्रव्य है। पर की ओर का झुकाव होता है, वहाँ राग हुए बिना रहता ही नहीं। स्वद्रव्य भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु का जहाँ ज्ञान, राग से भिन्न पड़कर आत्मा का भेदज्ञान होता है, तब उस ज्ञानशक्ति के जोर से राग को उखाड़ डाला। आहाहा! यह राग मैं नहीं हूँ, यह राग बन्ध का कारण है।

मेरा स्वरूप तो सर्वज्ञ वीतरागमूर्ति प्रभु है। आहाहा! सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु है। यह अन्दर भगवान आत्मा है। आहाहा! और वह पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। ऐसा जहाँ अन्तर में भान होता है, तब उसे धर्म की शुरुआत होती है। आहाहा! उस धर्म की शुरुआत में उस ज्ञान की शक्ति से उखाड़ डाला। पुण्य और पाप दोनों बन्धन हैं, मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार उन्हें उखाड़ डालता है। आहाहा! जैसे गधा घास खाता है, उसे मूल सहित उखाड़ डालता है; वैसे धर्मी जीव जहाँ अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, शुद्ध चिदानन्द आनन्द का नाथ प्रभु है, उसका जहाँ भान होता है, वहाँ वह पुण्य-पाप को मूल में से उखाड़ डालता है कि पुण्य और पाप दोनों अधर्म हैं। आहाहा! ऐसी बातें। क्या हो? बापू! परम सत्य कोई ऐसी चीज़ है। जगत को अनन्त काल से (मिली नहीं)

'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान;
सेव्या नहीं गुरु सन्त को छोड़ा नहीं अभिमान।'

सच्चे सन्त क्या कहते हैं ? और उन्होंने क्या कहा, इसकी खबर बिना अनन्त काल से चौरासी के अवतार में भटकता है।

यह यहाँ कहते हैं। **अपनी शक्ति से उखाड़कर..** मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञायकस्वभाव चैतन्य ज्ञायकमूर्ति मैं हूँ। मैं अतीन्द्रिय आनन्द का भरचक भरा हुआ भण्डार हूँ। ऐसा जहाँ भान होता है, वह भान पुण्य के, पाप के भाव को मूल में से उखाड़कर निकाल डालता है। यह नहीं, यह धर्म नहीं और धर्म का कारण भी नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन पड़ता है, प्रभु! अनन्त-अनन्त काल गया, चौरासी लाख की योनियाँ! चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त बार अवतरित हुआ है। या तो पाप के परिणाम में मिठास का वेदन किया, हिंसा, विषय-वासना, भोग में मिठास मानी, वह भी मिथ्यात्व-भ्रम है और या पुण्य के परिणाम में धर्म माना, वह मिठास भी मिथ्यात्व है। आहाहा!

उसे मूल से **उखाड़कर ज्ञानज्योति..** चैतन्य जलहल ज्योति प्रभु अन्दर आत्मा **सम्पूर्ण सामर्थ्यसहित..** अपने पूर्ण बलसहित। **प्रकाशित हुई।** क्या (प्रकाशित) हुई ? ज्ञानज्योति। आहाहा! जो पुण्य और पाप के भाव की प्रसिद्धि थी; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान की भक्ति आदि भाव की प्रसिद्धि थी, वह तो राग की प्रसिद्धि थी; वह कहीं आत्मा नहीं। आहाहा! उसे प्रसिद्धि को मूल में से उखाड़कर, मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ, उसकी प्रसिद्धि आत्मा ने प्रगट की, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, धर्म की पहली सीढ़ी, पहली श्रेणी कहने में आता है। इसके बिना सब व्यर्थ है। आहाहा!

नरसिंह मेहता ने कहा न! 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चीन्यो नहीं त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' वह आत्मा क्या ? चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ है। आहाहा! उसे जाने नहीं, उसका अनुभव करे नहीं, उसका आदर करे नहीं, उसका सत्कार करे नहीं, उसके बिना जितने साधन भक्ति, पूजा, दान, दया, वे सब निरर्थक हैं। निरर्थक नहीं परन्तु संसार में भटकने में सार्थक हैं। धर्म के लिए निरर्थक हैं। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा!

ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्यसहित प्रकाशित हुई। आहाहा! मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। यह राग के दया, दान के, व्रत के, पूजा के भाव से भी पृथक् मेरी चीज़ तो चैतन्य है। शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु हूँ, ऐसी ज्ञानज्योति अर्थात् आत्मा अपने सामर्थ्य से पुण्य-पाप से

भिन्न पड़कर प्रकाशित हुई। आत्मख्याति हुई, आत्मा प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। आहाहा! जो अनादि से पुण्य और पाप की प्रसिद्धि थी और उन्हें ही सर्व सर्वस्व मानता था.. आहाहा! उसे ज्ञानज्योति के भान से अपना प्रकाश करके प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। मैं तो आत्मा शुद्ध चैतन्य हूँ, मुझमें पुण्य और पाप नहीं है और पुण्य-पाप के भाव मुझे मेरे धर्म का कारण नहीं है। मेरी चैतन्य ज्योति को समझने के लिए भी वे कारण नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार **ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्यसहित प्रकाशित हुई।** आत्मधर्म हुआ। जो पुण्य में धर्म मानता था, वह मिथ्यात्व था, अज्ञान था, पाखण्ड था। आहाहा! वह ज्ञानज्योति स्वयं चैतन्यस्वरूप हूँ, जलहल ज्योति चैतन्य भगवान पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान के स्वभाव से भरपूर ऐसा मैं हूँ—ऐसी ज्ञानज्योति प्रसिद्ध हुई, तब उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ। आहाहा!

वह ज्ञानज्योति अथवा ज्ञानकला.. क्या कहते हैं? जो आत्मा में पुण्य और पाप के भाव से भिन्न पड़कर, पृथक् होकर, आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा भान हुआ, वह ज्ञान की एक कला प्रगट हुई। जैसे दूज उघड़ती है, दूज; वैसे यह कला प्रगट हुई। अब दूज जैसे (पूर्णता को) प्राप्त होती है, दूज हो और तेरह दिन में पूर्ण पूर्णिमा हुए बिना नहीं रहती। जिसे दूज उगी, (उसे) तेरहवें दिन में पूर्णिमा होगी, होगी और होगी ही। इसी प्रकार जिसे भगवान आत्मा, जो पुण्य और पाप के भाव से पृथक् होकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की कला जगी, (उसे पूर्णता हुए बिना नहीं रहेगी)। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

भगवान तो आत्मा को प्रभुरूप से बुलाते हैं। भगवान आत्मा! - ऐसा कहकर (बुलाते हैं) ७२ गाथा है। भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का दल, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, अतीन्द्रिय ईश्वरता, स्वच्छता और शान्ति का वह पूर है। अरे रे! यह आत्मा क्या चीज़ है, इसे जाने बिना ये सब दया, दान, व्रत, तप, भक्ति अनन्त बार किये। उसमें से संसार में भटकना मिटा नहीं। आहाहा! यह ज्ञान केवल जहाँ प्रगट हुआ... आहाहा! ज्ञान कला जागृत हुई अभी तो। वह **केवलज्ञानरूपी परमकला का अंश है..** क्या कहते हैं? परमात्मदशा जो आत्मा में केवलज्ञान होता है, (वह) तीन काल, तीन लोक को जाननेवाला

सर्वज्ञपना जहाँ आत्मा में प्रगट होता है, वह सर्वज्ञपना (अर्थात्) केवलज्ञान प्रगट होता है। उस केवलज्ञान का यह ज्ञानकला एक अंश है।

पूर्णिमा के दिन जो पूर्ण चन्द्रमा होता है, उसका दूज एक उसका अंश है। पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा जो सोलह कला से खिलता है, यह दूज का जो चन्द्र है, यह उसका अंश है। इसी प्रकार जहाँ आत्मा—भगवान आत्मा अपने स्वरूप की जागृति करके.. आहाहा! उस राग के विकल्प की—चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो, वह भी बन्ध का कारण और राग है। आहाहा! उससे भिन्न पड़कर ज्ञान की कला जागृत हुई, वह **केवलज्ञानरूपी परमकला का अंश है..** आहाहा! यह पूर्णिमा है, वह चन्द्र की पूर्ण कला है। दूज है, वह पूर्ण कला का अंश है। इसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान परमात्मदशा जो होती है, उसका यह सम्यग्ज्ञान चैतन्यकला जागृत हुई कि मैं तो पुण्य और पाप के परिणाम से भिन्न मेरा स्वरूप है, पुण्य-पाप तो बन्ध के कारण; धर्म के कारण नहीं, ऐसी जो ज्ञान की ज्योति-ज्ञानकला, वह ज्ञान स्फुरित हुआ, वह कला केवलज्ञान जो पूर्ण ज्ञान है, उसका यह अंश है। हाय.. हाय.. ऐसी बातें हैं, लोग कहीं न कहीं उलझकर पड़े हैं। परिभ्रमण करते-करते अनन्त काल हुआ। चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त बार अवतरित हुआ, यह एक आत्मज्ञान के बिना। बाकी तो सब पुण्य के, दया के, व्रत के, तप के, भाव तो अनन्त बार किये। बहुत पुण्य करे तो कदाचित् देव हो और उसमें से फिर मरकर कदाचित् यह धूल के सेठिया कहलाते हैं, यह करोड़पति और लाखोंपति, यह धूल का सेठिया हो। उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। आहाहा! कहो, चिमनभाई!

मुमुक्षु : गरीबी मिटकर साहूकारी आयी, यह लाभ नहीं हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : साहूकारी आयी, किसकी साहूकारी? किसे कहना? भिखारी है। पैसा दो, पैसे मिले, पैसे मिले, स्त्री मिले, पुत्र मिले... भिखारी है बड़ा भिखारी। अनन्त-अनन्त ज्ञान और आनन्द अन्दर भरा है, उसकी लक्ष्मी की तो इसे खबर नहीं और भिखारी माँगनेवाला माँगता है, पैसा लाओ, स्त्री लाओ, इज्जत लाओ, कोई बड़ा मानो... उसे तो शास्त्र में भिखारी कहते हैं। चिमनभाई! तुम्हारे सेठ (के पास) पचास करोड़ रुपये! भिखारी है। मुम्बई! व्याख्यान में आया था। पचास करोड़ रुपये। भिखारी है, कहा

सब भिखारी, माँगनेवाले हैं। पैसा लाओ! भिखारी.. भिखारी.. जैसे भिखारी रोटी माँगता है, वैसे यह पैसा माँगे, स्त्री माँगे, पुत्र माँगे, इज्जत माँगे। माँगनेवाला है, माँगनेवाला-भिखारी।

मुमुक्षु : पैसा है, इसलिए तो कोई सेठ कहता है, पैसे के बिना कोई सेठ भी नहीं कहता।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल का सेठ कहे, उसमें क्या भला हुआ? यह तो हमारे कुँवरजीभाई को कहा था या नहीं? बुआ के पुत्र, (हमारे) भागीदार। उनसे पूछा था, तुम्हें कितनी बार सेठ कहे? हजार बार कहें? तो कहे नहीं; पाँच सो बार कहें, बुद्धि कुछ नहीं होती पुण्य के कारण कमा खाते थे। बुद्धि का ठिकाना कुछ नहीं होता। आहाहा! बारह महीने में दो-दो लाख की आमदनी! अक्ल ऐसी, अक्ल में माल नहीं होता। हम तो साथ में रहे थे, दुकान (में) भागीदार (थे)। कुछ खबर नहीं होती। आहाहा! परन्तु पूर्व के किसी पुण्य के कारण पाँच-पच्चीस-पचास लाख इकट्ठे हों, वहाँ ऐसा हो जाए कि ओहोहो!

मुमुक्षु : बहुतों की पैढ़ी उठ गयी और कुँवरजीभाई की पैढ़ी रही।

पूज्य गुरुदेवश्री : रही, उसमें क्या भला हुआ? मरकर गया गया पशु में। उसमें क्या भला हुआ। आहाहा! पशु हुआ, पशु। यहाँ दो लाख की आमदनी। मैंने तो उनसे (संवत्) १९६६ के वर्ष में कहा था, १९६६, बीस वर्ष की उम्र थी। अभी तो ९० (हुए), ७० वर्ष पहले की बात है। मेरी दुकान भी थी और उनकी दुकान भी थी, दोनों दुकानें अलग थीं। उनका बड़ा भाई और मैं भागीदार। मैंने तो एक बार स्पष्ट कहा था, कुँवरजी! तेरी ऐसी ममता इतनी दिखती है... मैं तो भगत कहलाता था न! भले दुकान चलाता था। मेरे सामने बोलते नहीं थे। (मैंने कहा) मरकर पशु होओगे, याद रखना, कहा। तेरे लक्षण देव होने के नहीं हैं, मनुष्य होने के मुझे नहीं लगते... हमारी बुआ का लड़का, भागीदार था। सत्तर वर्ष पहले की बात है, अभी नब्बे हुए। बोले नहीं, मेरे सामने बोले नहीं। भगत है यह, भगत है, बोलना नहीं। क्या लगायी है पूरे दिन यह? पूरे दिन यह कमाना, यह स्त्री, और यह पुत्र और यह लाओ... मुम्बई से माल लावे तो मानो... आहाहा! परन्तु क्या है इसमें? धुएँ को बाँथ में भरकर मानो अमृत पीते हैं, ऐसा तू मानता है। आहाहा! यह तो ७० वर्ष पहले की बात है। बीस वर्ष की उम्र थी। देह का जन्म (संवत्) १९४६ में जन्म है।

१९६६ की बात है। बीस वर्ष (के थे)। ये दुनिया पागल है, पागल है। अपने को कुछ पैसा-बैसा मिला और इज्जत हुई तो मानो हम पैसेवाले हो गये। पैसावाला! एक वाला (एक प्रकार का रोग) यहाँ निकले तो चिल्लाहट मचाता है। यहाँ पैसेवाला, स्त्रीवाला, पुत्रवाला, इज्जतवाला, कीर्तिवाला,... यह तुझे कितने 'वाला' लगे हैं। 'दबे'! यहाँ बात ऐसी है अब! आहाहा!

प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं, नाथ! तू अन्दर कौन है? आहाहा! इसने सच्चिदानन्द प्रभु को जहाँ जगाया और जब पुण्य और पाप के भाव का तिरस्कार करके उखाड़ दिया (कि) तुम धर्म नहीं हो। आहाहा! वह ज्ञानकला-सम्यक् कला जागृत हुई, दूज उगी। वह **केवलज्ञानरूपी परमकला का अंश है..** यह दूज उगी, वह पूर्णिमा का अंश है। इसी प्रकार जो पहले सम्यग्ज्ञान जागृत हुआ, शुरुआत (हुई), भले अभी पुण्य और पापभाव हों परन्तु उनसे मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा अनुभव हुआ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, अनुभव हुआ। वह कला केवलज्ञान की परमकला का अंश है। आहाहा!

इसमें भी (लोगों को) विवाद है। ऐसा कि केवलज्ञान सर्वघाति (कर्म का) नाश हो, तब होता है और तुम मति-श्रुतज्ञान को उसका अंश कहते हो। अभी दिगम्बर में (यह) विवाद है।

मुमुक्षु : श्रीमद् के समय में भी यह विवाद था।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी यहाँ का विरोध करते हैं न! यहाँ जब ऐसा कहा जाता है कि मति और श्रुतज्ञान, वह केवलज्ञान का अंश है; तब वे कहते हैं कि केवलज्ञान तो सर्वघाति का नाश हो, तब होता है, उसका अंश कहाँ से आया यह? यहाँ यह क्या कहते हैं? चेतनजी! यह क्या कहते हैं यह? यह सोनगढ़ का है? आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्य के बल से जहाँ जागृत हुआ... आहाहा! भले वह अभी अंशरूप से प्रगट हुआ, धर्म का अंश आया और पूर्ण केवलज्ञान होने में उसे देरी हो तो भी उस केवलज्ञान कला का यह ज्ञानकला एक अंश है। आहाहा! उसकी जाति है। उसकी जाति बढ़-बढ़कर केवलज्ञान होनेवाला है। उस आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्ज्ञान कला जागृत हुई, वह पूर्ण आश्रय लेकर उसे केवलज्ञान होनेवाला है। आहाहा! उसे ये पुण्य के

परिणाम बाधक नहीं होंगे, विघ्न नहीं करेंगे, उन्हें उखाड़ डालेगा। आहाहा! मेरी जाति में पुण्य-परिणाम तीन काल में है नहीं। इस मेरी जाति में तो अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति, वीतरागता और स्वच्छता का भण्डार है। ऐसा जहाँ सम्यक् में भान हुआ, वह ज्ञान का अंश धर्म की शुरुआत का अंश, वह पूर्ण केवलज्ञान की कला का अंश है। आहाहा!

यह तो मति और श्रुत का अंश है, वह केवलज्ञान का अंश है। (इसका) विरोध किया था। जयधवल में है। जयधवल शास्त्र है न, उसमें (आता है)। केवलज्ञान है, सर्वज्ञ है, उसका यह मतिश्रुतज्ञान अंश है, अवयव है। पूर्ण केवलज्ञानी वह अवयवी है, पूर्ण चीज़ है। सर्वज्ञपना तो प्रभु का स्वभाव है। इस आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है। उस स्वभाव का अभी भान हुआ कि मैं तो सर्वज्ञस्वरूपी हूँ। अभी सर्वज्ञपना प्रगट नहीं हुआ, परन्तु सर्वज्ञ हूँ—ऐसा प्रतीति और अनुभव में आया, तब उसकी कला का एक अंश जागृत हुआ, धर्म की शुरुआत हुई, तब उसे धर्म की शुरुआत हुई। वह पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होने का अवयव है। केवलज्ञान वह अवयवी है। जैसे, पूरा शरीर अवयवी है, (उसमें) यह हाथ, पैर, वे अवयव हैं। पूरा शरीर अवयवी है, हाथ-पैर उसके अवयव हैं। इसी प्रकार पूर्ण सर्वज्ञपना अवयवी है, उसका यह ज्ञान कला—मति-श्रुत जो सम्यग्ज्ञान हुआ, वह उसका एक अवयव है। भाई! वहाँ अवयव लिया है। आहाहा! अरे रे! अन्तर की बात की कुछ खबर नहीं होती। बाहर में गोते मारकर मर गया अनन्त काल से। साधुपने का नाम धराकर भी विपरीतता की। आहाहा! धर्म के नाम से, पुण्य के नाम से धर्म स्थापित करके साधुपना भी मिथ्यादृष्टिरूप से किया... आहाहा!

अब कहते हैं, ज्ञानकला **केवलज्ञानरूपी परमकला का..** परमकला (कहा) देखा? उसका वह **अंश है तथा वह केवलज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप को जानती है..** आहाहा! दूज उगे, उस दूज को जाने, पूरे चन्द्र को जानता है। कालिमा को भी जानता है और पूर्ण चन्द्र दिखता है। दूज में पूरा चन्द्र ऐसे दिखता है। दूज, दूज को जाने, दूज पूरे चन्द्र को भी जाने और बीच में अन्धेरा कितना है, उसे भी वह जाने। आहाहा! इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान की दशा, प्रथम आत्मज्ञान होने पर उसकी दशा में वह आत्मा को जाने और पूर्ण सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उन्हें भी वह जानता है। आहाहा! अरे! ऐसी धर्म की बातें। लोगों को निवृत्ति नहीं

मिलती और निवृत्ति हो, वह धर्म के नाम से उल्टे रास्ते चढ़ गया होता है। आहाहा! अरे रे! मनुष्य का अवतार पशु जैसा अवतार होकर चला जाएगा।

जिसे यह भगवान आत्मा... आहाहा! सद्चिदानन्द प्रभु, सत् शाश्वत्। शाश्वत् ज्ञान और शाश्वत् आनन्द का भण्डार है। ऐसी दशा प्रथम में प्रथम ज्ञानधारा, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की कला जगी, वह केवलज्ञान को भी जानती है। वह अवयव है और पूर्ण सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उन्हें भी जानती है। समझ में आया? है?

स्वरूप को जानती है.. पूर्ण स्वरूप को वह जानती है। **केवलज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप को जानती है और उस ओर प्रगति करती है,..** देखो? आहाहा! यह ज्ञानानन्द प्रभु हूँ, ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वह अब ज्ञान की ओर एकाग्रता, स्वरूप की ओर एकाग्रता का ही झुकाव है। अब राग की एकाग्रता का झुकाव छूट गया है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं। **और उस ओर प्रगति करती है,..** देखा? सम्पूर्ण (स्वरूप को) जानती है, सम्यग्ज्ञान होने पर मति-श्रुत की ज्ञानकला जहाँ अन्दर में से जागृत हुई, पुण्य-पाप धर्म नहीं-ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, वह ज्ञान की कला केवलज्ञान का अंश है, परन्तु वह अंश केवलज्ञान को भी जानता है। परमकला का अंश है, परन्तु परमकला कैसी होती है, उसे भी वह जानता है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। पहला तो ऐसा करो, ऐसा करो, दया पालो, व्रत करो, तप करो, भगवान की भक्ति करो, (यह सरल था)। इस भक्ति-फक्ति में सब राग है। आहाहा!

परद्रव्य की ओर के झुकाव में जितना भाव (होता है), वह सब राग है। स्वसन्मुख के झुकाव में जहाँ आत्मभगवान है, उसके झुकाव में भाव होता है, वह भाव निर्मल और धर्म है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल से किया नहीं। उसमें अभी तो गड़बड़, घोटाला बहुत चला है। अपने को जैसा लगे, वैसा स्वच्छन्दता से प्ररूपण करते हैं, मनवाते हैं। अरे रे! भव चला जाएगा, बापू! कुदरत के नियम में जो सत्य होगा, वह रहेगा। असत्य वहाँ नहीं रहेगा। आहाहा!

आहाहा! उस केवलज्ञान के स्वरूप को वह जानती है। **और उस ओर प्रगति करती है,..** अर्थात् पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने के लिए स्वभाव की सन्मुखता का प्रयत्न किया करती है। आहाहा! समझ में आया? **इसलिए यह कहा है कि 'ज्ञानज्योति ने**

केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।' केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है। आहाहा! वह राग के साथ क्रीड़ा थी। दया, दान, व्रत, तप और भक्ति, वह सब राग था। आहाहा! 'निज पद रमै सो राम कहिये, राग में रमै वह हराम कहिये।' आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **इसलिए यह कहा है कि 'ज्ञानज्योति ने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।'** उसने क्रीड़ा प्रारम्भ की है। आहाहा! अल्प काल में केवलज्ञान लेगी, भवमुक्त होगी। आहाहा! **ज्ञानकला सहजरूप से विकास को प्राप्त होती जाती है..** यह दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा जहाँ अनुभव और दृष्टि हुई, तब उसका ज्ञान सहजरूप से विकास को प्राप्त होता जाता है। वह ज्ञान अर्थात् आनन्द और शान्ति सहजरूप से विकसित होती जाती है। दूज, तीज, चौथ, पंचमी, छठ, सप्तमी, अष्टमी करके पूर्णिमा (होगी), ऐसा। इसी प्रकार आत्मा में धर्म की पहली कला, सम्यग्ज्ञान जहाँ उदित हुई... यह बापू! यह तो कोई अलौकिक बातें हैं, भाई! यह ज्ञानकला बढ़ते-बढ़ते... आहाहा! केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।

ज्ञानकला सहजरूप से विकास को प्राप्त होती जाती है... सहजरूप से विकास को प्राप्त होती जाती है। वहाँ हठ नहीं करनी पड़ती। आहाहा! **और अन्त में वह परम कला अर्थात् केवलज्ञान हो जाती है।** लो! पूर्ण दशा—परमात्मदशा हो जाती है। देह छूटकर सिद्ध हो जाता है। आहाहा!

टीका : पुण्य-पापरूप से दो पात्रों के रूप में नाचनेवाला कर्म.. पुण्य और पाप दो हैं, ऐसा माननेवाला **एक पात्ररूप होकर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।** पुण्य हो या पाप हो, शुभ हो या अशुभ हो, दोनों अधर्म हैं; दोनों धर्म नहीं। आहाहा! आत्मा का ज्ञान और भान हुआ, इसलिए वे दोनों पुण्य-पाप के भाव कर्मरूप से निकल गये (अर्थात्) दोनों कर्म छूट गये। आहाहा! है?

पुण्य-पापरूप से दो पात्रों.. अर्थात् दो प्रकार होकर, **कर्म एक पात्ररूप होकर..** निकल गया। यह दोनों कर्म ही है, पुण्य और पाप दोनों कर्म है। दोनों में धर्म और आत्मा नहीं है। आहाहा!

भावार्थ : कर्म सामान्यतया एक ही है.. पुण्य हो या पाप हो, शुभ हो या अशुभ

हो, **तथापि उसने पुण्य–पापरूपी दो पात्रों का स्वांग धारण करके..** स्वांग धारण करके (अर्थात्) एक का एक आदमी स्वांग धारण (करे वैसे)। **रंगभूमि में प्रवेश किया था।** आहाहा! पुण्य का जहाँ ऐसा ठाठ आवे... करोड़ों रुपये, अरबोंपति, रूपवान स्त्री, अपना शरीर रूपवान, पैसा, बड़े करोड़ों के मकान... आहाहा! उस पुण्य के ठाठ को देखकर मनुष्य उसमें मरता हो। वह तो कर्म का फल है, प्रभु! वहाँ तू उसमें नहीं है और पाप के फल में नरकादि गति मिले, परन्तु वह तो परवस्तु है, वह कहीं तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! मानों हैरान.. हैरान (हो गया)। अर र र! हम निर्धन, हम गरीब, हमें खाने को नहीं मिलता। बापू! यह तो पाप की बात है। पाप की प्रतिकूलता हो, वह कहीं आत्मा को बाधक नहीं है। आहाहा!

कर्म सामान्यतया एक ही है, तथापि उसने पुण्य–पापरूपी दो पात्रों का स्वांग धारण करके रंगभूमि में प्रवेश किया था। यहाँ नाटक का बताया है न! रंगभूमि में दोनों आये थे। **उसे ज्ञान ने यथार्थतया एक जान लिया..** चैतन्यस्वरूप ने जान लिया कि यह पुण्य और पाप दोनों कर्म है, दोनों संसार है, दोनों बन्ध का कारण है। आहाहा! है? **उसे ज्ञान ने यथार्थतया एक जान लिया, तब वह एक पात्ररूप होकर रंगभूमि से बाहर निकल गया,..** बाहर निकल गया। **और नृत्य करना बन्द कर दिया।** पुण्य–पाप रुक गये। अकेला आत्मा रह गया। आहाहा!

इसका यह हिन्दी है।

आश्रय, कारण, रूप, सवादसुं भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बन्ध भये सुखदुःखकरा रे।
ज्ञान भये दोउ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे।

पूरे अधिकार का सार रखा है। आहाहा! अज्ञानी, पुण्य है वह अलग चीज़ है और पाप अलग है, ऐसा मानता है। कारण भिन्न है। पुण्य बन्धन का कारण शुभभाव है और पाप बन्धन का कारण अशुभ है, ऐसे अज्ञानी दो भेद मानता है। उसका रूप (अर्थात्) बन्धन में अन्तर मानता है और उनके स्वाद अर्थात् फल। पुण्य के फल में यह पैसा–धूल, स्त्री,

पुत्र मिले; पाप के फल में दुर्गति मिले, ऐसा **भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,..** अज्ञानी दोनों का भेद विचारकर दोनों अलग जाति है, ऐसा मानता है।

पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बन्ध भये सुखदु:खकरा रे। पुण्य और पाप दोनों शुभाशुभभाव **बन्ध भये..** दोनों सुख-दु:ख अर्थात् लौकिक सुख, हों! लौकिक सुख-दु:ख को करता है। उसमें कुछ आत्मा है नहीं। अरबोंपति हो तो भी बेचारा भिखारी दु:खी है। आहाहा! अपने यहाँ आते नहीं? शान्तिप्रसाद, दिल्ली, चालीस करोड़! यहाँ तो सब बहुत आते हैं। चालीस करोड़! ऐई! तुम्हारे (सेठ के) पास पचास करोड़ है। परन्तु वह दूसरा अपने था न? वह पाणसणा का! है न गोवा में! दो अरब चालीस करोड़! दो अरब चालीस करोड़! शान्तिलाल खुशाल, अभी मर गया पौने दो वर्ष पहले। अभी (उसका) लड़का वहाँ मुम्बई में दर्शन करने आया था। 'मेरे पिता को आना था' ऐसा बोला, परन्तु गुजर गये। मेरे पिता को आप के दर्शन करने आना था। कुछ धूल... दो अरब चालीस करोड़! दो सौ चालीस करोड़। मर गया बेचारा उसी-उसी में। आहाहा! मेरे पैसे, मेरे पैसे, मेरे पैसे और मैं बहुत बड़ा धन्धा करता हूँ और बहुतों को निभाता हूँ, बहुतों को निभाता हूँ, ऐसा अभिमान! आहाहा! सब मर जानेवाले हैं। आहाहा! कुदरत के नियम में ये सब पामर हो जानेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अज्ञानी आश्रय में, कारण में, उनके बन्धन में और उनके स्वाद में भेद-विचारकर अलग-अलग न्यारा विचारता था। **पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बन्ध भये सुखदु:खकरा रे।** बन्ध से सब एक ही जाति है। **ज्ञान भये दोउ एक लखै..** है? सम्यग्ज्ञान चैतन्यमूर्ति प्रभु मैं तो हूँ, ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, वहाँ दोनों एक ही जाति है—पुण्य और पाप में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा!

ज्ञान भये दोउ एक लखै.. लखै अर्थात् जाने। सम्यग्ज्ञान होने पर, धर्म की पहली दशा होने पर, पुण्य और पाप दोनों एक ही जाति है, बन्ध का कारण है, ऐसा ज्ञानी जानता है। आहाहा! लखै अर्थात् जाने। **ज्ञान भये दोउ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,** दोनों का आश्रय बन्ध का कारण है। शुभ और अशुभ बन्ध का कारण और बन्धरूप है। आहाहा!

बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप.. शुभ और अशुभभाव **बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे।** इन पुण्य और पाप को छोड़कर स्वरूप की स्थिरता, दृष्टि, अनुभव करके जिनमुनि परमात्मपद को प्राप्त हुए। इन पुण्य-पाप के कारण से नहीं; पुण्य-पाप को छोड़कर (परमात्म पद को) प्राप्त हुए। आहाहा! ऐसा है।

समाज में तो मुकिल पड़े, ऐसा है। यह तो जंगल है। यहाँ कहाँ, यहाँ कोई समाज नहीं है। यहाँ तो आत्मा की बात है। सम्प्रदाय में तो विवाद उठाते हैं, तकरार उठाते हैं। ऐ... ऐसा नहीं, ऐ... ऐसा नहीं। ऐसा नहीं तो रख तेरे घर में। मार्ग तो यह है। आहाहा!

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति.. इस टीका का नाम आत्मख्याति है। यह टीका है न? आत्मप्रसिद्धि। आत्मख्याति अर्थात् प्रसिद्धि। **आत्मख्याति नामक टीका में पुण्य-पाप का प्ररूपक तीसरा अंक समाप्त हुआ।** लो, जीव-अजीव के पश्चात् कर्ता-कर्म और यह पुण्य-पाप।

—४—

आस्रव अधिकार

अथ प्रविशत्यास्रवः।

(द्रुतविलम्बित)

अथ महामद–निर्भरमन्थरं समररङ्गपरागत–मास्रवम्।
अयमुदारगभीर–महोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः।।११३।।

द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास।
भये सिद्ध परमातमा, नमूँ तिनहिं, सुख आस।।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि – 'अब आस्रव प्रवेश करता है।' जैसे नृत्यमंच पर नृत्यकार स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है, उसी प्रकार यहाँ आस्रव का स्वाँग है। उस स्वाँग को यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है, उसकी महिमारूप मङ्गल करते हैं:–

श्लोकार्थ : [अथ] अब [समररंगपरागतम्] समरांगण में आये हुए, [महामदनिर्भर–मन्थरं] महामद से भरे हुए मदोन्मत्त [आस्रवम्] आस्रव को [अयम् दुर्जयबोधधनुर्धरः] यह दुर्जय ज्ञान–धनुर्धर [जयति] जीत लेता है, [उदारगभीरमहोदयः] जिसका (–ज्ञानरूपी बाणावली का) महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रव को जीतने के लिये जितना पुरुषार्थ चाहिए, उतना वह पूरा करता है) और गम्भीर है, (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते)।

भावार्थ : यहाँ आस्रव ने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है, इसलिए यहाँ रसवत् अलंकार के द्वारा शान्तरस में वीररस को प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रव को जीतता है।' समस्त विश्व को जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव संग्रामभूमि में आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान योद्धा है, इसलिए वह आस्रव को जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है।।११३।।

श्लोक - ११३ पर प्रवचन

अब चौथा आस्त्रव अधिकार।

द्रव्यास्त्रवतैं भिन्न ह्वै,.. क्या कहते हैं? कि कर्म है न, यह जड़, यह परमाणु द्रव्यास्त्रव कहलाते हैं। उसके परमाणु जो पुण्य के आते हैं, पाप के आते हैं, वे द्रव्यास्त्रव कहलाते हैं। जैसे जहाज में छिद्र हो और पानी आवे; वैसे आत्मा में पुण्य-पाप के भाव, वे भावास्त्रव हैं और उनसे परमाणु आवें, वे द्रव्यास्त्रव है। अरे! क्या कहा यह?

द्रव्यास्त्रव से भिन्न है, प्रभु! **भावास्त्रव करि नास।** और पुण्य का, पाप का भाव, दोनों आस्त्रव हैं, नये आवरण का कारण है। उसका मुनियों ने, धर्मात्माओं ने भावास्त्रव का नाश किया। **भये सिद्ध परमातमा,..** आहाहा! णमो सिद्धाणं-सिद्ध हुए वे। **नमूँ तिनहिं, सुख आस।** अर्थकार कहते हैं, मेरे सुख की आशा से मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। मेरा सच्चिदानन्द प्रभु जागे और आनन्द में आवे, इसलिए मैं नमस्कार निमित्त से करता हूँ। आहाहा!

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि-'अब आस्त्रव प्रवेश करता है।'

जैसे नृत्यमंच पर.. इस नाटक में। **नृत्यकार स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है,..** कोई राजा का, भर्तहरि का, पींगला का स्वांग धारण कर (प्रवेश करते हैं)। **उसी प्रकार यहाँ आस्त्रव का स्वाँग है।** पुण्य और पाप दोनों भाव, वे भावास्त्रव हैं। आस्त्रव अर्थात् नये आवरण का कारण है। जैसे जहाज में छिद्र पड़े और पानी आवे, इसी प्रकार भगवान आत्मा में पुण्य और पाप दोनों भाव, आस्त्रव हैं, अर्थात् आते हैं, जिनसे नये आवरण आते हैं। वे कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

यहाँ आस्त्रव का स्वाँग है। उस स्वाँग को यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है,.. आहाहा! बहुरुपिया वेश धारण करके आता है। राजा का (वेश) लेकर आवे, गरीब मनुष्य होकर आवे (तो) चतुर व्यक्ति जान लेता है कि यह तो बहुरुपिया है। सर्राफ की बड़ी दुकान होवे न! गद्दी, तकिये में बैठा हो। वहाँ कुछ रसोई नहीं होती, कुछ नहीं होता (और बोलता हो) ऐ.. माँ-बाप! मुझे रोटी दो, ऐसे भांड होकर आवे, परन्तु समझे कि यह

खबर नहीं ? यहाँ घर भी नहीं और रोटियाँ भी नहीं। परंतु भांड है। फिर से और राजा होकर आवे तो समझ जाए कि यह तो भांड है। इसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों भाव भांड की तरह बहुरूपक है। वह आत्मा का स्वरूप और आत्मा का कारण नहीं है। आहाहा!

उस स्वाँग को यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है, उसकी महिमारूप मङ्गल करते हैं:– लो! मांगलिक करते हैं, मांगलिक! पहला संस्कृत श्लोक है। ११३ मांगलिक।

अथ महामद–निर्भरमन्थरं समररङ्गपरागत–मास्रवम्।
अयमुदारगभीर–महोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः।।११३।।

आहाहा! इसका श्लोकार्थ। **अब 'समररंगपरागतम्' समरांगण में..** जैसे युद्ध का स्थल हो और जैसे आवे; वैसे समरांगण में **महामद से भरे हुए मदोन्मत्त..** महामद से भरे हुए पुण्य-पाप। क्योंकि मैंने कुछ बादशाह को गिराया, साधु हुए उन्हें भी मैंने गिराया है। साधु होकर भी उस पुण्य की क्रिया में धर्म माननेवालों को सबको मैंने गिराया है। इसलिए आस्रव को अभिमान हो गया है। आहाहा! समझ में आया? है?

समरांगण में आये हुए, महामद से भरे हुए मदोन्मत्त आस्रव को.. आहाहा! महामद से भरा हुआ मदमत्त आस्रव है। पुण्य और पाप महाअभिमानी है, कहते हैं। मैंने मेरे पुण्य के परिणाम में धर्म मनवाकर मानधाता को नीचे गिराया है। आहाहा! मैंने दुर्गति में डाला है। दुर्गति, यह चार गति दुर्गति है। स्वर्ग भी दुर्गति है। आहाहा! '**परदव्वादो दुग्गई**' आता है न? भगवान आत्मा के झुकाव के अतिरिक्त जितना परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाता है, वह सब चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की प्रतिमा या तीर्थंकर का स्मरण या प्रतिमा के दर्शन, वह सब शुभभाव है; वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

इसलिए आस्रव कहता है, मैंने तो उसे धर्म मनवाकर कितनों को नीचे गिराया है। मेरे पंजे में से किसी को निकलने नहीं दिया। आहाहा! जहाँ हो वहाँ ये दया, दान, व्रत, तप को धर्म मनवाकर, साधु नाम धराकर भी भ्रष्ट हुए मिथ्यादृष्टि, आस्रव कहता है कि (मैं) मदमस्त हूँ। आहाहा! मेरा राज चलता है! जहाँ हो वहाँ पुण्य ठीक है, धर्म का कारण है,

यह शुभभाव करते-करते धर्म होगा, ऐसा (इसके बिना) सीधे होता होगा? ऐसा अज्ञानी मनवाकर... आहाहा! कठिन काम है, बापू! धर्म कोई ऐसी चीज़ है कि अभी सर्वत्र गड़बड़ी बहुत हो गयी। आहाहा!

यह पुण्य और पाप का भाव आया। क्या कहलाता है? संग्राम। संग्राम में जैसे आता है न? वैसे महामद से भरा हुआ मदमस्त। आहाहा! पुण्य के नाम से धर्म मनवाकर मैंने तो महात्मा को मारा है, दुर्गति में डाल दिया है। (ऐसे) आस्रव को अभिमान हो गया है। क्योंकि अभी तक उसकी जीत है। आत्मा उससे भिन्न है, उसकी जीत हुई नहीं। आहाहा! यह तो सूक्ष्म बात है, बापू!

यह तो समयसार है! यह कोई कथावार्ता नहीं। यह भगवान आत्मा की वार्ता, अध्यात्म कथा है। एक-एक लाईन या एक-एक पंक्ति समझना कठिन है, भाई! आहाहा!

भाषा कैसी है, देखा! **'महामदनिर्भर'** भरा हुआ ऐसा मन्थर, मदमस्त। आहाहा! अन्त में भगवान की भक्ति करूँगा, (वह) करते-करते कल्याण होगा। भजन करो। परन्तु वह भजन-वजन है, वह गिरने का भजन है। वह सब शुभराग है, वह धर्म नहीं है, तुझे खबर नहीं है। धर्म तो आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है, उसका अवलम्बन लेकर धर्म होता है। बाहर का अवलम्बन लेकर तो राग ही होगा, भाई! स्त्री, परिवार का अवलम्बन ले तो अशुभराग होगा; देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन ले तो शुभराग होगा, परन्तु दोनों राग हैं। आहाहा!

उस महामद से भरे हुए मदमस्त आस्रव को अब **'अयम् दुर्जयबोधधनुर्धर:'** आहाहा! **यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर..** (अर्थात्) अन्दर पुण्य-पाप से भिन्न स्वरूप का जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह **दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर..** यह धनुर्धर (अर्थात्) एक के बाद एक ज्ञान की बाणावली अन्दर से जागी। राग को तोड़ डाला। आहाहा! दुर्जय ज्ञान (अर्थात्) जिस ज्ञान को जीतना (असम्भव है), जगत में कोई जीत नहीं सकता, ऐसा दुर्जय आत्मा का ज्ञान कैसा है?

धनुर्धर.. बाणावली है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, तप के विकल्प से भिन्न पड़कर आत्मा का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान को जीतने के लिए अब कोई समर्थ नहीं है। वह

ज्ञान धनुर्धर एक के बाद एक बाण छोड़ता है (चलाता है)। पुण्य और पाप का नाश करता है और आत्मा की शान्ति की जागृति करता है। आहाहा! एक घण्टे में ऐसी बातें! चलते (प्रवाह) में तो यह करो, यह करो, भक्ति करो, व्रत करो, तप करो, मन्दिर बनाओ, पूजा करो। धूल तेरे लाखों करोड़ों खर्च कर न! वह पर की क्रिया कर सकता हूँ, यह मान्यता ही मिथ्याभ्रम है। उसमें तेरा भाव होवे तो शुभभाव – पुण्य है। वह बन्ध का कारण है। आहाहा!

उसे यह **दुर्जय ज्ञान–धनुर्धर जीत लेता है,..** यह जो आस्रव मदमस्त था, उसे यह दुर्जय ज्ञान—सम्यग्ज्ञान—राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान उसे जीतता है। आहाहा! **'उदारगभीरमहोदयः'** कैसा है? कि **जिसका (–ज्ञानरूपी बाणावली का) महान् उदय उदार है..** आहाहा! राग के विकल्प से, दया, दान, व्रत, तप के विकल्प से (ज्ञान) भिन्न पड़ा, प्रभु! उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान उदार है। **महान् उदय उदार है..** है? **'उदारगभीरमहोदयः' जिसका (–ज्ञानरूपी बाणावली का) महान् उदय उदार है** आहाहा! **(अर्थात् आस्रव को जीतने के लिये जितना पुरुषार्थ चाहिए उतना वह पूरा करता है)...** आहाहा! ऐसा कठिन काम है। एक-एक श्लोक समझना कठिन, बापू! ऐसे पढ़ जाए, वाँच जाए, वाँच गए (ऐसा नहीं चलता)। आहाहा!

वह ज्ञान कैसा है? उदार है। अर्थात्? विकार का नाश करने के लिए जितना पुरुषार्थ चाहिए, वह ज्ञान पूरा करता है। आहाहा! उदार है। ज्ञान अन्दर से उदार होकर प्रगट हुआ है। जितना चाहिए, उतना (अर्थात्) राग को नाश करने के लिए (जितना) ज्ञान चाहिए, उतना प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन होने पर उसके साथ सम्यग्ज्ञान होने पर उस ज्ञान की धारा ऐसी है कि राग को नाश करने का जितना पुरुषार्थ चाहिए, उतना तैयार होकर ही जागता है। आहाहा! उदार है।

और गम्भीर है, (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते)। आहाहा! **'महोदयः'** महा उदय। **'महोदयः'** का पहला अर्थ धनुर्धर का महान उदय किया। ज्ञानरूपी धनुर्धर का महान उदय, और उदार है। गम्भीर है। जिसका पार पाना.. आहाहा! अलंघ्य है। अन्दर मध्य पाना कि इस ज्ञान का क्या अर्थ है? अपार.. अपार..! प्रभु का

ज्ञानस्वभाव अपार.. अपार.. है। ऐसा वह गम्भीर है। जिसका पार अल्पज्ञानी नहीं पा सकता। आहाहा!

एक ओर कहा कि मति और श्रुतज्ञान, केवलज्ञान का अंश है। यह उनकी महिमा बताते हैं। अपार ज्ञान है। चैतन्य के ज्ञानस्वरूप है, जिसके ज्ञान की महिमा का पार नहीं होता। अपार.. अपार.. अपार.. अपार.. अपार.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. ऐसा ज्ञान गम्भीर है। आहाहा! उसने राग-द्वेष को जीता और अपना सामर्थ्य प्रगट करके जन्म-मरणरहित हुआ, उसकी यह बात है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २४४, कलश-११३, गाथा १६४-१६५ दिनाङ्क ०४-०६-१९७९, सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल ९

यह समयसार के (आस्रव अधिकार के) पहले कलश का भावार्थ। पहला कलश कल हो गया है न? **यहाँ नृत्यमंच पर..** नाचने के स्थान में **आस्रव ने प्रवेश किया है।** इस प्रकार लिया है। शुभ-अशुभभाव वे दोनों आस्रव हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग यह सब आस्रव है। आस्रव अर्थात् नये आवरण आते हैं। जैसे जहाज में छिद्र हो, छिद्र, (उसमें से) पानी आवे; इसी प्रकार भगवान आत्मा में मिथ्यात्व और शुभाशुभभाव, ये सब आस्रव हैं। नये आवरण का कारण है। उस आस्रव ने रंगभूमि में प्रवेश किया। नाटक की उपमा दी है न? रंगभूमि में आस्रव अर्थात् पुण्य-पाप के परिणाम ने प्रवेश किया।

नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है,.. शान्तरस, अद्‌भुतरस, वीररस आदि (का) वर्णन (होता है)। **यहाँ रसवत् अलंकार के द्वारा शान्त रस में वीर रस को प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर..'** आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप ज्ञायकभाव का ज्ञान, ज्ञायकभाव ध्रुवभाव सदृश नित्य भाव, ऐसा जो आत्मा का स्वरूप है, उसका ज्ञान। शास्त्रज्ञान या बाह्यज्ञान की यहाँ बात नहीं है। जो आत्मा है, आत्मज्ञान (उसकी बात है)।

आत्मा अनन्त शुद्ध गुण का पिण्ड है। आत्मा अनन्त चैतन्यरत्नाकर, चैतन्य के रत्न के सागर, स्वभाव से भरपूर है। उसका ज्ञान। उस आत्मा का ज्ञान कि जो आस्रव का नाश करने की ताकतवाला है। आहाहा! है? ज्ञान (रूपी) धनुर्धर। धनुर्धर क्यों कहा? कि आत्मा, आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, वह कर्म से तो अभावस्वरूप है, पर शरीरादि से तो अभावस्वरूप है परन्तु पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और काम, क्रोध इन भावों से भी प्रभु आत्मा भिन्न है। आहाहा! ऐसे आत्मा का ज्ञान होने पर... स्व-आत्मज्ञान। आत्मज्ञान का अर्थ ऐसा नहीं है कि किसी निमित्त का ज्ञान, राग का ज्ञान, पर्याय का ज्ञान, ऐसा नहीं है। आत्मज्ञान। आत्मा जो त्रिकाली ध्रुव चिदानन्द प्रभु, भूतार्थ सत्यार्थ (है), उसका ज्ञान, उसका दर्शन और उसमें लीनता। यह ज्ञानरूपी धनुर्धर (अर्थात्) एक के बाद एक ज्ञान की धारा। जिसने शुद्धस्वभाव का आश्रय लिया है, सम्यग्दृष्टि को वह एक के बाद एक ज्ञान की धारा, आनन्द की शुद्ध धारा बढ़ती जाती है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

ज्ञानरूपी धनुर्धर.. बाण की आँवली। जैसे एक बाद एक बाण पड़े, वैसे भगवान आत्मा आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु का ज्ञान और अनुभव होने पर, उसका सम्यग्दर्शन होने पर, उसमें से ज्ञान और आत्मा की वीतरागी धारा बहती है, उसे यहाँ ज्ञान बाणावली कहा जाता है। आहाहा! वह **आस्रव को जीतता है।** वह मिथ्यात्व और पुण्य-पाप के भाव, वे आस्रव हैं, उन्हें ज्ञान की धारा—भगवान आत्मा के स्वभाव का ज्ञान और आनन्द की धारा, उस आस्रव को जीतती है। अर्थात्? ज्ञान आत्मा का और आनन्द आत्मा की दशाएँ जैसे उत्पन्न होती है, वैसे-वैसे पुण्य-पाप के परिणाम का व्यय होता है, नाश होता है। आहाहा!

समस्त विश्व को जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव.. पूरे जगत को आस्रव ने पागल बनाया है, पागल! आस्रव ही मैं हूँ और उससे मुझे लाभ होगा, (ऐसे) आस्रव ने (पागल बनाया है)। **विश्व को जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव..** उसे अभिमान हुआ कि मैंने तो बड़े मानधाताओं को गिराया है। मुनि दिगम्बर द्रव्यलिंगी हुए, उन्हें भी पंच महाव्रत के परिणाम आस्रव हैं, उनसे मुझे लाभ है, ऐसों को भी आस्रव कहता है कि मैंने गिराया है। आहाहा! नौवें ग्रैवेयक गया। आता है न? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार... मुनिव्रत धार ग्रैवक उपजायो, पै आतम ज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' मुनिव्रत धार, अट्ठाईस

मूलगुण लिए, पंच महाव्रत लिए परन्तु वह तो आस्रव है। आहाहा! वह दु:ख है। वह महाव्रत का भाव भी आस्रव है, वह दु:ख है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो' – इसका अर्थ क्या हुआ? कि पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण राग, आस्रव और दु:ख है। आत्मा के ज्ञान बिना आनन्द का स्वाद उसे नहीं आता। आहाहा!

यहाँ पर का ज्ञान नहीं, शास्त्र का ज्ञान भी नहीं। प्रभु! सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा का ज्ञान होने पर उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! उस अतीन्द्रिय (आनन्द के) स्वाद बिना अनन्त बार मुनिपना पंच महाव्रत धारण किये परन्तु इसे आत्मज्ञान का स्वाद नहीं आया। क्योंकि वे तो आस्रव हैं। उन आस्रव से हमें कल्याण होगा, यह मान्यता मिथ्यात्व की है। आहाहा! उसके कारण 'आत्मज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' जरा सुख नहीं मिला। पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण, राग अनन्त बार पालन किया परन्तु वह तो राग और आस्रव है। आहाहा!

यह **मदोन्मत्त हुआ आस्रव**.. मद में पागल हुआ। मैंने किन्हीं को, मानधाता को गिराया है। दिगम्बर जैन साधु अनन्त बार हुआ, नौवें ग्रैवेयक गया, पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण पाले, इसलिए वह मानो कि मेरा कल्याण हो जाएगा। ऐसे आस्रव ने, ऐसे मुनियों को भी आस्रव के प्रेम में मिथ्यात्व में लिया है। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! मार्ग बहुत अलग है। जिनेश्वर वीतराग परमात्मा..!

(ऐसा मदोन्मत्त हुआ) **आस्रव संग्रामभूमि में आकर खड़ा हो गया;**.. मैंने बहुतों को तो गिराया है। आस्रव कहता है कि मैंने मेरे झपट्टे में से किसी को हटने नहीं दिया। आहाहा! अन्त में पर की दया का भाव आवे, वह राग है। राग ही मुझे लाभ करेगा, ऐसा जो मिथ्यात्व आस्रव, उसे गर्व हुआ कि मैंने तो ऐसे महात्मा को नीचे गिराया है। आहाहा! ऐसा **आस्रव संग्रामभूमि में आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान**.. भगवान आत्मा के स्वभाव में अनन्त-अनन्त वीर्य और अनन्त पुरुषार्थ भरा है।

भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय अनन्त वीर्य—पुरुषार्थ पूर्ण भरा है। आहाहा! ऐसे बल के योद्धा ने, अपने आत्मज्ञान और

श्रद्धा के-योद्धा के बल से। आहाहा! **उससे भी अधिक बलवान..** शास्त्र से भी चैतन्य भगवान का ज्ञान-श्रद्धा और शान्ति होने से वीतरागी सम्यग्दर्शन (अधिक बलवान है), क्योंकि आत्मा जिनस्वरूप ही है। 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सौ मतवाला समझे न।''घट घट अन्तर जिन बसे,' घट-घट में वीतरागस्वरूप आत्मा जिनस्वरूप अन्दर है। आहाहा! वह 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन।' जैनपना अन्दर में होता है। उस जिनपने का आश्रय लेकर जिसने मिथ्यात्व का नाश किया है, उसे अन्तर में-घट में जैन कहा जाता है। बाहर की प्रवृत्ति देखकर जैनपना माने, कोई त्यागी हुआ, ऐसा नहीं कहते हैं। आहाहा!

'घट घट अन्तर जैन बसे' यह जिनस्वरूप भगवान आत्मा, जिसका अनादि वीतरागस्वरूप ही उसका स्वभाव है। उसका आश्रय लेकर, उसके अवलम्बन से जो वीतरागता प्रगट होती है, उस आस्रव से भी वह वीतरागता महा बलवान है। वह **अधिक बलवान योद्धा है..** आहाहा! क्या कहते हैं? मिथ्यात्व और शुभ-अशुभ दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम वे आस्रव हैं। उनके बल से जगत को अनादि (काल से) अनन्त बार चार गति में भटकाया परन्तु उसकी अपेक्षा भगवान आत्मा का बल... आहाहा! अनन्त-अनन्त वीर्य—पुरुषार्थ, अन्दर आत्मा में वीर्य भरा है। वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ। वीर्य अर्थात् रेत नहीं। अनन्त वीर्य आत्मा में भरा है। ऐसा उस अनन्त वीर्य का रूप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन में भी भरा है। अनन्त गुण में अनन्त वीर्य का रूप है। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण के रूप में अनन्त का वीर्य, उसके स्वभाव के बल के जोर से, उसके सन्मुख के बल के जोर से आस्रव को जीत लिया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

इसलिए वह आस्रव को जीत लेता है.. आहाहा! भगवान पूर्णानन्द प्रभु, अनन्त चैतन्यरत्न का सागर, समुद्र, सागर वह है। अनन्त चैतन्य के गुण का प्रभु सागर है। एक-एक आत्मा, आहाहा! उसके जोर के बल से, उसका आश्रय लेकर। आहाहा! शक्ति में जो अनन्त ज्ञान, और दर्शन, आनन्द है, उसे पर्याय में व्यक्त में आनन्द और ज्ञान व्यक्त किया। आहाहा! उस चैतन्य के स्वभाव के आश्रय से प्रगट किया। वह कोई दया, दान और व्रत के विकल्प के आश्रय से प्रगट नहीं होता। क्योंकि वह तो सब आस्रव है। आहाहा!

उसने **अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश करके..** आहाहा! यहाँ तो अन्तिम लेना है

न! सम्यग्दर्शन हुआ या पूर्णानन्द प्रभु आत्मा है, उसका अनुभव हुआ। अनुभव अर्थात् उसे अनुसरकर दशा हुई। पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा को अनुसरकर दशा हुई। वह 'अनुभव चिन्तामणि रत्न, अनुभव है रसकूप; अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।' उस अनुभव द्वारा आस्रव को जीतकर, उत्कृष्ट अनुभव द्वारा **कर्मों का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है।** आहाहा!

ये तो पंचम काल के मुनि हैं, इन्हें कहीं केवलज्ञान नहीं परन्तु सामर्थ्य बताते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव ये सब पंचम काल के साधु हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दो हजार वर्ष पहले हुए। अमृतचन्द्राचार्य टीकाकार हजार वर्ष पहले हुए। वे ऐसी पुकार करते हैं कि आत्मा के स्वभाव के जोर के बल से हमने मिथ्यात्व और अज्ञान और राग-द्वेष का अंश तो मिटाया है, परन्तु उसके पूर्ण के, आत्मा के आश्रय के बल से कर्म का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। आहाहा! है?

अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है। ज्ञान अर्थात् आत्मा। ज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा की परिणति जो शुद्ध है, उसे यहाँ ज्ञान कहा गया है। उस शुद्ध परिणति द्वारा अशुद्ध आस्रव को जीतकर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। आहाहा!

गाथा–१६४–१६५

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति –

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्ण–परिणामा।।१६४।।
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य राग–दोसादि–भावकरो।।१६५।।

मिथ्यात्व–मविरमणं कषाययोगौ च सञ्ज्ञासञ्ज्ञास्तु।
बहु–विध–भेदा जीवे तस्यैवानन्य–परिणामाः।।१६४।।
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवन्ति।
तेषा–मपि भवति जीवश्च राग–द्वेषादि–भावकरः।।१६५।।

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः। मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्त–त्वात्किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवाः। ते चाज्ञानिन एव भवन्तीति अर्थादेवा–पद्यते।।१६४–१६५।।

अब आस्रव का स्वरूप कहते हैं:–

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीव में, जीव के अनन्य हि भाव हैं।।१६४।।
अरु वे हि ज्ञानावरनआदिक, कर्म के कारण बनैं।
उनका भि कारण जीव बने, जो रागद्वेषादिक करे।।१६५।।

गाथार्थ : [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण, [कषाययोगौ च] कषाय और योग – यह आस्रव [संज्ञासंज्ञाः तु] संज्ञ (चेतन के विकार) भी हैं और असंज्ञ (पुद्गल के विकार) भी हैं। [बहुविधभेदाः] विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव– [जीवे] जो कि जीव में उत्पन्न होते हैं वे–[तस्य एव] जीव के ही [अनन्यपरिणामाः] अनन्य परिणाम हैं। [ते तु] और असंज्ञ आस्रव [ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्म के [कारणं] कारण (निमित्त) [भवंति] होते हैं [च] और [तेषाम् अपि] उनका भी (असंज्ञ आस्रवों के भी कर्मबन्ध का निमित्त होने में) [रागद्वेषादिभावकरः जीवः] रागद्वेषादि भाव करनेवाला जीव [भवति] कारण (निमित्त) होता है।

टीका : इस जीव में राग, द्वेष और मोह – यह आस्रव अपने परिणाम के कारण से होते हैं, इसलिए वे जड़ न होने से चिदाभास हैं (–अर्थात् जिसमें चैतन्य का आभास है ऐसे हैं, चिद्विकार हैं)।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – यह पुद्गलपरिणाम, ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रवण के निमित्त होने से, वास्तव में आस्रव हैं; और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के) कर्म–आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग–द्वेष–मोह हैं– जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं। इसलिए (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के) आस्रवणक निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग–द्वेष–मोह ही आस्रव हैं। और वे तो (–राग–द्वेष –मोह) अज्ञानी के ही होते हैं, यह अर्थ में से ही स्पष्ट ज्ञात होता है। (यद्यपि गाथा में यह स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है, तथापि गाथा के ही अर्थ में से यह आशय निकलता है।)

भावार्थ : ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का (–आगमन का) निमित्तकारण तो मिथ्यात्वादि कर्म के उदयरूप पुद्गल–परिणाम हैं, इसलिए वे वास्तव में आस्रव हैं। और उनके कर्मास्रवण के निमित्तभूत होने का निमित्त जीव के रागद्वेषमोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं, इसलिए रागद्वेषमोह ही आस्रव हैं। उन रागद्वेषमोह को चिद्विकार भी कहा जाता है। वे रागद्वेषमोह जीव की अज्ञान–अवस्था में ही होते हैं। मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि के अर्थात् अज्ञानी के ही रागद्वेषमोहरूप आस्रव होते हैं।

गाथा - १६४-१६५ पर प्रवचन

अब गाथा १६४-१६५ आस्रव का स्वरूप

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्ण-परिणामा ।।१६४।।
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य राग-दोसादि-भावकरो ।।१६५।।

नीचे हरिगीत

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीव में, जीव के अनन्य हि भाव हैं।।१६४।।
अरु वे हि ज्ञानावरनआदिक, कर्म के कारण बनैं।
उनका भि कारण जीव बने, जो रागद्वेषादिक करे।।१६५।।

आहाहा! **टीका : इस जीव में..** पर्याय में जो राग और द्वेष है, वे जीव के परिणाम हैं। आहा! **इस जीव में राग, द्वेष और मोह – यह आस्रव अपने परिणाम के कारण से होते हैं..** यह क्या कहते हैं ? कि राग, द्वेष और मोह किसी कर्म के कारण हुए हैं, ऐसा नहीं है। 'कर्म विचारैं कौन भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहै घनघात लोह की संगति पाई।' आहाहा! यह यहाँ कहते हैं कि **इस जीव में..** भगवान आत्मा में, उसकी पर्याय में **राग, द्वेष और मोह – यह आस्रव..** हैं। मिथ्यात्व आस्रव है, उसमें हिंसा, झूठ, चोरी, भोग-वासना आस्रव है, तथा दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा ये भी आस्रव है। आहाहा!

ये **राग, द्वेष और मोह – यह आस्रव अपने परिणाम के कारण से होते हैं..** यह क्या कहना चाहते हैं ? कि मोह, राग, द्वेष के परिणाम हुए, वे कोई ऐसा कहे कि कर्म के कारण से हुए हैं (तो) ऐसा नहीं है। अपने परिणाम के कारण से हुए हैं। आहाहा! समझ में आया ? संस्कृत टीका है। **'स्वपरिणामनिमित्ताः'** संस्कृत है। **'स्वपरिणामनिमित्ताः'** आहाहा! निमित्त अर्थात् कारण। अपने परिणाम के कारण से हुए हैं। उस कर्म के कारण

से राग, द्वेष और मोह हुए हैं, ऐसा नहीं है। कर्म जड़ दूसरी चीज़ है, भगवान चैतन्य दूसरी चीज़ है। एक चीज़ दूसरी चीज़ को कभी स्पर्श नहीं करती। आहाहा! स्पर्श नहीं करती, छूती नहीं, स्पर्श नहीं करती। कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते; आत्मा का राग, कर्म को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू!

मुमुक्षु : कर्म ने लगाया टेढ़ा आंक।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बातें लोक की। इसके लिए तो आचार्य महाराज स्वयं कहते हैं।

आस्रव **'स्वपरिणामनिमित्ता:'** अपनी परिणति के कारण से आस्रव हुए हैं, कर्म के कारण नहीं। कर्म जड़ है, अजीव है, और ये परिणाम जीव ने स्वयं किये हैं, ये जीव के परिणाम जीव हैं।

मुमुक्षु : कर्मशास्त्र में तो (ऐसा आता है कि) कर्म के कारण से विकार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो निमित्त के कथन हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी करे, (यह) तीन काल-तीन लोक में नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता न! यह तो तीसरी गाथा में कह गये हैं। समयसार तीसरी गाथा। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को चुम्बन करता है। तीसरी गाथा में आ गया है। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अपने गुण और पर्याय को चुम्बन करता है, पर को कभी चुम्बन नहीं करता, यह तीसरी गाथा में आ गया है। आहाहा! बहुत अन्तर है। यह (अज्ञानी) तो कहे कर्म कराता है। कर्म का उदय कठोर आया, इसलिए आत्मा को राग-द्वेष करना पड़ता है। वह यहाँ आचार्य इनकार करते हैं।

अपने परिणमन के कारण से राग, द्वेष और मोह हुआ है। है? **इस जीव में..** यह जीव, इसमें **राग, द्वेष और मोह – यह आस्रव..** बन्ध के कारण, मलिनभाव। **अपने परिणाम के कारण से होते हैं..** अपने परिणमन की दशा के कारण होते हैं। अपने परिणमन, पर्याय के कारण होते हैं। पर के कारण नहीं होते। आहाहा! है या नहीं अन्दर? अमृतचन्द्राचार्यदेव टीकाकार हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव की गाथा है। ये अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव के बाद हजार वर्ष और अभी से पहले हजार

वर्ष। कुन्दकुन्दाचार्यदेव को दो हजार वर्ष हुए। उन्होंने ये मूल श्लोक (गाथाएँ) बनायी और उनकी टीका (करनेवाले) अमृतचन्द्राचार्यदेव दिगम्बर सन्त वे ऐसा कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन!

आहा! तेरे आत्मा में राग-द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध, मिथ्यात्व, पुण्य-पापभाव होते हैं, वे तेरे परिणमन के कारण से है। आहाहा! कोई नया कर्म स्त्री, कुटुम्ब-परिवार से तो नहीं होता परन्तु कर्म के उदय से भी तुझमें परिणमन हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि कर्म का उदय जड़ है और यह चैतन्य के अरूपी विकारी परिणाम हैं। आहाहा! कर्म जो है, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ हैं और ये जो राग-द्वेष-मोह हैं वे... है? आहाहा! **वे जड़..** नहीं हैं। आहाहा! राग-द्वेष और मोह जो आत्मा के परिणाम अज्ञान से किये हुए हैं, वे आस्रव अपने परिणाम के कारण से होते हैं। अपने पलटने के, बदलने के अवस्था के कारण से होते हैं, पर के कारण से नहीं। आहाहा! **इसलिए वे जड़ न होने से..** देखा? वे जड़ नहीं हैं, क्योंकि आत्मा भगवान स्वयं अरूपी चिदानन्द, वही स्वयं भूल में स्वयं परिणाम में भूल खड़ी करता है। यह मिथ्यात्व और राग-द्वेष उसकी भूल, उसके परिणाम स्वयं से हुए हैं, इसलिए वे जीव के हैं। **इसलिए वे जड़ न होने से..** आहाहा!

दूसरी जगह पुद्गल कहते हैं, वह दूसरी बात है। वह आत्मस्वभाव जो अनन्त गुण है, उसमें अनन्त गुण में ऐसा कोई गुण विकार करे, ऐसा गुण है ही नहीं। पर्याय में विकार होता है, तब स्वभाव की दृष्टि करने से, पर्याय में जो विकार होता है, वह पुद्गल के निमित्त से हुआ है, इसलिए पुद्गल कहने में आया है। दूसरी जगह ऐसा कहा है परन्तु इस अपेक्षा से। दूसरी जगह क्या अपेक्षा है, ऐसा जानना चाहिए न! दूसरी जगह ऐसा कहा कि यह पुण्य और पाप के भाव पुद्गल हैं, क्योंकि पुद्गल के निमित्त अध्धर से पर्याय में होते हैं। आत्मा का ऐसा कोई गुण नहीं है। आत्मा में अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. गुण हैं, परन्तु उनमें एक भी गुण ऐसा नहीं कि विकार करे। इसलिए उसकी पर्याय में जो विकार होता है, वह स्वभाव की दृष्टि करनेवाले को, स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए वह पुद्गल का है, ऐसा कहकर निकाल डालते हैं। आहाहा!

यहाँ तो कोई ऐसा माने कि पुण्य और पाप, राग और द्वेष; जैसा कर्म का उदय आवे,

वैसा जीव को परिणाम होता है। (तो कहते हैं), नहीं।'कर्म विचारैं कौन?' वे तो जड़ हैं, मिट्टी-धूल हैं। जैसी यह धूल है, वैसी बारीक धूल है, धूल। यह स्थूल धूल है, यह धूली.. धूली..! वह सूक्ष्म धूल है, अजीव है, मिट्टी है। उसे कुछ खबर नहीं कि हम कर्म हैं या नहीं, इसकी उसे कहाँ खबर है? आहाहा!

ओहोहो! उपोद्घात में कितना बाँधा! वे आस्रव अपने परिणाम के कारण से होते हैं, कर्म के कारण से नहीं। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पुत्र के कारण से राग-द्वेष होते हैं, (ऐसा) नहीं है। आहाहा! **इसलिए वे जड़ न होने से..** वे राग, द्वेष और मोह जड़ नहीं होने से **चिदाभास हैं..** चिदाभास है। आत्मा (का) प्रगट चिदानन्दस्वरूप नहीं, चिदाभास - चैतन्य का आभास है। (ऐसे) वे परिणाम हैं। आहाहा! है? **(जिसमें चैतन्य का आभास है, ऐसे हैं, चिद्विकार हैं)।** आहाहा! इसमें भी अन्तर। बात-बात में अन्तर है। तत्त्व की खबर नहीं होती। आहाहा! पहले से कहे, कर्म के कारण भटका, कर्म के कारण भटका, कर्म के कारण भटका। परन्तु कर्म तो जड़ है।

मुमुक्षु : कर्म का नाश करने के लिए हम पूजा में धूप डालते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन धूप डाले? धूप के परमाणु भी वहाँ पड़ने (थे), उन्हें आत्मा डाले, यह तीन काल में मिथ्या बात है। आहाहा! उन परमाणुओं की उस समय की अवस्था होने में वे परमाणु कारण हैं; आत्मा कारण नहीं। ऐसे स्वाहा (करे, उसमें) यह हाथ हिलता है, वह आत्मा से नहीं। आहाहा! उसकी-इस जड़ की, शरीर की पर्याय है। वह शरीर के परिणाम हैं, आत्मा के नहीं। आहाहा! और जीव के जो राग, द्वेष, मोह परिणाम हैं, वे जड़ के नहीं हैं, वे कर्म के नहीं। आहाहा! **इसलिए वे जड़ न होने से..** ज्ञानाभास। वास्तविक चैतन्यस्वरूप नहीं, परन्तु चिदाभास है। चैतन्य जैसा आभास (होता है) वैसे परिणाम इसके हैं। **(जिसमें चैतन्य का आभास है, ऐसे हैं, चिद्विकार हैं)।** आहाहा! ढाई लाईन में तो कितना भरा है! दिगम्बर सन्तों की वाणी बहुत गम्भीर! आहाहा! श्वेताम्बर और स्थानकवासी में यह कुछ है ही नहीं। आहाहा! श्वेताम्बर और स्थानकवासी को तो टोडरमलजी ने (मोक्षमार्गप्रकाशक में) पाँचवें अधिकार में अन्यमत में डाला है। वह जैनमत ही नहीं है। आहाहा! यह वस्तु की स्थिति है। आहाहा!

मुमुक्षु : इच्छा न होने तो भी राग हो जाता है, उसका क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा नहीं, कौन कहता है ? राग हुआ, यही इच्छा है। राग हुआ, यही इच्छा है। राग के दो प्रकार – माया और लोभ। लोभ राग में आ गया। द्वेष के दो प्रकार —क्रोध और मान। द्वेष के दो प्रकार—क्रोध और मान। राग के दो प्रकार—माया और लोभ। इच्छा आ गयी। राग हुआ, वही इच्छा हुई। आहाहा! बहुत अन्तर है, भाई!

वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ से यह वाणी आयी है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह श्लोक बनाये हैं। इनकी टीका अमृतचन्द्राचार्यदेव ने हजार वर्ष बाद (बनायी है)। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तीर्थंकर जैसा काम किया और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उनके गणधर जैसा काम किया! आहाहा! ऐसी वस्तु है। इन तीन लाइनों में कितना भरा!!

राग और द्वेष, पुण्य और पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, यह सब कषाय है। यह आस्रव है। वह अपने परिणाम के निमित्त से होता है। आहाहा! **इसलिए वे जड़ न होने से चिदाभास हैं..** आहा! वह आत्मा की ही विकारदशा है। वह जड़ की विकारदशा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले अधिकार में तो उसे अजीवपना कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह किस अपेक्षा से कहा है ? अपने शुद्धस्वभाव की दृष्टि कराने को, उस विकार की उत्पत्ति पुद्गल के कारण से हुई, इसलिए उसे अजीव कहा। निमित्त के आधीन होकर हुआ, उन्हें अजीव कहा, परन्तु है तो आत्मा की पर्याय में होता हुआ अपने परिणाम का अपराध है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

मुमुक्षु : निश्चय से क्या है ? ऐसा भाई पूछते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निश्चय, निश्चय है। यह अशुद्ध निश्चय है। वह जीव की पर्याय में है। शुद्ध निश्चय की दृष्टि कराने को वे परिणाम पुद्गल के हैं, ऐसा कहकर निकाल डालने के लिए कहा। समझ में आया ? अशुद्ध निश्चय कहो या व्यवहार कहो। आहाहा! यह उसकी पर्याय में होते हैं। उसके परिणाम, परिणमन के कारण से होते हैं। पर के कारण से बिल्कुल नहीं। आहाहा! इसीलिए तो कहा कि **वे जड़ न होने से चिदाभास हैं..** आत्मा की चिदाभास, ज्ञानाभास जैसी उनकी वह दशा है। आहाहा!

अब इसका विस्तार (करते हैं)। **मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – यह पुद्गलपरिणाम,..** कौन से? ये पूर्व के। ये पूर्व के जो कर्म हैं न, उनकी यहाँ बात है। मिथ्यात्व (अर्थात्) दर्शनमोह, अविरति (अर्थात्) चारित्रमोह। कषाय और योग ये पुद्गल परिणाम जड़ हैं। वे **ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रवण के निमित्त होने से,..** क्या कहते हैं? पूर्व के जो कर्म जड़ हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। कर्म.. कर्म..। ध्यान रखना, बापू! वह पुद्गल परिणाम है। **ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रवण के निमित्त..** हैं। क्या कहते हैं? पुराने जड़कर्म, वे नये कर्म को आने का निमित्त और आस्रव है। सुनना! पुराने जड़कर्म, मिथ्यात्व-अव्रत-कषाय-योग पुद्गल परिणाम, वे ज्ञानावरणादी पुद्गलकर्म के आस्रव के निमित्त होने से। वास्तव में वह पूर्व के कर्म का उदय है, वह आस्रव है।

अब (कहते हैं) उन्हें **उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के) कर्म-आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त..** वह पूर्व का जड़ जो है, वह नये आस्रव आने का कारण कहा। परन्तु किसे? कि वे पूर्व के कर्म हैं, उनमें जो राग-द्वेष और मोह जिसमें निमित्त होते हैं, उसके कारण से वह निमित्त नये कर्म का कारण होता है।

फिर से, वास्तव में **(मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के)** अर्थात् जड़ के **कर्म-आस्रवण के निमित्तत्व के..** पुराने जड़कर्म को नये कर्म के आने का निमित्त है, उसे **राग-द्वेष-मोह..** आहाहा! वे **(मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के) कर्म-आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह..** जीव के परिणाम हैं। आहाहा!

फिर से, पुराने कर्म जो जड़ हैं, वे नये कर्म का आस्रव का निमित्त कहा। परन्तु वह निमित्त भी कब होता है? कि जब आत्मा को राग-द्वेष-मोह होता है, राग-द्वेष-मोह करके जब निमित्त के (आधीन) होता है, तब नये कर्म का आस्रव निमित्त को कहने में आता है। अरे रे!

फिर से, भगवान आत्मा में साथ में जो जड़कर्म हैं, मिट्टी-धूल है, उसका जो उदय है, वह नये कर्म को आने का निमित्त है। परन्तु वह निमित्त कब? उस जड़कर्म को आत्मा के राग-द्वेष-मोह निमित्त हो तब। आहाहा! क्या कहा? समझ में आया?

यहाँ तो ऊपर कहा कि राग-द्वेष-मोह, वे जीव के परिणाम हैं, यह सिद्ध करना है।

वे पूर्व के जड़कर्म हैं, वह नये आने का कारण है, परन्तु कब ? कि उस निमित्त को राग-द्वेष और मोह जीव के परिणाम मिले तो। राग-द्वेष और मोह के जीव के परिणाम न मिलें तो वह निमित्त नये कर्म का आस्रव नहीं होता। आहाहा! समझ में आया ? भाई ने जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में डाला है।

फिर से, पुराने जड़कर्म, वे नये कर्म के आने का निमित्त—परन्तु कब ? कि पुराने जड़कर्म में जीव के राग-द्वेष-मोह निमित्त हो तो। जीव के राग-द्वेष-मोह निमित्त न हो तो पुराना कर्म, नये का आवरण कारण नहीं होता।

मुमुक्षु : उदय को नहीं लिया गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उदय, उदय में रह गया।

यहाँ राग-द्वेष और मोह जीव करे तो पुराने कर्म को निमित्त नये आने का कहने में आता है परन्तु जीव राग-द्वेष-मोह न करे तो पुराने कर्म को नया आने का कारण भी नहीं कहा जाता। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें हैं। क्या कहा ?

फिर से, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये पूर्व के पुद्‌गल के परिणाम हैं। पूर्व के कर्म की बात की। वह ज्ञानावरणी पुद्‌गलकर्म के आने का निमित्त है। वह पूर्व के कर्म का उदय, नये कर्म के आने में निमित्त है परन्तु **उनके (मिथ्यात्वादि पुद्‌गलपरिणामों के) कर्म-आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह हैं..** यहाँ अज्ञानी राग-द्वेष-मोह करे तो पुराने कर्म को नये कर्म का निमित्तकारण कहने में आता है। राग-द्वेष न करे तो पुराना कर्म, नये के आने का निमित्त भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? भाषा तो सादी है परन्तु प्रभु! क्या हो ? मार्ग तो प्रभु का ऐसा है। आहाहा!

पुराने कर्म को नये कर्म का निमित्त कहा, परन्तु कब ? कि उन पुराने कर्म को जीव के राग-द्वेष-मोह निमित्तरूप से आवे तो वह निमित्त नये आने का कारण कहलाता है, परन्तु राग-द्वेष-मोह जीव न करे तो पुराना कर्म, नये (कर्म) आने का कारण नहीं बनता। आहाहा! भाषा तो समझ में आये ऐसी है, परन्तु बापू! मार्ग ऐसा है कोई। आहाहा!

भगवान अपने परिणमन में जब अज्ञानी अपने स्वरूप को न जानकर, राग-द्वेष और मोहरूप से परिणमन करता है, उस परिणमन में कारण आत्मा है। उसमें कर्म

(कारण) नहीं है। अब यहाँ कहते हैं कि पुराना कर्म, नये का कारण कब होता है? कि पुराने कर्म के निमित्त में यहाँ राग-द्वेष और मोह जीव करे तो उसे नये आने का कारण / निमित्त कहा जाता है, परन्तु राग-द्वेष-मोह जीव न करे तो पुराने कर्म, नये आवरण होने का कारण भी है नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। अटपटी बात जैसा लगता है।

मुमुक्षु : ऐसा होवे तो ही छूटा जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसा ही है। यदि कर्म का उदयमात्र (कारण) होवे तो सर्व को उदय है। यह संस्कृत टीका में है - जयसेनाचार्यदेव की टीका में है कि यदि उदय से होता होवे तो उदय तो सबको है, तो कभी बन्धरहित नहीं हो सकेगा। परन्तु उदय में राग-द्वेष-मोह स्वयं करे तो वह नये कर्म के आने का निमित्तकारण होता है, न करे तो छूट जाता है। आहाहा! जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में है। है यहाँ? समयसार। यह प्रवचनसार है? हिन्दी.. हिन्दी.. (चाहिए)। यह तो नियमसार है, नहीं लगता। प्रवचनसार आया नहीं। क्या कहा?

फिर से, एक बात तो पहले यह की है कि जितने पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, वे जीव के परिणमन से होते हैं। यह तो समयसार है, समयसार की टीका चाहिए। नहीं। इसमें जयसेनाचार्य की टीका नहीं। यहाँ है, लो न, इतने में ही यह (आ जाता है)। एक सिद्धान्त है कि जीव स्वयं राग-द्वेष-मोहरूप से परिणमन करे तो उस परिणमन का कारण जीव होता है परन्तु वह परिणमे तो कर्म का कारण कहा जाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! एक सिद्धान्त तो यह सिद्ध किया।

दूसरा सिद्धान्त कि पूर्व के कर्म का उदय नये को निमित्त होता है। निमित्त होता है न! उपादान तो आवे, वह है। नये कर्म आवे, वह उपादान है और यह तो निमित्त है। परन्तु निमित्त कब होता है? कि यदि जीव मिथ्यात्व और राग-द्वेष का परिणमन करे तो वह निमित्त नये आने का कारण होता है परन्तु यदि राग-द्वेष-मोह न करे तो वह निमित्त खिर जाता है और नये कर्म नहीं आते। आहाहा! गजब काम! है न इसमें?

मुमुक्षु : ऐसा ही होता है न! तत्त्व तो जो है, वही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही है, वस्तु यह है। वस्तु की स्थिति ही यह है। भगवान

ने कुछ की नहीं है। भगवान ने तो जैसी है, वैसी जानी है। जानी है, वैसी कही है। भगवान कुछ उसकी स्थिति में करते नहीं हैं। आहाहा! ईश्वरकर्ता है, ऐसा कुछ यह नहीं है। आहाहा! जगत का कर्ता ईश्वर, जैन के विकार का कर्ता जड़कर्म। आहाहा! उससे जड़ बढ़ गया। वे कहें कि सबका कर्ता ईश्वर है। तब यह कहता है कि हमारे विकार का कर्ता जड़कर्म है। आहाहा!

मुमुक्षु : ईश्वर तो कल्पित है और जड़ तो वस्तु है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कर्म वस्तु है। ईश्वर तो कल्पित है, ईश्वर था कब? वस्तु है, उसे कर्ता कौन? है, उसका कर्ता कौन? और नहीं है, उसे कर्ता कौन? आहाहा! अनादि-अनन्त वस्तु स्वतन्त्र है। वह तो यहाँ कहना चाहते हैं? आहाहा!

कर्म का उदय जड़ है, वह नये को निमित्त होता है। परन्तु कब? कि यदि जीव राग-द्वेष-मोह, मिथ्यात्व करे तो। पुण्य परिणाम से धर्म होता है; राग है, वह मेरा स्वरूप है—ऐसा मिथ्यात्व करे और पुण्य-पाप के भाव करे तो वह पुराने कर्म के निमित्त को वह परिणाम निमित्त होता है। इससे नये कर्म आवें, वे इस राग-द्वेष-मोह के कारण से है। वास्तविक तो राग-द्वेष-मोह ही आस्रव है। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्म का उदय आवे तो डिग्री टू डिग्री राग होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है, वह बात अलग, नहीं होता, ऐसा नहीं है। तब तो फिर उदय से तो इसमें पहले बात की है न! उदय तो सबको है। उदयमात्र से बन्ध होवे तो कभी बन्ध से छूटने का प्रसंग नहीं आयेगा। उदय कब नहीं है? सबको है। यह है, जयसेनाचार्यदेव की टीका में। है न! इसमें भी है, इसके अर्थ में भी है। इसके अर्थ में है। पुस्तक वहाँ रह गयी, परन्तु यहाँ लो न! यहाँ यह क्या पड़ा? गड़बड़-गड़बड़, जगत को गड़बड़ करके मार डाला। कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है। तीव्र कर्म का उदय आवे तो आत्मा को मिथ्यात्व होता है और मन्द आवे तो शुभभाव होता है। (ऐसा मानते हैं)। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस जीव के परिणाम अपने परिणाम का कारण स्वयं है। उसे कर्म कारण है नहीं और यहाँ जो कर्म कारण नये को कहा, वह कब? कि जीव यदि राग-द्वेष

-मोह करे तो। राग-द्वेष-मोह न करे तो पुराने कर्म नये का कारण नहीं होता और दोनों खिर जाते हैं। पुराना कर्म है, वह खिर जाता है, नया तो आता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! प्रभु का मार्ग तो ऐसा है। जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा का यह हुकम है। इसमें आड़ी-टेड़ी गड़बड़ करे (तो) उसकी मान्यता विपरीत होती है। आहाहा!

कर्म-आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह हैं-जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं। देखा? राग-द्वेष-मोह, वह तो जीव के अज्ञानमय परिणाम हैं। वे कहीं जड़ के परिणाम नहीं हैं। कर्म का उदय है, वह तो जड़ के परिणाम हैं। आहाहा! पुराना कर्म, नये का कारण है, परन्तु कब? कि उसे निमित्तपने का निमित्त राग-द्वेष-मोह होवे तो। **जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं।** अज्ञानमय (परिणाम) है। ज्ञानी को तो राग-द्वेष-मोह है नहीं। आहाहा! अज्ञानी राग से धर्म माननेवाला, पुण्य से धर्म माननेवाला, ऐसे मिथ्यादृष्टि का अज्ञान, वह अज्ञानपरिणाम उसमें स्वयं में है। वह अज्ञानपरिणाम पुराने कर्म को निमित्त होता है, तब पुराना कर्म, नये को निमित्त होता है। इसमें कुछ बात तो स्पष्ट होती है। इसमें कुछ गड़बड़ चले, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा!

यह बात तो हमारे (संवत्) १९७१ से चलती है। १९७१ के वर्ष! कितने वर्ष हुए? ६४! ६४ वर्ष पहले, १९७१ में बात बाहर प्रसिद्ध की थी। १९७१ का चातुर्मास, चौंसठ वर्ष पहले। लाठी चातुर्मास में थे। आत्मा में जो कुछ मिथ्यात्व और राग-द्वेष होता है, वह कर्म के कारण नहीं। १९७१ में बात बाहर प्रसिद्ध की थी। संवत् १९७१। चौंसठ वर्ष पहले। ढूँढ़िया में दीक्षा ली थी! स्थानकवासी। उसमें भी यह सत्य बात है नहीं। आहाहा! विकार जीव में होता है, वह कर्म के कारण नहीं। (इतना कहा वहाँ) ऐ... शुरुआत हो गयी। भड़के.. भड़के.. लोग!

(संवत्) १९७१ के वर्ष, चौंसठ वर्ष पहले। श्वेताम्बर का भगवतीसूत्र है। सोलह हजार श्लोक हैं और एक लाख (श्लोकप्रमाण) की टीका है। वह सत्रह बार पढ़ा था। यह बात उसमें नहीं मिलती परन्तु इतनी बात उसमें से निकाली थी कि विकार होता है, वह कर्म के कारण नहीं। विकार करे तो आत्मा को कर्म निमित्त कहने में आते हैं। बाकी कर्म का उदय हुआ, इसलिए यहाँ विकार करना पड़ता है, यह बात अत्यन्त मिथ्या है। दूसरे के परिणाम के कारण अपने परिणाम होते हैं (यह बात) एकदम मिथ्या है।

दूसरी बात, अपने प्रवचनसार में आ गया है कि अपने परिणाम को द्रव्य स्वयं पहुँचता है। फिर मिथ्यात्व का हो या राग-द्वेष के हों या निर्मल (परिणाम हों)। सम्यग्दर्शन के परिणाम को भी आत्मा प्राप्त करता है। मिथ्यात्व के परिणाम को भी आत्मा प्राप्त करता है। वह उसे पहुँचता है। एक गाथा आ गयी है। दूसरी गाथा कि पर्याय द्रव्य-गुण से होती है। ९३ वीं गाथा, प्रवचनसार ज्ञेय अधिकार की पहली गाथा है।

द्रव्य-गुण को द्रव्य और गुण से पर्याय होती है, पर से नहीं, तो विकारी-अविकारी पर्याय भी अपने द्रव्य-गुण से होती है, पर से नहीं। आहाहा! ऐसा ही ज्ञेय का स्वरूप है। ज्ञेय अधिकार है। प्रवचनसार का ज्ञेय अधिकार है। ९२ गाथा (तक) ज्ञान अधिकार है, ९३ से २०० (गाथा तक) ज्ञेय अधिकार है, पश्चात् ७५ (गाथाओं में) चरणानुयोग का अधिकार है। यह तो सब बहुत बार देखा है।

यहाँ कहते हैं कि पर्याय, द्रव्य में होती है, वह उसके द्रव्य-गुण के कारण (होती है)। चाहे तो विकारी हो या अविकारी (हो)। आहाहा! यह अपने दोपहर में आ गया कि द्रव्य से होती है, पर से नहीं। आहाहा! प्रत्येक द्रव्य के परिणाम - पर्याय - वर्तमान दशा जड़ की या चैतन्य की, वह पर्याय उसके द्रव्य-गुण के कारण होती है, पर के कारण नहीं और प्रत्येक पर्याय को उसका द्रव्य पहुँचता है। प्रत्येक पर्याय को उसका द्रव्य प्राप्त करता है, पाता है। यह पहली गाथा में आ गया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

इसलिए **(मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के)**.. पुराने **आस्रवणक निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं।** आहाहा! अब ऐसी एकदम स्पष्ट बात है (तो भी विवाद करते हैं)। पुराने कर्म नये आने का निमित्त है, कब कि वह निमित्त को-जड़ के उदय को यहाँ जीव राग-द्वेष-मोह करे तो। आहाहा! वे जीव के अज्ञान परिणाम हैं, राग-द्वेष-मोह वे अज्ञान परिणाम हैं। आहाहा! साथ में मोह है न! मिथ्यात्वपरिणाम और राग-द्वेष परिणाम, वे जीव के परिणाम हैं। आहाहा!

इसलिए (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के).. पुराने **आस्रवणक निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं।** आहाहा! **और वे तो (-रागद्वेषमोह) अज्ञानी के ही होते हैं**.. ज्ञानी को आत्मा का ज्ञान होने से उसे मोह, मिथ्यात्व नहीं होता

और मिथ्यात्व से सम्बन्धित जो राग-द्वेष हैं, वे ज्ञानी को नहीं होते। ज्ञानी को अस्थिरता के राग-द्वेष होते हैं, चारित्रदोष (होता है) परन्तु मिथ्यात्व से सम्बन्धित जो अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष और मिथ्यात्व, वे ज्ञानी को नहीं होते। वे तो अज्ञानी को होते हैं। आहाहा!

जिसे आत्मा चिदानन्द प्रभु की खबर नहीं। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा निर्मलानन्द अनन्त गुण का पिण्ड है, ऐसा जिसने अन्दर में आदर नहीं किया और जिसे राग-द्वेष के, पुण्य, दया-दान के परिणाम का आदर किया है, उस मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व और राग -द्वेष और अज्ञान होता है। आहाहा! गोविन्दरामजी! इसमें कहाँ ढाँककर (बात करते हैं)? यहाँ तो ढ़िंढ़ोरा पीटकर बात चलती है। यहाँ कुछ गुप्त बात नहीं है। बाईस लाख पुस्तकें यहाँ की प्रकाशित हो गयी हैं। सबमें यह कथन है। आहाहा!

वे राग-द्वेष-मोह तो **अज्ञानी के ही..** आहाहा! पुराने कर्म में निमित्तपना अज्ञानी के राग-द्वेष-मोह होते हैं। वे राग-द्वेष-मोह अज्ञानी को होते हैं। आहाहा! मोह शामिल डाला है न, मिथ्यात्व! **यह अर्थ में से ही स्पष्ट ज्ञात होता है।** यह टीका है, टीका में है, हों! **'निमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवा:। ते चाज्ञानिन एव भवन्तीति अर्थादेवापद्यते।'** ऐसा अर्थ इसमें से निकलता है। अमृतचन्द्राचार्यदेव की संस्कृत टीका है। आहाहा!

(यद्यपि गाथा में यह स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है तथापि गाथा के ही अर्थ में से यह आशय निकलता है।) क्या आशय? कि पुराने कर्म को अज्ञानी के राग-द्वेष-मोह परिणाम स्वयं किये हुए परिणाम का कारण स्वयं, अज्ञानी को वे परिणाम पुराने कर्म को निमित्त हों, तब पुराना कर्म, नये (कर्म) आने को निमित्त होता है। आहाहा! पुराने कर्म को, ज्ञानी को राग-द्वेष-मोह नहीं है... आहाहा! जिसे आत्मा आनन्द, ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा भान समकित में हुआ, उसे यह मिथ्यात्व सम्बन्धी के राग-द्वेष-मोह नहीं तो पुराने कर्म को निमित्त भी नहीं होता, तो पुराने कर्म, नये को (निमित्त नहीं होते तो) उसे आवरण भी नहीं आता। आहाहा! (ऐसा) गाथा के अर्थ में से निकलता है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २४५, गाथा १६४-१६६ दिनाङ्क ०५-०६-१९७९,
मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल १०

समयसार, १६४-१६५ गाथा, इसका भावार्थ। **ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का (–आगमन का) कारण..** क्या कहते हैं? नये कर्म जो ज्ञानावरणीयादि बँधते हैं, उनका **कारण तो मिथ्यात्वादि कर्म के उदयरूप पुद्गल–परिणाम हैं,..** पूर्व के जो मिथ्यात्वादि कर्म के परिणाम हैं, वे जड़ के परिणाम इस जड़ को लाने में निमित्त हैं। आहाहा! यह कहाँ विचारे कब? यह आत्मा है, वह तो शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द है। तब उसे नये कर्म आते हैं न? (तो कहते हैं) वह तो पूर्व के पुद्गलकर्म जो जड़ पड़े हैं, पूर्व के बँधे हुए (पड़े हैं), वे कर्म नये आने का निमित्त है। नये आते हैं परिणाम तो उनके उपादान से। नये कर्म आते हैं, वे तो उनके उपादान से, परन्तु उसका निमित्त पूर्व के जड़कर्म हैं। एक बात हुई।

(इसलिए) **इसलिए वे वास्तव में आस्रव हैं।** पूर्व के कर्म का उदय, बाँधे हुए जो कर्म है, उनका जो उदय, वह नये कर्म के बन्ध का कारण है। **और उनके कर्मास्रवण के निमित्तभूत होने का निमित्त..** अर्थात् जो पुराने कर्म हैं, नये कर्म को आने का निमित्त; नये कर्म आते हैं, उनके उपादान से, परन्तु यह निमित्त है। परन्तु इस निमित्त के भी नये आने का कारण कब हो? कि जीव राग–द्वेष और मोह करे तब। जीव (के) राग–द्वेष और मोह, वे भाव पुराने कर्म को निमित्त होवे, तब पुराना कर्म नये कर्म को निमित्त होता है। समझ में आया? थोड़ा कुछ अभ्यास होवे तो खबर पड़े। इस तत्त्व की खबर बिना अनादि से चार गति में चौरासी के अवतार में भटकता है। आहा!

कहते हैं कि भगवान आत्मा तो पूर्ण शुद्ध और चिद्घन है, तो भी उसने पूर्व के बाँधे हुए कर्म, वे नये आने का निमित्त होता है। वे निमित्त होते कब हैं? कि जीव स्वयं राग–द्वेष और अज्ञान करे तो पुराने कर्म को निमित्त होता है, तो पुराना कर्म नये को बाँधता है। आहाहा! इतना याद रखना (कठिन पड़े), यह तो अभी साधारण बात है। अभ्यास नहीं होता। अनादि से चौरासी के अवतार में भटकता है। चौरासी लाख योनि में एक–एक उत्पत्ति के स्थान में अनन्त बार उत्पन्न हुआ। हेतु मिथ्यात्व है। अज्ञान आगे कहेंगे।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व, वही अज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अज्ञान, मिथ्यात्व। वह लोहचुम्बक का दृष्टान्त देते हैं न! बाद में आयेगा कि लोहचुम्बक है और सुई है। उस सुई में लोहचुम्बक के संसर्ग से सुई में स्वयं में पर्याय ऐसी उत्पन्न होती है कि (वह) लोहचुम्बक में खिंच जाती है। क्या कहा? जो लोहचुम्बक है, वह सुई को खींचती है, वह कैसे? कि सुई स्वयं लोहचुम्बक के संसर्ग में आने पर सुई में स्वयं में उस ओर गति हो, वैसा भाव उत्पन्न होता है। आहाहा!

इसी प्रकार नये कर्म बाँधने में पुराने कर्म का निमित्त होता है, कब? कि जीव स्वयं राग-द्वेष-मोह (करता है), वह कर्म के निमित्त के संसर्ग से; निमित्त से नहीं, किन्तु अपना स्वभाव शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द है, उसका परिचय छोड़कर पुराने कर्म के निमित्त के परिचय में आता है, इसलिए उसे अपने में मिथ्यात्वभाव उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वभाव, वह राग-द्वेष-मोह को करता है और वे राग-द्वेष-मोह पुराने कर्म को निमित्त होने पर नये कर्म बँधते हैं। अब इतना याद रखना। है?

उनके.. अर्थात् पुराने कर्म को भी नये आने का निमित्त तब होता है कि **उनके कर्मास्रवण के निमित्तभूत होने का निमित्त जीव के रागद्वेषमोहरूप..** जीव को राग -द्वेष-मोहरूप **(अज्ञानमय) परिणाम..** भाषा देखो! अज्ञान है, उसे स्वरूप का भान नहीं है। आहाहा! प्रभु! चैतन्यस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा है, उसका इसे अज्ञान है। उस अज्ञान के कारण राग-द्वेष-मोह का कर्ता होता है और इससे राग-द्वेष-मोह पूर्व के कर्म को निमित्त हों, तब पूर्व का कर्म नये को निमित्त होता है। आहाहा! चिमनभाई! पकड़ में आता है? अरे रे! क्या? संसार में कैसे भटका, इसकी बात करते हैं। यह चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करके दुःखी है। करोड़ोंपति, अरबोंपति जीव हो, वह महादुःखी बेचारा भिखारी है, क्योंकि परवस्तु माँगता है।

यहाँ तो ऐसा कहना है कि आत्मा में कर्म निमित्त है। उसका संसग करने से, परिचय करने से आत्मा में अपने स्वभाव का अज्ञान उत्पन्न होता है। यह अज्ञान उन राग -द्वेष-मोह का कर्ता होता है। उन राग-द्वेष-मोह का कर्ता होता है। वे भाव पुराने कर्म को निमित्त होते हैं, तब पुराना कर्म नये को निमित्त होता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : राग-द्वेष-मोह भाव नये कर्म को निमित्त होता है या पुराने कर्म को?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुराने कर्म को। कहा नहीं? कल भी कहा था, अभी भी कहते हैं। पुराना कर्म निमित्त होता है, कब? पुराना कर्म नये को निमित्त कब होता है?—कि पुराने कर्म के निमित्त का आत्मा परिचय करने पर, अपने स्वभाव को भूलकर, उस ओर के लक्ष्य में अज्ञान करके, और अज्ञान के कारण राग-द्वेष-मोह का कर्ता होता है; वे राग-द्वेष-मोह पुराने कर्म को निमित्त होते हैं, और पुराना कर्म नया आने को निमित्त होता है। आहाहा! ऐसा है। अरे! तत्त्व की खबर नहीं होती। अनादि काल से बेचारा भटककर मरता है।

मुमुक्षु : इसका अर्थ यह हुआ कि जिसे पुराने कर्म हों, उसे ही नये कर्म आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नये कर्म; पुराने कर्म हो, उसे (आते हैं), परन्तु परिचय करे उसे। पुराने कर्म के साथ परिचय करे, उस ओर लक्ष्य करे और अपने लक्ष्य को छोड़े, ऐसा अज्ञानभाव राग-द्वेष-मोह का कर्ता होकर, वे राग-द्वेष-मोह पुराने कर्म को निमित्त होते हैं और पुराने कर्म, नये आने को निमित्त होते हैं। इतनी तो (स्पष्ट) बात है, बापू! आहाहा!

यहाँ कहने का आशय तो ऐसा है कि भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है, उसका वह ज्ञान करता नहीं, उसका आदर करता नहीं, उसकी श्रद्धा की उसे खबर नहीं। समझ में आया? आस्रव में पहले यह लिया है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु ज्ञातादृष्टा अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय गुण से भरपूर भण्डार है। उसका अज्ञानी ज्ञान नहीं करता, उसका आदर नहीं करता, उसे अपना नहीं मानता, उसे उपादेयरूप से स्वीकार नहीं करता। वह जीव पुराने कर्म के निमित्त के संग में अज्ञानभाव से, अपने अज्ञान के भाव से, राग-द्वेष-मोह का कर्ता होता है, तब पूर्व के कर्म को यह निमित्त होता है, तब पूर्व का कर्म नये आने को निमित्त होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग जिनेश्वर का मार्ग अपूर्व है। आहाहा! विशिष्टता तो क्या की है।

अज्ञानभाव से, अज्ञान रखा है न? **और उनके कर्मास्रवण के निमित्तभूत होने का निमित्त जीव के रागद्वेषमोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं..** देखा? मिथ्यात्व—मोह के परिणाम हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय गुण का सागर भण्डार आत्मा है। उसे न पहिचानकर, उसका आदर न करके, कर्म का जड़पना जो पूर्व

का है, उसकी ओर दौड़कर, जुड़कर, लक्ष्य करके स्वयं अज्ञानपना, मिथ्यात्वपना खड़ा करता है, वह मिथ्यात्वश्रद्धा, राग-द्वेष का कर्ता होता है और वे राग-द्वेष तथा मोह, पुराने कर्म को नये आने में निमित्त होते हैं। आहाहा!

अरे रे! 'अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान।' भान बिना चौरासी के अवतार किये। अरबोंपति अनन्त बार हुआ, राजा अनन्त बार हुआ परन्तु मरकर वापस नरक में गया। ये सेठ मरकर जाएँ नरक में या पशु में अवतरेंगे।

मुमुक्षु : सेठ नरक में जाए, यह बात कठोर पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ माँस, शराब खाते (पीते) होंवे, तब तो नरक में जाएँ, परन्तु माँस, शराब न खाते (पीते) हों तो मात्र कषायभाव, पूरे दिन धन्धे में पाप ही करते हैं। धन्धा.. धन्धा.. धन्धा.. यह किया और यह किया और यह किया। मात्र पाप ही करते हैं और उससे निवृत्त हो तो छह-सात घण्टे सोवे, उसमें से एक-दो घण्टे स्त्री, पुत्र के साथ प्रसन्न करने में रुक जाए। पूरे दिन यह तो पाप ही करता है। अर र! उसे ऐसे पाप में यह माँस और शराब खाता (पीता) न हो तो वह पाप ऐसा है कि उसे तिर्यंचगति में ले जाएगा।

आहाहा! यहाँ तो जरा ऐसी बात आयी थी कि तिर्यंचगति, फिर मूल तो तिर्यंचगति निगोद है। भाई! ऐसा कहा न कि मुनि वस्त्र का एक धागा रखकर, हम मुनि हैं, ऐसा माने और मनावे और उसे माननेवाले मिथ्यादृष्टि। वस्त्रसहित साधु माने, ऐसे मिथ्यादृष्टि उस निगोद में जानेवाले हैं। ऐसा शास्त्र में पाठ है। निगोद है, वह तिर्यंचगति का एक भाग है।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व है, इसलिए निगोद में तो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (निगोद), वह तिर्यंच है, तिर्यंच। आहाहा! अरे रे! अपनी जाति को जाना नहीं और जो उसमें नहीं, इसका नहीं—ऐसे पुण्य और पाप के भाव और पुण्य-पाप के बाह्य फल, पैसा, स्त्री, पुत्र, परिवार, बँगला-मकान जो पर हैं, उन्हें मेरा मानकर मिथ्यात्व से राग-द्वेष का कर्ता होकर नये कर्म बाँधने में पुराने कर्म को निमित्त होता है। आहाहा! क्या शैली?

वह अज्ञानमय परिणाम है। आहाहा! वस्तु के भान बिना वे परिणाम है। आहाहा! भगवान ज्ञातादृष्टा प्रभु, और ऐसे जीव को अतीन्द्रिय अनन्त गुण का बड़ा भण्डार है,

जिनकी संख्या का पार नहीं, ऐसे गुण का भण्डार प्रभु, उसका जिसे अज्ञान है अर्थात् जिसके स्वरूप की उसे खबर नहीं, ऐसा जो अज्ञानी राग-द्वेष-मोह को करता है, वे राग -द्वेष-मोह पुराने कर्म को निमित्त होते हैं और पुराना कर्म नये आने को निमित्त होता है। आहाहा! मूल कारण वह अज्ञान लिया, भाई!

आहाहा! धीरे से समझने की बात है, बापू! जो बात इन्द्र और गणधर सुनने आते होंगे, वह बात कैसी होगी, भाई! इन्द्र बड़े बत्तीस लाख विमान का स्वामी! एक-एक विमान में (कितनों में ही तो) असंख्य देव! ऐसे बत्तीस लाख विमान का (स्वामी) शकेन्द्र, एक भव में मोक्ष जानेवाला है। मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है, वह भगवान की वाणी सुनने आता होगा, वह वाणी कैसी होगी! यह तुम दया पालन करो, व्रत करो, ऐसी बातें (होंगी)? (ऐसी बातें तो) कुम्हार भी करता है। आहाहा!

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की वाणी में ऐसा आया है, उसे सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! तेरा स्वरूप का अज्ञान... आहाहा! और उस अज्ञान के कारण पुराने कर्म में लक्ष्य जाता है, उस पुराने कर्म में तेरे अज्ञानभाव के राग-द्वेष निमित्त होने पर नये आठ कर्म—ज्ञानावरणादि बँधते हैं। आहाहा! और उनके कारण यह चार गति में भटकता है। नरक और निगोद में (जाता है)। आहाहा! अन्तर्मुहूर्त में एक निगोद के भाव, लहसुन और प्याज में एक अन्तर्मुहूर्त ४८ मिनिट के अन्दर में अठारह भव करता है। मरकर जन्मे, ऐसे (भव) अनन्त बार किये। भाई! वह भूल गया है।

यह कल आया नहीं था? वादिराज का! (कहते हैं), प्रभु! जब पूर्व का दुःख याद करता हूँ... यह मुनि कहते हैं। आहाहा! भावलिंगी सन्त, जिन्हें एक-दो भव में केवल(ज्ञान) लेना है। वे वादिराज मुनि ऐसा कहते हैं, प्रभु! मैं पूर्व के दुःख को याद करूँ, वहाँ कँपकँपी आती है। आया था न, भाई! चोट लगती है। आयुध की चोट लगती है। आहाहा! प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं, प्रभु! मेरे पूर्व के दुःख—नरक के, निगोद के, अनन्त-अनन्त भव में सहे, प्रभु! उन्हें याद करूँ तो आयुध—जैसे शस्त्र / तलवार की चोट लगे, शस्त्र की चोट लगे, वैसी चोट लगती है। आहाहा! यह तो पहले भी कहा था, परन्तु पड़ी किसे है? यह बाहर में धूल... आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार और यह पैसा, इज्जत-कीर्ति और धन्धा... पूरे दिन अकेला पाप। धर्म तो नहीं, परन्तु इसे तो पुण्य भी नहीं। आहाहा!

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं, प्रभु! तुझे नये कर्म जो बँधते हैं, उनका कारण क्या? कि, उनका कारण पुराने कर्म का निमित्त है, वह (है)। वह निमित्त है, वह कारण कैसे होता है? कि, उस निमित्त का परिचय-संग करके, स्वभाव का संग छोड़ा... आहाहा! और स्वरूप का अज्ञान उत्पन्न किया, उस अज्ञानभाव से पुण्य और पाप का कर्तापना आया, इससे उन पुराने कर्म को निमित्त वे होते हैं। इसलिए पुराना कर्म नये को लाता है। आहाहा! और वह आठ कर्म बाँधकर चार गति में भटकता है। आहाहा! अरे रे! है?

(अज्ञानमय) परिणाम हैं.. मुझे तो इसमें दूसरा कहना था। लोहचुम्बक में से कहना है कि जो सुई खिंचती है, उस सुई में अपनी पर्याय हुई है। उस सुई ने लोहचुम्बक का संग-संसर्ग किया, स्वयं अपने से किया, इसलिए उसमें खिंचने की अपने में योग्यता हुई है। लोहचुम्बक उसे खींचती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार पुराने कर्म नये को लाते हैं और पुराने कर्म तुझे राग-द्वेष कराते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

भगवान अतीन्द्रिय शुद्ध प्रभु को तूने याद नहीं किया, उसे स्पर्श नहीं किया, उसका तूने ध्यान नहीं किया। यह क्या अन्दर अनन्त अतीन्द्रिय गुण का भण्डार महा भगवान अन्तरलक्ष्मी पड़ी है। अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त जीवत्वशक्ति आदि अनन्त शक्तियों का सागर भगवान (है), उसे तूने याद नहीं किया और कर्म को याद किया। आहाहा! आहाहा! जो तुझमें नहीं है, उसे तूने याद करके अज्ञानरूप से राग-द्वेष खड़े किये और उन राग-द्वेष और मोह का कर्ता अज्ञानरूप से हुआ। आहाहा! इससे तुझे नये कर्म बाँधने में पुराने कर्म निमित्त हुए। अब, ऐसा है। बनियों को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती और ऐसी अटपटी बातें। आहाहा! अरे रे!

इसलिए रागद्वेषमोह ही आस्रव हैं। देखा? पुराने कर्म को आस्रव कहा था। दूसरी लाईन में। **वास्तव में आस्रव हैं।** ऐसा कहा था परन्तु वास्तव में तो राग-द्वेष और मोह ही आस्रव है। स्वरूप का अज्ञान और अज्ञान से उत्पन्न हुए राग-द्वेष-मोहभाव, वे ही नये कर्म को लाने का कारण है। आहाहा! **इसलिए रागद्वेषमोह..** अर्थात् मिथ्यात्व, भ्रमणा, अज्ञान, वही **आस्रव हैं। उन रागद्वेषमोह को चिद्विकार भी कहा जाता है।** उस आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुआ मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव, वह चिदाभास है। वह आत्मा

नहीं परन्तु आत्मा का चिदाभास है। उसे चिद्विकार भी कहा जाता है। वह आत्मा का विकार है, ऐसा भी कहा जाता है। आहाहा!

वे रागद्वेषमोह जीव की अज्ञान-अवस्था में ही होते हैं। देखा? वे राग-द्वेष और मोह जीव को भगवान के स्वरूप के भान बिना अज्ञान अवस्था में वे राग-द्वेष-मोह होते हैं। आहाहा! **मिथ्यात्वसहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है।** देखा? स्वयं प्रभु पूर्ण है, उसे विपरीत मानने से—मैं रागवाला हूँ, पुण्यवाला हूँ, मैं पैसेवाला हूँ, मैं स्त्रीवाला हूँ, मैं पुत्रवाला हूँ - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव। आहाहा! उस मिथ्यात्वभाव **सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है।** अज्ञान क्यों कहा? कि वह मिथ्यात्वभाव है तो इसे अज्ञान कहा। आहाहा! और वह अज्ञानभाव राग-द्वेष-मोह का कर्ता होने पर पुराने कर्म को वह निमित्त होता और पुराना कर्म नये आने में निमित्त होता है। ऐसा अब सब... अभी तो अभ्यास नहीं, सुनने का अभ्यास नहीं होता। समझने की तो कहाँ (बात करना)? आहाहा! अरे रे!

रागद्वेषमोह जीव की अज्ञान-अवस्था में ही होते हैं। मिथ्यात्वसहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि के अर्थात् अज्ञानी के ही रागद्वेषमोहरूप आस्रव होते हैं। देखा? ज्ञानी (कि जिसे) आत्मा का भान है, उसे राग-द्वेष-मोह है ही नहीं। जो अल्प रागादि होते हैं, उनकी यहाँ गिनती नहीं गिनी है। आहाहा! आत्मा चैतन्यमूर्ति भगवान अनन्त गुणगम्भीर, ऐसा अनन्त गुण का गोदाम प्रभु आत्मा का जहाँ ज्ञान होता है... आहाहा! तब उसे अज्ञान और मिथ्यात्व का नाश होता है और इसलिए उस मिथ्यात्व का नाश होने पर उसे राग-द्वेष होता है, उसका वह कर्ता नहीं होता। थोड़ा राग-द्वेष होता है परन्तु उसका कर्ता नहीं होता। इसलिए उसे अज्ञानभाव से बँधते जो कर्म, वह उसे बँधते नहीं। समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है। एक तो बाहर की विभूति पैसा, स्त्री, पुत्र, धूल, मकान, वह सब बाहर की श्मशान की विभूति है। उसकी चमक में आकर्षित होकर बेचारा पड़ा है, मूढ़ होकर मर गया है। आहाहा!

जागती ज्योति चैतन्य भगवान! आहाहा! उसके स्वभाव को तो जाना नहीं, अनुभव नहीं किया, आदर नहीं किया और अज्ञानभाव से स्वरूप के अज्ञान से बाहर की विभूति, संसार की यह जो श्मशान की चमक दिखती है, (जैसे) श्मशान में हड्डियों की चमक

दिखे, वैसी यह सब बाहर की चमक है। मकान और स्त्री, पुत्र और पैसा... अरबोंपति को पैसा और धूल... आहाहा! आहाहा!

मुमुक्षु : अमेरिका के लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है कहाँ? धूल में वहाँ अरबोंपति है, शान्ति जरा भी नहीं। फिर मुम्बई में आकर यह ढ़ोंग करते हैं। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण। मुम्बई में आते हैं न! देखे हैं न बाबा! वह सब कृत्रिम है। आहाहा! वहाँ अरबोंपति है। कितना माला? पचास -पचास माला का बड़ा बंगला। ओहोहो! आहाहा! होवे, चाहे जितना ऊँचा ले जाओ। पचास-पचास तो यहाँ मुम्बई में है न! जमीन थोड़ी हो, तब ऐसे ऊँचाई ऊपर करे और बस्ती बढ़ावे। ऐसे समाये नहीं, फिर ऐसे समाये। अरे रे! ऐसा मनुष्यपना मिला, परन्तु उसमें तूने आत्मा को नहीं जाना, प्रभु! आहाहा! अनन्त बार ऐसा मनुष्यपना मिला। प्रभु! तुझे पहला (मिला) नहीं है। अनन्त बार मनुष्यरूप से अरबोंपति हुआ है। आहाहा! आहाहा! तीन तो अपने यहाँ देखे न! शान्तिलाल खुशाल!

मुमुक्षु : शान्तिलाल खुशाल तो बहुत बुद्धिवाला था।

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धिवाला लावे, धूल भी नहीं। बुद्धिवाले बहुत हों तो भी भटकते हैं। पैसा आता है, वह तो पूर्व के पुण्य के परमाणु पड़े हों। ये अपने तीन तो बड़े देखे न! शान्तिलाल खुशाल, अपने पाणासणावाला दशाश्रीमाली, दो अरब चालीस करोड़। मर गया। अभी लड़का मुम्बई में आया था। दर्शन करने आया था। उस लड़के ने ख्रिस्ती से विवाह किया है। पैसा दो अरब चालीस करोड़! मस्तिष्क फट गया (मान चढ़ गया)। दर्शन करने आया था। ऐसा बोला, महाराज! मेरे पिता मर गये हैं, परन्तु उन्हें आपके पास आने का भाव था।

अपने शाहूजी, दिल्ली, चालीस करोड़। यहाँ आते थे न, आते हैं न! अभी मर गये, गुजर गये, उसमें-धूल में हुआ क्या? तुम्हारा सेठ, रामलाल। पचास करोड़। उसके पास पचास करोड़ हैं। मुम्बई में आया था दर्शन करने आया था, वैष्णव है, महिलाएँ सब अपने श्वेताम्बर जैन हैं और घर के सब आदमी वैष्णव। ऐसा धर्म! महिलाओं को प्रेम (था)। उन्हें कुछ धूल-धाणी और भा-पाणी! उसके पास पचास करोड़ रुपये हैं। आहाहा! चारों

ओर मकान और बँगले। दुनिया पागल, उसे सेठ कहकर (बुलाती है)। ओहोहो! तुम्हारा सेठ था। उसमें यह नौकर था न! आहाहा! प्रभु! यह बड़ा सेठ-श्रेष्ठ तो यह भगवान है न! अरे! इसके अज्ञान के कारण राग-द्वेष-मोह का कर्ता होकर, पुराने कर्म को निमित्त होकर नये कर्म बँधते हैं, भाई! आहाहा!

इसलिए मिथ्यादृष्टि के अर्थात् अज्ञानी के ही रागद्वेषमोहरूप आस्रव होते हैं। देखो! यह मिथ्यात्व सम्बन्धी के गिनना है, हों! मिथ्यादृष्टि अर्थात् चैतन्य भगवान को भूलकर परवस्तु मेरी है, जो इसमें स्वयं नहीं, वह इसमें नहीं, स्त्री में आत्मा नहीं, आत्मा स्त्री में नहीं। तथापि स्त्री मेरी, पुत्र मेरा, पैसे मेरे, इज्जत मेरी (करते हैं)। मार डाला! सब 'मेरा' खड़ा करके मर गया। आहाहा! उस मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को ही राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव होता है, ज्ञान को नहीं - ऐसा कहते हैं। ज्ञानी को रागादि हों, वे थोड़े हैं, अल्प हैं, उनकी यहाँ गिनती नहीं है। अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष और मिथ्यात्व की यहाँ बात है। यह श्लोक यहाँ पूरा हुआ।

गाथा–१६६

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति –

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्व–णिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो।।१६६।।

नास्ति त्वास्रव–बन्धः सम्यग्दृष्टेरास्रव–निरोधः।
सन्ति पूर्व–निबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन्।।१६६।।

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनोऽवश्यमेव निरुध्यन्ते, ततोऽज्ञान–मयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः।

अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्, तानि नवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति।।१६६।।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के उन आस्रवों का (भावास्रवों का) अभाव है:–

सद्दृष्टि को आस्रव नहीं, नहिं बन्ध, आस्रवरोध है।
नहिं बाँधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं।।१६६।।

गाथार्थ : [सम्यग्दृष्टेः तु] सम्यग्दृष्टि के [आस्रवबन्धः] आस्रव जिसका निमित्त है ऐसा बन्ध [नास्ति] नहीं है, [आस्रवनिरोधः] (क्योंकि) आस्रव का (भावास्रव का) निरोध है; [तानि] नवीन कर्मों को [अबध्नन्] नहीं बाँधता हुआ [सः] वह, [संति] सत्ता में रहे हुए [पूर्वनिबद्धानि] पूर्वबद्ध कर्मों को [जानाति] जानता ही है।

टीका : वास्तव में ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरुद्ध–अभावरूप होते हैं क्योंकि परस्पर विरोधी भाव एकसाथ नहीं रह सकते; इसलिए अज्ञानमय

भावरूप राग-द्वेष मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं, उनका निरोध होने से, ज्ञानी के आस्रव का निरोध होता ही है। इसलिए ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता-सदा अकर्तृत्व होने से नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में रहे हुए पूर्वबद्ध कर्मों को, स्वयं ज्ञान-स्वभाववान् होने से, मात्र जानता ही है। (ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्म को बाँधे, ज्ञातृत्व होने से कर्मबन्ध नहीं करता।)

भावार्थ : ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते और अज्ञानमय भाव न होने से (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह अर्थात् आस्रव नहीं होते और आस्रव न होने से नवीन बन्ध नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होने से नवीन कर्म नहीं बाँधता और जो पूर्वबद्ध कर्म सत्ता में विद्यमान हैं, उनका मात्र ज्ञाता ही रहता है।

अविरतसम्यक्दृष्टि के भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होता। जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है, वही अज्ञान के पक्ष में माना जाता है, सम्यक्त्वसहित रागादिक अज्ञान के पक्ष में नहीं है। सम्यक्दृष्टि के सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है। उसको चारित्रमोह के उदय की बलवत्ता से जो रागादि होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है; वह रागादि को रोग समान जानकर प्रवर्तता है और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें काटता जाता है। इसलिए ज्ञानी के जो रागादि होता है, वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है। वह आगामी सामान्य संसार का बन्ध नहीं करता, मात्र अल्प स्थितिअनुभागवाला बन्ध करता है। ऐसे अल्प बन्ध को यहाँ नहीं गिना है।।१६६।।

इस प्रकार ज्ञानी के आस्रव न होने से बन्ध नहीं होता।

गाथा - १६६ पर प्रवचन

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के उन आस्रवों का (भावास्रवों का) अभाव है:- क्या कहते हैं? जो धर्मी है, जिसे आत्मज्ञान होता है, मैं तो आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूपी पूर्णानन्द का सागर... आहाहा! मुझमें क्या कमी है? वह (भक्ति) आयी थी न? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आश कहाँ करे प्रीतम' पर की आश, हे प्रीतम-प्रिय नाथ! तुझमें क्या कमी है? और तुझमें क्या नहीं भरा है?

'किस बातें अधूरा?' प्रभु! तू किस बात से अधूरा है? कहाँ, झपट्टे तूने कहाँ मारे? आहाहा! तेरे पूर्ण आत्मा के स्वभाव से भरपूर भगवान अन्दर पूर्ण है न! किस बात से अधूरा है, वह तू पर में झपट्टे मारता है? मुझे पैसा चाहिए और स्त्री चाहिए और विषय चाहिए, भोग चाहिए, पुत्र (चाहिए).. आहाहा! अरे रे! इसने आत्मा को मार डाला। जीवित ज्योति अनन्त गुण का धनी, उसका अनादर किया और जिसमें आत्मा नहीं, ऐसी चीज़ को मेरी है, ऐसा मानकर आदर किया। आहाहा! अरे रे!

अब यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी को यह राग-द्वेष और मोह अज्ञान के कारण होते थे। ज्ञानी को वे भावास्रव नहीं होते। यह क्या कहा? जिसे आत्मज्ञान होता है, यह आत्मा भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा अनन्त गुण का भण्डार अन्दर आत्मा है। वह जिनस्वरूपी प्रभु आत्मा, भगवत्स्वरूप आत्मा अन्दर है। आहाहा! ऐसे भगवत्स्वरूप प्रभु का जिसे भान है, उसे भावास्रव अर्थात् अज्ञान से होनेवाले राग-द्वेषभाव नहीं होते। इसलिए उसे पुराने कर्म नये बन्धन का कारण नहीं होता। उसे बन्धन ही नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बातें!

भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अन्दर, किस बात से (तू) पूरा नहीं है? किस बात से तू अधूरा है? प्रभु! आहाहा! ज्ञान से पूरा, आनन्द से पूरा, शान्ति से पूरा, स्वच्छता से पूरा, प्रभुता से पूरा। ऐसी अनन्त शक्ति से प्रभु तू पूरा भगवान अन्दर है। ऐसा जिसे पूरा परमात्मस्वभाव (लक्ष्य में आया)। परमात्मा अर्थात् स्वयं, हों! उसका जिसे ज्ञान हुआ, उसका जिसे आदर हुआ, उसे मिथ्यात्व सम्बन्धी जो आस्रव होता था—पुण्य-पाप के भाव, वे उसे नहीं होते। आहाहा! यहाँ तो मिथ्यात्व, वह संसार और सम्यक्त्व, वह मोक्ष, दो बातें हैं। फिर दूसरी बातें। आहाहा!

धर्मी—ज्ञानी को; ज्ञानी अर्थात् धर्मी को। धर्मी अर्थात्? अपने में जो अनन्त गुण-धर्म स्वभाव से भरपूर भगवान, उसके सन्मुख होकर राग और निमित्त और पर्याय से विमुख होकर भगवान अपने पूर्ण स्वरूप को जिसने जाना, ऐसा जो धर्मी अर्थात् सम्यक्त्वी आहाहा! उस सम्यक्त्वी को यहाँ ज्ञानी कहा है और ज्ञानी को आस्रव का अर्थात् अज्ञानभाव से जो पुण्य-पाप का कर्ता होकर जो आस्रव होता था, वह आस्रव उसे नहीं होता।

आस्रव अर्थात् नये कर्म के आने का कारण। आस्रवना। जैसे नाव में छिद्र पड़े और

पानी आवे, वैसे भगवान आत्मा में अपने स्वरूप के अज्ञानभाव से छिद्र पड़ा है, इसलिए उसे विकारभाव का भावास्रव होता है। धर्मी को उस भावास्रव का छिद्र मुँद जाता है। आहाहा! भले वह चक्रवर्ती के राज्य में बैठा हो। यहाँ समकिती की बात लेनी है, आहाहा! परन्तु फिर भी अन्दर चैतन्य भगवान का उसे भान है। उस स्वरूप के भान के आदर के समक्ष उसे कोई चीज़ कीमती नहीं लगती। चक्रवर्ती का राज भी समकिती को कीमती नहीं लगता। आहाहा! अपने अमूल्य ऐसे भगवान की जहाँ कीमत लगायी, ऐसा जो धर्मी, (वह) भले संसार में हो, परन्तु उसे अपने आत्मा की कीमत के समक्ष दूसरी किसी चीज़ की कीमत उसे दिखायी नहीं देती। आहाहा!

धर्मी को, ज्ञानी अर्थात् धर्मी। धर्मी अर्थात् चौथे गुणस्थानवाला समकिती। जिसे राग से भिन्न पड़कर आत्मा के स्वरूप का वेदन, भान हुआ है, ऐसा धर्मी। धर्म की पहली सीढ़ीवाला, धर्म की पहली श्रेणीवाला। उस **ज्ञानी के उन आस्रवों का..** अर्थात् पुण्य-पाप के **(भावास्रवों का) अभाव है, यह बतलाते हैं..** १६६ गाथा

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्व-णिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो।।१६६।।

नीचे हरिगीत

सद्दृष्टि को आस्रव नहीं, नहिं बन्ध, आस्रवरोध है।
नहिं बाँधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं।।१६६।।

आहाहा! वापस इसमें यह लिया। पूर्व में जो बँधा हुआ है, भले सत्ता पड़ी हो, कहते हैं। उसे वह जानता है। आहाहा! उसमें वह मिथ्यात्वसहित जुड़ता नहीं है। आहाहा! भगवान का मार्ग बहुत अलौकिक है, भाई! सुख का पन्थ यह, सुख के पन्थी, सुख का पन्थ कोई अलौकिक है! बाकी यह सब दुःख के पन्थ में लग गये हैं। पूरी दुनिया दुःख के रास्ते में लग गयी है। आहाहा! सुख का पन्थ तो इन परमात्मा ने कहा, वह एक ही है। वह आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति, उसके स्वभाव का भान करके उसमें जाए, वह सुख का पन्थ है। आहाहा! यह बाहर के सुख की बात नहीं, हों! बाहर की धूल सुख नहीं है, वह तो दुःख है। अरबोंपति हो वह दुःखी बड़ा भिखारी प्राणी बेचारा माँगता है, माँगता है।

यह लाओ, यह लाओ, यह लाओ। पैसा लाओ, इज्जत लाओ, स्त्री लाओ, स्त्री एक होवे और लड़का न हो तो दूसरी लाओ, भिखारी एक के बाद एक माँगा ही करता है, माँगण!

मुमुक्षु : बनिया माँगते होंगे ? बनिया नहीं माँगते।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी नहीं माँगता। बनिया अर्थात् ? बनिया तो बड़ा भिखारी।

मुमुक्षु : ब्राह्मण माँगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! बनिया बड़ा भिखारी! उसने कहा नहीं ? अभी आया नहीं ? जापान में से, जापान का एक लेख आया है। कोई बड़ा ऐतिहासिक है, ६७ वर्ष की उम्र है। बड़ा ऐतिहासिक! लाखों पुस्तकें (उसने पढ़ी।) उसने कहा कि भाई! जिनधर्म किसे कहना ? अनुभूति, जिनधर्म है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव करना, वह जैनधर्म है, परन्तु फिर उसने जरा लिखा, किन्तु ऐसा जैनधर्म बनियों को मिला। बनिये व्यापार में पाप के कारण निवृत्त नहीं होते। ऐसा बेचारे ने लिखा है। जापान से लेख आया है। ऐसा जैनधर्म बनियों को मिला और बनिये व्यापार के कारण पूरे दिन पूरी होली सुलगती है! यह लाओ और यह दिया और यह ग्राहक आया और यह दिया, यह माल हो गया, मुम्बई से नया लो, पुराना हो गया है और नया लाओ। इस भाव आएगा, इस भाव (जाएगा)। अरे! पूरे दिन होली सुलगती है। अर र र! उसमें से इसे निकलना...

यहाँ कहते हैं कि वह सब हो, परन्तु फिर भी जिसे आत्मज्ञान हुआ.. आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर आनन्द का सागर और अनन्त गुण का भण्डार (विराजता है), ऐसा स्वसन्मुख होकर आत्मज्ञान हुआ, उस ज्ञानी को भावास्रव अर्थात् मिथ्यात्वसहित होनेवाले राग-द्वेष के भाव उसे है नहीं। आहाहा! ऐसा बताते हैं। है न ? आ गया न यह ? **सद्दृष्टि को आस्रव नहीं, नहिं बन्ध, आस्रवरोध है। नहिं बाँधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं।**

इसकी टीका। टीका है न इस ओर ? **वास्तव में ज्ञानी के..** जिसे आत्मा की कीमत जगी है... आहाहा! मेरी चीज़ अमूल्य और उसकी इसने कीमत आँकी। आहाहा! अमूल्य हीरा प्रभु चैतन्य, उसकी जिसने अन्दर जाकर कीमत आँकी है। आहाहा! उसका जिसे ज्ञान हुआ, उस **वास्तव में ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से..** उसे तो आत्मा के ज्ञान-

दर्शन आनन्द के भाव से। **अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरुद्ध–अभावरूप होते हैं..** यहाँ तो इतनी ही बात है। अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले जो मिथ्यात्व और राग–द्वेष के भाव, वे ज्ञानी को नहीं होते। आहाहा!

वास्तव में ज्ञानी.. अर्थात् आत्मज्ञानी को। भले वह गृहस्थाश्रम में पड़ा हो परन्तु जिसे आत्मज्ञान हुआ है, ऐसे ज्ञानी को **ज्ञानमय भावों से..** अपने ज्ञान आनन्द और शान्ति के भाव से। **अज्ञानमय भाव..** ऐसे जो राग–द्वेष और मिथ्यात्व, वे रुक जाते हैं। निरोध को प्राप्त होते हैं। **निरुद्ध–अभावरूप होते हैं..** आहाहा! चैतन्य भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का सागर नाथ प्रभु, ऐसे आत्मा का जिसे अन्तर्मुख होकर बाहर की कीमत, सब विभूति की कीमत छोड़कर, अन्तर की विभूति की कीमत जिसे अन्तर से जागृत हो गयी है... आहाहा! ऐसा जो धर्मी, उसे अज्ञानमय भाव अर्थात् मिथ्यात्वभाव। राग ठीक है और राग में लाभ है, ऐसा जो अज्ञानमय भाव, (वह) अवश्य रुक जाता है, अवश्य अज्ञान का अभाव होता है। आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, बापू! आहाहा! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। वे तो कहे, कुछ खबर नहीं होती, सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण करो। परन्तु कहाँ था अब? अभी आत्मा क्या है, उसकी खबर नहीं हो, यह तेरी सामायिक आयी कहाँ से? आहाहा! सामायिक में तो समता का लाभ आता है।

सामायिक का अर्थ क्या? समता का लाभ, वीतरागपने का लाभ। परन्तु वीतरागपने का लाभ किसे होगा? जो आत्मा वीतरागस्वरूप जिनस्वरूप है, ऐसी जिसे दृष्टि और अनुभव हुआ है, उसे उसमें स्थिरता की सामायिक आती है। आहा! अभी वस्तु की खबर नहीं होती, (वहाँ) तुझे सामायिक आयी कहाँ से? प्रोषध आये और प्रतिक्रमण किया और... धर्म का प्रतिक्रमण किया। धर्म से विमुख हुआ! विकार से विमुख होना चाहिए, मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण चाहिए... आहाहा!

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण अर्थात्? कि पुण्य और पाप हैं, उनमें मुझे लाभ है – ऐसा जो मिथ्यात्वभाव और पुण्य के फलरूप से यह बाहर में सामग्री धूल मिले, उससे मैं बड़ा हूँ, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव.. आहाहा! उसका जिसे नाश होता है, उसे यहाँ ज्ञानी और समकिती कहा जाता है। उसे यहाँ अज्ञानभाव का नाश होता है। आहाहा! ऐसी बातें!

क्योंकि परस्पर विरोधी भाव एकसाथ नहीं रह सकते ;.. क्या कहते हैं यह ? कि जिसे इस आत्मा चिदानन्द भगवान का भान हुआ, उसे तो वह आत्मामय भाव होगा। शान्ति, वीतरागता, स्वच्छता, आनन्द, वह भाव होगा। उसे पुण्य-पाप के भाव, वे तो उससे विरुद्ध भाव हैं। मिथ्यात्वसहित के पुण्यभाव तो विरुद्ध हैं, अत: एक स्थान में दो भाव नहीं रह सकते। आहाहा! इसे आत्मा का ज्ञानमय भाव भी हो और अज्ञानमय राग-द्वेष के भाव भी हों, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा!

क्योंकि परस्पर विरोधी.. परस्पर विरोधी, समझ में आया? कि राग-द्वेष के परिणाम, वे मेरे हैं और मैं कर्ता हूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह अज्ञानभाव और एक ओर आत्मा ज्ञानस्वरूप है और मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, मैं राग का कर्ता भी नहीं, राग मुझमें है ही नहीं, राग से मुझे लाभ है नहीं, ऐसा जो आत्मा का ज्ञान हुआ—ऐसे आत्मज्ञान के समय उसे उससे विरुद्ध मिथ्यात्व के राग-द्वेष के करने के भाव, यह मिथ्यात्वभाव नहीं होता। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहती। आहाहा! जिसे यह भगवान चैतन्य प्रभु अन्दर चमत्कारिक चीज़ पड़ी है, महाप्रभु! आहाहा! जिसके चैतन्य के चमत्कार के समक्ष इन्द्रों का इन्द्रासन सड़े हुए तिनके जैसा लगे। इन्द्र के इन्द्रासन सड़े हुए कुत्ते और बिल्ली मर गयी हो, ऐसा लगे। आहाहा! उसके भोग और उसके सुख ज्ञानी को ऐसे लगते हैं। अज्ञानी को तो एक जरा कुछ अनुकूलता पाँच-पच्चीस लाख मिले, स्त्री ठीक (मिली), वहाँ (ऐसा मान बैठता है कि) हम सुखी हैं। धूल में भी नहीं है। मर गया, सुन न!

भगवान अन्दर चैतन्य ज्योति विराजता है। उसका तूने अनादर किया है। अनादर किया अर्थात् तूने उसकी हिंसा की है और जो तुझमें नहीं है, पुण्य और पाप के भाव, उनका कर्ता होकर उसे-विकार को तूने जीवित रखा है। चेतन जीवित है, उसे तूने मार डाला। आहाहा! अरे! ऐसा सुनना कहाँ मिले? बापू! क्या हो? आँखें बन्द हो जाएगी, भाई! चौरासी के अवतार में कहीं भटकने चला जाएगा। आत्मा तो नित्य है। देह छूटने से कहीं आत्मा नाश हो, ऐसा नहीं है। अज्ञानरूप से भव निकाले, जाकर भटकेगा चौरासी में कहीं! कौआ, कुत्ता, कन्थवा, सिंह, बाघ में जन्म लेगा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, ज्ञानी के ज्ञानमय भाव के साथ अज्ञानी के राग-द्वेष के कर्ता के

अज्ञानभाव दोनों एक जगह नहीं रह सकते। समझ में आया ? आहाहा ! **परस्पर विरोधी भाव एकसाथ..** परस्पर विरोधी (अर्थात्) आत्मा चैतन्य आनन्द का ज्ञान और भान हुआ, वहाँ ज्ञानमय शुद्धता के भाव हुए और अज्ञानभाव से तो राग-द्वेष का कर्ता होता है और वह राग-द्वेषभाव होता है। वह दोनों एक स्थान में नहीं रह सकते। ज्ञानमय भाव में अज्ञानमय भाव नहीं और अज्ञानमय भाव के समय ज्ञानमय भाव नहीं। आहाहा ! ऐसा उपदेश किस प्रकार का ? पहला तो बाहर से सब प्रसन्न हो, ऐसे व्रत पालो, भक्ति करो, अपवास करो, लोग प्रसन्न होते हैं बेचारे ! अरे रे ! यह सब अज्ञानभाव के पोषक हैं। आहाहा !

परस्पर विरोधी.. ऐसा कहा न ? अज्ञान स्वरूप के अज्ञानरूप से अज्ञान से राग-द्वेष (का) कर्ता होता था, वह आत्मा के ज्ञानभाव में ज्ञानभाव का कर्ता होकर रागभाव का कर्ता नहीं होता। इसलिए एक स्थान में दो भाव नहीं हो सकते। आहाहा !

इसलिए अज्ञानमय भावरूप राग-द्वेष-मोह.. जो अज्ञान से हुए अनन्तानुबन्धी का राग-द्वेष और मिथ्यात्व **जो कि आस्रवभूत..** है। वे स्वयं भावास्रव ही हैं। स्वरूप का अज्ञान और मिथ्यात्वभाव, राग और द्वेष का कर्ता हो, वह मिथ्यात्वभाव स्वयं ही आस्रव है। नये कर्म का कारण वह भाव ही है। आहाहा ! **जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं, उनका निरोध होने से,...** ज्ञानी को वे आस्रवभूत अज्ञानभाव के राग-द्वेष तो रुक गये हैं। आहाहा ! जान लिया कि मेरा प्रभु तो आनन्द है और यह राग तो विकार है। आहाहा ! वहाँ बात रुक गयी। अज्ञानभाव था, (वह) वहाँ रुक गया और ज्ञानमय चैतन्य का भाव निर्मलानन्द प्रभु प्रगट हुआ। आहाहा !

जिसे अन्तर चैतन्य का भान हुआ, वह बापू ! अलौकिक बातें, भाई ! वह कोई बाह्य क्रियाकाण्ड से मिले, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा ! कि बहुत व्रत करें और बहुत अपवास करें (तो) समकित हो जाए। वह तो सब अज्ञानभाव, कर्ता (भाव है), उससे समकित नहीं होता। आहाहा ! प्रभु ! मार्ग अलग है। यह आत्मा अन्दर परिपूर्ण परमात्मस्वरूप विराजमान है। 'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा, वह अन्दर परमात्मस्वरूप ही है। उसका स्वभाव परमात्मस्वरूप है, प्रभु ! आहाहा ! कैसे जँचे ! दो बीड़ी ठीक से पीवे, तब भाईसाहब को पाखाने में दस्त उतरे, उसे अब ऐसा कहना कि तू प्रभु है इतना ! किस गज से नापे ? आहाहा ! आहाहा !

अज्ञानमय भावरूप राग-द्वेष मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं.. देखा? वह आस्रवभूत है तो सही। स्वरूप का अज्ञान और मिथ्यात्वभाव और जो मिथ्यात्वभाव राग-द्वेष का कर्ता होता है, वे राग-द्वेष और वह मिथ्यात्वभाव, वही आस्रव है, वही बन्ध का कारण है। आहाहा!

उनका निरोध होने से, ज्ञानी के आस्रव का निरोध होता ही है। आहाहा! सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसकी समृद्धि का भान हुआ। मुझमें पूर्ण आनन्द और पूर्ण गुण भरे हैं, ऐसा सम्यक्-सत्यदर्शन, सच्ची पूर्ण वस्तु है, उसका अनुभवदर्शन होने पर उसे आत्मा की ऋद्धि जो अन्दर अनन्त है, उसका नमूना उसे पर्याय में आया। आहाहा! पर्याय अर्थात् अवस्था। इसलिए उसे **आस्रव का निरोध होता ही है।** अज्ञान से उत्पन्न हुआ ऐसा जो राग-द्वेषभाव, वह उसे होता नहीं।

इसलिए ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है, ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता.. लो! आस्रव जिसे निमित्त है। नये कर्म को आस्रव निमित्त है, यहाँ (यह) लेना है। ऐसे मिथ्यात्व, राग-द्वेष का कर्ता होता है। दया, दान के परिणाम का कर्ता हो, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह राग है। आहाहा! उस मिथ्यादृष्टि को जो राग-द्वेष और अज्ञानभाव थे, वे ज्ञानी को नहीं हैं। इसलिए **आस्रव जिनका निमित्त है, ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता..** वह आठ कर्म को नहीं बाँधता अथवा वह अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष और मिथ्यात्व उसे नहीं होता। आहाहा!

सदा अकर्तृत्व होने से.. धर्मी तो, राग का और दया-दान का विकल्प आवे परन्तु उसका कर्ता नहीं होता; उसका जाननेवाला-देखनेवाला रहता है। आहाहा! **सदा अकर्तृत्व होने से नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में रहे हुए पूर्वबद्ध कर्मों को, स्वयं ज्ञान-स्वभाववान् होने से,..** आहाहा! शुद्ध ज्ञान, आनन्द है, वह मैं हूँ— ऐसा धर्मी को पहली श्रेणी में भान होता है। आहाहा! उसके भान में उसे **पूर्वबद्ध कर्मों को, स्वयं ज्ञान-स्वभाववान् होने से, मात्र जानता ही है।** देखा? वह पूर्व कर्म जो था, उसका संसर्ग करता है, अज्ञानी परिचय करता है, उस पर लक्ष्य (करता है)। यहाँ लक्ष्य छोड़ देता है। यह (ज्ञानी) पुराने कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं करता। अपने स्वरूप के साथ सम्बन्ध किया है। इसलिए पूर्व का जो कर्म है, उसे **मात्र जानता ही है।**

(ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं;..) धर्मी, राग और दया, दान के परिणाम का भी कर्ता नहीं है। आहाहा! ऐसा गले उतरना (कठिन पड़ता है)। **(ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्म को बाँधे,..)** पर की, शरीर की, वाणी की क्रिया कर सकता हो और पुण्य-पाप के परिणाम भी मेरे कर्ता से होते हैं, ऐसी जिसकी कर्ताबुद्धि पड़ी है... आहाहा! वह तो नये कर्म बाँधता है। ज्ञानी का ज्ञानस्वभाव है, कर्तास्वभाव नहीं। **(कर्तृत्व हो तो कर्म को बाँधे,...)** ये पुण्य-पाप और पर का कर्ता होवे तो नये कर्म बाँधे। **(ज्ञातृत्व होने से कर्मबन्ध नहीं करता।)** आहाहा! बहुत सरस!

पहली श्रेणी का-चौथे गुणस्थान में समकिती, धर्म की पहली सीढ़ी वाला, ऐसा समकिती ही पहला। पाँचवाँ गुणस्थान वह तो और आगे है। श्रावक किसे कहना? मुनि, वह तो आगे बहुत कठिन चीज़ है। यह तो अभी सम्यग्दृष्टि जीव (की बात है)। आहाहा! राग और पर की क्रिया का कर्ता नहीं होता और अपने ज्ञानस्वरूप में ज्ञाता-दृष्टा रहता है, इसलिए उसे कर्म नहीं बँधते। **(ज्ञातृत्व होने से कर्मबन्ध नहीं करता।)** विशेष कहा जाएगा, लो.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २४६, गाथा १६६-१६७ दिनाङ्क ०६-०६-१९७९, बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल ११

यह समयसार चलता है, १६६ गाथा का भावार्थ, आस्रव अधिकार। वास्तव में जो मिथ्यात्व है, वही आस्रव है। मिथ्यात्व वही संसार है। फिर पीछे थोड़ा दोष रहता है, वह अल्प संसार है। मिथ्यात्व किसे कहते हैं? कि जो आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसमें तो शुभ-अशुभभाव होते हैं, वे मेरे हैं और उनसे मुझे लाभ होगा। दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव आता है, वे सब शुभभाव हैं, पुण्य है। उससे मुझे लाभ होगा, यह मिथ्यात्वभाव है। यह मिथ्यात्वभाव संसार और आस्रव है।

भावार्थ : ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते... आहाहा! जिसे आत्मज्ञान हुआ, जो अनन्त काल में कभी नहीं किया। ऐसे व्रत, तप, भक्ति और पूजा तो अनन्त बार किये, वह कोई नयी चीज़ नहीं है, वह तो पुण्य / आस्रवभाव है परन्तु उससे रहित तेरी

चीज़ है, शुभ-अशुभभाव से भिन्न पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो पूर्ण आत्मा देखा, ऐसा मैं हूँ—ऐसी अन्तर अनुभवदृष्टि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। उसका नाम ज्ञानी है। उसे ज्ञानी कहा जाता है।

आत्मा शरीर की क्रिया से तो भिन्न है। वह तो जड़ है, वह पर की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पर की क्रिया कर सकता हूँ, वह तो मिथ्यादृष्टि है, वह तो धर्मी नहीं परन्तु अन्दर में पुण्य और पापभाव होते हैं, उसमें भी जिसे प्रेम है, पुण्यभाव के प्रति प्रेम है और पुण्य से रहित मेरी चीज़ अन्दर भिन्न है, उसका जिसे प्रेम नहीं, वह मिथ्यादृष्टि जीव है, अज्ञानी है। आहाहा!

जिसे अन्तर में पुण्य-पाप के भाव का प्रेम और रुचि छूट गयी और ज्ञानस्वरूपी प्रभु भगवान आत्मा का अनुभव होकर दृष्टि हुई, उसे यहाँ ज्ञानी कहते हैं। धर्मी कहो या ज्ञानी कहो। परन्तु धर्मी यह। बाहर की कोई प्रवृत्ति—व्रत, नियम और तप करता है, इसलिए वह धर्मी है, ऐसा नहीं है। वह सब तो पुण्यक्रिया है।

ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते... ये पुण्य परिणाम मेरे—ऐसा अज्ञानमय भाव धर्मी को नहीं होता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। धर्मी को **अज्ञानमय भाव नहीं होते और अज्ञानमय भाव न होने से...** राग—दया, दान, व्रत, भक्ति का राग बन्ध का कारण है, मेरी चीज़ उससे भिन्न है। ऐसी जिसे धर्म की पहली सीढ़ी, पहला सोपान सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ है, उसे अज्ञानभाव नहीं होते। ये शुभ-अशुभभाव मेरे हैं, ऐसा भाव उसे नहीं होता। समझ में आया?

(अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह अर्थात् आस्रव नहीं होते... इस कारण से ज्ञानी—धर्मी को मिथ्यात्व का नाश हुआ और सम्यग्दर्शन—स्वरूप की प्रतीति, अनुभव हुआ तो मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह उसे नहीं होते। आहाहा! अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष और मिथ्यात्वभाव धर्मी को नहीं होते। आहाहा! पहली बात ही कठिन है।

आस्रव न होने से... धर्मी को अपने में शुद्ध श्रद्धा-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा में अनुभव से हुए, इस कारण उसे मिथ्यात्व सम्बन्धी आस्रव नहीं होता। **आस्रव न होने से नवीन बन्ध नहीं होता।** आहाहा! **इस प्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होने से..**

धर्मी उसे कहते हैं कि पर का कर्ता तो है नहीं परन्तु वह पुण्यपरिणाम का कर्ता भी नहीं। आहाहा! पाप का तो कर्ता नहीं, परन्तु पुण्यपरिणाम का कर्ता भी धर्मी (नहीं)। पहली श्रेणी का धर्मी अकर्ता होने से (अर्थात्) पर का कर्ता नहीं और राग का भी कर्ता नहीं; धर्मी तो अपने ज्ञानस्वरूप आनन्द का कर्ता है। आहाहा! ऐसी बात है।

इस प्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होने से... धर्मी तो पर से, परपदार्थ की कोई भी पर्याय होती है, उसका आत्मा कर्ता नहीं। यह शरीर चलता है, वाणी बोली जाती है, उस क्रिया का आत्मा कर्ता नहीं है। आहाहा! अज्ञानी पर का कर तो नहीं सकता परन्तु मानता है कि मैं पर का करूँ और कर सकता है यह कि पुण्य-पाप के भाव का अज्ञानी कर्ता होता है। ज्ञानी इन पुण्य-पाप का भी कर्ता नहीं होता, इनका जाननेवाला रहता है।

पूर्वबद्ध कर्म... नये कर्म बँधते नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं तो उस सम्बन्धी का आस्रव नहीं तो नये कर्म बँधते नहीं और पुराने कर्म जो बँधे हुए पड़े थे, उनका मात्र **ज्ञाता ही रहता है।** पूर्व कर्म बँधे हुए पड़े हैं, उनका तो धर्मी जाननेवाला रहता है। वे कर्म मेरे हैं, और मुझमें बन्ध है, ऐसा धर्मी नहीं मानता, बहुत सूक्ष्म चीज़ है, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की धर्म की शुरुआतवाली चीज़ कैसी है, यह बहुत कठिन है और सम्यग्दर्शन बिना तो ज्ञान और चारित्र तो होते ही नहीं। आहाहा!

यहाँ तो यह कहा कि सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और राग-द्वेष अनन्तानुबन्धी के नहीं होते तो उतना बन्ध भी नहीं होता और पूर्व बन्ध है, उसे जाननेवाला रहता है। पूर्व बन्ध जड़ है, वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! मुझमें है नहीं, वह तो जड़ में है। इस प्रकार धर्मी पुराने कर्म पड़े हैं, उनका जाननेवाला-देखनेवाला रहता है। नीचे। **अविरतसम्यक्दृष्टि के...** अभी गृहस्थाश्रम में हो, समकिती है। श्रेणिकराजा आदि अविरतसम्यग्दृष्टि हैं। अभी अन्तर में निवृत्ति नहीं है। पुण्य और पाप से निवृत्ति नहीं है, व्रत और प्रत्याख्यान आदि चारित्र भी नहीं है परन्तु अविरतसम्यग्दृष्टि, जिसे अव्रत है परन्तु है सम्यग्दृष्टि। चौथे गुणस्थान में है। चौथा गुणस्थान। (उसे भी) **अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होता।** चौथे गुणस्थान में, पाँचावें (गुणस्थान का) श्रावक होने से पहले। छठवाँ (गुणस्थान) गुणीपना वह तो कोई अलौकिक बातें हैं।

यहाँ तो चौथे गुणस्थान में पहला धर्म प्राप्त किया, अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव हुआ तो वह अविरत (सम्यग्दृष्टि है)। भले राग का त्याग नहीं, इन्द्रियों के विषय का भी त्याग नहीं, तथापि अविरतसम्यग्दृष्टि (को) दृष्टि सत्य प्रगट हुई है। आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप है, वह विकाररहित है और पूर्ण आनन्द है, ऐसे अनुभव में धर्मी जीव को शुरुआत में चौथे गुणस्थान में अविरतसम्यग्दृष्टि होता है। आहाहा! उसे भी अज्ञानमय राग-द्वेष नहीं होते। सम्यग्दृष्टि-धर्मी हुआ, उसे अज्ञानमय राग-द्वेष नहीं होते।

मिथ्यात्व सहित रागादि होता है... आहाहा! जिसकी श्रद्धा मिथ्यात्व है, वह पाप परिणाम में ठीक-सुख है और पुण्यपरिणाम में धर्म है, ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है। वह जैन नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! **मिथ्यात्व सहित रागादि होता है, वही अज्ञान के पक्ष में माना जाता है,...** विपरीत मान्यता, राग-द्वेष मेरे हैं - ऐसी जो मान्यता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि का रागादिभाव **अज्ञान के पक्ष में माना जाता है,..** वह अज्ञान है।

अपने स्वरूप का भान नहीं और राग, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम मेरा धर्म है और उससे मुझे धर्म होगा, ऐसी मिथ्यादृष्टि है, उसके अज्ञानमय भाव में (राग-द्वेष माने जाते हैं)। मिथ्यादृष्टि के अज्ञानमय पक्ष में राग-द्वेष होते हैं। मिथ्यात्व का नाश हुआ और सम्यग्दर्शन हुआ तो अज्ञान पक्ष में जो राग-द्वेष होते हैं, वे नहीं होते। ऐसी बात है।

सम्यक्त्वसहित रागादिक अज्ञान के पक्ष में नहीं है। जिसे अपना स्वभाव पुण्य और पाप के भाव से, शुभ-अशुभभाव से भिन्न है - ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई, वह समकितसहित रागादि अज्ञान के पक्ष में नहीं है। उस समकिती को राग होता है, परन्तु अज्ञान के पक्ष में नहीं है। ज्ञानी तो राग का जाननेवाला रहता है। राग मेरा कर्तव्य है, ऐसा ज्ञानी को नहीं होता। आहाहा!

सम्यक्दृष्टि के सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है। आहाहा! पहले श्रेणी का धर्मी उसे कहा जाता है कि जिसे दया, दान, व्रत, परिणाम, राग से भिन्न ज्ञानधारा सदा चलती है। मैं तो सदा ज्ञातादृष्टा, आनन्द हूँ, ऐसी दृष्टि में राग से भिन्न भेदज्ञान की धारा चलती है। आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को निवृत्ति नहीं (और) बाहर से धर्म मान ले।

आहाहा! यह यात्रा कर आये, (इसलिए) धर्म हो गया। सम्मेदशिखर की यात्रा, वह तो पुण्य है; धर्म नहीं। गिरनार की यात्रा, शत्रुंजय की यात्रा, वह तो राग है। राग से मुझे धर्म होगा, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उस मिथ्यादृष्टि के पक्ष में जो राग-द्वेष होते थे, वैसे सम्यग्दृष्टि को अज्ञान पक्ष के राग-द्वेष नहीं होते। आहाहा! राग-द्वेष आते हैं, परन्तु वे मेरे हैं और मुझे लाभदायक हैं, ऐसी समकिती जीव की दृष्टि नहीं होती। आहाहा!

सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है। 'ही' कहा है। मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला ही हूँ। मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ। ये दया, दान, व्रत के परिणाम भी मेरा कर्तव्य नहीं। आहाहा! उसे यहाँ प्रथम श्रेणी का समकिती कहने में आता है। आहाहा! **सम्यक्दृष्टि के सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है। उसको चारित्रमोह के उदय की बलवत्ता से...** चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को अज्ञानमय राग-द्वेष नहीं होता। तब पूर्व के चारित्र के बल के दोष से, चारित्रमोह के कारण **जो रागादि होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है;..** समकिती भले गृहस्थाश्रम में हो और रागादि चारित्रमोह का उदय हो, परन्तु धर्मी उसका स्वामी नहीं होता। स्वामी तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका मैं स्वामी हूँ। ऐसी बात है, भाई!

चारित्रमोह के उदय से धर्मी को भी राग-द्वेष, विषय-वासना आदि होते हैं परन्तु उसमें स्वामित्व नहीं है, उसमें सुखबुद्धि नहीं है, उसमें हितबुद्धि नहीं है। आहाहा! **रागादि होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है; वह रागादि को रोग समान जानकर प्रवर्तता है...** आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे राग होता है, उसे रोग समान जानता है। यह तो रोग है, मेरी दशा नहीं। आहाहा! धर्म की पहली सीढ़ीवाला, उसे राग आता है परन्तु वह राग को रोग समान जानता है। आहाहा!

छह खण्ड का राज्य (होवे)। भरत चक्रवर्ती समकिती थे, परन्तु (उसके) स्वामी नहीं थे। राग का स्वामी तो नहीं, परन्तु पर का स्वामी तो है ही नहीं। राग में दिखने पर भी अपना शुद्ध स्वरूप राग से भिन्न है, उसका स्वामी होकर, राग आता है उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा! यह तो जहाँ-तहाँ दया, दान, व्रत, यात्रा, भक्ति के परिणाम किये, वे मेरे हैं और मुझे लाभ होगा, (ऐसा मननेवाला) तो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, उसे धर्म नहीं है। वह तो अज्ञानी है। आहाहा! कठिन बात है।

रागादि को रोग समान जानकर... जैसे रोग आता है, तो उसे भला जानता है? इसी प्रकार धर्मी को राग आता है परन्तु रोग-समान जानता है। उसका स्वामी मैं नहीं; मेरी चीज़ तो उससे भिन्न है। ऐसा बोध और सम्यग्दर्शन हुआ, (वह) राग को रोग समान जानता है। अज्ञानी राग को अपना मानकर हितकर मानता है। आहाहा! यह आस्रव अधिकार है।

अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें काटता जाता है। आहाहा! धर्मी जीव, अपना शुद्ध चिदानन्द प्रभु, जिनस्वरूपी भगवान आत्मा का भान, सम्यग्दर्शन हुआ, उसे पूर्व के कारण से राग आता है परन्तु उस राग को काटता है, राग को रखता नहीं। आहाहा! राग आता है, उसकी रक्षा नहीं करता। आहाहा! राग को काटता जाता है। मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। धर्मी की पहली श्रेणी में, चौथे गुणस्थान में (ऐसी मान्यता होती है), पाँचवाँ गुणस्थान श्रावक, वह तो बापू! ऊँची चीज़ है। समकित के बिना श्रावक नहीं होता। समकित के बिना साधु भी नहीं होता। पहले समकित यह चीज़ है कि चाहे तो शुभ-अशुभभाव हो, वे मेरे नहीं हैं; मैं उनका नहीं हूँ। मैं उनका स्वामी नहीं और मैं मेरी शुद्ध चीज़ का स्वामी हूँ। ऐसा मार्ग है।

अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें काटता जाता है। अपना पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख करके राग को काटता जाता है। राग अपना मानकर स्वामी होता है, वह ज्ञानी नहीं है। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग है। अभी तो दुनिया ने बाहर से व्रत, तप, भक्ति, पूजा और यात्रा में धर्म मान लिया है, (जबकि वह सब) है राग। उसे धर्म मान लिया है, वह मिथ्यादृष्टि है, वह जैन नहीं है। उसे जैन की खबर नहीं है। आहाहा!

इसलिए ज्ञान के... आहाहा! **जो रागादि होता है...** रागादि, द्वेषादि, रति, अरति के परिणाम होते हैं। **वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है।** है, तथापि नहीं, उसके स्वामी नहीं होते और अपने में नहीं, (ऐसा मानते हैं)। व्यवहाररत्नत्रय का, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, वह भी अपना नहीं है। राग पर है। आहाहा! ऐसा धर्मी! सूक्ष्म बात है, बापू! अनन्त काल में 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ' अनन्त बार मुनि हुआ, दिगम्बर सन्त (हुआ) परन्तु 'आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' सम्यक्त्व (प्रगट) नहीं किया तो सब निरर्थक है। व्रत के परिणाम पुण्य हुए, स्वर्गादि मिले (परन्तु)

जन्म-मरण का अन्त नहीं आया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' नौवें ग्रैवेयक में दिगम्बर साधु होकर अनन्त बार गया परन्तु आत्मज्ञान (के बिना)। पुण्य-पाप के विकल्प से मेरी चीज़ भिन्न है और पुण्य-पाप दोनों बन्ध के कारण हैं, मेरी चीज़ नहीं – ऐसा आत्मज्ञान नहीं किया। आत्मज्ञान के बिना लेश सुख प्राप्त नहीं हुआ। यह महाव्रत के और अट्ठाईस मूलगुण के परिणाम तो दुःखरूप हैं, आस्रव हैं। आहाहा!

यह आस्रव अधिकार है न! धर्मी को जरा चारित्रदोष के कारण रागादि होते हैं, वे विद्यमान होने पर भी **अविद्यमान जैसा ही है।** मेरी चीज़ नहीं, मुझमें नहीं, उनमें मैं नहीं। आहाहा! (ऐसा) भेदज्ञान जिसे वर्तता है (कि) उस राग में मैं नहीं और मुझमें राग नहीं। है? **वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है। वह आगामी सामान्य संसार का बन्ध नहीं करता,...** सामान्य संसार का अर्थ (यह है कि) अनन्त संसार का बन्धन हो, वह सामान्य संसार। समकिती को रागादि आते हैं, परन्तु सामान्य संसार नहीं, परन्तु अल्प राग है तो स्थिति और रस / अनुभाग भी थोड़ा पड़ता है, परन्तु अनन्त संसार का कारण नहीं है। आहाहा!

सामान्य संसार का बन्ध नहीं करता,... अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व है, ऐसा संसार उसे नहीं है। **मात्र अल्प स्थितिअनुभागवाला...** थोड़ी स्थिति, कर्म की स्थिति, रस पड़ता है परन्तु उसके भी वे तो ज्ञातादृष्टा हैं। आहाहा! कठिन बात है, भाई! धर्म—वीतराग मार्ग, परमेश्वर जिनेश्वर ने जो धर्म कहा, वह कोई अलौकिक बात है! अभी तो सब गड़बड़ चली है। बाहर की प्रवृत्ति और उसमें धर्म (मान बैठे हैं)। यह व्रत करो और अपवास करो और पूजा करो और भक्ति करो, यात्रा करो, वह धर्म। यह सब राग है और इसमें धर्म मानता है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। मिथ्यात्व का संसार उसके पास है। मिथ्यात्व, वही संसार है। है इसमें? है, इसमें है। देखो, ६८ गाथा में है। १६८ (गाथा) है न!

संसार का मूलकारण मिथ्यात्व ही है। १६८ गाथा से पीछे अन्त में। अन्तिम पद १६९ (गाथा) के पहले १६८ के अन्त में। है? **संसार का मूलकारण मिथ्यात्व ही है।** अल्प रागादि होते हैं, वह संसार का, मूल संसार का कारण नहीं है। है इसमें? है या नहीं?

आहाहा! परन्तु मिथ्यात्व किसे कहना, यह खबर नहीं। यह मानो कि जैनधर्म में आ गये और यह व्रत करते हैं, तपस्या करते हैं, पूजा-भक्ति करेंगे तो धर्म होगा, (ऐसा मानता है)। धूल में भी धर्म नहीं है। ऐसा तो तूने अनन्त बार किया है। अभी की अपेक्षा नौवें ग्रैवेयक गया, तब तो अनन्त बार मुनिपना पालन किया है परन्तु वह पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण तो राग और आस्रव है। उनसे भिन्न मेरी चीज़ आनन्द है, उसका सम्यग्ज्ञान बिना, यह सब मिथ्यात्व का आस्रव इसे संसार है। आहाहा!

ऐसे अल्प बन्ध को यहाँ नहीं गिना है। १६६ (गाथा) पूरी। **इस प्रकार ज्ञानी के...** धर्मी जीव को राग से भिन्न अपने स्वरूप का भान है। धर्मी उसे कहते हैं कि अपने स्वरूप में राग की भिन्नता है। राग में मैं नहीं और मुझमें राग नहीं। दया, दान, व्रत के परिणाम भी राग हैं, वे मुझमें नहीं और मैं उनमें नहीं। ऐसा भेदज्ञान सम्यग्दृष्टि को हुआ है। **इस प्रकार ज्ञानी के आस्रव न होने से बन्ध नहीं होता।** मिथ्यात्व सम्बन्धी आस्रव नहीं है तो उस सम्बन्धी अनन्त संसार का कारण ऐसा बन्ध नहीं है। आहाहा!

गाथा–१६७

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति–

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादि–विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि।।१६७।।

भावो रागादि–युतो जीवेन कृतस्तु बन्धको भणितः।
रागादि–विप्रमुक्तोऽबन्धको ज्ञायकः केवलम्।।१६७।।

इह खलु रागद्वेषमोहसम्पर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कान्तोपलसम्पर्कज इव कालाय–ससूचीं, कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति।

तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कान्तोपलविवेकज इव कालायससूचीं, अकर्मकरणोत्सुकमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति।

ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बन्धकः। तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भा–सकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बन्धकः।।१६७।।

अब, रागद्वेषमोह ही आस्रव है, ऐसा नियम करते हैं:–

रागादियुत जो भाव जीवकृत उसहि को बन्धक कहा।
रागादि से प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र, बंधक नहिं रहा।।१६७।।

गाथार्थ : [जीवेन कृतः] जीवकृत [रागादियुतः] रागादियुक्त [भावः तु] भाव [बंधकः भणितः] बन्धक (नवीन कर्मों का बन्ध करनेवाला) कहा गया है। [रागादिवि–प्रमुक्तः] रागादि से रहित भाव [अबंधकः] बंधक नहीं है, [केवलम् ज्ञायकः] वह मात्र ज्ञायक ही है।

टीका : जैसे लोहचुम्बक-पाषाण के साथ संसर्ग से (लोहे की सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति करने के लिये) प्रेरित करता है; उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है, और जैसे लोहचुम्बकपाषाण के असंसर्ग से (सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति न करनेरूप) स्वभाव में ही स्थापित करता है; उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित नहीं होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव जिसे कर्म करने की उत्सुकता नहीं है (अर्थात् कर्म करने का जिसका स्वभाव नहीं है), ऐसे आत्मा को स्वभाव में ही स्थापित करता है; इसलिए रागादि के साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्व में प्रेरित करता है, अत: वह बन्धक है और रागादि के साथ अमिश्रित भाव, स्वभाव का प्रकाशक होने से मात्र ज्ञायक ही है, किञ्चित्मात्र भी बन्धक नहीं है।

भावार्थ : रागादि के साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही बन्ध का कर्ता है, और रागादि के साथ अमिश्रित ज्ञानमय भाव बन्ध का कर्ता नहीं है-यह नियम है।

गाथा - १६७ पर प्रवचन

अब, रागद्वेषमोह ही आस्रव है, ऐसा नियम करते हैं:- भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर सन्त संवत् ४९ में दो हजार वर्ष पहले भरतक्षेत्र में हुए। भगवान के पास गये थे। सीमन्धर भगवान अभी महाविदेह में विचरते हैं। पाँच सौ धनुष का देह है। वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह शास्त्र बनाया है। आहाहा! यह कहते हैं, **अब, रागद्वेषमोह ही आस्रव है...** यह मिथ्यात्व सम्बन्धी जो राग-द्वेष-मोह है, वही आस्रव है। आहाहा! १६७ (गाथा)।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादि-विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि।।१६७।।

रागादियुत जो भाव जीवकृत उसहि को बन्धक कहा।
रागादि से प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र, बंधक नहिं रहा।।१६७।।

आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! यहाँ तो (अभी अज्ञानी) कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय हो जाएगा, यह अज्ञानी की मान्यता है। राग करते-करते धर्म हो जाएगा। आहाहा! लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आ जाएगी। इसी प्रकार क्रियाकाण्ड, दया, दान, व्रत, भक्ति करते-करते समकित होगा, यह सब मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह मिथ्यादृष्टि के **रागद्वेषमोह ही आस्रव है...**

टीका : जैसे लोहचुम्बक-पाषाण... है न? लोहचुम्बक पत्थर। सन्त-दिगम्बर मुनि अमृतचन्द्राचार्यदेव दृष्टान्त देते हैं। लोहचुम्बक पत्थर है, उसके **साथ संसर्ग से...** उसके संसर्ग में। **(लोहे की सुई में) उत्पन्न हुआ भाव...** उसके संसर्ग से, उससे नहीं। क्या कहा? लोहचुम्बक पत्थर है (और) सुई है। सुई ने (लोहचुम्बक का) संसर्ग किया तो खिंचने का भाव उत्पन्न हुआ। वह लोहचुम्बक से नहीं। सुई ने लोहचुम्बक का संसर्ग किया तो अपनी पर्याय में लोहचुम्बक की ओर खिंच जाए, ऐसी पर्याय उत्पन्न हुई। आहाहा! है?

(लोहे की सुई में) उत्पन्न हुआ भाव... संसर्ग से उत्पन्न हुआ भाव। भाव तो स्वयं में हुआ है। वह लोहचुम्बक तो निमित्त है। लोहचुम्बक तो परवस्तु है, सुई परवस्तु है। सुई में इस ओर खिंचने की जो पर्याय हुई, वह लोहचुम्बक के संसर्ग से हुई, परन्तु स्वयं से हुई है। आहाहा! **लोहचुम्बक-पाषाण के साथ संसर्ग से (लोहे की सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति करने के लिये) प्रेरित करता है,...** वह सुई लोहचुम्बक की ओर जाती है।

उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित होने से... आहाहा! क्या कहते हैं? अज्ञानी, जैसे लोहचुम्बक के संसर्ग से सुई में गति करने की पर्याय हुई, उसी प्रकार अज्ञानी कर्म के उदय में राग-द्वेष और संसर्ग करता है, उसका परिचय करता है। आहाहा! राग मेरा, द्वेष मेरा। आहाहा!

मुमुक्षु : परपदार्थ से हुआ, ऐसा स्पष्ट कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई परपदार्थ ने किया, (ऐसा) कहा नहीं। स्वयं से हुआ है, ऐसा कहा है।

उसका—उस लोहचुम्बक का संसर्ग किया, इसलिए उत्पन्न हुआ। **उसी प्रकार राग–द्वेष–मोह के साथ मिश्रित होने से...** देखो! अज्ञानी अपना स्वभाव चैतन्य आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु को भूलकर, अज्ञानी उन पुण्य-पाप का राग और द्वेष का संसर्ग करता है, परिचय करता है.. आहाहा! उसके साथ जुड़ान करता है। **मिश्रित होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव..** राग-द्वेष के परिणाम का परिचय करने से, वे मेरे हैं, (ऐसा) संसर्ग (करने से) आत्मा में अज्ञानमय भाव हुआ। जैसे सुई में लोहचुम्बक के पत्थर का संसर्ग करने से उसमें खिंचने की पर्याय स्वयं से स्वयं में हुई है। इसी प्रकार राग-द्वेष और मोह, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हों, परन्तु है राग, उनका परिचय किया - संसर्ग किया। आहाहा! है?

राग–द्वेष–मोह के साथ मिश्रित होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव.. अपने में राग की एकताबुद्धि से, यह पुण्यपरिणाम मेरे हैं और मुझे लाभदायक हैं... आहाहा! ऐसे अज्ञानभाव से **अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है,..** आहाहा! वह अज्ञानमय भाव ही विकार करने के लिए प्रेरित करता है। विकार कर्म मेरा है, यह अज्ञानभाव प्रेरित करता है। अज्ञानभाव राग का कर्ता होता है। दया, दान परिणाम मेरा कर्म है और मैं कर्ता हूँ, यह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? आहाहा!

आत्मा को कर्म करने के लिये.. कर्म अर्थात् विकार परिणाम करने में। विकार परिणाम के कर्ता होने में, विकार के परिणाम के साथ परिचय किया तो विकार कर्म मेरा है, ऐसे कर्ता होता है। कर्म करने के लिए प्रेरित होता है। राग मेरा है-ऐसे प्रेरित होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात।

लोहचुम्बक का संसर्ग करने से सुई में स्वयं में गति करने की शक्ति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को भूलकर पुण्य और पाप का राग है, उसका संसर्ग करने से, उसकी कर्ताबुद्धि होने से राग मेरा कार्य है, ऐसी प्रेरित बुद्धि होती है। आहाहा! ऐसा मार्ग। बनियों को व्यापार-धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन धन्धा और पाप। उसमें ऐसा सत्य सुनने मिलता नहीं। बाहर का सुनने मिलता है - करो यात्रा, करो भक्ति, करो व्रत और करो उपवास, कल्याण हो जाएगा। इस प्रकार अज्ञानी को

राग की क्रिया के परिचय से अज्ञानभाव उत्पन्न हुआ, वह अज्ञानभाव राग का कर्ता होता है। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! अनन्त काल (गया)।

जिनेश्वरदेव का मार्ग दिगम्बर सन्त कहते हैं। नग्न मुनि! कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव जगत के लिए (प्रसिद्ध करते) हैं। प्रभु! तुझमें राग और पुण्य का कर्तापना क्यों हुआ? तू तो ज्ञाता है और राग-द्वेष परिणाम में कर्ताबुद्धि क्यों हुई? कि राग और द्वेष का परिचय करने से, संसर्ग करने से... आहाहा! राग की कर्ताबुद्धि तुझमें हुई। आहाहा! पहली बात समझना कठिन। सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, बापू!

आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है,.. क्या कहा? लोहचुम्बक के संसर्ग से सुई में गति करने की शक्ति हुई; इसी प्रकार भगवान आत्मा तो ज्ञातादृष्टा है परन्तु राग और द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम के संसर्ग से, वे मेरे हैं—ऐसा परिचय करने से अज्ञानभाव से राग मेरा है, ऐसा प्रेरित करते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! क्या हो? 'अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान, सेव्या नहीं गुरु सन्त को।' सच्ची चीज़ क्या है? मिली तो आदर नहीं किया। (माना नहीं), वह तो एकान्त है, एकान्त है, ऐसा करके टाल दिया। आहाहा!

परमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो कहा, वह सन्तों—दिगम्बर सन्त आढ़तिया होकर जगत को माल बताते हैं। आढ़तिया... आढ़तिया! दिगम्बर सन्त आढ़तिया हैं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा के भाव को बतलाने में और कहने में आढ़तिया हैं। आढ़तिया को हिन्दी में क्या कहते हैं? आहाहा! (दलाल कहते हैं)।

दृष्टान्त तो कैसा दिया है, देखो न! आहाहा! लोहचुम्बक के संसर्ग से सुई में अपनी पर्याय में लोहचुम्बक की ओर गति होने की शक्ति उत्पन्न हुई। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा आनन्दकन्द प्रभु, ज्ञातादृष्टा सहजानन्दमूर्ति प्रभु में जो पुण्य-पाप के विकार उत्पन्न होते हैं, उनका परिचय करता है कि ये मेरे हैं... ये मेरे हैं... ये मेरे हैं। आहाहा! उनके परिचय में आता है, उनके संसर्ग में (आता है), उनकी संगति करता है। आहाहा! राग और पुण्यपरिणाम की संगति करता है, पुण्यपरिणाम के कर्ता होने की शक्ति अज्ञान में उत्पन्न हुई। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! यह अज्ञानी की बात की।

और जैसे लोहचुम्बकपाषाण के असंसर्ग से.. सुई ने लोहचुम्बक का संसर्ग ही नहीं किया, नजदीक ही नहीं गयी। आहाहा! सुई लोहचुम्बक के पत्थर के पास गयी ही नहीं, संसर्ग किया ही नहीं। आहाहा! है? **असंसर्ग से (सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति न करनेरूप) स्वभाव में ही स्थापित करता है..** सुई अपने स्वभाव में रहती है। सुई ने लोहचुम्बक का संसर्ग नहीं किया तो गति करके लोहचुम्बक के पास नहीं जाती, अपने स्वभाव में रहती है। आहाहा! यह दृष्टान्त (दिया)।

उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह.. भगवान आत्मा तो ज्ञातादृष्टा है। उसमें तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता, अन्दर ईश्वरता (भरी है), ऐसी अनन्त शक्तियों का सागर प्रभु-आत्मा तो है। यहाँ तो आत्मा को प्रभु कहते हैं। आहाहा! वह आत्मा अपनी ओर का संसर्ग छोड़कर राग का संसर्ग करता है तो उसे राग का कर्ताभाव होता है। परन्तु अपने स्वभाव के परिचयवाला धर्मी... आहाहा! **राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित नहीं होने से..** राग मेरा है और मुझे लाभदायक है, ऐसी दृष्टि धर्मी को नहीं है। आहाहा!

राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित नहीं होने से.. देखा? मैं राग हूँ और मैं द्वेष हूँ, ऐसे मिश्रित नहीं होने से ज्ञानी को **(आत्मा में) उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव..** आहाहा! धर्मी जीव तो ऐसा जानता है कि मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ। मैं राग के परिचय में आया ही नहीं। राग पर चीज़ है, उसका परिचय क्या? आहाहा! मेरी चीज़ के परिचय में आनेवाला ज्ञानी राग का परिचय करता नहीं। आहाहा! है?

उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित नहीं होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव.. यह रागादि होते हैं, परन्तु उनकी ओर का लक्ष्य नहीं, उनका परिचय नहीं, उन्हें अपना मानना, ऐसा संसर्ग नहीं। आहाहा! ऐसे ज्ञानी अर्थात् धर्मी चौथे गुणस्थान में समकिती (प्रवर्तता है)। श्रावक तो पंचम गुणस्थान, वह तो और आगे की दशा है। वह तो अलौकिक बातें हैं! अब सब मान बैठे हैं कि हम श्रावक हैं। मानकर बैठे, वस्तु नहीं, बापू! वस्तु अलग है। आहाहा!

राग, द्वेष और मिथ्यात्व के साथ मिश्रित न होने से, अपनापना नहीं मानता होने से...

आहाहा! राग और लोभ की इच्छा आदि हुई, उसमें अपनापना नहीं मानने से **उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव..** यह तो ज्ञानमय (भाव है)। मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ। सम्यक्त्वी ऐसा जानता है कि मैं तो ज्ञानमय भाव हूँ। यह रागमय भाव मैं नहीं हूँ। आहाहा! गजब (काम)! कमजोरी से, चारित्रमोह के उदय से राग आता है, परन्तु उसका संसर्ग नहीं, स्वामीपना नहीं, उस पर दृष्टि नहीं। उस पर दृष्टि नहीं होने से आत्मा में राग का कर्तापना उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? बहुत सरस बात कही!

सुई लोहचुम्बक का संसर्ग करे तो सुई में गति करने की पर्याय उत्पन्न होती है। इसी प्रकार अज्ञानी राग और पुण्यपरिणाम का संसर्ग करे तो पुण्यपरिणाम का कर्ता अज्ञानभाव से उत्पन्न होता है। आहाहा! और सुई लोहचुम्बक के संसर्ग में नहीं आती और अपने भिन्न स्वभाव में रहती है। इसी प्रकार धर्मी जीव उसे कहते हैं, ज्ञानी—धर्मी चौथे गुणस्थान में (उसे कहते हैं) कि राग और द्वेष के परिणाम होते हैं, उन पर दृष्टि नहीं है, उनका संसर्ग नहीं है, उनका परिचय नहीं है, भगवान का संसर्ग है, अपने स्वभाव का परिचय है, तो अपने स्वभाव में ज्ञानमय रहता है। आहाहा! ऐसी बात है। दिगम्बर सन्तों की बातें बहुत सूक्ष्म हैं। ऐसी बात कहीं अन्यत्र (है नहीं)। श्वेताम्बर और स्थानकवासी में ऐसी बात कहीं नहीं है।

मुमुक्षु : यह दुकान ही दूसरे प्रकार की है। यह माल कहीं नहीं मिलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : आह! दिगम्बर सन्त तो केवलज्ञानी के पथानुगामी हैं। केवलज्ञानी का पेट (हृदय) खोलकर रखा है। हृदय खोलकर (कहते हैं कि) यह मार्ग है, भाई! दुनिया माने, न माने (वह जाने)। समाज की तुलना रहे या न रहे, इसकी सन्तों को दरकार नहीं है। नागा बादशाह से आघा। नग्न मुनि अन्तर में आनन्दकन्द में झूलनेवाले, राग आता है उसके भी जाननेवाले हैं, उसके कर्ता नहीं हैं। मुनि को महाव्रत के परिणाम भी आते हैं, परन्तु मुनि उसे कहते हैं कि उनके कर्ता नहीं और अपने ज्ञातादृष्टा आनन्द में रहते हैं। आहाहा! उन्हें राग का संसर्ग नहीं है, इस कारण राग के कर्ता नहीं होते। आहाहा!

लोहचुम्बक का दृष्टान्त अमृतचन्द्राचार्यदेव ने दिया है। धर्मी को तो ज्ञानमय भाव है। आहाहा! मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ। राग का भाव हुआ, उस पर दृष्टि नहीं, तो

उसका परिचय नहीं, तो उसका संसर्ग नहीं, तो उसका कार्य करने का—वह कार्य मेरा, यह करने का भाव नहीं हुआ। आहाहा! राग का संसर्ग नहीं तो अपने ज्ञातास्वभाव में ज्ञानमय होने से, राग का कार्य मेरा नहीं परन्तु मैं राग का जाननेवाला हूँ - ऐसा भाव उत्पन्न होता है। आहाहा! है ? थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई! भाव तो जो हो, वह आता है। हिन्दी में भी भाव तो होवे वह आवे न! आहाहा!

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है। वह इन्द्रिय के संसर्ग के कारण जो रागादि उत्पन्न होते हैं, उस राग का कर्ता अज्ञानी होता है। आहाहा! उस अनीन्द्रिय का परिचय नहीं और इन्द्रिय का परिचय और इन्द्रिय के विषयों का परिचय और इन्द्रिय के विषयों में प्रेम-राग (करके) राग का परिचय (करता है)। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग हैं। राग का परिचय ज्ञानी को नहीं है। होता है तो उसका परिचय नहीं कि यह मेरा है और यह मेरा कर्तव्य है, यह भी नहीं। इस कारण ज्ञानी को राग का अकर्तापना होता है और ज्ञानमय, ज्ञानमय ज्ञान के कर्ता होते हैं। गजब आया! आहाहा!

ऐसी बात कहाँ है! आहाहा! वीतराग का हृदय है। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव विराजते हैं, वहाँ से तो यह बात आयी है। प्रभु विराजते हैं। प्रभु का पाँच सौ धनुष का देह है। प्रभु का करोड़ पूर्व का आयुष्य है। सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, हों! आहाहा! वहाँ पहले संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे, वहाँ से आकर यह बनाया है और टीकाकार भी ऐसे निकले... आहाहा! कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव को जो भाव कहना है, वही भाव अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं।

प्रभु! तू राग का कर्ता किस प्रकार हुआ ? तू तो ज्ञानस्वरूप है न प्रभु! यह दया, दान, राग का कर्ता क्यों हुआ ? कि तेरे ज्ञान का संसर्ग अर्थात् परिचय, अनुभव छोड़कर उस राग का परिचय और राग के कर्तापने की बुद्धि तुझे हुई और तेरी दृष्टि राग पर रही, इस कारण राग का कर्तापना तुझमें उत्पन्न हुआ। आहाहा! जो शुभ-अशुभराग हुए, उन पर तेरी दृष्टि रही। संसर्ग का अर्थ यह है। इस कारण तुझमें उन पुण्य-पाप के भाव के कर्ता का अज्ञानमय भाव उत्पन्न हुआ। आहाहा! कहो, चेतनजी! यह कहाँ तुम्हारे श्वेताम्बर कहीं था ? यह दृष्टान्त तो देखो! आहाहा!

भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु ज्ञान, श्रद्धा और आनन्द के स्वभाव से भरपूर प्रभु का जिसने परिचय नहीं किया। श्रुत, परिचित वहाँ से आया, लो! ऐई! भाई! श्रुत परिचित आया न? आहाहा! उस राग का जिसने परिचय किया, चाहे तो शुभराग हो, तो उसके परिचय से तुझमें वह राग मेरा कर्तव्य है, ऐसी कर्ताबुद्धि और कर्मबुद्धि तुझमें उत्पन्न हुई। आहाहा! परन्तु वह राग, पुण्य-पाप वह मेरी चीज़ ही नहीं। मैं तो ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य हूँ। जिसकी दृष्टि में ज्ञातापने के स्वभाव पर दृष्टि है, उसका राग के साथ परिचय नहीं है। परिचय नहीं तो कर्तापना नहीं और कर्तापना नहीं तो वह उसका कार्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। दुनिया से अलग प्रकार लगे। व्यवहार का लोप करते हैं और एकान्त है, ऐसा कहे। कहो, प्रभु कहो! यह तो प्रभु के घर की बात है। आहाहा!

यहाँ परमात्मा कहते हैं, वह बात आचार्य दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं। आहाहा! लोगों को ख्याल आवे कि अकेली सुई लोहचुम्बक के पास न जाए तो संसर्ग बिना खिंचने की ताकत उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य-पाप के परिणाम के परिचय में न जाए... आहाहा! और अपने ज्ञातादृष्टा के परिचय में आवे तो राग के कर्तापने की बुद्धि, अज्ञानपना ज्ञानी को नहीं होता। आहाहा! ऐसा है। थोड़ी बात में भी बात बहुत बड़ी, भाई!

कुन्दकुन्दाचार्यदेव, उसमें आया है न! 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम्।' तीसरे नम्बर में कुन्दकुन्दाचार्यदेव आये! आये हैं न? 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो' गौतम के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्यदेव आये। अलौकिक कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे! भगवान के पास गये थे। आहाहा! वहाँ यह धर्म वर्तता है। यह धर्म कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यहाँ कहा। आहाहा!

(उत्पन्न हुआ) **ज्ञानमय भाव जिसे कर्म करने की उत्सुकता नहीं है..** क्या कहा? पुण्य और पाप के भाव होने पर भी उन पर दृष्टि नहीं होने से, उनका परिचय अर्थात् मेरे हैं, ऐसा नहीं करने से अपने ज्ञानमय भाव में रहने से उनकी कर्ताबुद्धि का भाव नहीं होता। ज्ञातापने के भाव में रहते हैं। धर्मी जीव तो ज्ञातादृष्टापना, जानने-देखने में रहता है। आहाहा! ऐसी बात!

अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्व में प्रेरित करता है.. आहाहा! **इसलिए रागादि के साथ मिश्रित (मिला हुआ) अज्ञानमय भाव..** मिश्रित का अर्थ यह। राग मेरा है, राग से लाभ होगा, ऐसा अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्व में प्रेरित करता है। राग मेरा कार्य है, यह अज्ञानमय भाव से प्रेरित होकर होता है। आहाहा! और जिसकी दृष्टि में, पुण्य परिणाम पर दृष्टि पड़ी है तो उसे अज्ञानमय भाव से यह कर्म मेरा है, ऐसी प्रेरणा होती है। ज्ञानी को भी पुण्य-पाप परिणाम होते हैं परन्तु उसके प्रति दृष्टि नहीं है, उसके प्रति परिचय नहीं है, उसका संसर्ग नहीं है। जैसे भिन्न चीज़ है, वैसे अपने में ज्ञान में रहकर जो पुण्य-पाप का कार्य मेरा है ऐसी बुद्धि नहीं होती। आहाहा! तब होता क्या है ?

और रागादि के साथ अमिश्रित भाव स्वभाव का प्रकाशक (प्रगट करनेवाला) होने से.. देखो, राग के साथ अमिश्रित (अर्थात्) राग मेरा है, ऐसा मिश्रितपना छूट गया। मैं तो ज्ञानानन्द सहजानन्द्र प्रभु हूँ। ऐसे राग से अमिश्रित-राग से मिश्रित नहीं, मिला हुआ नहीं। आहाहा! गजब गाथा! राग—पुण्य, दया, दान, व्रत, काम, क्रोधादि भावों के साथ ज्ञानी को अमिश्रित भाव है। मैं भिन्न हूँ। उन सहित मैं हूँ, ऐसा है नहीं। आहाहा!

भाव स्वभाव का प्रकाशक होने से.. (वह) तो स्वभाव का प्रकाशक है। धर्मी को जानना-देखना भाव प्रगट हुआ तो वह राग का कर्ता नहीं होता। आहा! राग मेरा कार्य, ऐसा नहीं होता। **प्रकाशक होने से मात्र ज्ञायक ही है,..** आहाहा! वह समकिती धर्मी पहली श्रेणीवाला मात्र ज्ञायक ही है। अपना और पर का जाननेवाला ही रहता है। पर का परिचय करके पर का कार्य मेरा, यह ज्ञानी नहीं मानता। **किञ्चित्मात्र भी बन्धक नहीं है।** मिथ्यात्व सम्बन्धी। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी समकिती को जरा भी बन्धन नहीं है। अबन्ध है। अस्थिरता जो चारित्रदोष की है, उसकी यहाँ गिनती नहीं है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी जो बन्ध था, वह बन्ध उसे नहीं होता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा–१६८

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसम्भवं दर्शयति –

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि।।१६८।।

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्तैः।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदय–मुपैति।।१६८।।

यथा खलु पक्वं फलं वृन्तात्सकृद्विश्लिष्टं सत् न पुनर्वृन्तसम्बन्धमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन् न पुनर्जीवभावमुपैति।

एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः सम्भवति।।१६८।।

अब, रागादि के साथ अमिश्रित भाव की उत्पत्ति बतलाते हैंः–

फल पक्व खिरता, वृन्त सह संबंध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जीव में उदय पाता नहीं।।१६८।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [पक्वे फले] पके हुए फल के [पतिते] गिरने पर [पुनः] फिर से [फलं] वह फल [वृन्तैः] उस डण्ठल के साथ [न बध्यते] नहीं जुड़ता, उसी प्रकार [जीवस्य] जीव के [कर्मभावे] कर्मभाव [पतिते] खिर जाने पर वह [पुनः] फिर से [उदयम् न उपैति] उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् वह कर्मभाव जीव के साथ पुनः नहीं जुड़ता)।

टीका : जैसे पका हुआ फल एक बार डण्ठल से गिर जाने पर फिर वह उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता; इसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभाव से एक बार अलग होने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।

भावार्थ : यदि ज्ञान एकबार (अप्रतिपाती भाव से) रागादिक से भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादि के साथ मिश्रित नहीं होता। इस प्रकार उत्पन्न हुआ, रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सदा रहता है। फिर जीव अस्थिरतारूप से रागादि से युक्त होता है, वह निश्चयदृष्टि से युक्तता है ही नहीं और उसके जो अल्प बन्ध होता है, वह भी निश्चयदृष्टि से बन्ध है ही नहीं; क्योंकि अबद्धस्पृष्टरूप से परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है। तथा उसे मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं हैं; मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्तों के समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं।

प्रवचन नं. २४७, गाथा १६८, श्लोक-११४ दिनाङ्क ०७-०६-१९७९,
गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल १२

समयसार, गाथा १६८, आस्रव अधिकार। **अब, रागादि के साथ अमिश्रित भाव की उत्पत्ति बतलाते हैं:-** अर्थात् कि राग के साथ ज्ञान का जो एकत्व था, वह अनादि संसार था। उस राग से भिन्न पड़कर ज्ञानसवभाव... भले राग रहा, परन्तु राग से भिन्न पड़कर ज्ञानस्वभाव प्रगट हुआ, उसका स्वरूप बताते हैं।

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि।।१६८।।

फल पक्व खिरता, वृन्त सह संबंध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जीव में उदय पाता नहीं।।१६८।।

टीका : जैसे पका हुआ फल.. आम आदि जो पका फल होता है न! **एक बार डण्ठल से गिर जाने पर..** उसके डण्ठल से एक बार गिर गया, **फिर वह उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता,..** आम, अमरूद (टूटने पर) फिर से उसके डण्ठल के साथ जुड़ता नहीं है। **इसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाला भाव..** जीव में पुण्य और पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा उत्पन्न हुआ भाव। अकेले राग-द्वेष नहीं; राग-द्वेष हैं, वे मेरे हैं - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, **उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभाव से एक बार अलग होने**

पर.. अन्तर में स्वभाव की दृष्टि करके, चैतन्य भगवान परिपूर्ण परमात्मा का आश्रय करके एक बार यह सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तो मिथ्यात्व का जो भाव था, वह नष्ट हो गया। राग की एकताबुद्धि का जो मिथ्यात्वभाव था; वह स्वभाव की एकताबुद्धि के भाव द्वारा नाश हुआ।

जीवभाव को.. ऐसा है, हों! द्रव्य नहीं, जीव भाव। कर्म से उदय से होता जीवभाव। ये पुण्य और पाप मेरे हैं, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव। आहाहा! **एक बार अलग होने पर..** सम्यग्दर्शन से आत्मा को जाना, माना, अनुभव किया, इससे उसका मिथ्यात्व तो एक बार पृथक् पड़ा। आहाहा! **फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता।** फिर से, वह मिथ्यात्वभाव, जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : मिथ्यात्वभाव, जीवभाव नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्वभाव, जीवभाव है। जड़ के भाव का यहाँ काम नहीं है। जड़कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से अपने स्वभाव को भूलकर, जो राग-द्वेष मेरे—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसे यहाँ जीव का भाव कहने में आता है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : एक बार ऐसा कहे कि जीव का भाव नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह किस अपेक्षा से? वह जीव का स्वरूप नहीं, इस अपेक्षा से (कहा है)। यहाँ तो उसकी पर्याय में स्वभाव के भान बिना पर्याय में जो पुण्य और पाप, शुभ-अशुभभाव, वे मेरे हैं—(ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है)। वे शुभ-अशुभभाव भले हों, पश्चात् शुभ-अशुभभाव तो रहेंगे, परन्तु वे शुभ-अशुभभाव मेरे हैं—ऐसा जो जीव का मिथ्यात्वभाव। आहाहा!

एक बार अलग होने पर.. आहाहा! यहाँ तो अप्रतिहत की ही बात है। जिसने एकबार चैतन्य भगवान अनन्त गुण गम्भीर तत्त्व दृष्टि में लिया और स्वभाव के साथ एकता की, उसे जीवभाव जो मिथ्यात्वभाव था, वह छूट गया, वह फिर से उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा! ऐसा है। आचार्यों की बात ही अप्रतिहत की बात है।

भगवान पूर्णानन्दस्वरूप पूर्ण चिद्घन ऐसी द्रव्य वस्तु है। वस्तु है, उसका जहाँ भान होकर प्रतीति होकर अनुभव हुआ, तब उस जीव में मिथ्यात्वभाव था, वह नाश हो गया। फिर से अब वह मिथ्यात्वभाव होगा नहीं। यहाँ तो यह कहते हैं। यहाँ अब

गिरनेवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मूल पहली बात मिथ्यात्व और समकित, इन दो की बात ही पहली समझना कठिन है। बाद में तो राग-द्वेष होवें और टलें और अस्थिरता हो, वह सब साधारण बात है। वह कोई चीज़ (नहीं है)। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द और पूर्ण अतीन्द्रिय गुण का गम्भीर भगवान है, उसके साथ पुण्य और पाप, वे मेरे हैं—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह जीव का भाव है, ऐसा कहा न? जड़कर्म है, वह तो जड़ अजीव में गया परन्तु यह भाव जो खिरा है कि पुण्य-पाप मेरे, वह भाव जीव का भाव है। मिथ्यात्व (भाव है)। आहाहा! समझ में आया?

यह मिथ्यात्वभाव **एक बार अलग होने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा! यह मिथ्यात्वभाव जो... शरीर, वाणी, मन तो एक ओर भिन्न रहे परन्तु पुण्य और पाप का विकल्प जो विकृतभाव है, उन पर जब तक दृष्टि है, तब तक उसे जीव का मिथ्यात्वभाव कहने में आता है। कठिन काम है। चाहे तो पंच महाव्रतधारी त्यागी हुआ हो, हजारों रानियाँ छोड़कर मुनि हुआ हो परन्तु अन्तर के ये शुभपरिणाम जो हैं, वे मेरे हैं—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव... आहाहा! वह जीव का भाव है, वह जीव में हुआ भाव है।

एक ओर ऐसा कहना कि मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय सब पुद्‌गल के परिणाम हैं। यह पहले आ गया है न? ५०-५५ (गाथा)। मिथ्यात्व और सब पुद्‌गल के परिणाम कहे। किस अपेक्षा से? जीव का स्वभाव नहीं, इस अपेक्षा से वह बात की है। परन्तु होते हैं, तब जीव में होते हैं। आहाहा! वे कर्म के कारण नहीं तथा द्रव्यस्वभाव के कारण नहीं। पर्याय में राग है, वह मेरा है, ऐसी बुद्धि। आहाहा! पर्यायबुद्धि कहना चाहते हैं।

त्रिकाली चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का परमात्मस्वरूप विराजता है, उसका उसे आदर नहीं है। उसका उसे स्वीकार नहीं है और जो कृत्रिम क्षणिक विकृत दशा-दया, दान, काम, क्रोधभाव (होते हैं), वे मेरे, यह जीव का मिथ्यात्वभाव है। यह मिथ्यात्वभाव एक बार जीवस्वभाव की एकत्वबुद्धि से, राग की एकत्वबुद्धि ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह स्वभाव की एकत्वबुद्धि से नाश हुआ, वह फिर से उत्पन्न होनेवाला नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप।

इस प्रकार ज्ञानमय.. आत्मामय, ऐसा। पश्चात् जो अस्थिरता के राग-द्वेष हैं, उनकी यहाँ गिनती नहीं गिनी है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव

का अनुभव होकर प्रतीति होने से... आहाहा! वह **ज्ञानमय भाव..** तब ज्ञानमय भाव हुआ। वह (पहले) मिथ्यात्वभाव था। पर्यायबुद्धि में राग को अपना मानना, वह मिथ्यात्वभाव था। वह मिथ्यात्वभाव, स्वभावभाव के भान द्वारा छोड़ा तो यह ज्ञानमय भाव रहा। आत्मस्वभाव भाव हुआ। आहाहा! उसे यह **रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव..** है? आहाहा! ज्ञानमय अर्थात् चैतन्यस्वरूप है, भगवान के ज्ञानमय अर्थात् स्वभावमय - आत्मामय भाव। वह राग के साथ नहीं मिला हुआ भाव है। समझ में आया?

मुमुक्षु : राग के साथ नहीं मिला हुआ ऐसा भाव अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग कहा न, राग की एकताबुद्धि से जो मिथ्यात्वभाव था, वह स्वभाव की एकताबुद्धि से मिटा, वह ज्ञानभाव अब राग की एकताबुद्धि में नहीं आयेगा। समझ में आया? गाथायें तो एक-एक गाथा समयसार की, प्रवचनसार की अलौकिक बातें हैं! आहा!

अरे! यह भगवान अन्दर भगवानस्वरूप आत्मा विराजता है। तीनों काल निरावरण अखण्ड आनन्दकन्द प्रभु है। उसे छोटे में छोटा राग का विकल्प भगवान की भक्ति आदि का हो या कोई भी (शुभ विकल्प हो), उस राग को आत्मा के स्वभाव के साथ एकत्वबुद्धि की, वह मिथ्यात्वभाव जीव का भाव कहा। वह जीव का भाव एक बार ज्ञानस्वभाव के भाव की एकाग्रता से नाश हुआ, वह फिर से मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा!

इस प्रकार ज्ञानमय.. आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, शान्तस्वरूप, वीतराग -स्वरूप, ऐसे अनन्त गुण की परिणतिरूप भाव। आहाहा! अनन्त गुण की परिणतिरूप ज्ञानमय ऐसा (भाव), **रागादि के साथ न मिला हुआ..** विकल्प उठे, उसके साथ एकत्वरूप नहीं हुआ। आहाहा! राग होगा अवश्य, परन्तु उसमें एकत्वबुद्धि नहीं रहेगी। उसे भिन्नरूप से जानने में रहेगा। आहाहा! ऐसी बात।

रागादि के साथ न मिला हुआ भाव उत्पन्न होता है। अर्थात् मिथ्यात्वभाव टलने पर अकेला स्वभावभाव उत्पन्न होता है। आहाहा! मिथ्यात्वभाव टलने पर ज्ञानमय भाव, स्वभावमय भाव, वीतरागमूर्ति प्रभु का भाव उत्पन्न होता है। वह ज्ञानमय भाव कहने में आता है। आहाहा! ऐसी धर्म की (बातें हैं)। मिथ्यात्व (मिटकर) समकित को (प्रगट करने की) यह रीति है, कहते हैं। यह तो शुरुआत की बात है।

भावार्थ : यदि ज्ञान.. अर्थात् आत्मस्वभाव, भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण जिनस्वरूप ही है, उस जिनस्वरूप को। **ज्ञान..** अर्थात् जिनस्वरूप। **एकबार (अप्रतिपाती भाव से) रागादिक से भिन्न परिणमित हो..** आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द, ज्ञान, शान्त और वीतरागमूर्ति वह एक बार राग से भिन्न पड़कर... आहाहा! **भिन्न परिणमित हो..** राग परिणमे भले, परन्तु राग से आत्मा का स्वभाव भिन्न पड़कर भिन्न परिणमित हो **तो वह पुनः कभी भी रागादि के साथ मिश्रित नहीं होता।** आहाहा!

आत्मा के आनन्द और ज्ञानस्वभाव की एकता द्वारा मिथ्यात्वभाव—राग का एकताभाव मिट गया, वह ज्ञानभाव के साथ अब फिर से एकरूप नहीं होता। एक ऐसी ही बात यहाँ ली है। फिर से मिथ्यात्व पायेगा, अमुक होगा (यह बात नहीं ली)। आहाहा! यह तो धीर का काम है। यह कहीं बाहर की चीज़ नहीं है। आहाहा!

अन्दर में पूर्णानन्द प्रभु (विराजता है)। उसे भूलकर राग के छोटे में छोटे कण के साथ एकत्वबुद्धि (होवे, वह मिथ्यात्व है)। बन्ध में यह लिया है न? भाई! उपयोग में राग को एक करता है, ऐसा वहाँ लिया है। बन्ध अधिकार। अकेला राग रहता है, ऐसा नहीं लिया। बन्ध अधिकार जो इनने लिया है। उपयोग में राग को एक करता है, वह बन्ध का कारण है, ऐसा वहाँ लिया है। मिथ्यात्व! आहाहा! उपयोग-जानना-देखना, ऐसा जो उपयोग, उसमें उस राग को उपयोग में एकरूप करता है, वही मिथ्यात्व और वही बन्ध का कारण है। ऐसा वहाँ लिया है। बन्ध अधिकार में आगे आयेगा। आहाहा!

यहाँ भी यह लिया। धीर होकर एक बार चैतन्य प्रभु पूर्ण स्वभाव की वीतरागी शक्तियों से भरपूर, वीतरागी शक्तियों से भरपूर! उसमें एक बार राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता करे तो वह ज्ञानमय भाव रहेगा। अर्थात् फिर वीतरागभाव रहेगा। भले चौथे गुणस्थान (में है) परन्तु वह सब वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान कोई ऐसा कहते हैं न, समकित तो चौथे में सराग होता है, फिर सातवें में वीतराग होता है। यहाँ तो चौथे से ज्ञानमय कहो या समकितमय कहो या वीतरागमय भाव कहो, (वह शुरु हो जाता है)। ऐसा आया है न भाई इसमें? अब वे कहते हैं कि सातवें में (वीतराग समकित) होता है। अरे.. प्रभु! सुन, भाई! अरे..! भाई! अभी पहली शुरुआत ही हुई नहीं, वहाँ सातवाँ कहाँ से आयेगा? आहाहा!

पहली जड़ ही काटी नहीं। राग का सूक्ष्म विकल्प और उससे भी प्रभु तो अनन्त गुण का सूक्ष्म... आहाहा! ऐसी सूक्ष्मता के साथ सूक्ष्म छोटे में छोटा राग, पर्यायबुद्धि से जिसने एकत्व किया है, उसके जीवभाव को मिथ्यात्वभाव कहते हैं। आहाहा! फिर चाहे तो भले दिगम्बर साधु हो, हजारों रानियाँ छोड़कर पंच महाव्रत पालन करता हो, परन्तु जिसे वह सूक्ष्म स्वरूप त्रिकाल (स्वभाव), उसके साथ यह राग स्थूल है। ऐसे सूक्ष्म, परन्तु अत्यन्त स्थूल पुण्य-पाप अधिकार में कहा है न? अत्यन्त स्थूल शुभराग भी अत्यन्त स्थूल। प्रभु तो अन्दर अनन्त सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव का सागर प्रभु है। आहाहा! उसके साथ यह राग अत्यन्त स्थूल है। आहाहा! पत्थर जैसा अन्दर स्थूल, उसके (साथ) एकत्व किया है। जिसने उस आत्मा के स्वभाव में इस राग का एकत्व माना है, इससे मुझे लाभ होगा, ऐसे माननेवाले ने राग को एकत्वरूप ही माना है। आहाहा! दया, दान, व्रत, परिणाम से...

मुमुक्षु : अज्ञान में कहाँ खबर पड़े कि यह राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे खबर ही कहाँ है? इसके लिये तो यह बात चलती है। आहाहा! व्रत, तप को राग है, कौन कहता है? परन्तु उसे खबर ही कहाँ है? वृत्ति उठती है, वह विकार है और वह स्थूल है, प्रभु तो अन्दर अति सूक्ष्म स्वरूपी भगवान है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्मस्वभावी परमात्मा, उसे स्थूल स्वभावी भावी विकार-राग से जो भिन्न किया... आहाहा! है?

रागादिक से भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादि के साथ मिश्रित नहीं होता। आहाहा! **इस प्रकार.. उत्पन्न हुआ,..** क्या? **रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव..** उत्पन्न हुआ क्या? वह तो गया। राग की एकताबुद्धि का मिथ्यात्वभाव तो गया। अब उत्पन्न क्या हुआ? पहले का व्यय हो गया। उत्पन्न क्या हुआ? आहाहा! **इस प्रकार उत्पन्न हुआ,..** आहाहा! **रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सदा रहता है।** जैसे भगवान सदा काल रहता है, वैसे राग की एकता टूटकर ज्ञान और आनन्दमय भाव हुआ, वीतरागी परिणति हुई, (वह) सदाकाल रहती है। परिणति, हों! वस्तु तो वस्तु है, वह नहीं। आहाहा! ऐसा समझना कठिन पड़ता है। इसलिए फिर करो धर्म, पुण्य और पाप के परिणाम। पुण्य के (परिणाम) करे, (इसलिए) उसे हो गया धर्म! आहाहा!

इस प्रकार उत्पन्न हुआ, ज्ञानमय भाव सदा रहता है। आहाहा! पश्चात् वह

राग के साथ एकत्व होता ही नहीं। भगवान की धारा, ज्ञान और आनन्द की धारा, राग की धारा से सदा पृथक् ही रहती है। आहाहा! यह आ गया न अपने! दो धारा—कर्मधारा और ज्ञानधारा। **फिर जीव अस्थिरतारूप से रागादि से युक्त होता है..** राग और विकल्प से एकता जिसने तोड़ी है और स्वभाव की एकता प्रगट हुई है, उसे अब मिथ्यात्वभाव तो उत्पन्न नहीं होता। तब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ऐसा चैतन्य का भाव उत्पन्न होता है। वह उत्पन्न हुआ, वह उसे सदा काल (रहता है)। वह भाव सदा काल रहता है। राग से भिन्न पड़ी हुई श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की दशा, वह राग से सदा काल भिन्न रहती है। आहाहा!

फिर जीव अस्थिरतारूप से.. जरा राग आता है। ज्ञानी को जरा अशुभराग और शुभराग आता है। वह अस्थिरता का है, एकत्वबुद्धि का वह नहीं है। आहाहा! **जीव अस्थिरतारूप से..** रागादि कहा न? जरा द्वेष आवे। आहाहा! ज्ञानी को द्वेष का अंश आवे, राग आवे, विषय-वासना आवे, अशुभराग हो और शुभराग भक्ति आदि का भी ज्ञानी को आवे। **अस्थिरतारूप से रागादि से युक्त होता है, वह निश्चयदृष्टि से युक्तता है ही नहीं..** आहाहा! स्वभाव के साथ जुड़ान हुआ, इसलिए अब राग के साथ जुड़ान है ही नहीं। भले अस्थिरतारूप से राग आया, द्वेष आया। आहाहा! है?

निश्चयदृष्टि में उस राग में जुड़ान नहीं है, एकत्वबुद्धि नहीं है न, इसलिए जुड़ान नहीं है। आहाहा! अब ऐसा। सूक्ष्म बातें कब समझना? बाहर में किसी दिन मुश्किल से घण्टे भर निवृत्त हो तो (सुनने को मिले) सामायिक करो और या भक्ति करो और पूजा करो, व्रत करो, अपवास करो... हो गया, जाओ जिन्दगी (लुट जाती है)!

मुमुक्षु : लुट जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लुट गया। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि उस राग के विकल्प में रुका, उसके साथ एकत्वबुद्धि हुई; इसलिए वह मिथ्यात्वभाव हुआ और उस मिथ्यात्वभाव को जिसने एक बार जीव के स्वभाव-सन्मुख होकर; राग से विमुख होकर, स्वभाव के सन्मुख होकर एक बार राग की एकता तोड़ी, उसे अब राग के साथ एकत्व-जुड़ान नहीं होता। राग के साथ एकत्व का जुड़ान नहीं होता। आहाहा! **निश्चयदृष्टि से युक्तता है ही नहीं..** आहाहा! वह तो व्यवहारनय से अस्थिरता है, वह जानता है व्यवहारनय।

और उसके जो अल्प बन्ध होता है.. समकिती को-ज्ञानी को राग की एकता टूटी, उस धर्मी को जो अस्थिरता का राग होता है, उसमें जुड़ान-एकत्वपना नहीं होता, इसलिए इस निश्चयदृष्टि में उसे जुड़ान है नहीं और इस दृष्टि में उसे अल्पबन्ध होता है, वह निश्चयदृष्टि में बन्ध है ही नहीं। आहाहा! अल्प रागादि हों, वह तीव्र विषयवासना (हो) अरे... ! रौद्रध्यान हो। आहाहा!

मुमुक्षु : अनन्त संसार का कारण नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अल्पस्थिति, रस होता है, वह निश्चयदृष्टि में उसका बन्ध गिनने में नहीं आया। आहाहा! उसके साथ जुड़ान नहीं है, इसलिए उसका बन्ध हो, उसे भी यहाँ गिनने में नहीं आया। समझ में आया ? ऐसी बात।

क्योंकि अबद्धस्पृष्टरूप से परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है। यह क्या कहा ? जो चौदहवीं-पन्द्रहवीं गाथा में आया न! अबद्धस्पृष्ट! राग के भाव के बन्ध से भिन्न। राग जिसे स्पर्श नहीं हुआ, ऐसा जो अबद्धस्वरूप भगवान है, उसकी राग की एकता टूटकर अबद्धस्वरूप का ज्ञान और भान हुआ, उस अबद्धस्पृष्टपने का परिणमन तो सदा निरन्तर रहा ही करता है। राग की एकताबुद्धि टूटी, उस रागरहित अबद्धस्पृष्ट भाव सदा निरन्तर रहा ही करता है। आहाहा! वीतरागता है। आहाहा! वे इनकार करते हैं कि चौथे गुणस्थान में वीतरागता नहीं होती। अरे.. प्रभु!

वीतरागस्वरूप ही आत्मा है। उसकी श्रद्धा, ज्ञान और परिणमन हुआ, वह वीतरागरूप परिणमन होगा या रागरूप होगा ? भले समकित हो और चौथा गुणस्थान हो। आहाहा! वह वीतरागभावरूप भले जघन्य भाव है, उत्कृष्ट तो यथाख्यात हो, तब (होगा), परन्तु जघन्य भाव है, वह वीतरागभावरूप परिणमता है और राग के साथ जुड़ान-एकत्व नहीं है। इसलिए राग के साथ जुड़ान नहीं है और उस राग से कुछ कर्म से थोड़ा रसबन्ध पड़े, वह निश्चयदृष्टि में उसे गिनने में नहीं आता। आहाहा!

अबद्धस्पृष्टरूप से परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है। सम्यग्दृष्टि को राग के विकल्प की एकता टूटने पर वीतरागभाव की अबद्धस्पृष्ट पर्याय निरन्तर परिणमा ही करती है। आहाहा! एक बार गया और हुआ, यह हुआ तो हुआ ही वह, ऐसा कहते हैं। यह हुआ, वह उसी प्रकार से रहा करता है। आहाहा! राग से सम्बन्ध और बन्धरहित

स्वभाव प्रगट हुआ, वह परिणमन निरन्तर रहा करता है। आहाहा! चाहे तो वह युद्ध में खड़ा हो, समकिती! दोनों भाई लड़े न! बाहुबलिजी और भरत... परन्तु अन्दर में तो अबद्धस्पृष्ट परिणमन निरन्तर रहता ही है। अरे! यह बात कैसे जँचे? उसके ऊपर-ऊपर राग होता है, उसका परिणमन यहाँ अबद्धस्पृष्ट में गिनने में नहीं आया। आहाहा! ऐसा है।

तथा उसे मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता.. जो ४१ प्रकृति मिथ्यात्व में बँधती थी। आहाहा! १४८ में से ४१ अधिक अन्दर थी। वह समकित होने पर ४१ प्रकृतियों का बन्ध होता ही नहीं। आहाहा! **मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं हैं;..** यह क्या कहा? दूसरी प्रकृति थोड़ी बँधती है परन्तु सामान्य संसार जो मिथ्यात्व, (उसका कारण नहीं है)। कहेंगे, इसके बाद तुरन्त कहेंगे। **संसार का कारण मिथ्यात्व ही है;...** (कलश ११४ भावार्थ) इस ओर कहेंगे। इस ओर आगे कहेंगे। **संसार का कारण मिथ्यात्व ही है;...** पहली लाईन। वास्तव में मिथ्यात्व ही आस्रव है। वास्तव में मिथ्यात्व ही संसार है। वास्तव में मिथ्यात्व ही पाप है। आहाहा!

उसे मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं हैं;.. सामान्य अर्थात् जो अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व था, अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व, वह नहीं। वह सामान्य संसार कहलाता है। अल्पस्थिति-रस पड़त है, उसकी यहाँ गिनती गिनने में नहीं आयी है। आहाहा! और वह भी समकिती को अशुभभाव आवे भले, परन्तु फिर भी आयुष्य जब बँधेगी, तब शुभभाव आयेगा, उसमें बँधेगी। आहाहा! चौथे गुणस्थान में चाहे वह लड़ाई में खड़ा हो, विषय-वासना में आ गया हो परन्तु उस समय उसे भविष्य की आयुष्य नहीं बँधेगी। आहाहा! क्योंकि आत्मा अबद्धस्पृष्ट चैतन्यमूर्ति भगवान दृष्टि और ज्ञान में निरन्तर परिणमा है, उसे भविष्य की आयुष्य बँधे, वह शुभभाव आयेगा तब बँधेगी। इतना इस दृष्टि और निर्मलता का जोर है। आहाहा!

अन्य प्रकृतियाँ.. अर्थात् मिथ्यात्व के साथ की ४१ बँधे, इसके अतिरिक्त। **अन्य प्रकृतियाँ सामान्य..** अनन्त। **संसार का कारण नहीं हैं;..** सामान्य अर्थात् मिथ्यात्व

का कारण नहीं है और मिथ्यात्व नहीं है, इसलिए सामान्य अनन्त संसार का कारण नहीं है। **मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्तों..** आहाहा! जिस वृक्ष का मूल काट डाला, पश्चात् उसके **हरे पत्तों के समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र..** सूखनेवाली हैं। मूल काट दिया, उसके पत्ते सूख जानेवाले हैं। अल्प काल में अब वे पत्ते बढ़नेवाले नहीं हैं। आहाहा! मूल पहली चीज़ है। उस पर जोर नहीं और जोर सब यह व्रत, तप और त्याग, यह और वह... पंच कल्याणक करो बड़े...!

मुमुक्षु : पंच कल्याणक तो आपके हाथ से ही होते हैं, इसलिए बेचारे करे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंच कल्याणक (के समय) शुभभाव होत है, दूसरा क्या? वह क्रिया तो जड़ की पर से होती है और शुभभाव हो, वह भी अपनी चीज़ नहीं है। आहाहा!

यह तो लेख आया, पृष्ठ आया है न! पृष्ठ! सौराष्ट्र में ऐसा कि श्रीमद् के कारण दिगम्बर धर्म शुरु हुआ, पश्चात् कानजीस्वामी के कारण दिगम्बर धर्म के मन्दिर हुए। प्रकाशित (लेख) आया था। कहीं का वह अखबार है। कल दोपहर में था। नहीं न? नियमसार है। यह पृष्ठ है, यह, इसमें आया है। यहाँ कई दिन का पड़ा था। सौराष्ट्र में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय - लेखक : श्री सत्य। ऐसा करके सब लिखा है। श्रीमद् के कारण हुआ, पश्चात् कानजीस्वामी के कारण सौराष्ट्र में जिनमन्दिर हुए, दिगम्बर धर्म (विस्तार को प्राप्त हुआ)। आहाहा! यह तो बाहर की बातें हैं। बाहर में हो और न हो, उसके साथ कुछ (लेना-देना नहीं है)। आहाहा!

मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्तों के समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं। जिस वृक्ष का मूल काटा, उसके पत्ते थोड़े दिन में सूख जाएँगे। इसी प्रकार जिसने मिथ्यात्व की गाँठ गला डाली और आत्मा का सम्यग्दर्शन किया, उसे दूसरी प्रकृतियाँ जो थोड़ी हैं, वे थोड़े काल में सूख जानेवाली हैं। आहाहा! ऐसा कठिन।

अब, समकिती को अशुभभाव हो तो भी कहते हैं कि उसका वह जाननेवाला है और उसे बन्ध पड़ता है, वह निश्चय से नहीं। मिथ्यादृष्टि को भक्ति आदि पुण्य का शुभभाव हो तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि को अनन्त संसार का कारण है। राग के साथ एकता और स्वभाव के साथ एकता, ऐसी यह वस्तु है। आहाहा! यह जगत को जँचना कठिन है। आहाहा!

कलश-११४

अब, 'ज्ञानमय भाव ही भावास्रव का अभाव है' इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शालिनी)

भावो रागद्वेष-मोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञान-निर्वृत्त एव।

रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ।।११४।।

श्लोकार्थ : [जीवस्य] जीव का [यः] जो [रागद्वेषमोहैः विना] रागद्वेषमोहरहित, [ज्ञाननिवृत्तः एव भावः] ज्ञान से ही रचित भाव [स्यात्] है और [सर्वान् द्रव्य-कर्मास्रव-ओघान् रुन्धन्] जो सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को (-अर्थात् थोकबन्ध द्रव्यकर्म के प्रवाह को) रोकनेवाला है, [एषः सर्व-भावास्रवाणाम् अभावः] वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रव के अभावस्वरूप है।

भावार्थ : मिथ्यात्वरहित भाव ज्ञानमय है। वह ज्ञानमय भाव रागद्वेषमोहरहित है और द्रव्यकर्म के प्रवाह को रोकनेवाला है; इसलिए वह भाव ही भावास्रव के अभावस्वरूप है।

संसार का कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिए मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि का अभाव होने पर, सर्व भावास्रवों का अभाव हो जाता है, यह यहाँ कहा गया है।।११४।।

श्लोक - ११४ पर प्रवचन

अब, ज्ञानमय भाव ही.. मिथ्यात्व जाने के बाद जो आत्मज्ञान हुआ और आत्मा की श्रद्धा, स्थिरता आदि (हुए), वे सब आत्मभाव हुए। अनन्त गुणों की पर्याय प्रगट हुई, वह सब आत्मामय हुई। समकित कहा न! 'सर्व गुणांश, वह समकित।' जितने गुण हैं, उनकी व्यक्त अंश सब पर्यायें प्रगट हुई, वे सब ज्ञानमय भाव हैं, आनन्दमय हैं, स्वभावमय हैं। आहाहा! **ही भावास्रव का अभाव है.. 'ज्ञानमय भाव ही भावास्रव का अभाव है'..** मिथ्यात्वरूपी भावास्रव। आहाहा! उसका अभाव है। **इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-** लो! ११४ (कलश)

भावो रागद्वेष-मोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञान-निर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम्।।११४।।

जीव का जो रागद्वेषमोह.. बिना। यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी, ये लेना। **रागद्वेषमोह रहित, ज्ञान से ही रचित भाव..** यहाँ ऐसा कहते हैं कि बिल्कुल रागरहित का, वह नहीं। राग की एकता की बुद्धिवाला राग-द्वेष, उस रहित भाव। राग-द्वेष हो। यह बात तो हो गयी है कि अस्थिरता में गयी। आहाहा! एकता में जो संसार था, वह अस्थिरता में संसार अल्प रह गया। राग की एकता के मिथ्यात्वभाव में जो अनन्त संसार था, वह अस्थिरता में अल्प संसार रह गया। वह अल्प संसार भी सूख जानेवाला है, स्वभाव की दृष्टि के जोर से (सूख जानेवाला है)। आहाहा! ऐसा है।

रागद्वेषमोह रहित,.. अर्थात् समझ में आया? मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेषरहित, ऐसा। समस्त राग-द्वेषरहित, ऐसा नहीं। **ज्ञान से ही रचित..** इस आत्मा के स्वभाव से ही बना हुआ। आहाहा! सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान शान्ति की स्थिरता, स्वरूपाचरण, आनन्द, वीतरागता इत्यादि। इस **ज्ञान से ही रचित भाव है और 'सर्वान् द्रव्य-कर्मास्रव-ओघान् रुन्धन्' जो सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को (-अर्थात् थोकबन्ध द्रव्यकर्म के प्रवाह को) रोकनेवाला है,..** अर्थात् वह आता नहीं, ऐसा। रोकनेवाला का अर्थ यह है। आते हुए को रोका है, ऐसा नहीं।

जो सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को.. जो मिथ्यात्व में और अनन्तानुबन्धी के भाव में जो आस्रव आता था, वह समूह यहाँ समकित दर्शन, ज्ञान और शान्ति की स्थिरता के भाव में वह द्रव्य आस्रव रुँध जाता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से जो आस्रव आता था, वह आस्रव रुँध जाता है। आहाहा! अब लोगों को ऐसा सूक्ष्म पड़ता है, फिर उन्हें जोड़ दिया व्रत, तप, उपवास और शरीर से ब्रह्मचर्य पाले तो हो गया धर्म! अब ऐसा तो अनन्त बार किया है, बापू!

अन्दर भगवान वीतरागमूर्ति (आत्मा) पड़ा है, उसकी एकता बिना और राग की एकता टूटे बिना उसे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। आहाहा! यह तो भव के अन्त की बात है। आहाहा!

सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को.. **ओघ** है न ? **ओघ, ओघान्** द्रव्यकर्मास्रव। **ओघ, ओघ** बड़ा। **ओघान्** उसे रोकनेवाला है। आहाहा ! क्या कहते हैं ? आत्मा चैतन्य भगवान जहाँ राग की एकता टूटकर स्वभाव की एकता का परिणमन किया, तब जो पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के राग के काल में जो द्रव्यास्रव का थोक आता था, वह अब यहाँ नहीं आता। रोकने का अर्थ (यह कि) वह नहीं आता। समझ में आया ? आता था और रोका है, ऐसा नहीं। उसे वह आता ही नहीं। उसे आने का पहले मिथ्यात्व के समय में था, वह अभी आता नहीं, ऐसा। आने का था, उसे रोका है—ऐसा नहीं। ऐसी बातें हैं। कथन में क्या आवे ? समझाना है, उसमें (ऐसा ही आता है)। पहले आता था और अभी नहीं आता, इस अपेक्षा से उसे रोका है, (ऐसा कहा)।

सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव को.. आहाहा ! **(–अर्थात् थोकबन्ध द्रव्यकर्म के प्रवाह को)..** राग की एकताबुद्धि में जत्थाबन्ध कर्म आते थे। आहाहा ! उसे **रोकनेवाला है,..** कौन ? ज्ञानमय भाव, आत्मामय भाव। राग की एकताबुद्धिरहित स्वभाव की एकता का भाव, कर्म के ओघ को–थोक को रोकनेवाला है। आहाहा !

'एषः सर्व–भावास्रवाणाम् अभावः' और **वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रव के अभावस्वरूप है।** दोनों बातें ली हैं। जड़कर्म का जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का थोक आता था, वह नहीं आता और जो मिथ्यात्व तथा राग–द्वेष का आस्रव–भाव (आस्रव) था, भाव, वह नहीं होता। द्रव्यास्रव जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के समय जो द्रव्यास्रव आता था, वह यहाँ सम्यग्दर्शन की परिणति में वह नहीं आता। और उसे भावास्रव जो मिथ्यात्व और राग का था, वह भावास्रव यहाँ नहीं है। द्रव्यास्रव रुक गये और भावास्रव है नहीं। अरे.. अरे.. ! भावास्रव अर्थात् यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जो भाव, वह भावास्रव है। है न सामने ? पुस्तक है या नहीं ? आहाहा !

(वह ज्ञानमय) **भाव सर्व भावास्रव के अभावस्वरूप है। 'एषः सर्व–भावास्रवाणाम् अभावः'** आहाहा ! उसे द्रव्यास्रव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का (आस्रव) आता था, वह तो नहीं। सम्यग्दर्शन होने पर, राग की एकता टूटने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जो भावास्रव था, वह भी इसे है नहीं। द्रव्यास्रव आता नहीं, भावास्रव है नहीं। आहाहा ! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का भावास्रव।

भावार्थ : मिथ्यात्व रहित भाव.. ज्ञातादृष्टा स्वभाव का भाव। दया, दान, व्रतादि के विकल्प की एकतारहित भाव। आहाहा! वह **ज्ञानमय है।** वह आत्मामय है, वह स्वभावमय है, वह शुद्ध है। आहाहा! मिथ्यात्वरहित भाव, वह ज्ञानमय है, समकितमय है, शान्तिमय है, वीतरागपर्यायमय है। वह चौथे (गुणस्थान में)!

मुमुक्षु : अनन्तानुबन्धी का जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अनन्तानुबन्धी का गया, उतनी स्वरूपाचरण वीतरागता आयी। वे बहुत इनकार करते हैं न! (समकिती को) स्वरूपाचरण नहीं है। वह विद्यासागर इनकार करते हैं, नहीं? विद्यासागर नाम न? लिखा है। वे इनकार करते हैं। अरे! ...परन्तु प्रभु! आहाहा!

आत्मा जिनस्वरूप त्रिकाल है। उसका जहाँ जिनस्वरूप का (भान हुआ)... राग से एकताबुद्धि में संसार था, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का (भाव था), वह भाव अब समकित के भाव के समय वह भाव नहीं है। वह भाव नहीं तो ज्ञानमय भाव में, श्रद्धामय आया, शान्तिमय आया, स्थिरता आयी, आंशिक वीतरागता आयी, आंशिक आनन्द आया। आहाहा! जितनी शक्तियाँ हैं, उनकी आंशिक व्यक्त दशा (हुई), वह ज्ञानमय भाव कहा, राग नहीं। समझ में आता है न? आहाहा! भाषा तो सादी है, ऐसा समझ में आये ऐसा है।

आहाहा! सन्तों ने जगत को निहाल कर दिया है! आहाहा! न्यालकरण! उन लोगों में आता है। स्वामी नारायण थे न? स्वामी नारायण जहाँ-तहाँ शराब को छुड़ावे। न्यालकरण... न्यालकरण कहते उन्हें। स्वामी नारायण काठी में जाए (वहाँ), माँस छुड़ावे, शराब छुड़ावे, ऐसा छुड़ावे इसलिए (लोग कहे) न्यालकरण.. न्यालकरण.. न्यालकरण। अब उसमें क्या? वह तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की एकता का राग छुड़ाया, वह न्यालकरण है। आहाहा! और न्याल जो आत्मा का न्याल है, वह दशा प्रगट हुई। आहाहा!

मिथ्यात्व रहित भाव ज्ञानमय है। वह ज्ञानमय भाव रागद्वेषमोह रहित है.. देखा? चौथे गुणस्थान में या पाँचवें में भी जो निर्मल परिणति हुई, वह तो राग-द्वेष-मोह रहित है। मोह अर्थात् मिथ्यात्व। राग-द्वेष अनन्तानुबन्धी आदि। इनसे रहित परिणमन है। आहाहा! आस्रव अधिकार! आगे १७० (गाथा में) लेंगे। जघन्यरूप से है, इसलिए

यथाख्यात नहीं है, तब तक उसे आस्रव आता है, परन्तु यह नहीं। राग की एकताबुद्धि का मिथ्यात्वभाव का जो आस्रव, उसमें दर्शनमोह आता है। आहाहा! और चारित्र में तो अनन्तानुबन्धी का भाव आता है। आहाहा!

वह ज्ञानमय भाव रागद्वेषमोह रहित है.. आहा! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के। मिथ्यात्व—मोह और अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेषरहित है। आहाहा! अब इसे स्वरूपाचरण नहीं कहना, तब क्या कहना इसे? यहाँ तो बिल्कुल राग की एकतारहित भाव और बन्ध अधिकार में भी यह कहेंगे, उपयोग में राग को एकत्व करता है, वह बन्ध का कारण है, ऐसा वहाँ कहा है। राग बन्ध का कारण, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! उपयोग की शुरुआत की है, बन्ध अधिकार में, पाँच गाथा। उपयोग में राग को एकत्व करे, वह मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। आहाहा! बन्ध... बन्ध अधिकार! चारों ओर से देखो तो... आहाहा! वस्तु की खबर नहीं होती।

सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर पूर्णानन्द का सागर! अनन्त गुण गम्भीर महासमुद्र पड़ा है। है अरूपी परन्तु वह स्वभाव का समुद्र है। आहाहा! उसका जहाँ श्रद्धा-ज्ञान होता है, तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के जो आस्रव आते थे, वे रुक गये और भावास्रव जो मिथ्यात्व के थे, वे भी नहीं हैं। द्रव्यास्रव नहीं और भावास्रव भी नहीं। आहाहा! **और द्रव्यकर्म के प्रवाह को रोकनेवाला है; इसलिए वह भाव ही भावास्रव के अभावस्वरूप है।** दोनों लिये। आहाहा! समझ में आया? झाँझरीजी! ऐसी (अलौकिक) बात है!

आहाहा! कहते हैं कि जहाँ मिथ्यात्व की गाँठ गल गयी, वहाँ अन्दर ज्ञानमय भाव रहता है यहाँ तो। आहाहा! आत्मामय! ज्ञानमय अर्थात् आत्मामय। आत्मा के जो शुद्धस्वभाव अनन्त हैं, उनकी पर्याय में अनन्त भाव का ज्ञानमय, आनन्दमय, शान्तिमय, श्रद्धामय, उन सब पर्यायों की व्यक्तता अकेला परिणमन ही रहता है। आहाहा! उसे द्रव्यकर्म जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का आता था, वह तो रुक गया परन्तु मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के जो भावास्रव हैं, उस ज्ञानमय भाव में ये नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

इसलिए वह भाव ही भावास्रव के अभावस्वरूप है। यहाँ कहा, देखो! **संसार का कारण मिथ्यात्व ही है;..** मिथ्यात्व 'ही' कहा है। एकान्त नहीं कर डाला? मिथ्यात्व

ही संसार का कारण है ? फिर दूसरा कोई कारण नहीं ? भाई ! दूसरे हैं, वे अल्प हैं, उनकी गिनती नहीं है। अनन्त-अनन्त नरक और निगोद के भव, बापू! यह चौरासी लाख के अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. भव, उनका कारण एक मिथ्यात्व ही है। आहाहा ! समकित होने के बाद एक, दो-चार भव हों, वे कहीं गिनती में नहीं है, वे तो ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा !

संसार का कारण मिथ्यात्व ही है;.. और अन्यत्र भी आता है। मिथ्यात्व ही आस्रव है। वास्तव में तो वही आस्रव है। आहाहा ! अब यह टीका करनेवाले ऐसा कहते हैं, उन्हें एकान्त कोई सिद्ध कर दे। लो ! मिथ्यात्व ही संसार (यह) एकान्त है। सुन न ! और समकित है, वही मोक्ष का कारण और मोक्ष है। जैसे मिथ्यात्व, संसार है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, वह मोक्ष है। आहाहा ! क्योंकि मोक्ष-मुक्तस्वरूप की प्रतीति अनुभव में आयी, वह मुक्तस्वरूप ही है। आहाहा ! प्रवचनसार में कहा न ! पाँच गाथा ! पाँच गाथा मोक्षमार्ग की है, तो भी मोक्षतत्त्व कहा है। आहाहा ! क्या शैली ! निज स्वभाव को प्राप्त करने के लिए शैली ! आहाहा ! दूसरे लाख क्रियाकाण्ड करे, दया, व्रत, तप, भक्ति और पंच कल्याणक करे तथा बड़ा गजरथ निकाले। इस सम्यग्दर्शन की श्रद्धा के भान बिना वह सब संसार खाते है। आहाहा !

संसार का कारण मिथ्यात्व ही है;.. ही, ही है, ऐसा कहा है। तब फिर अव्रत और प्रमाद, कषाय नहीं ? यही कारण है ? वे अनन्त संसार का कारण नहीं। **इसलिए मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि का अभाव होने पर, सर्व भावास्रवों का अभाव हो जाता है, यह यहाँ कहा गया है।** इस प्रकार के सर्व भावास्रव जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के, (उन) सर्व भावों का इसे अभाव हुआ। सर्व भाव का - आस्रव का अभाव हुआ, ऐसा यहाँ कहा है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा–१६९

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति –

पुढवीपिंड–समाणा पुव्व–णिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्म–सरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स।।१६९।।

पृथ्वी–पिण्ड–समानाः पूर्व–निबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्म–शरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः।।१६९।।

ये खलु पूर्वमज्ञानेन बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यान्तरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिण्डसमानाः।

ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्मणशरीरेणैव सम्बद्धा, न तु जीवेन। अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः।।१६९।।

अब, यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है–

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके।
वे पृथ्विपिंड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं।।१६९।।

गाथार्थ : [तस्य ज्ञानिनः] उस ज्ञानी के [पूर्वनिबद्धाः तु] पूर्वबद्ध [सर्वे अपि] समस्त [प्रत्ययाः] प्रत्यय [पृथ्वीपिण्डसमानाः] मिट्टी के ढेले के समान हैं [तु] और [ते] वे [कर्मशरीरेण] (मात्र) कार्मण शरीर के साथ [बद्धाः] बँधे हुए हैं।

टीका : जो पहले अज्ञान से बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले हैं, इसलिए ज्ञानी के लिये मिट्टी के ढेले के समान हैं (–जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं, वैसे ही

यह प्रत्यय हैं); वे तो समस्त ही, स्वभाव से ही मात्र कार्मण शरीर के साथ बँधे हुए हैं– सम्बन्धयुक्त हैं, जीव के साथ नहीं; इसलिए ज्ञानी के स्वभाव से ही द्रव्यास्रव का अभाव सिद्ध है।

भावार्थ : ज्ञानी के जो पहले अज्ञानदशा में बँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे तो मिट्टी के ढेले की भाँति पुद्गलमय हैं; इसलिए वे स्वभाव से ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीव से भिन्न हैं। उनका बन्ध अथवा सम्बन्ध पुद्गलमय कार्मणशरीर के साथ ही है, चिन्मय जीव के साथ नहीं। इसलिए ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव तो स्वभाव से ही है। (और ज्ञानी के भावास्रव का अभाव होने से, द्रव्यास्रव नवीन कर्मों के आस्रवण के कारण नहीं होते, इसलिए इस दृष्टि से भी ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है।)

प्रवचन नं. २४८, गाथा-१६९ से १७१, श्लोक-११५ दिनाङ्क ०८-०६-१९७९,
शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल १३

समयसार १६९ गाथा। **अब, यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है–** भावास्रव का अभाव है, ऐसा तो पहले कहा। वह भावास्रव अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी राग-द्वेष, उसका आस्रव उसे नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि को; उस विपरीतदृष्टि का जो आस्रव था, वह आस्रव नहीं है, भावास्रव (नहीं है)। अब यहाँ द्रव्यास्रव कहते हैं।

पुढवीपिंड-समाणा पुव्व-णिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्म-सरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स।।१६९।।

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके।
वे पृथ्विपिंड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं।।१६९।।

टीका : जो पहले.. सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान, पाने से पहले **अज्ञान से बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग..** प्रमाद नहीं डाला। कषाय में प्रमाद समाहित किया। पाँच है न! मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय (और योग)। कषाय में प्रमाद ले लिया। **मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं,..** विशिष्टता

क्या है कि जो कर्म पड़े हैं, उन्हें द्रव्यास्त्रव कहते हैं। जड़.. जड़..! उदय को तो कहते हैं परन्तु यह जड़ आठ कर्म पड़े हैं। पहले अज्ञान से बाँधे हुए, उन्हें यहाँ द्रव्यास्त्रव (कहते हैं)। जड़ परमाणु पड़े हैं, उन्हें द्रव्यास्त्रव कहते हैं। पड़े हैं उन्हें।

मुमुक्षु : उदय आवे, तब खिरे और नये हों।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग वस्तु, वह बाद में। यह तो पूर्व के पड़े हैं, द्रव्यास्त्रव वह जड़ है। वह तो जड़ है परन्तु उसे द्रव्यास्त्रव कहा, ऐसा कहना है। अज्ञान से पहले बँधे हुए जो जड़कर्म, आत्मा के प्रदेश में परद्रव्यरूप से पड़े हैं, उन्हें यहाँ द्रव्यास्त्रव कहा। द्रव्यास्त्रव हैं, हैं उन्हें।

वे **द्रव्यास्त्रवभूत प्रत्यय..** कहा न? वे जड़ आस्त्रव हैं। **वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय..** वे तो पूर्व में बँधे हुए परमाणु अन्य द्रव्यस्वरूप है। स्वद्रव्यस्वरूप नहीं तथा स्वद्रव्य में जो विपरीत विकार होता है, यह भी वह नहीं। वे तो जड़ परमाणु हैं। **अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन..** वे अन्य जड़ आठ कर्म अन्य द्रव्यस्वरूप आस्त्रव अचेतन **पुद्गलपरिणामवाले हैं..** वे पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा!

ज्ञानी के लिये मिट्टी के ढेले के समान हैं.. धर्मी को, जैसे मिट्टी का ढेला भिन्न है; वैसे वे जड़कर्म तो अज्ञानी को भी उसके आत्मा से भिन्न हैं। यहाँ तो धर्मी (जिसे) आत्मज्ञान हुआ, चैतन्य अखण्ड अभेदस्वरूप पूर्ण परमात्मस्वरूप का सम्यग्दर्शन में—पर्याय में भान हुआ। भान तो पर्याय में होता है न! तो किसका भान? अखण्ड परम पंचम भाव ज्ञायकभाव ध्रुवभाव अखण्ड भाव, एकरूप स्वभावभाव का जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, उसे ये जड़कर्म पड़े हैं, वे मिट्टी के ढेले समान हैं। अजीव हैं न, अजीव!

(–जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं, वैसे ही यह प्रत्यय हैं).. जड़ परमाणु मिट्टी है। जैसे यह मिट्टी बाहर की है, वैसे यह मिट्टी है। आहाहा! **वे तो समस्त ही, स्वभाव से ही मात्र कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं..** ऐसा पाठ है न यह तो! '**कम्मसरीरेण बद्धा**' कार्माणशरीर के साथ रजकणों का बन्ध है। आत्मा के साथ उन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **जीव के साथ नहीं;.. कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं–सम्बन्धयुक्त हैं,..** इतना तो पाठ है। पश्चात् आचार्य ने उसमें से निकाला कि **जीव के साथ नहीं;..**

जड़ आठ कर्म के परमाणु पड़े हैं, वे अजीव हैं। वे अजीवद्रव्यरूप से हैं, जीवद्रव्यरूप से नहीं।

इसलिए ज्ञानी के.. आहाहा! त्रिकाल ज्ञायकभाव भूतार्थभाव अखण्ड पूर्ण स्वभावभाव का जहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ, उसे **स्वभाव से ही द्रव्यास्त्रव का अभाव सिद्ध है।** वह जड़ है, वह तो जड़ में है, आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो स्वभाव से ही, अभावस्वभाव से ही सिद्ध है।

भावार्थ : ज्ञानी के जो पहले अज्ञानदशा में बँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्त्रवभूत प्रत्यय.. उन्हें प्रत्यय कहा। पड़े हैं उन्हें आस्त्रव कहा। **वे तो मिट्टी के ढेले की भाँति पुद्गलमय हैं..** अजीवमय पुद्गल है। **इसलिए वे स्वभाव से ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीव से भिन्न हैं।** आहाहा! आस्त्रव की व्याख्या चलती है।

आस्त्रव दो प्रकार के—द्रव्यास्त्रव और भावास्त्रव। भावास्त्रव मिथ्यात्व और राग-द्वेष। सम्यग्दर्शन होने पर भावास्त्रव का भी अभाव है। दूसरे अस्थिरता के भाव हैं, उनकी यहाँ गिनती नहीं है और द्रव्यास्त्रव तो जड़ है, इसलिए ज्ञानी को द्रव्यास्त्रव और भावास्त्रव दोनों नहीं हैं। आहाहा! यहाँ सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से (बात) है, हों! सर्वथा आस्त्रव है ही नहीं, (ऐसा नहीं है)। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी, इन सम्बन्धी के परिणाम उसे नहीं है, इसलिए भावास्त्रव नहीं है। जड़ आस्त्रव भी अजीव है। वे तो स्वभाव से ही पुद्गल हैं।

मिट्टी के ढेले की भाँति पुद्गलमय हैं, इसलिए वे स्वभाव से ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीव से भिन्न हैं। उनका बन्ध अथवा सम्बन्ध.. आहाहा! **पुद्गलमय..** 'बद्ध' शब्द पड़ा है न! '**कम्मसरीरेण बद्धा**'.. 'बद्धा' का अर्थ किया है बद्ध अथवा सम्बन्ध, ऐसा। उस कार्मणशरीर के साथ उन्हें बन्ध, सम्बन्ध है; आत्मा के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **चिन्मय जीव के साथ नहीं।** भगवान तो चिन्मय, ज्ञानमय है। आहाहा! अकेला ज्ञायकभाव, उसके साथ इन्हें कुछ सम्बन्ध है नहीं। चैतन्य ज्योति जलहल ज्योति ज्ञायकभाव के साथ इन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं है।

इसलिए ज्ञानी के द्रव्यास्त्रव का अभाव तो स्वभाव से ही है। (और ज्ञानी के भावास्त्रव का अभाव होने से, द्रव्यास्त्रव नवीन कर्मों के आस्त्रवण के कारण

नहीं होते..) दूसरा कारण रख दिया। एक तो द्रव्यास्रव जड़ हैं, इसलिए आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। दूसरा कि, धर्मी को **भावास्रव का अभाव होने से, द्रव्यास्रव नवीन कर्मों के आस्रवण के कारण नहीं होते...** ज्ञानी को पुराने कर्म नये आस्रव का कारण नहीं होता; इसलिए भी वह भिन्न है, ऐसा (कहना है)। आहाहा!

मुमुक्षु : राग-द्वेष-मोह नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, राग-द्वेष-मोह नहीं। इसलिए द्रव्यास्रव से निमित्त में होकर भावास्रव होना चाहिए, वह तो है नहीं; इसलिए वे द्रव्यास्रव जड़ हैं और उनसे भावास्रव नहीं होता, इसलिए भी वे पर हैं, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा! **इस दृष्टि से भी ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है।**

कलश-११५

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(उपजाति)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत एव भिन्न:।
ज्ञानी सदा ज्ञान-मयैक-भावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव।।११५।।

श्लोकार्थ : [भावास्रव-अभावम् प्रपन्न:] भावास्रवों के अभाव को प्राप्त और [द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत: एव भिन्न:] द्रव्यास्रवों से तो स्वभाव से ही भिन्न [अयं ज्ञानी] यह ज्ञानी [सदा ज्ञानमय-एक-भाव:] जो कि सदा एक ज्ञानमय भाववाला है- [निरास्रव:] निरास्रव ही है, [एक: ज्ञायक: एव] मात्र एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ : ज्ञानी के रागद्वेषमोहस्वरूप भावास्रव का अभाव हुआ है और वह द्रव्यास्रव से तो सदा ही स्वयमेव भिन्न ही है क्योंकि द्रव्यास्रव पुद्गलपरिणामस्वरूप है और ज्ञानी चैतन्यस्वरूप है। इस प्रकार ज्ञानी के भावास्रव तथा द्रव्यास्रव का अभाव होने से वह निरास्रव ही है।।११५।।

श्लोक - ११५ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- ११५ (कलश)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत एव भिन्न:।
ज्ञानी सदा ज्ञान-मयैक-भावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव।।११५।।

इसमें से बहुत निकाले कि समकिती को नहीं, वह तो वीतरागी समकिती को नहीं। सातवें गुणस्थान में। इस टीका में भी है न! पंचम गुणस्थान उपरान्त। 'मुख्य' शब्द वापस पड़ा है। गौणता है। आहाहा! मुख्यरूप से पंचम गुणस्थान के ऊपर की बात इसमें है परन्तु गौणरूप से समकिती को भी यहाँ लिया है। आहाहा! क्योंकि मिथ्यात्व, वही आस्रव और संसार है। वह जहाँ गया, इसलिए जो अल्प आस्रव है, वह फिर गिनती में नहीं है। इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं।

भावास्रवों के अभाव को प्राप्त.. दृष्टि की महिमा। ज्ञान और सम्यग्दर्शन त्रिकाली द्रव्य का भान, उसकी महिमा कहते हैं। **भावास्रवों के अभाव को प्राप्त..** धर्मी। **'द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत: एव भिन्न:' द्रव्यास्रवों से तो स्वभाव से ही भिन्न..** वे तो अजीव हैं। भावास्रव तो अभी इसके परिणाम में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के होते हैं। उनका अभाव है। मिथ्यादृष्टि के परिणाम में राग मैं हूँ, पुण्य मैं हूँ—ऐसा मिथ्यात्वभाव और उससे सम्बन्धी अनन्तानुबन्धी का राग-द्वेष होता है। वही वास्तव में तो संसार और आस्रव है। तब वास्तव में भगवान आत्मा पूर्ण है, उसका जहाँ अन्दर भान होने पर वह भावास्रव उसे नहीं होता। आहाहा!

द्रव्यास्रवों से तो स्वभाव से ही भिन्न.. है। वे तो इसके परिणाम में भी नहीं हैं। अज्ञानी के परिणाम में भी द्रव्य-जड़ है, वह तो है नहीं। अज्ञानी के परिणाम में तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का भाव था। वह परिणाम ज्ञानी को नहीं है। इसलिए भावास्रव का अभाव है। द्रव्यास्रव तो जड़ है। आहाहा!

सदा एक ज्ञानमय भाववाला है-निरास्रव ही है,.. 'ही' है, देखा? निरास्रव ही है। **'एक: ज्ञायक: एव'** आहाहा! **मात्र एक ज्ञायक ही है।** जाननेवाला-देखनेवाला ही आत्मा तो है। बस! वह ज्ञायक परिणमे, उसका अर्थ यह। ज्ञायक है—ऐसा जो जाना,

उसके परिणाम ज्ञाता-दृष्टा के हुए। त्रिकाली ज्ञायक है, जो प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं और ज्ञायक कहा न! छठवीं गाथा। वह ज्ञायक है, ऐसा तो परिणाम में भान होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान में उस परिणाम में ज्ञायक है, ऐसा ज्ञायक हुआ, उसे ज्ञायक के ही परिणाम रहते हैं। जाननेवाले-देखनेवाले के परिणाम रहते हैं। भावास्रव और द्रव्यास्रव दोनों नहीं हैं। आहाहा!

'एक: ज्ञायक: एव' ऐसा शब्द है, देखा? **मात्र एक ज्ञायक ही है।** ज्ञायक ही। ज्ञायक शब्द से त्रिकाली ज्ञायक दृष्टि में है, परन्तु परिणाम में जानने-देखने का भाव होता है, वह ज्ञायक ही है-जाननेवाला ही है। आहाहा! रागादि होते हैं, उनका वह स्वयं अपनी ज्ञानपर्याय में स्व-परप्रकाशक के अपने सामर्थ्य से जानता-देखता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म!

भावार्थ : रागद्वेषमोहस्वरूप भावास्रव का.. मिथ्यात्व सम्बन्धी। **ज्ञानी के अभाव हुआ है..** इसमें से निकाले कि ज्ञानी को कुछ है ही नहीं। आस्रव नहीं, दु:ख नहीं। दीपचन्दजी निकालते थे न! ज्ञानी को दु:ख नहीं होता, इसलिए आस्रव नहीं होता। आहाहा! यहाँ तो मिथ्यात्व सम्बन्धी के राग-द्वेष की बात है। आहाहा! यह तो कहेंगे, अभी ही कहेंगे। एकान्त समझे, ऐसा चलेगा? जैसा स्वरूप है, वैसा (समझना चाहिए)। आहाहा!

ज्ञायक का भान हुआ, उतने सम्बन्धी के उसके भावास्रव नहीं हैं। बाकी दूसरे भावास्रव हैं, वह ज्ञाता का ज्ञेय है। जाननेवाला है, ऐसा यहाँ अभी सिद्ध करना है। पश्चात् वापस सिद्ध करेंगे कि ज्ञानी को यथाख्यातचारित्र नहीं है, तब तक आस्रव है। आहाहा! आस्रव है, उतना दु:ख है। आस्रव स्वयं दु:ख है। आहाहा!

ज्ञानी चैतन्यस्वरूप है। आहाहा! **द्रव्यास्रव पुद्गलपरिणामस्वरूप है..** धर्मी चैतन्यस्वरूप है। आहाहा! **इस प्रकार ज्ञानी के भावास्रव तथा द्रव्यास्रव का अभाव होने से वह निरास्रव ही है।** यहाँ तो निरास्रव 'ही' है, (ऐसा कहा)। कथंचित् निरास्रव है और कथंचित् सास्रव है, ऐसा नहीं लिखा। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी निरास्रव ही है। आहाहा!

वह छह खण्ड के राज्य में हो, छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में हो, तथापि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का आस्रव नहीं है। इसलिए वह चैतन्यस्वरूपी भगवान इस अपेक्षा से निरास्रव है। बाकी दूसरे परिणाम हैं, वे आस्रव हैं, यह बाद में कहेंगे। यहाँ से निकल जाता है, वह परिणाम उसे है ही नहीं, ऐसा नहीं। आहाहा!

गाथा–१७०

कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत् –

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समए समए जम्हा तेण अबंधो त्ति णाणी दु।।१७०।।

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नन्ति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्।
समये समये यस्मात् तेनाबन्ध इति ज्ञानी तु।।१७०।।

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। यत्तु तस्यापि द्रव्य-प्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म बध्नन्ति, तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः।।१७०।।

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:–

चरविधास्रव समय समय जु, ज्ञानदर्शन गुणहि से।
बहु भेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहिं है।।१७०।।

गाथार्थ : [यस्मात्] क्योंकि [चतुर्विधाः] चार प्रकार के द्रव्यास्रव [ज्ञानदर्शन-गुणाभ्याम्] ज्ञानदर्शनगुणों के द्वारा [समये समये] समय समय पर [अनेकभेदं] अनेक प्रकार का कर्म [बध्नंति] बाँधते हैं [तेन] इसलिए [ज्ञानी तु] ज्ञानी तो [अबंधः इति] अबन्ध है।

टीका : पहले, ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण निरास्रव ही है, परन्तु जो उसे भी द्रव्यप्रत्यय प्रति समय अनेक प्रकार का पुद्गलकर्म बाँधते हैं, वहाँ ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है।

गाथा-१७० पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है? १७० (गाथा)

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समए समए जम्हा तेण अबंधो त्ति णाणी दु।।१७०।।

चरविधास्रव समय समय जु, ज्ञानदर्शन गुणहि से।
बहु भेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहिं है।।१७०।।

टीका : पहले, ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण.. यह, यह सिद्धान्त! अज्ञानी को मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष की भावना है। क्योंकि वस्तु शुद्ध चिदानन्द आत्मा अनुभव में आया नहीं, दृष्टि में आया नहीं; इसलिए अज्ञानी को तो मात्र मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के परिणाम, भाव होते हैं। ज्ञानी को तो आस्रवभाव की भावना का अभाव है। देखा? अभिप्राय।

अज्ञानी को तो अभिप्राय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष की भावना है क्योंकि वस्तु चिदानन्द अखण्ड आनन्द की श्रद्धा और ज्ञान हुए नहीं। इसलिए अज्ञानी को भावना मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष की भावना है। ज्ञानी को वह भावना नहीं है। इस प्रकार लिया है।

ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण.. देखा? उसका अभिप्राय नहीं है। आहाहा! समकिती धर्मी जीव को आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण। अभिप्राय में राग और मिथ्यात्व की भावना नहीं है। अभिप्राय तो सम्यग्दर्शन और शान्ति का अभिप्राय है। आहाहा! पूर्ण आनन्द का जो अभिप्राय है, उस आनन्द की भावनावाला है। वह आस्रव की भावनावाला नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना-उसका जो अभिप्राय, उसके अभाव के कारण **निरास्रव ही है,..** यह अपेक्षा लेना। अभिप्राय में उसकी भावना नहीं है, इसलिए निरास्रव है। ऐसा तो स्पष्ट किया है। अत्यन्त निरास्रव ही है, ऐसा नहीं है। अभिप्राय की बात है। आहाहा! और उसमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य वर्णन किया है। यह मिथ्यात्व और राग-द्वेष की भावना वहाँ कहाँ है? अरे! दया, दान के

परिणाम की भावना उसे नहीं कि यह होवे तो ठीक। आहाहा! दया, दान, व्रत (के) परिणाम आवें, परन्तु अभिप्राय में उन्हें रखनेयोग्य है और करनेयोग्य है, ऐसी भावना नहीं है। आहाहा! कितना स्पष्ट किया है।

परन्तु जो उसे भी द्रव्यप्रत्यय.. उसे भी जो द्रव्यास्रव **प्रति समय अनेक प्रकार का पुद्‌गलकर्म बाँधते हैं,..** जो पुराने कर्म हैं, वे उदय में आवें और नया कर्म बाँधते हैं। **वहाँ ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है।** कहते हैं कि वह तो पर का कारण है। यह ज्ञानगुण का परिणमन तो भिन्न है। ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण नहीं। आहाहा! ज्ञान और समकित का भाव, वह बन्ध का कारण नहीं है। उसे पूर्व का कर्म बँधा हुआ उदय में आकर बन्ध करता है, परन्तु वह ज्ञान और श्रद्धा का भाव वह नहीं है। वह अस्थिरता का भाव है, इसलिए ज्ञान का परिणमन वह बन्ध का कारण नहीं है परन्तु जो उदय आकर नये राग-द्वेष हुए और बँधते हैं, वह पर में जाता है। ज्ञेय में (जाता है)। आहाहा!

पुद्‌गलकर्म बाँधते हैं, वहाँ ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है। अर्थात्? हीन दशा है, हीन दशा है, इस कारण वहाँ राग-द्वेष होते हैं और (कर्म) बँधते हैं। ऐसा यह कहेंगे। यह अब कहते हैं, देखो!

गाथा–१७१

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बन्धहेतुरिति चेत् –

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाण–गुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।१७१।।

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते।
अन्यत्वं ज्ञान–गुणः तेन तु स बन्धको भणितः।।१७१।।

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यान्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यम्भाविराग–सद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात्।।१७१।।

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण कैसे हैं? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं:–

जो ज्ञानगुण की जघनता में, वर्तता गुण ज्ञान का।
फिर फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहि से बंधक कहा।।१७१।।

गाथार्थ : [यस्मात् तु] क्योंकि [ज्ञानगुणः] ज्ञानगुण, [जघन्यात् ज्ञानगुणात्] जघन्य ज्ञानगुण के कारण [पुनरपि] फिर से भी [अन्यत्वं] अन्यरूप से [परिणमते] परिणमन करता है, [तेन तु] इसलिए [सः] वह (ज्ञानगुण) [बंधकः] कर्मों का बन्धक [भणितः] कहा गया है।

टीका : जब तक ज्ञानगुण का जघन्य भाव है (–क्षायोपशमिक भाव है) तब तक वह (ज्ञानगुण) अन्तर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है, इसलिए पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है। वह (ज्ञानगुण का जघन्य भाव से परिणमन),

यथाख्यातचारित्र-अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी राग का सद्भाव होने से, बन्ध का कारण ही है।

भावार्थ : क्षायोपशमिकज्ञान एक ज्ञेय पर अन्तर्मुहूर्त ही ठहरता है, फिर वह अवश्य ही अन्य ज्ञेय को अवलम्बता है; स्वरूप में भी वह अन्तर्मुहूर्त ही टिक सकता है, फिर वह विपरिणाम को प्राप्त होता है। इसलिए ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यक्दृष्टि आत्मा सविकल्पदशा में हो या निर्विकल्प अनुभवदशा में हो-उसे यथाख्यातचारित्र-अवस्था होने से पूर्व अवश्य ही रागभाव का सद्भाव होता है; और राग होने से बन्ध भी होता है। इसलिए ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का हेतु कहा गया है।

गाथा-१७१ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण कैसे हैं? ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध कारण ? एक ओर तुम कहो कि ज्ञान और श्रद्धा का अभिप्राय नहीं, इसलिए बन्ध नहीं। और कहो कि बन्ध का कारण ज्ञान का परिणमन है। आहाहा! यह **ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण कैसे हैं? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं:-** १७१ (गाथा)

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाण-गुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।१७१।।

जो ज्ञानगुण की जघनता में, वर्तता गुण ज्ञान का।
फिर फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहि से बंधक कहा।।१७१।।

टीका : जब तक ज्ञानगुण का जघन्य भाव है.. देखा ? जब तक यथाख्यात -चारित्र नहीं है और जब तक पूर्ण स्थिरता का परिणाम नहीं हैं, तब तक ज्ञानगुण का वर्तमान जघन्य भाव परिणमन है। थोड़ा भाव परिणमा है, ऐसा। **(-क्षायोपशमिक भाव है) तब तक वह (ज्ञानगुण) अन्तर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है..** आहाहा! **इसलिए पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है।** ज्ञान अन्तर्मुहूर्त ही स्थिर रह सकता है। फिर वापस उसे राग हुए बिना रहता ही नहीं। आहाहा! पहले इनकार किया।

वह अभिप्राय की अपेक्षा से इनकार किया था। चारित्र के दोष की अपेक्षा से है। उसे है ही नहीं, ऐसा कर डाले। सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए कुछ जरा भी आस्रव नहीं, जरा भी दुःख नहीं... आहाहा! तो पूर्ण सुख और पूर्ण (शान्ति) होना चाहिए। आहाहा! अटकने के साधन बहुत, छूटने का एक। आहाहा! भगवान परिपूर्ण स्वरूप एक का ही आश्रय छूटने का कारण है, बाकी अटकने के साधन अनन्त में से कुछ-कुछ अटक कर अनादि काल से मिथ्यात्व में पड़कर बन्धन करता है।

यहाँ क्या कहा? **(ज्ञानगुण का जघन्य..)** अर्थात् क्षयोपशमभाव है, क्षायिकभाव नहीं। **तब तक वह (ज्ञानगुण) अन्तर्मुहूर्त में विपरिणाम..** को पाता है। विकार का परिणमन हो जाता है। धर्मी को भी अन्तर में स्थिरता निर्विकल्प होता है, तब तक भले उसे बुद्धिपूर्वक (विकल्प) नहीं है परन्तु जहाँ बाहर आया तो उसके परिणाम विकल्प और राग में आते हैं। धर्मी को भी राग होता है। आहाहा! चौथे, पाँचवें (में) अशुभराग भी होता है। पश्चात् छठवें में शुभ (राग होता है)।

अन्तर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है.. जो स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है, वह अन्तर्मुहूर्त में अन्दर में स्थिर रह सकता है। पश्चात् गुलाँट खाकर अन्दर राग-द्वेष के परिणाम होते हैं। एक ओर ज्ञानी को निरास्रव कहा तथा एक ओर ज्ञानी को अभी राग-द्वेष होते हैं, ऐसा कहा। क्या अपेक्षा है, जानना चाहिए। **अन्तर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है, इसलिए पुनः पुनः उसका अन्यरूप..** अर्थात् विकाररूप से **परिणमन होता है।** ज्ञानी को भी स्वरूप पूर्ण जब तक नहीं प्राप्त हुआ, तब तक निचली दशा में अन्यरूप से अर्थात् विकाररूप से परिणमन होता है। आहाहा! चौथे गुणस्थान में, पाँचवें गुणस्थान में आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी है। छठवें में रौद्रध्यान नहीं है। रौद्रध्यान है, वह ऐसे ध्यान छूटकर, लब्धरूप उपयोग रहता है परन्तु उपयोग जहाँ आर्त और रौद्रध्यान में जाता है, तब अन्य परिणाम-विकार हो जाता है। उसकी जाति के परिणाम जो ज्ञाता-दृष्टा के (वे) छूटकर उनसे विपरीत विकार परिणाम ज्ञानी को भी आर्त और रौद्रध्यान होता है।

मुमुक्षु : हेयबुद्धि से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हेयबुद्धि से होता है। है तो हेयबुद्धि, परन्तु है। यहाँ तो है, ऐसा सिद्ध करना है। पहले इनकार किया था कि उसे नहीं है, वह तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी

की अपेक्षा से (कहा था) परन्तु उसकी अस्थिरता के परिणाम होते हैं, इसलिए उसे इतना आस्रव है। आहाहा!

वह (ज्ञानगुण का जघन्य भाव से परिणमन),.. अर्थात् ज्ञान अर्थात् आत्मा। उसका स्वभाव जघन्य अर्थात् निचली श्रेणी का परिणमन है। उत्कृष्ट यथाख्यात चाहिए, वैसा परिणमन नहीं है अथवा क्षायिकभाव का परिणमन नहीं है। भले समकित क्षायिक हो, परन्तु क्षायिकभाव जो चारित्र का है, वह परिणमन नहीं है। आहाहा! क्षायिक समकिती भी अस्थिरता के परिणाम को प्राप्त होता है। आहाहा!

चौथे गुणस्थान में क्षायिक समकित है। श्रेणिक राजा इत्यादि, तो भी अस्थिरता के परिणाम में वे आ जाते हैं। आहाहा! मरते हुए जहर चूसा। श्रेणिक राजा! क्षायिक समकित! समय-समय में तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं, तथापि वह कुणिक मारने आया... वह आया था बचाने को, परन्तु ये मानो मुझे मारने आया। (ऐसा लगा इसलिए) हीरा चूस लिया, ज़हर खाया। अपघात किया! वे परिणाम विपरीत (हैं अवश्य परन्तु) समकित से विपरीत नहीं हैं किन्तु अस्थिरता में विपरीत हैं। आहाहा! कहो, श्रेणिक राजा आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होनेवाले हैं। हजारों रानियाँ! कैद में डाला। उन्हें छुड़ाने जा रहा (था वहाँ) स्वयं ने ज़हर खाकर अपघात किया। उस मिथ्या (विकारी) परिणाम से समकित को दोष नहीं है। उस परिणाम से समकित को दोष नहीं है, क्षायिक समकित है परन्तु उसे चारित्र के दोष का परिणमन होता है। इतना तो उसे आस्रव भी है।

यथाख्यातचारित्र-अवस्था के नीचे.. देखा! स्थिरता की अपेक्षा से यहाँ बात है न! समकित और दर्शन-ज्ञान की अपेक्षा से तो बात हो गयी। यहाँ तो अब स्थिरता की अपेक्षा से ज्ञानी को जघन्य स्थिरता है। है? ज्ञानगुण का जघन्यभाव से परिणमन की स्थिरता है। **यथाख्यातचारित्र-अवस्था के नीचे..** पूर्ण यथाख्यातचारित्र... आहाहा! उसके नीचे **अवश्यम्भावी..** अवश्य, **राग का सद्भाव होने से,..** लो! **बन्ध का कारण ही है।** यहाँ भी 'ही' रखा है। आहा! अस्थिरता की अपेक्षा से बन्ध ही है। दृष्टि और ज्ञान की अपेक्षा से उसे बन्ध नहीं है। उस प्रकार के विपरीत परिणाम नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! किस अपेक्षा से वहाँ कहा, इसकी खबर (होना चाहिए)।

यथाख्यातचारित्र-अवस्था के नीचे.. एकदम वीतराग अवस्था। यथाख्यात

अर्थात् जैसी इसकी शान्ति और चारित्र की स्थिरता का स्वभाव है, वैसा ही स्थिरता का स्वभाव पूर्ण प्रगट न हो, तब तक अवश्य **राग का सद्भाव होने से, बन्ध का कारण ही है।** दसवें गुणस्थान तक बन्ध का कारण है। यथाख्यात्चारित्र पहले कहा न! आहाहा! ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान पहले भी बन्ध का कारण है। एक ओर चौथे गुणस्थान से (आस्रव नहीं ऐसा कहा)। किस अपेक्षा से कहा? मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी सम्यक् और स्थिरता - स्वरूपाचरण हुई, उसके कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जो बन्ध था, आस्रव (था), वह नहीं है। अवश्य नहीं, ऐसा वापस। वह उसे अवश्य नहीं है। इस अपेक्षा से निरास्रवी है परन्तु स्थिरता की अपेक्षा से पूर्ण स्थिरता नहीं है, स्थिरता जघन्य है, इस कारण से उसे राग-द्वेष के परिणाम होते हैं। आहाहा! (राग का) सद्भाव **बन्ध का कारण ही है।** आहाहा!

भावार्थ : क्षायोपशमिकज्ञान एक ज्ञेय पर अन्तर्मुहूर्त ही ठहरता है,.. अर्थात् क्या कहते हैं? अन्तरध्यान में अन्दर ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर स्थिर रहता है, वह अन्तर्मुहूर्त ही रह सकता है। चिदानन्द अखण्ड ज्ञायकभाव के ध्यान में रहे तो वह अन्तर्मुहूर्त रह सकता है, अधिक नहीं रह सकता। वह **ज्ञान एक ज्ञेय पर अन्तर्मुहूर्त ही ठहरता है,..** पश्चात् अवश्य **अन्य ज्ञेय को अवलम्बता है;..** स्वज्ञेय को छोड़कर परज्ञेय को अवलम्बता है। आहाहा!

स्वरूप में भी वह अन्तर्मुहूर्त ही टिक सकता है,.. स्वरूप में अधिक नहीं रह सकता। आहाहा! अन्तर में ध्यान में समकित, ज्ञान होता है, वह ध्यान में होता है परन्तु वह ध्यान अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। पश्चात् भी ध्यान होता है, वह भी अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। अन्तर्मुहूर्त के तो बहुत असंख्य प्रकार हैं। **फिर वह विपरिणाम को प्राप्त होता है।** समकिती भी, ज्ञानी भी अन्तर्मुहूर्त स्वरूप में-स्वज्ञेय में रमे, पश्चात् उसे परज्ञेय का अवलम्बन होता है, (तब) वह अवश्य राग को प्राप्त होता है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा न? **परदव्वादो दुग्गई**—स्वद्रव्य का अवलम्बन छूटकर जितना परद्रव्य का अवलम्बन हो, फिर तीर्थंकर और तीन लोक के नाथ का अवलम्बन, राग और बन्ध का कारण है। आहाहा!

स्वद्रव्य में तो अन्तर्मुहूर्त ही ध्यान में रह सकता है। पश्चात् उसे परद्रव्य का अवलम्बन, परज्ञेय का (अवलम्बन) आता है। आहाहा! **विपरिणाम को प्राप्त होता**

है। आहाहा! अर्थात्? विकार परिणाम जो स्वभाव से विरुद्ध है, उसे वह प्राप्त होता है। आहाहा! अशुभभाव भी प्राप्त होता है। ज्ञानी अशुभभाव... आहाहा! उसे प्राप्त होता है। बाहुबली और भरत दोनों सम्यक्त्वी। एक-दूसरे को चक्र मारा। वह अस्थिरता का राग है, चारित्र का दोष है। आहाहा! सम्यक्त्व की अपेक्षा से अबन्ध है परन्तु अस्थिरता की अपेक्षा से अभी बन्ध है। स्थिरता पूरी नहीं हुई। आहाहा! इसमें एकान्त खींचे (कि) समकिती को बन्ध ही नहीं, उसे दुःख ही नहीं। (राग) बाकी है। दसवें गुणस्थान में छह कर्म बाँधे, दसवें में! इसलिए यथाख्यातचारित्र से पहले कहा न! दसवें गुणस्थान में भी एक मोहनीय और आयुष्य के बिना छह कर्म को बाँधता है। राग है न, राग! आहाहा!

एक ओर सम्यग्दर्शन होने पर उस सम्बन्धी के विपरीत परिणाम नहीं, इसलिए उसे उसका बन्धन-आस्रव नहीं। परन्तु अस्थिरता की अपेक्षा से जघन्य स्थिरता है, पूर्ण स्थिरता नहीं, इसलिए वह विपरिणाम-विकार में आ जाता है। विकार के कारण बन्धन भी है। आहाहा!

इसलिए ऐसा अनुमान भी हो सकता है.. इसलिए ऐसा अनुमान भी हो सकता है। **कि सम्यक्दृष्टि आत्मा सविकल्पदशा में हो या निर्विकल्प अनुभवदशा में हो..** आहाहा! देखा? चाहे तो विकल्प आवे, राग आवे, उसमें हो या चाहे तो निर्विकल्पदशा ध्यान में हो। आहाहा! देखा? भले निर्विकल्पदशा-ध्यान में हो, चौथे-पाँचवें, छठवें (गुणस्थान में हो) **यथाख्यातचारित्र-अवस्था होने से पूर्व..** आहाहा! पूर्ण स्थिरता जमने से पहले। वीतरागता! पर्याय में स्थिरता की वीतरागता हुए बिना... आहाहा! दृष्टि है, वह वीतराग है, ज्ञान से वीतराग है परन्तु स्थिरता में वीतरागता नहीं है, ऐसा कहते हैं। वापस ऐसा यहाँ ले जाए कि दृष्टि से वह रागी है, ऐसा नहीं है। दृष्टि तो सम्यक् वीतराग है। ज्ञान भी प्रगट हुआ, वह वीतरागी ज्ञान है। आहाहा! स्वरूप की स्थिरता प्रगटी है, वह भी वीतरागी है, परन्तु जघन्य स्थिरता है। चारित्र की स्थिरता यथाख्यात् (होनी चाहिए वह नहीं है)। उसके अभाव के कारण अनुमान हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा निर्विकल्प ध्यान में हो तो भी कर्म बन्धन करता है। आहाहा! समझ में आया?

निर्विकल्प ध्यान में हो, ज्ञाता-ज्ञेय (का भेद) भूल जाए, अकेला ध्येय रहे। छहढाला में आता है न! ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय भूल जाए। अकेला ज्ञान का अनुभव चौथे, पाँचवें

आदि (में रहे) तो भी उस काल में भी उसे अस्थिरता उठी है, इसलिए उस काल में भी आस्रव है, बन्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : उस काल में निर्जरा नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्जरा है, परन्तु साथ में बन्ध है न! निर्जरा थोड़ी है। कहा न, संवर और निर्जरा थोड़ी है। स्थिरता थोड़ी है, इसका अर्थ क्या? उसे अस्थिरता है और स्थिरता कम है। स्थिरता कम है अर्थात् उतना संवर और निर्जरा का भाव अभी नहीं है। जो उग्र संवर चाहिए, वह भाव नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो समकिती निर्विकल्प ध्यान में हो, तब भी उसे कर्मबन्धन तो है, क्योंकि स्थिरता पूर्ण कहाँ है? स्वरूप का आचरण आदि स्थिरता भले वहाँ आयी, परन्तु स्थिरता पूर्ण नहीं है, इसलिए उसे बन्धन है। ध्यान में बैठे हुए जीव को भी, चौथे-पाँचवेंवाले को बन्धन है, अस्थिरता का बन्धन है। आहाहा!

देखो! क्या कहा? **सम्यक्दृष्टि आत्मा सविकल्पदशा में हो..** चाहे तो राग के उपयोग में बाह्य हो या **निर्विकल्प..** दशा में हो। आत्मा के अन्दर ध्यान में हो। आहाहा! **यथाख्यातचारित्र-अवस्था होने से पूर्व अवश्य ही रागभाव का सद्भाव होता है;..** निर्विकल्प ध्यान चौथे-पाँचवें में होता है। बाकी सातवें में होता है। फिर छठवें में राग आया या चौथे-पाँचवें में भी राग आया, वह निश्चय-अवश्य बन्ध का कारण है। वह आस्रव है। आहाहा! दर्शन-ज्ञान हुआ, तो भी अभी ज्ञान भी पूर्ण कहाँ है? केवलज्ञान (कहाँ है)? भले क्षायिक समकित हुआ, परन्तु ज्ञान पूर्ण नहीं है, दर्शन पूर्ण हो गया है और स्थिरता पूर्ण नहीं; स्थिरता कम है। उतनी अस्थिरता निर्विकल्प ध्यानकाल में भी... आहाहा! चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में भी अभी तीन कषाय के भाव का राग है। निर्विकल्प ध्यान के समय भी! आहाहा! ऐसा बहुत लम्बा। जहाँ आत्मा ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान ऐसे भेद को भूलकर चौथे-पाँचवें में ध्यान में है, उसे भी स्थिरता कम है, इसलिए उसे आस्रव और बन्ध है। आहाहा! है?

निर्विकल्प और सविकल्पदशा में भी **यथाख्यातचारित्र-अवस्था होने से पूर्व अवश्य (जरूर) ही रागभाव का सद्भाव होता है;..** चौथे गुणस्थान में, पाँचवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान है, आता है। उस समय तो ध्यान-ध्याता-ध्येय के तीन भेद भी भूल

जाता है, तो भी निचली श्रेणी में उस काल में भी तीन कषाय का राग है। आहाहा! दो बातें ली हैं। निर्विकल्प, सविकल्प दो बातें ली हैं। अकेले सविकल्प में रागादि है, ऐसा नहीं। आहाहा! चौथे-पाँचवें और छठे में, निर्विकल्प छठे में नहीं है, सातवें में हो जाता है, यहाँ चौथे-पाँचवें में निर्विकल्पता आ जाती है, तथापि उस काल में भी चौथे में तीन कषाय का भाव है, पाँचवें में दो कषाय का भाव है। आहाहा! अरे! सातवें में भी ध्यान में आ जाता है तो भी एक कषाय का भाव अभी है। है न? अस्थिरता, यथाख्यात स्थिरता के पहले की बात ली है न? पूर्ण यथाख्यात नहीं है, तब तक सातवें में भी निर्विकल्प ध्यान में होता है, उसे भी राग है, बन्धन भी है। आहाहा!

एक ओर समकिती को आस्रव और बन्ध नहीं है; एक ओर सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में भी राग और बन्धन है। किस अपेक्षा से कहा? आहाहा! आठवें में भी निर्विकल्प ध्यान में अभी राग है। भले निर्विकल्प है, परन्तु राग है, उतना बन्धन है। नववें में भी उतना है, दसवें में भी है। आहाहा! अरे! गुणस्थान की भी खबर नहीं होता कि कौन सा गुणस्थान (कब होता है) ? किस गुणस्थान में कितना आस्रव और किस गुणस्थान में कितना बन्धन नहीं, इसे यह समझना कठिन पड़ता है।

सविकल्प दशा में हो या निर्विकल्प.. दशा में हो, राग होता है, उसे धर्मी ज्ञान का ज्ञेयरूप से जानता है, तो भी **अवश्य ही रागभाव का सद्भाव होता है;..** आहाहा! चौथे-पाँचवें, सातवें, आठवें, नवें में निर्विकल्प ध्यान है, तथापि अभी उसके गुणस्थान प्रमाण में जो राग गया, उतना नहीं, परन्तु अभी बाकी है, इतना यथाख्यात के पहले राग है। आहाहा! **राग होने से बन्ध भी होता है।** दसवें में बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान में! इसलिए यथाख्यात् लिया है न! यथाख्यात् ग्यारहवें और बारहवें में होता है।

इसलिए ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का हेतु कहा गया है। क्या कहा? **इसलिए ज्ञानगुण के जघन्यभाव..** (अर्थात्) अस्थिरता। आत्मभाव में स्थिरता थोड़ी है, ऐसा। उस **ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का हेतु कहा गया है।** स्थिरता की जघन्य स्थिति / कम है, इस अपेक्षा से। जो गुण है, निर्मल है, वह तो बन्ध का कारण नहीं है। जितनी अन्दर अस्थिरता और राग-द्वेष है, ऐसा ज्ञानगुण के जघन्य भाव को **बन्ध का हेतु कहा गया है।** आहाहा!

गाथा–१७२

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत् –

दंसण–णाण–चरित्तं जं परिणमदे जहण्ण–भावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गल–कम्मेण विविहेण।।१७२।।

दर्शन–ज्ञान–चारित्रं यत्परिणमते जघन्य–भावेन।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गल–कर्मणा विविधेन।।१७२।।

यो हि ज्ञानी स बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किन्तु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वक–कलंकविपाक–सद्भावात् पुद्गलकर्मबन्धः स्यात्।

अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति। ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात्।।१७२।।

अब पुनः प्रश्न होता है कि–यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुण का जघन्यभाव बन्ध का कारण है) तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:–

चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्म बंधात है।।१७२।।

गाथार्थ : [यत्] क्योंकि [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन–ज्ञान–चारित्र [जघन्यभावेन] जघन्यभाव से [परिणमते] परिणमन करते हैं [तेन तु] इसलिए [ज्ञानी] ज्ञानी [विविधेन] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्मणा] पुद्गलकर्म से [बध्यते] बँधता है।

टीका : जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है, इसलिए वह निरास्रव ही है परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि- वह ज्ञानी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ जघन्यभाव से ही ज्ञान को देखता, जानता और आचरण करता है, तब तक उसे भी, जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा (जघन्यभाव अन्य प्रकार से नहीं बनता इसलिए) जिसका अनुमान हो सकता है, ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंक के विपाक का सद्भाव होने से, पुद्गलकर्म का बन्ध होता है। इसलिए तब तक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना चाहिए, जब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है, उतना देखने, जानने और आचरण में भलीभाँति आ जाये। तब से लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है।

भावार्थ : ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह का अभाव होने से वह निरास्रव ही है परन्तु जब तक क्षायोपशमिक ज्ञान है, तब तक वह ज्ञानी ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से न तो देख सकता है, न जान सकता है और न आचरण कर सकता है; किन्तु जघन्यभाव से देख सकता है, जान सकता है और आचरण कर सकता है; इससे यह ज्ञात होता है कि उस ज्ञानी के अभी अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक का विपाक (चारित्रमोहसम्बन्धी रागद्वेष) विद्यमान है और इससे उसके बन्ध भी होता है। इसलिए उसे यह उपदेश है कि-जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक निरन्तर ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिए, ज्ञान को ही देखना चाहिए, ज्ञान को ही जानना चाहिए और ज्ञान का ही आचरण करना चाहिए। इसी मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है और ऐसा करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है। जब केवलज्ञान प्रगटता है, तब से आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्व प्रकार से निरास्रव है।

जब तक क्षायोपशमिक ज्ञान है, तब तक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी, बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह, विवक्षा की विचित्रता है। अपेक्षा से समझने पर यह सर्व कथन यथार्थ है।

गाथा-१७२ पर प्रवचन

अब पुनः प्रश्न होता है कि-यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुण का जघन्यभाव बन्ध का कारण है) तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:- एक ओर तुम निरास्रव कहो तथा एक ओर ज्ञान की स्थिरता की जघन्यता में आस्रव कहो, (वह किस प्रकार से?) उसका उत्तर।

दंसण-णाण-चरित्तं जं परिणमदे जहण्ण-भावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गल-कम्मेण विविहेण।।१७२।।

चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्म बंधात है।।१७२।।

आहाहा! तीनों को लिया है। **टीका : जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है, इसलिए..** बुद्धि अर्थात् रुचि। आहाहा! इच्छापूर्वक, रुचिपूर्वक उसे राग-द्वेष नहीं है। उसे राग-द्वेष की रुचि नहीं है। धर्मी को राग-द्वेष की रुचि का अभाव है। बुद्धिपूर्वक और इच्छापूर्वक **रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है, इसलिए वह निरास्रव ही है परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि-वह ज्ञानी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से..** आहाहा! ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखे, सर्वोत्कृष्ट भाव से जाने और सर्वोत्कृष्ट भाव से। **आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ..** आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ शुद्धनय की बात है। शुभाशुभ बिना जानने की बात है, दर्शन उपयोग की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग नहीं। दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों। समकित है, परन्तु अभी नीचे है न! वह मूल जो परम अवगाढ़ (दशा चाहिए), वह नहीं है। ऐसे समकित बन्ध का कारण तो है ही नहीं, परन्तु यहाँ तो उसका ज्ञान और स्थिरता कम है, इस अपेक्षा से तीनों को कम है, ऐसा कहा है।

मुमुक्षु : तब तक उसे परमावगाढ़ नहीं कहा जाता।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, परमावगाढ़ नहीं। समकित है, परन्तु परमावगाढ़ पूर्ण जो केवली को (योग्य) चाहिए है वह नहीं है। आहाहा! विशेष कहा जाएगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २४९, गाथा-१७२, श्लोक-११६ दिनाङ्क १०-०६-१९७९, रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल १४

यह समयसार १७२ गाथा। टीका। क्या चलता है? आस्रव अधिकार।

आस्रव—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच आस्रव हैं। यहाँ ज्ञानी को किसका आस्रव है? और कौन सा आस्रव नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

टीका : जो वास्तव में ज्ञानी है,.. ज्ञानी का अर्थ, आत्मा परद्रव्य से तो भिन्न है और शुभ-अशुभभाव से भिन्न है और वर्तमान जो एक समय की पर्याय है, उसकी दृष्टि जब अभेद पर जाती है, जहाँ गुण-गुणी का भेद भी नहीं है। अखण्ड, अभेद चैतन्यवस्तु परमात्मस्वरूप ही आत्मा है। उस पर दृष्टि जाकर आत्मा का ज्ञान और आत्मा का समकित दर्शन होता है, तो उसके साथ आत्मा का अतीन्द्रिय स्वाद अनुभव भी होता है, तब ज्ञानी / समकिती कहा जाता है। ज्ञानी कहो या सम्यग्दृष्टि कहो। उसे **जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है,..** उसे पुण्य-पाप के भाव को करने की इच्छा नहीं है, रुचि नहीं है, रुचि नहीं है।

सम्यग्दृष्टि हुआ तो उसकी रुचि तो आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि है। उस आनन्द की वृद्धि करना, ऐसी रुचि है। धर्म—आत्मज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन (हुआ) तो पुण्य-पाप के भाव और मिथ्यात्वभाव की धर्मी को रुचि नहीं है। आहाहा! धर्मी को सम्यग्दर्शन में रुचि अपना पूर्ण परमात्मस्वरूप, उस ओर की दृष्टि है और उसकी रुचि है। ऐसे वास्तविक ज्ञानी को बुद्धिपूर्वक, रुचिपूर्वक या इच्छापूर्वक राग-द्वेष-मोह के आस्रवभाव

का अभाव है। मिथ्यात्व और मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष का तो उसे अभाव है। सूक्ष्म बात है, भाई!

इसलिए **निरास्रव ही है..** अपना स्वरूप शुद्धचैतन्य पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शान्ति, पूर्ण वीतरागस्वरूपी प्रभु की दृष्टि और अनुभव हुआ तो उस सम्बन्धी ज्ञानी को मिथ्यात्व और मिथ्यात्वसम्बन्धी जो राग-द्वेष, (वे) उसे हैं नहीं। इस अपेक्षा से (कहा है कि वह) **निरास्रव ही है..** इस अपेक्षा से निरास्रव कहा जाता है। आहाहा!

परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि.. ज्ञानी—धर्मी जीव भी, अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य परिपूर्ण वीतरागमूर्ति है, उसका अनुभव दृष्टि हुई, **वह ज्ञानी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने,..** आत्मा के सर्वोत्कृष्ट भाव को देखने। जब तक सर्वोत्कृष्ट भाव से नहीं देखता। कल परमावगाढ़ श्रद्धा ली थी। १४४ में आता है न? जब तक पूर्ण नहीं देखता तब तक... १४४ में पाठ ऐसा है। जब तक आत्मा पूर्ण स्वरूप नहीं देखता अथवा देखने का अर्थ कि श्रद्धा नहीं करता, ऐसा १४४ में पाठ है।

आहाहा! अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव, जब तक नहीं देखता अर्थात् श्रद्धा नहीं करता। पाठ तो देखता नहीं, ऐसा है। फिर अर्थकार ने श्रद्धा (किया है)। किसी समय देखने के अर्थ में श्रद्धा भी आती है और श्रद्धा के अर्थ में किसी समय देखना भी आता है।

वहाँ इतना विशेष है कि-वह ज्ञानी.. धर्मी जीव। आत्मज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी विकार का नाश हुआ, इतना आस्रव तो उसे नहीं आता परन्तु जब तक ज्ञान अर्थात् आत्मा को... आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में पुण्य और पाप के विकल्प, राग भी है नहीं। ऐसी चीज़ को—आत्मा को **सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने,..** उत्कृष्ट भाव से देखने अर्थात् जब तक केवलज्ञान नहीं होता, तब तक उत्कृष्ट भाव से नहीं देखता।

सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ.. धर्मी जीव सम्यग्दर्शन हुआ, तो भी भगवान पूर्ण स्वरूप है, उसे पूर्णरूप से देखना, जानना, आचरण करना, यह अशक्य है। समकिती जघन्यदशा में है, निचलीदशा में है, इस कारण

से पूर्णरूप से आत्मा को श्रद्धा करना—देखना, जानना और आचरण करने में अशक्त है। आहाहा! ऐसी बात है।

जघन्य भाव से ही ज्ञान को.. अर्थात् आत्मा को। निचली श्रेणी में चौथे, पाँचवें आदि गुणस्थान में **जघन्य भाव से ही ज्ञान को..** अर्थात् आत्मा को। **देखता, जानता और आचरण करता है..** आहाहा! तब धर्म की शुरुआत होती है कि आत्मा निर्विकल्प वस्तु है, जिसमें शुभराग का भी अभाव है और जिसमें वर्तमान एक समय की पर्याय है, उसका भी उसमें—वस्तु में अभाव है। ऐसी वस्तु की अनुभवदृष्टि और ज्ञान, आचरण—स्वरूपाचरण आनन्द आया तो उतने प्रकार के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के आस्रव नहीं हैं। इस अपेक्षा से उसे निरास्रव कहते हैं। इस अपेक्षा से निरास्रव कहते हैं, परन्तु जब तक पूर्ण देखना, जानना, आचरण करना नहीं है, तब तक पूर्ण निरास्रवी नहीं है। आहाहा! है?

जघन्य भाव से ही ज्ञान को देखता, जानता और आचरण करता है, तब तक उसे भी, जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति.. यदि जघन्यभाव न हो तो आस्रवभाव न हो, तो जघन्यभाव है। जघन्यभाव है तो राग-द्वेष का आस्रव भी है। जघन्यभाव न हो, उत्कृष्ट भाव होवे तो राग-द्वेषभाव ही न हो। अस्थिरता के राग-द्वेष हैं, वे भी न हों। आहाहा!

जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति.. (अर्थात्) आस्रव न हो तो जघन्यभाव की अन्यथा उत्पत्ति, जघन्यभाव की उत्पत्ति ही देखने में न आवे। यदि आस्रव बिल्कुल न हो तो जघन्यभाव की उत्पत्ति न हो, तो उत्कृष्ट भाव की उत्पत्ति हो। आहाहा! **जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा (जघन्यभाव अन्य प्रकार से नहीं बनता इसलिए) जिसका अनुमान हो सकता है, ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंक के विपाक का सद्भाव होने से,..** आहाहा! धर्मी सम्यग्दृष्टि क्षायिक समकिती हो तो भी जघन्यभाव है। चारित्र और ज्ञान की पूर्णता नहीं है और पूर्ण जानना-देखना नहीं है, तब तक आस्रव की स्थिति है। अन्यथा जघन्यभावरूप परिणमन नहीं होता। यदि आस्रव न हो तो जघन्यभाव की परिणति नहीं होती। जब जघन्यभाव की परिणति है, तब तक आस्रवभाव भी है। दूसरा (आस्रव है;) मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का नहीं है। आहाहा!

ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्म कलंक के विपाक का सद्भाव होने से,.. आहाहा! रुचि

नहीं, दृष्टि नहीं परन्तु अपनी कमजोरी के (कारण से) पर्याय में अस्थिरता के राग-द्वेष आते हैं, वह कर्म कलंक विपाक का सद्भाव है। वह भाव विकार है, वही कर्म कलंक है। जड़कर्म नहीं। जो पुण्य और पाप के भाव आते हैं, वह विकारी कर्म है। वह विकारी कर्म है, इतना कलंक है। आहाहा! सम्यग्दर्शन हुआ, क्षायिक समकिती हुआ, तो भी जघन्य परिणति नीचे है, वही बताता है कि उसे भी अभी राग-द्वेष के परिणाम / आस्रव उत्पन्न होते हैं। उतना कर्म कलंक है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! समयसार आस्रव अधिकार है। दोपहर को प्रवचनसार (चलता है)।

पुद्गलकर्म का बन्ध होता है। धर्मी जीव को, सम्यग्दृष्टि को भी निचली भूमिका में है, ऊँची भूमिका में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की उत्कृष्टदशा नहीं है, तब तक कर्म कलंक का सद्भाव होने से राग-द्वेषादि के चारित्रदोष के परिणाम उत्पन्न होते हैं। उनसे पुद्गलकर्म का बन्ध होता है। उसे पुद्गलकर्म का बन्ध होता है।

इसलिए तब तक ज्ञान को देखना,.. तब तक अन्दर भगवान आत्मा को देखना, उत्कृष्टरूप से श्रद्धना और जानना-देखना और स्थिर होना... आहाहा! **तब तक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना चाहिए, जब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है..** आहाहा! आत्मा पूर्ण स्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु का पूर्ण आचरण वीतरागभाव जब तक न हो, तब तक पूर्ण को देखना। आहाहा! पूर्ण को देखना, पूर्ण को जानना और पूर्ण का आचरण करने का प्रयत्न करना। समझ में आया?

और आचरण में भलीभाँति आ जाये। आहाहा! **तब तक ज्ञान को देखना,..** आहाहा! जब तक पूर्ण आत्मा का आचरण, ज्ञान—केवलज्ञानादि न हो, तब तक **ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है, उतना देखने, जानने और आचरण में भलीभाँति आ जाये। तब से लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ..** तब साक्षात् ज्ञानी (हुआ)। पहले निरास्रव को कहा परन्तु चौथे, पाँचवें गुणस्थान में उसकी मर्यादा प्रमाण निरास्रव कहा। परन्तु साक्षात् निरास्रव... आहाहा! आत्मा को पूर्ण जानना, देखना और आचरण करना हो जाए, तब साक्षात् निरास्रव होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : तेरहवें गुणस्थान में साक्षात् होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इस तेरहवें केवलज्ञान पूर्ण दशा हो गयी समाप्त, समाप्त! ओहो!

इसलिए जघन्यदशा में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का आस्रव नहीं है, इस अपेक्षा से निरास्रव कहा, परन्तु जब तक पूर्ण दशा प्रगट न हो, तब तक धर्मी को भी राग-द्वेष के चारित्रमोह के परिणाम कलंक हैं तो उतना पुद्गल का बन्ध भी है। आहाहा! तो जब तक पूर्ण स्वरूप देखने में, जानने में, आचरण में न आवे, तब तक पूर्ण आस्रवरहित नहीं है। जब पूर्ण हो गया तो पूर्ण आस्रवरहित है। अपेक्षा से बात की है। पहले निरास्रव कहा था और कहते हैं कि पूर्ण होवे, तब निरास्रव होता है। समझ में आया?

जिसे अभी मिथ्यात्व, राग, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप यह पुण्यभाव है। वह धर्म है और धर्म का कारण है, ऐसा जब तक मानता है, तब तक तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्योंकि राग, वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का कारण तो पूर्ण परमात्मस्वरूप अपना पूर्ण द्रव्यस्वभाव है, वही सम्यग्दर्शन का कारण है। आहाहा! और वह सम्यग्दर्शन की प्रथम दशा, ऐसा कि अपने यह दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा करते हैं तो यह सम्यग्दर्शन होगा, (ऐसा मानता है), तब तक तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। और जब तक पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द का आचरण न हो, तब तक भी उसे कर्म कलंक का सद्भाव है और बन्ध भी है। आहाहा! है या नहीं? दोनों अपेक्षाएँ ली हैं।

आहा! **तब से साक्षात् ज्ञानी..** साक्षात् अर्थात् केवलज्ञानी **होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है।** उसे आस्रव बिल्कुल है नहीं। आहाहा!

भावार्थ : ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह का अभाव होने से.. धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा पूर्णानन्द और शुद्ध चैतन्यघन का अनुभव और दृष्टि और स्वरूप में आचरण थोड़ा हुआ है, चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण भी हुआ है। आहाहा! उस **ज्ञानी के (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह का अभाव होने से..** उसे बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय राग करनेयोग्य है और राग धर्म का कारण है, ऐसी मिथ्याबुद्धि का तो नाश हुआ है। समझ में आया? ऐसे **(अज्ञानमय) रागद्वेषमोह का अभाव होने से वह (ज्ञानी) निरास्रव ही है..** यहाँ भी 'ही' कहा। **निरास्रव ही है..** कहो, ठीक! इस अपेक्षा से। आहाहा!

भरत चक्रवर्ती समकिती थे, श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती थे। भरत भी क्षायिक समकिती, तो समकित है, वहाँ आत्मा का अनुभव होता है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का आचरण होने से अतीन्द्रिय आनन्द का व्यक्त अंश में वेदन होता है। आहाहा! इस अपेक्षा से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह तो उसे है ही नहीं। समझ में आया? इस अपेक्षा से तो निरास्रव ही है।

आहाहा! **परन्तु जब तक क्षायोपशमिकज्ञान है,..** ज्ञान की दशा क्षायोपशमिक-हीन है, **तब तक वह ज्ञानी ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव को देख..** नहीं सकता। अपने स्वरूप को सर्वोत्कृष्ट भाव से तो देख नहीं सकता और न जान सकता है और न आचरण कर सकता है। आहाहा! परन्तु **जघन्य भाव से देख..** सकता है। आहाहा! निचली भूमिका में... जघन्यभाव आता है न? हिन्दी, हिन्दी में जघन्य कहते हैं न? निचली भूमिका। आहाहा! चौथे, पाँचवें, छठवें आदि जघन्यभाव है। सच्चा गुणस्थान, हों! चौथे, पाँचवें, छठवें में। जो कोई पुण्य की क्रिया और देह क्रिया मैं कर सकता हूँ, शरीर की यह क्रिया मैं करता हूँ, मैं पर की दया पाल सकता हूँ और दया पालने का भाव हुआ, वह धर्म है - ऐसा जब तक मानता है, तब तक तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्योंकि पर की दया पालने का भाव (राग है)। (दया) पाल नहीं सकता। भाव होता है, वह राग है। परद्रव्य की ओर का लक्ष्य है, राग है। राग है तो वह स्वरूप की हिंसा है। स्वरूप की हिंसा होती है। आहाहा! यहाँ (लोग कहते हैं) दया, वह धर्म है। वह तो आत्मा की दया (धर्म है)। पूर्णानन्द का नाथ, जैसा उसका जीवन है, जैसी चीज़ है, वैसी प्रतीति में ज्ञान और अनुभव में लेना, वह आत्मा की दया है। आहाहा! वह आत्मा की अहिंसा है। पर को न मारना, वह कोई अहिंसा नहीं। पर की दया, वह कहीं परमार्थ अहिंसा नहीं। आहाहा!

जितने अंश में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, उतने अंश में अबन्ध परिणाम है परन्तु उस ज्ञानी को भी... पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा, जितने अंश में राग-द्वेष का अंश आता है, उतना आस्रव का कारण है, नये कर्म का कारण है। आहाहा! **इससे यह ज्ञात होता है...** इस कारण से ऐसा ज्ञात होता है **कि उस ज्ञानी के अभी अबुद्धिपूर्वक..** रुचिपूर्वक नहीं (किन्तु) अरुचिपूर्वक। **कर्मकलंक का विपाक (चारित्रमोहसम्बन्धी रागद्वेष) विद्यमान है..** आहाहा! आस्रव अधिकार है न! **और इससे उसके बन्ध भी**

होता है। पहले कहा था कि सम्यग्दृष्टि निरास्रवी-निर्बन्ध है। यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से कहा था। यहाँ तो दोनों—आस्रव और बन्ध दोनों हैं। आहाहा!

जितने अंश में अपने स्वरूप में निर्मलदृष्टि, ज्ञान और स्थिरता है, उतना तो अबन्ध भाव है और जितने अंश में अन्दर में राग आया, उतने अंश में आस्रव है और उतने अंश में वह बन्ध भी है। आहाहा! अब ऐसी सूक्ष्म बातें।

इसलिए उसे यह उपदेश है.. समकिती को! है? **इसलिए उसे यह उपदेश है कि-जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो..** आहाहा! समकिती को उपदेश है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक राग है। राग है तो उतना बन्ध भी है। इसलिए जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक भगवान को देखना, जानना और आचरण करना। आहाहा! इस आचरण का अर्थ यहाँ राग करना, वह आचरण नहीं है। स्वरूप आनन्दस्वरूप में आचरण करना, लीन (होना)। भगवान आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु है। उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें आचरण—रमना। अतीन्द्रिय आनन्द में रमना, वह आचरण कहने में आता है। बाकी व्रत, तप और भक्ति आदि (के भाव होते हैं) वह आचरण नहीं है; वह तो असदाचरण है। वह सत्आचरण नहीं है। आहाहा!

इसलिए उसे यह उपदेश है कि-जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक निरन्तर ज्ञान का (आत्मा का) ही ध्यान करना चाहिए,.. ज्ञान अर्थात् आत्मा। शुभ और अशुभभाव का ध्यान छोड़कर... आहाहा! धर्मी को भी आर्तध्यान-रौद्रध्यान-चौथे-पाँचवें में होता है। छठवें में आर्तध्यान होता है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान होता है, तो कहते हैं कि जब तक पूर्ण (स्वरूप) देखने में न आवे, तब तक स्वरूप का ध्यान करना, इस राग का ध्यान छोड़ देना। आहाहा!

जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो, तब तक पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख का करना और केवलज्ञान प्राप्त करना, ऐसा कहते हैं। समकिती को यह उपदेश देते हैं। समकिती को तो सब खबर है। यह १७-१८ गाथा में आया कि आत्मज्ञान हुआ, शुद्ध चैतन्य का अनुभव (हुआ) तो श्रद्धा में ऐसा आया कि यह आत्मा पवित्र पूर्ण है और इसमें जितना मैं लीन होऊँगा, उतना कर्म का नाश होगा। व्रतादि और तपादि की क्रिया से कर्म का नाश होगा,

यह नहीं। बाह्य तप नहीं। निश्चय तप यह (है)। अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान! 'तपन्ति इति तप:'। जैसे सोने में गेरु लगाने से सोना शोभता है, ओपता है; वैसे भगवान आत्मा में सम्यग्दर्शन हुआ, तदुपरान्त स्वरूप में लीनता का, आनन्द में रमने का चारित्र और उसमें उग्र-विशेष रमना, इसका नाम तप है। आत्मा के आनन्द में विशेष रमना, वह तप है। वह तप। उसके बिना ये बाहर के तप हैं, वह सब लंघन है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

पहले निरास्त्रव कहा, पश्चात् और फिर आस्त्रव कहा और पूर्ण होता है, तब निरास्त्रव होगा (-ऐसा कहा)। आहाहा! जिसे ख्याल में यह बात नहीं कि क्या चीज़ है और सम्यग्दर्शन कैसे होता है? वह तो व्रत करो, और अपवास करो और प्रतिमा ले लो और भगवान की भक्ति करो, मन्दिर बनाओ... पर की क्रिया कौन कर सकता है? भाव होता है तो वह शुभराग है, पुण्य है, वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म माने तो क्या दिक्कत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म माने तो मिथ्यात्व है। धर्मी को शुभभाव आते हैं परन्तु धर्म नहीं मानते। आहा! सम्यग्दृष्टि को भी भगवान की भक्ति, पूजा का भाव आता है परन्तु वह उसे हेय मानता है, उसे दु:खरूप मानता है, मेरी कमजोरी से मुझमें वह आता है, मुझे वह आदरणीय नहीं है। आहाहा!

इसलिए उसे यह उपदेश है कि-जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो.. आहाहा! **तब तक निरन्तर ज्ञान का ही..** निरन्तर! आत्मा आनन्द अतीन्द्रिय वीतरागमूर्ति का निरन्तर ज्ञान अर्थात् आत्मा का ध्यान करे। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायकभाव है; अल्पज्ञपना है नहीं, राग-द्वेष तो उसमें है ही नहीं, ऐसे ज्ञायकभाव का ध्यान करना (कि) जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक। आहाहा!

ज्ञान को ही देखना, ज्ञान को ही जानना.. आत्मा को ही जानना और आत्मा का ही **आचरण करना..** आहाहा! **इसी मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है..** देखो! क्या कहते हैं? शुभ-अशुभभाव से भिन्न भगवान को देखना, जानना और आचरण करते-करते शुद्धि की वृद्धि होती है। है? तब **दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है..** कोई व्रत और पाँच महाव्रत और प्रतिमा के कारण धर्म

की वृद्धि हो जाती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा भाव आता है, परन्तु वह जानता है कि यह हेय है।

इसी मार्ग से.. आत्मा पूर्णानन्द प्रभु को देखना, जानना और उसका आचरण करना। उससे **परिणमन बढ़ता जाता है..** शुद्धता बढ़ती जाती है। आहाहा! **और ऐसा करते–करते केवलज्ञान प्रगट होता है।** ऐसे करते-करते (कहा) है। व्यवहार करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम है। अन्दर आनन्दस्वरूप प्रभु की प्रतीति, ज्ञान हुआ तो भी अन्दर में पूर्ण आत्मा को देखना, जानना और आचरण करना, तब शुद्धि बढ़ती जाती है। अन्तर में आचरण करने से शुद्धि बढ़ती जाती है। आहाहा!

और ऐसा करते–करते केवलज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! **जब केवलज्ञान प्रगटता है, तब से आत्मा साक्षात् ज्ञानी है..** धर्मी है। **और सर्व प्रकार से निरास्रव है।** उसे किसी प्रकार का आस्रव नहीं है। भगवान परमात्मा आत्मा सर्व ज्ञानी हुए, केवलज्ञानी (हुए), वे बिल्कुल निरास्रव हैं। जब **केवलज्ञान प्रगटता है, तब से आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्व प्रकार से निरास्रव है।** आहाहा!

जब तक क्षायोपशमिकज्ञान है.. अपूर्ण ज्ञान है, **तब तक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी,..** आहाहा! **बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा है..** देखा? आहाहा! स्पष्टीकरण किया है। पहले कहा, उसका स्पष्टीकरण किया। जब तक ज्ञान अल्प है, सम्यक् है, **तब तक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी,..** वहाँ चारित्रमोह का राग है। **बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से..** रुचिपूर्वक-दृष्टिपूर्वक राग करने की अपेक्षा से **ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा..** है। आहाहा! **और अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है।** तब सर्वथा निरास्रव है। आहाहा! **यह, विवक्षा की विचित्रता है।** ऐसा कि, ऐसे क्यों कहा? कि कथन की अपेक्षा अनेक प्रकार से है। सम्यग्दर्शन हुआ तो बन्ध नहीं और आस्रव नहीं, ऐसा भी कहा और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी चारित्र का दोष है तो आस्रव और बन्ध भी है, ऐसा कहा और पूर्ण ज्ञान जब

होता है, तब निरास्रव है। पहले सम्यग्दृष्टि को निरास्रव कहा, पश्चात् केवलज्ञान होता है तो सर्वथा निरास्रव कहा। विवक्षा है, अपेक्षा से कथन है – ऐसा कहते हैं। किस अपेक्षा से है, यह समझना चाहिए। एकान्त नहीं खींचना चाहिए कि सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए बस, निरास्रव ही हो गया। सम्यग्दर्शन हुआ तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी मात्र निरास्रव है। परन्तु अभी चारित्रमोह का दोष है। स्वरूप में रमना, (ऐसा) चारित्र जब तक नहीं है, (तब तक) दोष है। चारित्र का अर्थ यह नहीं कि यह नग्नपना ले लेना और पंच महाव्रत पालना, वह चारित्र नहीं है। आहाहा!

चारित्र तो चरना, रमना, जमना। अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर भोजन करना। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की भूमि में से अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद लेना, इसका नाम चारित्र है। अरे रे! व्याख्या भी बहुत कठिन।

अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह, विवक्षा की विचित्रता है। क्या कहा? कथन की अपेक्षा की विचित्रता है। स्पष्टीकरण करना पड़ा। आहाहा! किस अपेक्षा से कहा है, वह कथन की विचित्रता है। जिस-जिस प्रकार से जहाँ (कहा हो, उस प्रकार से समझना चाहिए)।

जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही,
वहाँ वहाँ वह वह आचरे आत्मार्थीजन सही।

एकान्त (ले लेवे कि) सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए आस्रवरहित हुआ, ऐसा मान ले वह भी नहीं और सम्यग्दर्शन बिना राग मन्द हो और उसे आस्रव नहीं है, ऐसा मानना वह भी मिथ्यात्व है और सम्यग्दर्शन में पूर्व आचरण जब तक नहीं हो, तब तक आस्रव है और बन्ध भी है। यह विवक्षा की कथन की विचित्रता है। आहाहा!

कलश-११६

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

सन्न्यस्यन्निज-बुद्धि-पूर्व-मनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारम्वार-मबुद्धि-पूर्व-मपि तं जेतुं स्व-शक्तिं स्पृशन्।
उच्छिन्दन्पर-वृत्ति-मेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्य-निरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा।।११६।।

श्लोकार्थ : [आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा] आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, [स्वयं] स्वयं [निजबुद्धिपूर्वम् समग्रं रागं] अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को [अनिशं] निरन्तर [संन्यस्यन्] छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ, [अबुद्धिपूर्वम्] और जो अबुद्धिपूर्वक राग है [तं अपि] उसे भी [जेतुं] जीतने के लिए [वारम्वारम्] बारम्बार [स्वशक्तिं स्पृशन्] (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ और (इस प्रकार) [सकलां परवृत्तिम् एव उच्छिन्दन्] समस्त परवृत्ति को-परपरिणति को-उखाड़ता हुआ [ज्ञानस्य पूर्णः भवन्] ज्ञान के पूर्णभावरूप होता हुआ, [हि] वास्तव में [नित्यनिरास्रवः भवति] सदा निरास्रव है।

भावार्थ : ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग को मिटाने के लिए उद्यम किया करता है; उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है; इसलिए वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है-अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिए निज शक्ति को बारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इस प्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इस प्रकार :- जो रागादिपरिणाम इच्छासहित होते हैं, सो बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छारहित - परनिमित्त की बलवत्ता से

होते हैं, सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादिपरिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं; सविकल्पदशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं, तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना ही इच्छा के होते हैं।

(पण्डित राजमल्लजी ने इस कलश की टीका करते हुए 'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इस प्रकार किया है:-जो रागादिपरिणाम मन के द्वारा, बाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं, और जो प्रवर्तते हुए जीव को निज को ज्ञात होते हैं तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं, वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं; और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय-मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते, वे अबुद्धिपूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है और उनके अविनाभावी चिह्नों से वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं।)।।११६।।

श्लोक - ११६ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- लो! ११६ ? अमृतचन्द्राचार्यदेव (का) श्लोक है, कलश है।

सन्न्यस्यन्निज-बुद्धि-पूर्व-मनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारम्वार-मबुद्धि-पूर्व-मपि तं जेतुं स्व-शक्तिं स्पृशन्।
उच्छिन्दन्पर-वृत्ति-मेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्य-निरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा।।११६।।

आहाहा! **'आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा' आत्मा जब ज्ञानी होता है..** आहाहा! दया, दान, व्रतादि का विकल्प जो है, उससे भिन्न होकर आत्मा की दृष्टि और अनुभव होता है, तब ज्ञानी होता है। कोई शास्त्र का पठन बहुत कर लिया और लाखों लोगों को रंजन कराया, इसलिए ज्ञान है - ऐसा नहीं है। आहाहा! हजारों शास्त्र बनाये, व्याख्यान में लाखों लोग इकट्ठे किये, वह कोई ज्ञानी नहीं है। ज्ञान तो राग से रहित आत्मा चिदानन्द प्रभु का ज्ञान हो, वह ज्ञान कहने में आता है। आहाहा!

तिर्यंच है, तिर्यंच। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच हैं। समकिती हैं, पंचम

गुणस्थानवाले असंख्य (तिर्यंच) बाहर पड़े हैं। ढाई द्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र में मच्छ और कच्छ और द्वीप में सिंह और बाघ समकिती हैं, ऐसा शास्त्र में पाठ है। आहाहा! चारित्र नहीं है। अन्दर स्वरूप का आचरण नहीं है परन्तु सम्यग्दर्शन और पंचम गुणस्थान (वर्ती) सिंह और बाघ, नाग, मच्छ और कच्छ - कछुआ... आहाहा! जिन्होंने भगवान आत्मा के पूर्णानन्दस्वरूप जहाँ अन्तर्दृष्टि में अनुभव में लिया, भले शरीर तिर्यंच का हो, अरे! नारकी का शरीर हो। सातवें नरक में मिथ्यात्व लेकर जाए और वहाँ समकित को प्राप्त होत है। आहाहा! और निकले तब मिथ्यात्व हो जाता है। सातवाँ नरक! आहाहा! इतनी शीत वेदना की पीड़ा है, जन्म से सोलह रोग... आहाहा! तैंतीस सागर में पानी की बूँद नहीं, आहार का कण नहीं, उस दशा में भी जीव समकित प्राप्त करता है! आहाहा! कोई ऐसा कहे कि हमें कुछ खाने, पीने की, सोने की अनुकूलता हो, लड़के-बड़के व्यापार अनुकूल चले, निवृत्ति हो तो निवृत्ति ठीक पड़े। आहाहा! यह सब कल्पनाएँ हैं। सातवें नरक में इतनी प्रतिकूलता है, तो भी दृष्टि गुलाँट खाकर, पलटा करके स्वभावसन्मुख की दृष्टि करके अनुभव करता है। इतनी प्रतिकूलता में समकित होता है। प्रतिकूलता, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा!

कोई ज्ञेय प्रतिकूल और अनुकूल है ही नहीं। ज्ञेय तो ज्ञान में जाननेयोग्य ज्ञेय है। उस ज्ञेय में छाप नहीं लगी है कि यह अनुकूल और यह प्रतिकूल है। यह तो अज्ञानी प्रतिकूल-अनुकूल ऐसी कल्पना करता है। आहाहा! अनुकूल चीज़ यह है, वह तो ज्ञेय है। प्रतिकूल वह भी ज्ञेय है। उसे अनुकूल-प्रतिकूल कल्पना करना, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

ऐसे सातवें नरक और तिर्यंच के भव, स्वयंभूरमण समुद्र (में) एक हजार योजन के मच्छ समकिती हैं। आहाहा! तीन ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि है। आहाहा! यहाँ मनुष्य हो, बड़ा राजा अरबोंपति हो, कुछ भान नहीं होता, भिखारी की तरह पैसा लाओ, यह लाओ, यह लाओ... अन्तर में अनन्त लक्ष्मी पड़ी है, प्रभु! अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त वीतरागता—ऐसी अनन्त शक्ति का भण्डार प्रभु है, उसका तो प्रेम नहीं, उसकी तो रुचि नहीं और धूल में रुचि है। यह पैसा पाँच-पच्चीस लाख, करोड़-दो करोड़ मिले, वहाँ (प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है)। आहाहा!

आहाहा! अन्तर में लक्ष्मी पड़ी है, अन्तर आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द और अनीन्द्रिय

ज्ञान का सागर प्रभु (विराजता है)। अन्तर अनन्त अतीन्द्रिय गुण का छलाछल भरा हुआ भगवान है। आहाहा! उसकी तो दृष्टि करता नहीं और बाहर की यह धूल मिली और पैसा मिला अथवा पैसा पाँच-दस लाख गजरथ में खर्च किया (तो मान लिया कि) धर्म हो गया। धूल में भी धर्म नहीं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ.. **'संन्यस्यन्'** देखो! **'संन्यस्यन्'** (कहा है), लो, यह त्याग! बाहर का त्याग तो अनन्त बार किया, वह कहीं आत्मा में है नहीं। बाहर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। आत्मा में एक शक्ति ऐसी है। समयसार में पीछे सैंतालीस शक्तियाँ (है उनमें) त्यागोपादानशक्ति है। परद्रव्य के ग्रहण और त्याग से तो प्रभु रहित है, पर का ग्रहण भी किया नहीं और पर का त्याग भी (किया नहीं)। त्याग है ही अनादि से। यह तो बाहर से थोड़ा त्याग करे वहाँ... ओहोहो! (हो जाता है)। यह (वास्तविक) त्याग है **'संन्यस्यन्'** देखो! आहाहा!

अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर.. **'संन्यस्यन्'** अर्थात् संन्यास करता है। आहाहा! यह त्याग करता है। आहाहा! धर्मी तो रुचिपूर्वक राग का त्याग करता है। राग की रुचि नहीं। आहाहा! यह मिथ्यात्व का त्याग है, समकित का ग्रहण है। आहाहा! ऐसी बातें।

निरन्तर.. **'संन्यस्यन्'** आहाहा! निरन्तर त्यागी। आहाहा! पर का त्यागी तो अज्ञानी भी निरन्तर है ही। आहाहा! परवस्तु शरीर, वाणी, मन, जड़कर्म पर, वह तो आत्मा में है ही नहीं तो पर का त्याग तो अनादि से है ही। आहाहा! परन्तु राग की रुचि (छोड़कर) और स्वभाव की रुचि करके राग की रुचि छोड़ना, त्याग करना, वह वास्तविक त्याग है। आहाहा! ऐसा किस प्रकार का उपदेश यह! यह सब व्रत पालो और प्रतिमा लो, एक लो और दो लो और तीन लो और ग्यारह लो... अरे! भाई! वस्तु की खबर बिना प्रतिमा कैसी? आहाहा! मिथ्यादृष्टि को प्रतिमा कहाँ से आयी? आहाहा! जिसे राग की पुण्य, दान, दान की रुचि है, वहाँ तो मिथ्यात्व है। आहाहा! मिथ्यात्व का त्याग नहीं, वहाँ राग का त्याग कहाँ से आवे? और पर का त्याग तो है ही नहीं। आत्मा तो (पर के) त्याग-ग्रहणरहित है। आहाहा!

समस्त बुद्धिपूर्वक.. बुद्धिपूर्वक, समझ में आया? रुचिपूर्वक। यह राग करनेयोग्य है, राग लाभदायक है—ऐसी बुद्धिपूर्वक। (उसे) छोड़ देना। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो, अरे! तीन लोक के नाथ का स्मरण हो, प्रभु का स्मरण हो, वह भी राग है। उस राग की रुचि छोड़ दे। आहाहा! आहाहा! भगवान वीतरागस्वरूप अन्दर है, उसकी रुचि कर। अरे.. अरे..! ऐसी बात है।

'संन्यस्यन्' है न पहला शब्द? संस्कृत में पहला (शब्द) है। **'संन्यस्यन्'** श्लोक में है। उसे त्याग कहते हैं। राग की रुचि बुद्धिपूर्वक छोड़ना, इसका नाम त्याग कहते हैं। आहाहा! पहला शब्द है न! श्लोक... श्लोक का पहला शब्द है। आहाहा! **छोड़ता हुआ अर्थात्..** राग **न करता हुआ,..** रुचिपूर्वक राग नहीं करता हुआ। राग का प्रेम छोड़ता हुआ और प्रेम से राग नहीं करता हुआ। आहाहा! अबुद्धिपूर्वक राग है। ज्ञानी को अभी अस्थिरता का (राग है)। रुचि नहीं है तो भी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण अबुद्धिपूर्वक का राग है। **उसे भी जीतने के लिए..** अस्थिरता, अबुद्धिपूर्वक का राग रहा, **उसे भी जीतने के लिए बारम्बार..** आहाहा!

'स्वशक्तिं स्पृशन्' (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति.. यह शक्ति, स्वशक्ति। भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उस स्वशक्ति का स्पर्शन करना... आहाहा! उसे अनुभव करना। आहाहा! **'स्वशक्तिं स्पृशन्'** स्वगुण—स्वभाव आनन्द, उसका अनुभव। उस **स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ..** क्या कहते हैं? कि प्रथम सम्यग्दर्शन हुआ, शुद्ध चैतन्य की — स्वरूप के सन्मुख होकर (सम्यग्दर्शन हुआ), तत्पश्चात् उसे बुद्धिपूर्वक-रुचिपूर्वक राग का करना छूट गया, उसका संन्यास हो गया, परन्तु अभी अबुद्धिपूर्वक अस्थिरता का राग है, उसे भी छोड़ने के लिए आत्मा के अनुभव का स्पर्श कर। आहाहा! वीतरागी स्वरूप भगवान आत्मा को स्पर्श, उसे स्पर्श, उसे जगा, स्थिरता कर, यह स्पर्शन है। आहाहा! ऐसी सब बात। यह मानो निश्चय की बात, व्यवहार कहाँ गया? व्यवहार गया व्यवहार में, राग में; आत्मा में है नहीं। आहाहा!

अबुद्धिपूर्वक राग है, उसे भी जीतने के लिए.. (अर्थात्) नाश करने के लिए **बारम्बार..** स्वशक्ति अर्थात् आत्मा का अनुभव। स्व आत्मा की शक्ति अर्थात् आनन्द का

स्पर्शन। स्व अर्थात् ज्ञान, अपनी शक्ति ज्ञान, उसका स्पर्शन। स्व अर्थात् आत्मा, उसकी शक्ति अर्थात् वीतरागभाव, उसका स्पर्शन। आहाहा!

स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ और (इस प्रकार).. 'सकलां परवृत्तिम् एव उच्छिन्दन्' समस्त परवृत्ति को–परपरिणति को–उखाड़ता हुआ.. उपदेश तो ऐसा ही आवे न! अन्दर में जाता है तो राग उत्पन्न नहीं होता, उसे उखेड़ता हुआ, ऐसा कहने में आता है। भाषा तो (ऐसी ही होगी)। राग को उखेड़ता हुआ। राग, शुभविकल्प आता है, उसे भी नाश करता हुआ। स्वरूप की दृष्टि तो रागरहित हुई है, उसमें स्थिर होकर... आहाहा! आत्मा का स्पर्श करके, अनुभव करके राग को छोड़ता-उखेड़ता हुआ।

'ज्ञानस्य पूर्णः भवन्' आत्मा के **पूर्णभावरूप होता हुआ,..** आत्मा के पूर्ण भाव अर्थात् केवलज्ञान। यथाख्यातचारित्र और केवलज्ञान और अनन्त आनन्द तथा अनन्त वीर्य, ऐसा पूर्णभवन। पूर्णभावरूप होता हुआ। आहाहा! द्रव्यस्वभाव में-गुणस्वभाव में तो पूर्णता है ही, परन्तु उसे स्पर्श करते-करते, अनुभव करते (करते), पर्याय में पूर्ण हो जाए। आहाहा! केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्यादि। **ज्ञान के..** अर्थात् आत्मा के। **पूर्णभावरूप होता हुआ, वास्तव में.. 'नित्यनिरास्रवः भवति'** वास्तव में 'हि' है न **'हि'** अर्थात् निश्चय, वास्तव में। वहाँ उसमें भी **'हि'** शब्द था। परन्तु यह **'हि'** अलग प्रकार का। आहाहा!

वास्तव में सदा निरास्रव है। फिर सदा निरास्रव है। पहले निरास्रव कहा था, तब तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से, अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व की अपेक्षा से कहा था। विवक्षा की विचित्रता की कथन की अपेक्षा से (कहा था)। यहाँ कहा कि जब पूर्ण वीतरागता अन्दर होती है; सम्यग्दर्शन होने के बाद भी स्वरूप का अनुभव करते-करते राग छूट जाता है और वीतराग पूर्ण हो जाता है, तब निरास्रव होता है, तब उसे बिल्कुल आस्रव नहीं होता। है?

भावार्थ : ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। देखो! धर्मी तो कोई भी राग हो, उसे हेय मानता है। भगवान की भक्ति का भाव आता है, परन्तु मानता है हेय। आहाहा! **ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग को मिटाने के लिए उद्यम किया**

करता है; उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है;.. आस्रवभाव के अभिप्राय की भावना नहीं है। यह ठीक है और करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है। **इसलिए वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।** लो! विशेष कहेंगे......

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५०, गाथा-१७३ से १७६, श्लोक-११६-११७ दिनाङ्क ११-०६-१९७९, सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण १

समयसार, आस्रव अधिकार, १७२ के भावार्थ के नीचे है। विवक्षा का विचित्रता का लिखा है न? यह कलश-टीकाकार ने नहीं लिखा। यह हेमराजजी ने लिखा है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है.. आत्मा में परिणति / पर्याय होती है, वह दो प्रकार की है। एक **अश्रद्धारूप..** और एक **अस्थिरतारूप**। एक मिथ्यात्वरूप और एक अस्थिरतारूप। आत्मा में द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, अब परिणति, उसकी जो पर्याय है, उस पर्याय में दो प्रकार हैं। अनादि से अश्रद्धारूप, मिथ्यात्वरूप और अस्थिरतारूप।

ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है.. धर्मी ने अश्रद्धारूप अर्थात् मिथ्यात्वरूप (अर्थात्) राग, वह मेरा है और राग से मुझे हित है, यह बुद्धि ज्ञानी ने छोड़ दी है। आहाहा! अज्ञानी को राग, वह हितकर है और राग मेरी चीज़-स्वरूप है—ऐसा उसे अश्रद्धान का-मिथ्यात्व का परिणमन है और अस्थिरता का भी है। ज्ञानी-धर्मी को अश्रद्धा अर्थात् मिथ्यात्वरूप परवृत्ति छोड़ी है। पर का कर सकता हूँ, यह बात धर्मी ने छोड़ दी है। (पर का कर सकता हूँ), यह श्रद्धा मिथ्यात्व है। पर का कुछ कर सकता हूँ या दान, दान, व्रत, परिणाम धर्म है या धर्म का कारण है, ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा, उसे धर्मी ने छोड़ दिया है। आहाहा!

अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिए.. अब धर्मी को अस्थिरता है। राग-द्वेष की वासना ऐसी उत्पन्न होती है। आहाहा! उसे **जीतने के लिए निज शक्ति को**

बारम्बार स्पर्श करता है.. उसे राग-द्वेष और अस्थिरता होती है, परन्तु उसे जीतने के लिए आत्मा के अनुभव को बारम्बार स्पर्श करता है। निर्विकल्प आनन्द की दशा को बारम्बार स्पर्श करता है। आहाहा! **अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है।** अपनी जो परिणति-पर्याय है, वह अस्थिरता में जाती है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना में जाती है, तथापि अन्तर में उन्मुख करने का प्रयत्न किया करता है। स्वरूपसन्मुख झुकाने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके.. इस प्रकार सकल विकार की (अर्थात्) अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप, दोनों परिणति को उखाड़कर। **केवलज्ञान प्रगट करता है।** लो! यह तो पहले आया था न, कि समकिती निरास्रव है, उसे बन्धन नहीं है। वह अश्रद्धा के उत्पादरूपी बन्धन नहीं है। मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी का आस्रव नहीं है। अस्थिरतारूप है, परन्तु दृष्टि का बहुत जोर दिया हो तो उसे वह अस्थिरता उसकी चीज़ ही नहीं है। वह तो ज्ञाता के ज्ञेय में जाती है, ऐसा कहकर समकिती को आस्रव और बन्ध नहीं है, किन्तु वापस विचार करने पर उसे आस्रव और बन्ध अभी है और थोड़ा स्थिति-रस कर्म में बन्ध भी (पड़ता) है परन्तु उसे गौण करके दृष्टि के जोर से बात की हो परन्तु एकान्त मान लेना कि उसे बिल्कुल अस्थिरता के आस्रव, रागादि हैं ही नहीं और बन्धन है ही नहीं, ऐसा नहीं है। यह वक्ता की अपेक्षा का कथन है। किस अपेक्षा से कहना चाहते हैं, ऐसा इसे जानना चाहिए। आहाहा!

'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इस प्रकार :- जो रागादिपरिणाम इच्छासहित होते हैं सो बुद्धिपूर्वक हैं.. अर्थात्? जो कुछ दया, दान, पुण्य, पाप के भाव रुचिपूर्वक होते हैं, इच्छापूर्वक होते हैं, हितबुद्धि से होते हैं, उन्हें बुद्धिपूर्वक है—ऐसा कहते हैं। **और जो इच्छारहित - परनिमित्त की बलवत्ता से..** है तो अपनी कमजोरी परन्तु निमित्त की अपेक्षा से बात की है। **परनिमित्त की बलवत्ता से..** देखो! इसमें लोग कहते हैं कि देखा! परनिमित्त की बलजोरी से विकार होता है। वह तो किस अपेक्षा से कहते हैं? अपने को राग की रुचि है नहीं, राग दु:खरूप भासित होता है परन्तु अपनी पर्याय में कमजोरी के कारण विकार होता है, उसे निमित्त की बलजोरी से होता है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहना कि प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय को प्राप्त करता है, पहुँचता है। उसमें पर का कोई अधिकार नहीं है। आहाहा! और उसकी पर्याय उसके द्रव्य-गुण से होती है, पर से नहीं होती और उसकी पर्याय उसके स्व अवसर में जो होनेवाली हो, वह होती है। आहाहा! बहुत प्रकार हैं। क्या अपेक्षा है, (वह समझना चाहिए)। आया था न? **विवक्षा की विचित्रता।** इस टीका में है या नहीं? उस कलश-टीका में नहीं। हेमराजजी ने डाला है। वक्ता को किस अपेक्षा से कहना है, वह कथन की विचित्रता है। कथन की (विचित्रता है)। वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए बन्धन नहीं है, ऐसा बहुत जोर दिया हो, इसलिए कोई ऐसा ही मान लेना कि उसे जरा भी बन्धन नहीं है, तब तो केवलज्ञान हो गया, तो यथाख्यातचारित्र हो गया हो। आहाहा! परन्तु दृष्टि के ज्ञान के जोर में जो रागादि अस्थिरता के आते हैं, उनका वह ज्ञान करता है, ज्ञान का ज्ञेय है। दृष्टि में हेय है, ज्ञान में ज्ञेय है, चारित्र की अपेक्षा से वह रागादि जहर है। आहाहा! ऐसा जानने पर भी आये बिना नहीं रहता, कहते हैं परन्तु दृष्टि के जोर की अपेक्षा से ऐसा कहा कि उसके नहीं हैं, परन्तु एकान्त से नहीं, ऐसा नहीं मान लेना। आहाहा!

दसवें गुणस्थान तक राग-लोभ राग है। छह कर्म बँधते हैं और यहाँ चौथे गुणस्थान में आस्रव और बन्ध है ही नहीं, (ऐसा कहा तो वह) किस अपेक्षा से कहा? वह तो दृष्टि के जोर में और ज्ञान में रागादि आवें, वह ज्ञान और दृष्टि में अपने नहीं मानता, उन्हें दुःखरूप और हेय जानता है। यह आ गया है न ऊपर? **ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। भावार्थ : समस्त राग को हेय जाना है।** चाहे तो भगवान की भक्ति का, विनय का (राग हो), वाँचन का हो, परन्तु उस राग को हेय जाना है। आहाहा! भगवान आत्मा परमात्म चिदानन्दस्वरूप है, वह एक ही ज्ञानी को उपादेय, आदरणीय है। रागमात्र (हेय है)। राग का कण भी रह गया हो, एक लोभ, इच्छा (रह गया हो), दसवें में द्वेष गया, दसवें गुणस्थान में द्वेष नहीं है। राग का अंश लोभ रहा, तो भी छह कर्म बाँधता है। समझ में आया? और यहाँ ऐसा कहना कि समकित हुआ तो राग भी नहीं, आस्रव भी नहीं, बन्ध भी नहीं। वह तो एक पूर्ण दृष्टि और उसके ज्ञान के जोर को बतलाने के लिए यह बात की है। अस्थिरता का राग आवे, वह अल्प आता है और उसे कर्म बन्धन भी स्थिति और रस

अल्प पड़ते हैं, ऐसी उसकी गिनती न गिनकर, गौण करके उसे बन्धन और आस्रव नहीं है, ऐसा कहा है। किन्तु जब मुख्यरूप से दोनों बात बतलानी हो (तो) निर्मल धारा है, उतना उसे आस्रव और बन्ध नहीं है। यह गाथा आ गयी है। और जब तक राग की पूर्ण निवृत्ति नहीं है, वहाँ तक रागधारा और ज्ञानधारा दोनों होती है। आहाहा!

राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान, वह भेदज्ञान (हुआ), तत्पश्चात् भेदज्ञान करना नहीं पड़ता। वह राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान तथा ज्ञान और श्रद्धा की धारा निरन्तर होती है। आहाहा! और जितना कमजोरी के कारण रागादि होते हैं, वह रागधारा-कर्मधारा भी साथ में होती है। जितने अंश में रागधारा, उतने अंश में बन्ध है; जितने अंश में ज्ञानधारा, उतने अंश में अबन्ध है। आहाहा!

यहाँ अब कहते हैं **रागादिपरिणाम इच्छारहित – परनिमित्त की बलवत्ता से होते हैं, सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादिपरिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं;..** रुचिपूर्वक नहीं, ऐसा। करनेयोग्य है, कर्तव्य है—ऐसा नहीं, तो भी एक अपेक्षा से ज्ञाननय की अपेक्षा से उन्हें ऐसा भी कहा जाता है कि राग का कर्ता भी है, भोक्ता भी है। आहाहा! सैंतालीस नय, प्रवचनसार। ज्ञानप्रधान कथन है न! राग का अंश है, परिणमे वह कर्ता, (ऐसा कहा)। वह करनेयोग्य है, इसलिए (कर्ता)—ऐसा नहीं है परन्तु परिणमता है, इस अपेक्षा से कर्ता तथा परिणमे और उसे भोगता है, उसे वह वेदन में है, ज्ञानी को राग का, दुःख का वेदन है; न हो तो पूर्ण आनन्द का वेदन होना चाहिए और पूर्ण आनन्द का वेदन नहीं है, वहाँ थोड़ा आनन्द और थोड़ा दुःख, दोनों का वेदन साथ में है। अरे.. अरे..! इतनी सब बातें अब।

एकान्त खींच जाना कि बस! ज्ञानी को कुछ है ही नहीं। दुःख भी नहीं, आस्रव भी नहीं बन्ध भी नहीं, (ऐसा नहीं होता)। एक गाथा में, कलश में जोर बहुत दिया है। ज्ञानी को कुछ है ही नहीं। किस अपेक्षा से? भाई! ज्ञानी को भोग निर्जरा का हेतु कहा है। भोग निर्जरा का हेतु होगा? ज्ञानी या अज्ञानी चाहे जो हो। भोग में तो राग है। राग तो बन्धन का कारण ज्ञानी को भी होता है परन्तु दृष्टि के जोर में, राग की रुचि नहीं, राग में सुखबुद्धि नहीं, राग में सुखबुद्धि नहीं; इसलिए उसे भोग खिर जाता है, हितबुद्धि नहीं, इस अपेक्षा से

कथन किया है। आहाहा! बाकी तो अंश-अंशराग जहाँ तक है, वहाँ तक अस्थिरता का दोष है, वह आस्रव है और उस प्रमाण बन्धन भी है। आहाहा!

ज्ञानी के जो रागादिपरिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं; सविकल्पदशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं.. अर्थात् क्या? कि राग से भिन्न, ऐसा भेदज्ञान तो है, परन्तु विकल्पदशा आयी, राग दशा में आया। चाहे तो दया, दानादि या हिंसा, झूठ, विषयादि, उस **सविकल्पदशा में होनेवाले रागादि परिणाम..** राग-द्वेषादि परिणाम ज्ञानी के ज्ञान में हैं, धर्मी को जानने में आते हैं। मेरी कमजोरी है, पर्याय में भावकर्म का जोर है।

उसमें तो ऐसा आया है न! 'कम्मोबलियो, कब्बा जीवोबलियो।' वह कर्म तो जड़ है, उनकी बात नहीं है। कदाचित् भावकर्म का बल विशेष बढ़ गया हो अथवा आत्मा के ज्ञान-आनन्द का बल बढ़ गया हो, ऐसा। 'कम्मोबलियो' (कहा), उसमें कर्म बल होकर आत्मा की कोई पर्याय करे, तब तो फिर ऐसा तो बहुत बार कहा गया कि अपनी-अपनी विकारी या अविकारी पर्याय को वह द्रव्य प्राप्त होता है, पहुँचता है, प्राप्त करता है। आहाहा! उसमें दूसरा द्रव्य उसे प्राप्त कराता है, ऐसा है नहीं। बहुत गड़बड़, गड़बड़ अभी तो (चलती है)। एक बात जहाँ करे, वहाँ दूसरे में भूले और दूसरी करे, वहाँ (तीसरी में भूले)। आहाहा! धर्मी को राग आता है, इसलिए वह हितबुद्धि से आता है, ऐसा नहीं है। हेयबुद्धि से आता है। आहाहा! अन्दर में स्थिरता नहीं (होती)... आहाहा! इसलिए उसे राग और द्वेष ऐसे परिणाम आते हैं परन्तु उनमें हितबुद्धि और रुचिबुद्धि नहीं है। **ज्ञानी को ज्ञात तो हैं, तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना ही इच्छा के होते हैं।** इच्छा बिना अर्थात्? - कि रुचि की इच्छा नहीं है, करनेयोग्य है, दृष्टि में उसे करनेयोग्य है—ऐसा भाव नहीं है। आहाहा! बाकी तो इच्छा हुई है, वह इच्छा हुई है। आहाहा! परन्तु यह मुझे कर्तव्य है और मुझे करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है। अपना आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा... आहाहा! परमात्मा आत्मा प्रभु, उसका जहाँ अन्तरज्ञान और आनन्द और श्रद्धा का परिणमन हुआ, उसमें फिर उसे राग का भाव आता है परन्तु सुखबुद्धि नहीं है, हितबुद्धि नहीं है। यह मुझे ठीक आया, ऐसा नहीं है। आहाहा! **तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं,..** अर्थात् रुचिपूर्वक नहीं है, ऐसा। **बिना इच्छा के होते हैं।**

अब दूसरा अर्थ राजमलजी ने इस टीका-कलश टीका में किया है। **(पण्डित राजमल्लजी ने इस कलश की टीका करते हुए 'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इस प्रकार किया है:-जो रागादिपरिणाम मन के द्वारा,..)** मन द्वारा अर्थात् मन के सम्बन्ध द्वारा राग-द्वेष विकारादि हो, **(बाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं,..)** मूल तो रागादि बाह्य विषयों के अवलम्बन से प्रवर्तते हैं। जो राग-द्वेष होते हैं, उस दशा की दिशा परसन्मुख ही है। क्या कहा, समझ में आया? जितने राग और द्वेष, दया, दानादि परिणाम (होते हैं), उस दशा की दिशा परसन्मुख है। वीतराग परिणति की दशा की दिशा आत्मा के सन्मुख है। आहाहा! अब ऐसी बातें हैं। क्योंकि वीतरागता —धर्मदशा वह तो द्रव्य के आश्रय से होती है।

वे लड़के तूफान (ऊधम) करते हैं। यह उन्हें समझ में नहीं आवे तो क्या करना? बाहर बाथमबाथ भिड़ते थे। आहाहा!

राजमलजी ने ऐसी अपेक्षा से बात की है कि जो रागादि, राग-द्वेष, विषय-वासना आदि मन द्वारा हो और बाह्य विषयों को अवलम्बन कर हो। वैसे तो राग होता है, वह बाह्य विषयों को ही अवलम्ब कर होता है परन्तु यहाँ उसकी जरा दूसरी भाषा की है। **(प्रवर्तते हैं,.. बाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं,..)** राग-द्वेष होते हैं, वे बाह्य विषयों को (अवलम्ब कर) प्रवर्तते हैं। मन द्वारा बाह्य विषयों को अवलम्बन करते हैं। **(और जो प्रवर्तते हुए जीव को निज को ज्ञात होते हैं..)** आहाहा! जीव को जानने में भी आवे कि यह राग हुआ, अशुभराग (हुआ), ऐसा जानने में आवे। **(तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं..)** कि इसे अभी अशुभराग है या शुभ (राग है)। बाहर की भगवान की (पूजा, भक्ति की) प्रवृत्ति में हो, तब शुभ है और दूसरे में हो तो अशुभ है, ऐसा अनुमान से जानने में (आता है)। **(वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं;..)** ऐसा कहा है। उन परिणामों को बुद्धिपूर्वक कहा है। क्या कहा?

एक तो विकार होता है, वह मन द्वारा बाह्य विषयों को अवलम्बनकर प्रवर्तते हुए अपने को ज्ञात होता है, दूसरे को अनुमान से भी ज्ञात होता है। यह चार बोल लिये हैं। समझ में आया? यह तो धीर की बात है, बापू! आहाहा! राजमलजी ने ऐसा अर्थ लिया (कि) राग होता है, वह मन द्वारा (होता है)। यद्यपि राग होता है, वह मन द्वारा ही होता है, परन्तु

यहाँ एक बात दूसरी निकाल डालेंगे। मोह के उदय से होता है, उसे मन द्वारा नहीं, ऐसी यह बात करेंगे। नहीं तो जितना राग-द्वेष होता है, वह मन के सम्बन्ध से होता है या पर का-विषयों का सम्बन्ध है। मन के सम्बन्ध बिना सीधे राग नहीं होता। मोहकर्म का उदय आवे और स्वयं जुड़े तो उसमें मन का सम्बन्ध है। आहाहा!

यहाँ राजमलजी एक दूसरी अपेक्षा लेंगे। कलश-टीका है न! जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव मन द्वारा होते हैं, बाह्य विषयों को अवलम्बकर होते हैं, दो (बातें हुई), (वे) प्रवर्तते हुए अपने को ज्ञात होते हैं, यह (तीसरी बात), दूसरे को अनुमान से भी ज्ञात होते हैं। **(वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं; और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय-मन के व्यापार के अतिरिक्त..)** अपेक्षा से लिया है। नहीं तो राग होता है, वह मन के अवलम्बन बिना होता ही नहीं, परन्तु बुद्धिपूर्वक मन का अवलम्बन नहीं है, ऐसा (कहना है)। बुद्धिपूर्वक मन का अवलम्बन नहीं है, इस अपेक्षा से कहा है। नहीं तो राग होता है, वह किसी प्रकार से मन के अवलम्बन बिना हो सकता ही नहीं। परद्रव्य के अवलम्बन बिना राग होता ही नहीं। अकेला मोह का उदय आकर राग हो, ऐसा नहीं है, परन्तु यहाँ दूसरे प्रकार से सिद्ध करना है।

वे परिणाम इन्द्रिय और मन के व्यापार के अतिरिक्त। अपना व्यापार मैं करूँ, ऐसा नहीं। मन में जुड़कर राग करूँ, ऐसा विशेष नहीं है। इसलिए उसे **(मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं..)** समझ में आया इसमें कुछ? इस प्रकार लिया है। मन द्वारा होते हैं, मन द्वारा नहीं होते। मात्र मोह के उदय से होते हैं, ऐसी एक-दो शैली ली है। बाकी तो जो राग होता है, वह परद्रव्य के सम्बन्ध बिना, निमित्त के सम्बन्ध बिना होता ही नहीं। मोह का उदय आया परन्तु मन सम्बन्ध में जुड़े, तब ही उसे राग होता है। आहाहा! परन्तु यहाँ अपेक्षा से कथन है। ऐसा सब जानना। आहाहा!

(इन्द्रिय-मन के व्यापार के अतिरिक्त..) यह तो जब पहले पढ़ा, तब ख्याल था कि टीका इतनी अधिक कैसे करते हैं। कलश में मन द्वारा अकेले मोह से (होते हैं), वह तो एक अपेक्षा से ख्याल में नहीं हैं, इसलिए उसे मोह द्वारा हुआ, ऐसा कहने में आता है। ज्ञात नहीं होता, ऐसा आया था न? उसमें आया था न? कि जीव (को) ज्ञात हो, बाह्य विषयों का अवलम्बन है, मन द्वारा (होता है वह) दूसरे को अनुमान से ज्ञात होता है। ऐसा इसमें नहीं, इसलिए मोह द्वारा (होता है ऐसा) कहा। क्या कहा? इसे ख्याल में नहीं आता,

परन्तु है तो मन का सम्बन्ध। ख्याल में नहीं आता, इस अपेक्षा से मोह के उदय से राग और द्वेष हुआ, ऐसा कहने में आया। मन द्वारा बाह्य विषयों को अवलम्बकर स्वयं को जानने में आवे तथा दूसरे को अनुमान से भी ज्ञात हो कि यह मुझे अभी राग (होता) है। आहाहा!

समकिती दुकान में व्यापार करने बैठा हो, तब सब राग ज्ञात होता है या नहीं? स्वयं को ज्ञात होता है या नहीं? मन द्वारा हुआ है या नहीं? पर का अवलम्बन है या नहीं? अपने को ज्ञात होता है या नहीं? दूसरे भी अनुमान करे कि यहाँ बैठा (है, इतना) राग है। समझ में आया? आहाहा! और उसके ख्याल में न आवे तथा पर का, इन्द्रियों के विषयों का सम्बन्ध नहीं है और दूसरे भी अनुमान नहीं कर सकते, इस अपेक्षा से उसे मन बिना, मोह के उदय से हुआ—ऐसा कहने में आया है। आहाहा!

मुमुक्षु : मोह के उदय की मुख्यता से।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुख्यता दी इतना। बाकी है तो अन्दर मन द्वारा अवश्य। परन्तु अन्दर सूक्ष्म, सूक्ष्मरूप से ज्ञात नहीं होता और दूसरे भी उसे अनुमान (न) कर सके कि यह राग में है। इस प्रकार राग होने में मन से नहीं परन्तु मोह के उदय से होता है, ऐसा यहाँ अबुद्धिपूर्वक कहने में आया है। अरे! अब ऐसा यह सब कहाँ याद रहे? कितना याद (रखना)? प्रतिदिन फेरफार। सवेरे कुछ, दोपहर में कुछ। बापू! मार्ग तो ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा! जिस अपेक्षा से कहा है, उस अपेक्षा से इसे जानना चाहिए। भगवान का मार्ग स्याद्वाद है। किस अपेक्षा से कहा, उस अपेक्षा से जानना चाहिए। स्याद्वाद करके ऐसा नहीं (कहना) कि निमित्त से भी होता है और आत्मा से भी होता है; व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है।—ऐसा स्याद्वाद नहीं है, किन्तु निमित्त भी है, उपादान भी है, व्यवहार भी है, निश्चय भी है। आहाहा!

(इन्द्रिय-मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते..) देखा? सूक्ष्म है न, यह अपेक्षा ली है। उसमें ज्ञात होते हैं और यहाँ ज्ञात नहीं होते, इतनी अपेक्षा ली है। **(वे अबुद्धिपूर्वक हैं।)** यह बराबर कहा है। मन द्वारा अर्थात् ऐसा करूँ, ऐसा करूँ - ऐसे इतना जुड़ान, इतना स्थूल उपयोग नहीं है। सूक्ष्मरूप से है, उसे मन द्वारा नहीं, ऐसा कहा और मोह के उदय से होते हैं, तथा अपने को ज्ञात नहीं होते; इसलिए उन्हें अबुद्धिपूर्वक कहा गया है।

एक में बुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक (अर्थ किया), अबुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचि बिना (ऐसा अर्थ किया)। यहाँ दूसरी चीज (सिद्ध करते हैं)। यहाँ बुद्धिपूर्वक मन द्वारा ख्याल में आवे, दूसरे जानें, उसका नाम बुद्धिपूर्वक और अपने को ख्याल में न आवे, भले है मन द्वारा परन्तु मन द्वारा होते हैं, ऐसा ख्याल में न आवे और मोह के उदय से होते हैं, उन्हें अबुद्धिपूर्वक कहने में आता है। ऐसा है। यह तो जिस दिन पहले पढ़ा, तब से यह ख्याल में है कि यह मन द्वारा निषेध करते हैं। वह इस अपेक्षा से, कहा न ? कि जीव को ज्ञात नहीं होते, इस अपेक्षा से। आहाहा! ऐसा धर्म समझने के लिए... ऐसा सब रुकना पड़ता होगा ?

धर्म चीज़ बहुत सूक्ष्म है, बापू! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ का जो ज्ञान तीन काल-तीन लोक का, उसका जो स्वभाव और उस स्वभाव को स्वयं अपने में प्राप्त करना और स्वभाव को प्राप्त करने पर भी राग-द्वेष का रहना... आहाहा! स्वभाव में राग-द्वेष हैं नहीं। स्वभाव की दृष्टि होने पर, अनुभव होने पर भी स्वभाव में राग-द्वेष नहीं हैं। दृष्टि में राग-द्वेष नहीं हैं, दृष्टि का विषय तो स्वभाव त्रिकाली है, तो भी उसे भी सूक्ष्मरूप से मन द्वारा ज्ञात नहीं होता, इस अपेक्षा से मन द्वारा नहीं और मोह के उदय से राग हुआ, और स्वयं को जानने में आता नहीं, उसे अबुद्धिपूर्वक कहने में आता है। कहो, चिमनभाई! इसमें कितना इसमें (याद रखना) ? आहाहा!

मुमुक्षु : दुकान में धन्धा करे तो सब याद रखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ सब प्रकार (याद रखता है)। दुकान में हमारे आनन्दजी था। वह कितनी चीज़ें और कितना ध्यान रखता था! अपने को बहुत ऐसा कुछ नहीं। दुकान में बैठते... और माल लेकर आवे, तब हाथ में छतरी लटकती ऐसे... रेल में से उतरे तो आवे। तीन-चार दिन में, तीन-चार दिन में मुम्बई माल लेने जाना पड़े। मासिक पास लिया हुआ था। यह तो तब (संवत्) १९६४-६५-६६ की बातें हैं। १९६३ में कुँवरजी की दुकान की थी। हमारे बड़े भाई को साथ में लिया था। आहाहा! वह सब बात जाने, एक-एक! मुम्बई में इस चीज़ का यह भाव है, किस भाव में यह चीज़ हम लाये, उसमें इतनी बिक गयी है और इतनी बाकी है और (यह चीज़) नये भाव में ऐसे भाव की आनेवाली है। ऐई..! हमारे आनन्दजी था, आनन्दजी! अन्त में पैर टूट गया था, इसलिए चल नहीं

सकता था। पति-पत्नी दो ही थे, लाखों रुपये थे। पश्चात् दुकान छोड़ दी थी तो भी दो घण्टे दुकान में आवे।

मुमुक्षु : घर में क्या करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह घर नहीं अन्दर ? आहाहा! निजघर में जाए तो वहाँ महाप्रभु विराजता है। आहाहा! ऐसा का ऐसा मर गया। अन्त में कहे कि अरे रे! मुझे किसी ने कहा नहीं, क्योंकि अकेला। पति-पत्नी दो ही थे और दुकान में पाप बहुत किये। और मैंने उसे कहा परन्तु वह मेरा कुछ (माना नहीं)। यह तो महाराज त्यागी है तो कहे (ऐसा ले लेवे) परन्तु मुझे किसी कुटुम्बी ने कहा नहीं कि छोड़ दे। परन्तु तू किसलिए (करता है) ? मजदूरी करके बैठा हो तो मजदूरी कर न यहाँ। आहाहा! अरे रे! अब मैं जाता हूँ। किसी ने मुझे छोड़ने को कहा नहीं। मैंने छोड़ा नहीं, मुझे कुछ नहीं था तो भी। एक ही स्त्री, तो भी (छोड़ा नहीं)। लाखों रुपये थे। फिर तो दोनों मर गये। बहू भी मर गयी। आहाहा! यह संसार का नाटक! आहाहा!

दामनगर में एक खुशालभाई थे। अपने यहाँ जगुभाई रहते थे, जगुभाई! बड़े जगुभाई! गढडा, वे गुजर गये। उनके पिता थे। लौकिक में चतुर कहलाते थे। एक आँख थी और एक आँख नहीं थी। गाँव में जहाँ विवाद हो, ऐसा हो (वहाँ) जाए तो समाधान कर डाले। बहुत समय ऐसा सब किया। वह मरने के समय, भाई! आहाहा! इससे श्वास ली जाए नहीं, उलझन का पार नहीं होता। देखने आवे, सेठ देखने आवे। दामोदर सेठ देखने आवे। गाँव में कर्ता-हर्ता वह था न! देखने आवे। फिर रोवे। अरे रे! मैंने मेरा कुछ नहीं किया। मैंने पर का करने में रुककर मैंने मेरा बिगाड़ दिया। अरे! अब समय रहा नहीं। ऐसे अन्त में बोलता था। संसार का चतुर कहलाता था। खुशालभाई! खुशाल प्रेमचन्द! उसके पिता का नाम। आहाहा! वह भाई रोते-रोते देह छूट गयी। मैंने मेरा कुछ नहीं किया। अरे रे! ऐसे देह पूरी हो जाएगी। लोग ऐसे के ऐसे अभिमान में रहा करते हैं। अभी बाद में करूँगा, बाद में करूँगा, बाद में करूँगा। इतना करूँगा, इतना बाद में करूँगा, इतना बाद में करूँगा। वह बाद में पहला आवे नहीं और बाद का बाद में रहा करे, आहाहा! अरे रे! ऐसा अवसर कब आवे ? भाई! अनन्त-अनन्त काल का, बापू! यह इसने विचार नहीं किया। आहाहा!

अनन्त नरक के, निगोद के भव करके, बापू! तू यहाँ आया है। आहाहा! अब तो यह नरक और निगोद के भव, बापू! कैसे सहन किये हैं, यह बात कठिन है। आहाहा! यह भव न हो, वह करना है, भाई! आहाहा! बाकी तो सब चीज़ ठीक, दुनिया पैसा सब हुए और इज्जत हुई और लड़के पाँच-सात-दस हुए और सब कमाऊ हुए और अमुक हुए... इसमें धूल में कुछ (नहीं है)। आहाहा! मरकर दुर्गति में जाएगा, बापू! आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **(अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है और उनके अविनाभावी चिह्नों से वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं।)** उसके साथ में-पूर्व के साथ में मिलाया। दूसरे जानते हैं, ऐसा आया था न! भाई! मन द्वारा होते हैं, वे अपने को ज्ञात होते हैं और पर के अवलम्बन द्वारा होते हैं, दूसरे भी अनुमान से उन्हें जानते हैं, ऐसा आया था। अब इसमें दूसरे प्रकार से (कहते हैं)। जो **(अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है..)** स्वयं नहीं जानता, परन्तु ज्ञानी जानते हैं। **(उनके अविनाभावी चिह्नों से वे अनुमान से..)** दूसरे भी जानते हैं। अनुमान से (जानते हैं) अभी केवलज्ञान हुआ नहीं, पूर्ण (हुआ) नहीं और राग है। आहाहा!

श्रीमद् में एक आता है। सौभागभाई! सौभागभाई न? सौभागभाई! सौभागभाई मरते नहीं, अन्त में? साथ में कोई था, साथ में कोई था, उसे पलंग में सोते-सोते कहे, मुझे केवलज्ञान होगा तो मैं तुझे कहूँगा। मूल स्थूल बातें। ऐ... परन्तु अभी पलंग में सो रहा है... सौभागभाई न? और वह साथ में था वह? डूंगरसी, डूंगरसी! ऐसी स्थिति! केवलज्ञान किसे कहना? बापू! आहाहा! अरे! यह पलंग होवे नहीं, वस्त्र होवे नहीं। और केवलज्ञान होगा तो मैं तुझे कहूँगा। ऐसी बात बाहर आयी है। आहाहा! ऐसी बात बाहर आयी है, अब सच्ची-झूठी कितनी है (कौन जाने)? यहाँ कान में आयी है। आहाहा! कहीं लिखावट में भी है, कहीं लिखावट है। आहाहा! अरे... बापू! अभी मुनिपना किसे कहना? भाई!

आहाहा! जिन्हें तीन कषाय का नाश (हुआ है), प्रचुर स्वसंवेदन आनन्द का वेदन (प्रगट हुआ है)। और जिनकी दशा नग्न, वस्त्र का टुकड़ा भी न हो, भाई! आहाहा! उन्हें स्त्री, पुत्र, मकान तो कहाँ थे? वह मुनिदशा बापू! वह कोई अलौकिक है! जैनदर्शन की मुनिदशा! आहाहा! जिसे अन्तर स्वसंवेदन, आनन्द का प्रचुर वेदन (हो), अतीन्द्रिय आनन्द का उफान.. उफान आवे! अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर उत्साह, उफान आवे अन्दर से!!

आहाहा! उसे जहाँ नग्नदशा हो, उसे ऐसा होता है। वस्त्रवाला हो, उसे ऐसी दशा नहीं होती। आहाहा! तो फिर पलंग में सोते हुए केवलज्ञान होगा?

मुमुक्षु : मरुदेवी माता को हाथी के हौदे केवलज्ञान हुआ, ऐसा तो कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाथी के हौदे केवलज्ञान सब मिथ्या बात है। यह फिर श्वेताम्बर कहते हैं। मरुदेवी हाथी के हौदे दर्शन करने जा रही थी। वहाँ ऊपर केवल (ज्ञान) हो गया, ऊपर मोक्ष हो गया। आहाहा! आहाहा! बापू! ऐसा नहीं चलता, भाई! स्त्री का शरीर हो, उसे तो पाँचवें गुणस्थान से ऊपर नहीं आती, मुनिपना नहीं आता, भाई! यह तो पदार्थ की व्यवस्था ऐसी है। भगवान ने की नहीं है। जैसी है, वैसी कही है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **(अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है..)** अपने को जानने में नहीं आते, ऐसा कहते हैं। **(उनके अविनाभावी चिह्नों से वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं।)** दूसरे को भी ज्ञात होते हैं। सूक्ष्म है (इसलिए) अपने को भले जानने में न आवे। उन्हें यहाँ मोह के उदय से होनेवाले अबुद्धिपूर्वक कहने में आया है और मन द्वारा बुद्धिपूर्वक रागादि हों, उन्हें स्वयं भी जान सके, उनका अवलम्बन बाह्य विषयों का होता है और उन्हें जानते हुए दूसरे को भी अनुमान से ज्ञात हो सकते हैं, दूसरे भी अनुमान से उन्हें जानते हैं, उसे बुद्धिपूर्वक राग कहते हैं और यह अबुद्धिपूर्वक राग स्वयं को ज्ञात नहीं होता और दूसरे को भी ज्ञात नहीं होता। प्रत्यक्ष केवली जाने और दूसरे अनुमान से जाने, उसे अबुद्धिपूर्वक कहते हैं।

मुमुक्षु : सातवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर अबुद्धिपूर्वक है। वह यहाँ बात नहीं है, यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो निचली भूमिका में बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक की बात है, वह बात यहाँ नहीं है। वह तो सातवें के बाद अबुद्धिपूर्वक है, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो निचली भूमिका में भी जो रुचिपूर्वक हो, स्वयं को ज्ञात हो। ज्ञानी को रुचिपूर्वक नहीं होता परन्तु स्वयं को ज्ञात होता है और दूसरे भी अनुमान से जान सकते हैं और उसका अवलम्बन परसन्मुख जाता है। (ऐसे) राग को बुद्धिपूर्वक कहा जाता है और जिस राग को सूक्ष्मरूप से मन द्वारा नहीं और मन द्वारा स्थूलपना नहीं दिखता, इसलिए उसे मोह के उदय से हुआ (कहने में आया है)। प्रत्यक्ष केवली जाने और दूसरे अनुमान से भी जानते हैं। है न? **(अनुमान से**

भी ज्ञात होते हैं।) उसे यहाँ अबुद्धिपूर्वक कहते हैं। वह (सातवें से दसवें गुणस्थान के) अबुद्धिपूर्वक की बात यहाँ अभी नहीं है। आहाहा!

पहले इसमें आया था। बुद्धिपूर्वक, नहीं? पहले आया था, देखो! **रागादिपरिणाम इच्छासहित होते हैं, सो बुद्धिपूर्वक हैं...** यह (बात), यहाँ पहले आयी थी। **और जो रागादिपरिणाम इच्छारहित – परनिमित्त की बलवत्ता से होते हैं, सो अबुद्धिपूर्वक हैं।** ऐसा आया था। वह अलग, यह अलग, वह अलग। आहाहा! धीमे-धीमे समझने की बात है, बापू! आहाहा! यह तो वीतरागमार्ग है, सूक्ष्म मार्ग है। आहाहा! भगवान आत्मा ही सूक्ष्म है न! आहाहा!

इसलिए ग्रन्थकार की अपेक्षा से रागादि परिणाम बुद्धिपूर्वक हों और अबुद्धिपूर्वक हों, इतनी बात यहाँ ली। और टीकाकार बात डालते हुए (कहते हैं), बुद्धिपूर्वक अर्थात् इसके ख्याल में आवे, मन का जुड़ान हो, दूसरे भी जान सकें, उसे बुद्धिपूर्वक कहते हैं और यहाँ मन में जुड़ान नहीं, ख्याल में आया (कि) जुड़ान नहीं, इसलिए मोह के उदय से हुआ, स्वयं को भी ज्ञात नहीं होता, प्रत्यक्ष केवली जान सकते हैं (ऐसा कहा)।

कलश-११७

अब शिष्य की आशंका का श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

सर्वस्या-मेव जीवन्त्यां द्रव्य-प्रत्यय-सन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः॥११७॥

श्लोकार्थ :'[सर्वस्याम् एव द्रव्यप्रत्ययसंततौ जीवन्त्यां] ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान होने पर भी [कुतः] यह क्यों कहा है कि [ज्ञानी] ज्ञानी [नित्यम् एव] सदा ही [निरास्रवः] निरास्रव है'?-[इति चेत् मतिः] यदि तेरी यह मति (आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है॥११७॥

श्लोक - ११७ पर प्रवचन

अब शिष्य की आशंका का श्लोक कहते हैं:- ११७

सर्वस्या-मेव जीवन्त्यां द्रव्य-प्रत्यय-सन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ।।११७।।

आहाहा! क्या कहते हैं। **'सर्वस्याम् एव द्रव्यप्रत्ययसंततौ जीवन्त्यां' ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान होने पर भी..** आहाहा! शंकाकार पूछता है। आशंका, हों! आशंका है, हों! शंका नहीं। तुम कहते हो, वह मिथ्या है - ऐसा नहीं, परन्तु मुझे समझ में नहीं आता। तुम यह क्या कहते हो? धर्मी को समस्त द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान है। है न? **'जीवन्त्यां'** विद्यमान है। **'जीवन्त्यां'** अर्थात् विद्यमान है। समकिती-ज्ञानी को भी अभी आठ कर्म हैं, आयुष्यसहित है, वे विद्यमान आठों कर्म हैं। जीवित अर्थात् विद्यमान है और तुम कहते हो कि उसे बन्धन नहीं है और आस्रव नहीं है। यह क्या कहते हो? आहाहा! ऐसी बातें, बापू! बहुत सूक्ष्म।

'सर्वस्याम् एव द्रव्यप्रत्ययसंततौ जीवन्त्यां' धर्मी जीव—क्षायिक समकिती हो तो भी उसे **समस्त द्रव्यास्रव की संतति..** परम्परा अन्दर विद्यमान है। ऐसा होने पर भी **ज्ञानी.. 'नित्यम् एव' सदा ही..** आहाहा! सदा ही निरास्रव है? उसे अन्दर आठ कर्म विद्यमान विराजते हैं। आहाहा! नये (कर्म) बँधते हैं, राग होता है, पूर्व के कर्म हैं, नये भी आते हैं - ऐसा सब होने पर भी तुम, प्रभु! आहाहा! **ज्ञानी सदा ही निरास्रव है'?**-ऐसा किस कारण से कहा **'इति चेत् मतिः' यदि तेरी यह मति है..** होवे, इस प्रकार तुझे समझने के लिए आशंका होवे, अर्थात् **(आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है।**

गाथा–१७३–१७६

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
उवओ–गप्पाओगं बंधंते कम्म–भावेण।।१७३।।

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठ–विहा भूदा णाणावरणादि–भावेहिं।।१७४।।

संति दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स।।१७५।।

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसव–भावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा।।१७६।।

सर्वे पूर्व–निबद्धास्तु प्रत्यया: सन्ति सम्यग्दृष्टे:।
उपयोग–प्रायोग्यं बध्नन्ति कर्म–भावेन।।१७३।।

भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि।
सप्ताष्ट–विधानि भूतानि ज्ञानावरणादि–भावै:।।१७४।।

सन्ति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य।।१७५।।

एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टि–रबन्धको भणित:।
आस्रव–भावाभावे न प्रत्यया बन्धका भणिता:।।१७६।।

यत: सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्त–यौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात् उपयोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्यया: सन्तोऽपि

कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नन्ति, ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्यया: पूर्वबद्धाः सन्ति, सन्तु, तथापि स तु निरास्रव एव, कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रव-भावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबन्धहेतुत्वात् ।।१७३-१७६।।

अब, पूर्वोक्त आशंका के समाधानार्थ गाथा कहते हैं:-

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टि के।
उपयोग के प्रायोग्य बंधन, कर्मभावों से करे।।१७३।।
अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बाँधते।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त-अष्ट प्रकार के।।१७४।।
सत्ता विषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुष को।
उपभोग्य बनते वे हि बाँधें, यौवना ज्यों पुरुष को।।१७५।।
इस हेतु से सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे।
आसरवभावअभाव में प्रत्यय नहीं बंधक कहे।।१७६।।

गाथार्थ : [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [सर्वे] समस्त [पूर्वनिबद्धाः तु] पूर्वबद्ध [प्रत्ययाः] प्रत्यय (द्रव्यास्रव) [संति] सत्तारूप में विद्यमान हैं, वे [उपयोगप्रायोग्यं] उपयोग के प्रयोगानुसार, [कर्मभावेन] कर्मभाव के द्वारा (-रागादि के द्वारा) [बध्नंति] नवीन बन्ध करते हैं। वे प्रत्यय, [निरुपभोग्यानि] निरुपभोग्य [भूत्वा] होकर फिर [यथा] जैसे [उपभोग्यानि] उपभोग्य [भवंति] होते हैं [तथा] उसी प्रकार, [ज्ञानावरणादिभावैः] ज्ञानावरणादि भाव से [सप्ताष्टविधानि भूतानि] सात-आठ प्रकार से होनेवाले कर्मों को [बध्नाति] बाँधते हैं [संति तु] सत्ता-अवस्था में वे [निरुपभोग्यानि] निरुपभोग्य हैं अर्थात् भोगनेयोग्य नहीं हैं- [यथा] जैसे [इह] इस जगत में [बाला स्त्री] बाल स्त्री [पुरुषस्य] पुरुष के लिये निरुपभोग्य है। [यथा] जैसे [तरुणी स्त्री] तरुण स्त्री युवती [नरस्य] पुरुष को [बध्नाति] बाँध लेती है, उसी प्रकार [तानि] वे [उपभोग्यानि] उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होने पर बन्धन करते हैं। [एतेन तु कारणेन] इस कारण से [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि को [अबंधकः] अबन्धक [भणितः] कहा है, क्योंकि [आस्रवभावाभावे] आस्रवभाव के अभाव में [प्रत्ययाः] प्रत्ययों को [बन्धकाः] (कर्मों का) बन्धक [न भणिताः] नहीं कहा है।

टीका : जैसे पहले तो तत्काल ही परिणीत बाल स्त्री अनुपभोग्य है किन्तु यौवन को प्राप्त वह पहले की परिणीत स्त्री यौवनावस्था में उपभोग्य होती है और जिस प्रकार उपभोग्य हो, तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बन्धन करती है- वश में करती है, इसी प्रकार जो पहले तो सत्तावस्था में अनुपभोग्य हैं किन्तु विपाक-अवस्था में उपभोगयोग्य होते हैं, ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय होने पर भी वे जिस प्रकार उपभोग्य हों, तदनुसार (अर्थात् उपयोग के प्रयोगानुसार), कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही, बन्धन करते हैं। इसलिए ज्ञानी के यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं, तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं। (जैसे यदि पुरुष को रागभाव हो तो ही यौवनावस्था को प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है, इसी प्रकार जीव के आस्रवभाव हो, तब ही उदय प्राप्त द्रव्य प्रत्यय नवीन बन्ध कर सकते हैं।)

भावार्थ : द्रव्यास्रवों के उदय और जीव के रागद्वेषमोहभाव का निमित्त-नैमित्तिकभाव है। द्रव्यास्रवों के उदय में युक्त हुवे बिना जीव के भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिए बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिस प्रकार उसे भावास्रव हो; उसी प्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्ध के कारण होते हैं। यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता।

सम्यक्दृष्टि के मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से उसे उस प्रकार के भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबनधी कषाय सम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता। (क्षायिक सम्यक्दृष्टि के सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होते समय ही अनन्तानुबन्धी कषाय का तथा तत्सम्बन्धी अविरति और योगभाव का भी क्षय हो गया होता है, इसलिए उसे उस प्रकार का बन्ध नहीं होता; औपशमिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय मात्र उपशम में-सत्ता में-ही होने से सत्ता में रहा हुआ द्रव्य उदय में आये बिना उस प्रकार के बन्ध का कारण नहीं होता; और क्षायोपशमिक सम्यक्दृष्टि को भी सम्यक्त्वमोहनीय के अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाक में (उदय में) नहीं आतीं, इसलिए उस प्रकार का बन्ध नहीं होता।)

अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि के जो चारित्रमोह का उदय विद्यमान है, उसमें जिस प्रकार जीव युक्त होता है; उसी प्रकार उसे नवीन बनध होता है; इसलिए गुणस्थानों के

वर्णन में अविरत-सम्यक्दृष्टि आदि गुणस्थानों में अमुक अमुक प्रकृतियों का बन्ध कहा है। किन्तु यह बन्ध अल्प है, इसलिए उसे सामान्य संसार की अपेक्षा से बन्ध में नहीं गिना जाता। सम्यक्दृष्टि चारित्रमोह के उदय में स्वामित्वभाव से युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूप से युक्त होता है; और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टि में युक्तता ही नहीं है। इसलिए सम्यक्दृष्टि के रागद्वेषमोह का अभाव कहा गया है। जब तक जीव कर्म का स्वामित्व रखकर कर्मोदय में परिणमित होता है, तब तक ही वह कर्म का कर्ता कहलाता है; उदय का ज्ञातादृष्टा होकर पर के निमित्त से मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है, तब कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। इस अपेक्षा से सम्यक्दृष्टि होने के बाद चारित्रमोह के उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है। जब तक मिथ्यात्व का उदय है और उसमें युक्त होकर जीव रागद्वेषमोहभाव से परिणमित होता है, तब तक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बन्ध-अबन्ध का यह भेद जानना। और शुद्ध स्वरूप में लीन रहने के अभ्यास द्वारा केवलज्ञान प्रगट होने से जब जीव साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानी होता है, तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है, यह पहले कहा जा चुका है।

गाथा - १७३ से १७६ पर प्रवचन

गाथा। चार है न गाथा।

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
उवओ-गप्पाओगं बंधंते कम्म-भावेण ।।१७३।।
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठ-विहा भूदा णाणावरणादि-भावेहिं ।।१७४।।
संति दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ।।१७५।।
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसव-भावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ।।१७६।।

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टि के।
उपयोग के प्रायोग्य बंधन, कर्मभावों से करे।।१७३।।
अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बाँधते।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त-अष्ट प्रकार के।।१७४।।
सत्ता विषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुष को।
उपभोग्य बनते वे हि बाँधें, यौवना ज्यों पुरुष को।।१७५।।
इस हेतु से सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे।
आसरवभावअभाव में प्रत्यय नहीं बंधक कहे।।१७६।।

आहाहा! **टीका : जैसे पहले तो तत्काल ही परिणीत बाल स्त्री अनुपभोग्य है..** विवाह किया हो परन्तु लड़की दस वर्ष की या ग्यारह वर्ष की या आठ वर्ष की हो, वह अनभोग्य है। **किन्तु यौवन को प्राप्त वह..** वह जब जवान हो, **वह पहले की परिणीत स्त्री यौवनावस्था में उपभोग्य होती है..** दृष्टान्त (कहते हैं)। **और जिस प्रकार उपभोग्य हो..** जिस प्रकार वर्तमान में उपभोग्य हो, **तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बन्धन करती है..** आहाहा! **वश में करती है,..** यह दृष्टान्त।

इसी प्रकार जो पहले तो सत्तावस्था में अनुपभोग्य हैं.. धर्मी को सत्ता में पड़े हुए कर्म, वे कहीं भोग्य नहीं हैं, पड़े हैं। आहाहा! **सत्तावस्था में अनुपभोग्य हैं किन्तु विपाक-अवस्था में उपभोगयोग्य होते हैं..** जब उस कर्म का उदय-विपाक आवे, तब वह उपभोग्य होता है। आहाहा! **ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय..** जड़कर्म का उदय होने पर भी.. आहाहा! **वे उपयोग के प्रयोगानुसार..** वे जिस प्रमाण वर्तमान पुरुषार्थ से जुड़े तद्नुसार। आहाहा! **उपयोग के प्रयोगानुसार..** वर्तमान उपयोगानुसार। कर्म सत्ता (में) पड़ा है, वह कुछ नहीं। उसका उदय आवे, तब भी वर्तमान पुरुषार्थ से जितना जुड़े, उतना उसे बन्धन है। समझ में आया? आहाहा!

कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही,.. कर्म के उदय के कार्य में यदि जीवभाव का सद्भाव हो, साथ में जुड़ान हो तो **बन्धन करते हैं।** यह क्या कहा? ज्ञानी को सत्ता में कर्म पड़े थे, वे तो कहीं भोग्य नहीं हैं। उदय में आवे, तब वर्तमान

में जितना जिस प्रकार का अपना उपयोग जुड़े, तत्प्रमाण बन्धन होता है। अब, ज्ञानी का उपयोग सम्यग्दर्शनसहित का है। आहाहा! आहाहा! है?

कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव.. (अर्थात् कि) विकारीभाव। उसके सद्भाव के कारण ही बन्धन करे। **इसलिए ज्ञानी के यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं,..** धर्मी को पूर्व में बँधे हुए मिथ्यात्व से बाँधे थे, वे कर्म पड़े हैं। **तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है,..** पूर्व कर्म की अपेक्षा से भी, वे पड़े हुए हैं, इस अपेक्षा से निरास्रव है। **क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं।** उस कर्म के उदय का कार्य वर्तमान राग-द्वेष-मोह होवे तो आस्रव (होता है) परन्तु वह **आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं।** धर्मी को वह (कर्म का) उदय आवे, परन्तु उसे राग-द्वेष होता ही नहीं, कहते हैं। उसमें उसका जुड़ान होता ही नहीं। आहाहा! वह तो समकिती है, उसके ज्ञान का जुड़ान तो आत्मा के साथ है। आहाहा! समझ में आया? **द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं।** जड़ पड़े हुए कर्म कोई बन्ध के कारण नहीं हैं। वर्तमान में उदय आवे, तब जितना स्वयं उस ओर में जुड़े तो उसे भाव होता है।

(जैसे यदि पुरुष को रागभाव हो तो ही यौवनावस्था को प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है; इसी प्रकार जीव के आस्रवभाव हो, तब ही उदय प्राप्त द्रव्य प्रत्यय नवीन बन्ध कर सकते हैं।) नये भाव करे, पुराने कर्म पड़े हों, नये भाव करे तो बन्धन का कारण होता है। पुराने कर्म पड़े हैं, इसलिए उसे बन्धन का कारण होता है— ऐसा नहीं है। आहाहा! वर्तमान में इसकी दशा जड़कर्म के साथ में उदय आवे, तब जितने प्रमाण में वर्तमान में जुड़े, जुड़ान स्वभावसन्मुख तो है ही, (तथापि) ऐसे (उदय में) जुड़े उतने प्रमाण में (बन्धन) होता है। यह तो समकिती का जुड़ान तो आत्मा के साथ है। समझ में आया? थोड़ा जुड़ान है, तथापि उसे यहाँ आस्रव और बन्धरहित कहा गया है। आहाहा! यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से है, हों! यह स्पष्टीकरण करेंगे। आहाहा!

भावार्थ : द्रव्यास्रवों के उदय और जीव के रागद्वेषमोहभाव का निमित्त-नैमित्तिकभाव है। यह क्या कहा? पुराने जड़कर्म हैं निमित्त और नये वर्तमान राग-द्वेष होते हैं, वे नैमित्तिक हैं। यह राग-द्वेष करे तो उन्हें निमित्त कहने में आता है। **द्रव्यास्रवों**

के उदय में युक्त हुवे बिना जीव के भावास्रव नहीं हो सकता.. अकेले निमित्त बिना स्वभाव में अकेला आस्रवभाव नहीं हो सकता। उतना यहाँ आस्रव सिद्ध करना है न! **जीव के भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिए बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिस प्रकार उसे भावास्रव हो, उसी प्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्ध के कारण होते हैं। यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता।** कर्म का उदय आया, इसलिए बन्धन होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! अपने जुड़ान में से छूटकर उसमें जितना जुड़ान करे, उतना इसे नया बन्धन होता है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५१, गाथा-१७३ से १७६, दिनाङ्क १२-०६-१९७९, मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण २

समयसार, भावार्थ के बाद दूसरा पेराग्राफ है। **सम्यक्दृष्टि के...** अर्थात् क्या? कि यह आत्मा जो है, वह शुद्ध चिदानन्द शुद्धस्वरूप है। उसका मूलस्वरूप सत् है और ज्ञान-आनन्दादि उसका स्वभाव है। उसकी दशा में जो पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वे तो आस्रव हैं। आस्रव अर्थात् बन्ध का कारण हैं। जैसे नाव में छिद्र हो और पानी आवे; इसी प्रकार आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द प्रभु है, तथापि जिसे भान नहीं, उसे अन्दर मिथ्यात्व के कारण (उसका अनुभव नहीं होता)। यहाँ अधिक यह बात लेनी है।

वस्तुस्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसका ज्ञान और भान नहीं, वह आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ का कर्ता होता है और अन्दर राग तथा पुण्य और पाप के भाव हों, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग पाप (भाव है)। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति यह पुण्य (भाव है), परन्तु दोनों आस्रव हैं; इसलिए बन्ध के कारण हैं। इन बन्ध के कारण का (जिसे अभाव हुआ है ऐसा) सम्यग्दृष्टि (अर्थात् जिसे) स्वरूप की अन्तर्दृष्टि हुई है, शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु की सत्यदृष्टि हुई है और वह चैतन्यस्वरूप पवित्र है, उसका यहाँ अनुभव (हुआ है),

उसे शुद्ध चैतन्य को अनुसरणकर जो आनन्द का वेदन आना चाहिए, वह वेदन होकर अनुभव हुआ हो, उसे सम्यग्दृष्टि कहने में आता है। यह सम्यग्दृष्टि की व्याख्या! आहाहा! बाकी यह पुण्य और पाप के भाव (हों), वह मेरा कर्तव्य है—ऐसा जो मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि / अज्ञानी / मूढ़ है। अनादि का चार गति में चौरासी के अवतार में भटकता है। आहाहा! वह परवस्तु का कर्ता होता है और अपने में होनेवाले विकार के परिणाम का रचनेवाला, करनेवाला, बननेवाला, स्वामी होता है, तब तक वह मिथ्यादृष्टि / अज्ञानी / मूढ़ है। आहाहा! ऐसा कठिन स्वरूप!

जब यह भगवान आत्मा वस्तु है न? पदार्थ है, तत्त्व है, सच्चिदानन्द प्रभु है। उसका जिसे पुण्य और पाप के भाव से भिन्न वह तत्त्व है, ऐसा अन्दर भान हो, तब वह सम्यग्दृष्टि होता है और तब उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, तब वह सुख के पन्थ में पड़ा है, ऐसा कहा जाता है और उसका जहाँ भान नहीं और पुण्य तथा शुभ-अशुभभाव का कर्ता होकर मिथ्यात्वभाव से वहाँ रुका हुआ है, वह दु:ख के पन्थ में है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! जगत से बहुत अलग। आहाहा!

उस **सम्यक्दृष्टि के मिथ्यात्व का..** अर्थात् विपरीत मान्यता का अर्थात् पर का कर सकता हूँ, पर का भला-बुरा कर सकता हूँ, पुण्य-पाप के भाव वे मेरे हैं; विकार है, वह त्रिकाली स्वभाव से भिन्न होने पर भी वह विकार परिणाम मेरे हैं, ऐसी मान्यतावाले को यहाँ मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्याश्रद्धा (कहते हैं)। आहाहा! और **अनन्तानुबन्धी कषाय..** इस मिथ्यात्व के साथ अनन्त संसार के कारण, भटकने के (कारणभूत) ऐसे राग-द्वेष, उन्हें यहाँ अनन्त अनन्तानुबन्धी (कहते हैं)। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ रही हुई कषाय, राग और द्वेष, उसे यहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। सूक्ष्म बात है, बापू! धर्म कोई दूसरी चीज़ है। आहाहा!

उस **सम्यक्दृष्टि के मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से..** उसे मिथ्यात्वभाव भी नहीं और मिथ्यात्व के साथ अनन्त संसार का कारण जो कषाय, वह भी उसे नहीं है। यह बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! **उसे उस प्रकार के भावास्रव तो होते ही नहीं..** सम्यग्दृष्टि को मिथ्याश्रद्धा और मिथ्यात्व के साथ रहे हुए

अनन्त संसार के कारणरूप राग-द्वेष वह धर्म की दृष्टि और आत्मदृष्टि हुआ, आत्मज्ञान हुआ, तब वे भाव तो उसे होते नहीं। आहाहा!

उसे उस प्रकार के भावास्रव.. अर्थात् पुण्य और पाप के और मिथ्यात्वभाव, उसे उस प्रकार के मिथ्याश्रद्धा और अनन्त संसार के कारण के भावास्रव अर्थात् जिस परिणाम से नया बन्धन हो, वैसे **भावास्रव तो होते ही नहीं..** आहाहा! समझ में आया? मार्ग बहुत अलग प्रकार का है, बापू! धर्म कोई ऐसी चीज़ है (कि) अनन्त काल में इसने (किया नहीं)। चौरासी के अवतार अनन्त काल से करता है, क्योंकि यह तो अनादि आत्मा है, यह कहीं नया नहीं है, तथा कृत्रिम नहीं है, किसी का किया हुआ नहीं है; यह तो वस्तु है। अनादि की चीज़ है, इसकी खबर बिना चौरासी के अवतार में भटकता है। इसका भटकना बन्द कब हो? कि आत्मा परिपूर्ण परमात्मस्वरूप हूँ और ये पुण्य और शुभ-अशुभ जो दया, दान, व्रत के परिणाम (होते हैं), वह भी मेरी चीज नहीं... आहाहा! ऐसा जहाँ अन्तरभान होवे, तब उसे उस प्रकार के आस्रव अर्थात् मिथ्याश्रद्धा और उसके साथ में रहनेवाले राग-द्वेष, ऐसे परिणाम उसे नहीं होते। अरे! अनजान को एक-एक भाषा अनजानी लगे।

और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता। क्योंकि वह भाव नहीं तो फिर नया बन्ध भी उसके कारण नहीं होता। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, भाई! चाहे जितनी बात को सरल करके रखे परन्तु उसकी मर्यादा में सरल होवे न? आहाहा! अब यह जरा सूक्ष्म आया है।

(क्षायिक सम्यक्दृष्टि के..) सम्यग्दर्शन तो हुआ है परन्तु क्षायिक अर्थात् कि जो अब नाश नहीं होगा और केवलज्ञान, परमात्मपद को प्राप्त करे, तब तक क्षायिक साथ में रहेगा, ऐसा वह क्षायिक सम्यग्दर्शन। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसका अनुभव होकर उसके ज्ञान में, वर्तमान ज्ञान में उस पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होकर, वह पूर्ण स्वरूप ऐसा है, ऐसी जो प्रतीति ज्ञान में ज्ञेय होकर आत्मा की प्रतीति होती है और वह प्रतीति क्षायिक हो कि जो हुई वह जाए नहीं। आहाहा!

ऐसे **(क्षायिक सम्यक्दृष्टि के सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होते समय..)**

आहाहा! अधिकार इस प्रकार का आया है, बापू! क्या हो? आहाहा! अन्तरस्वरूप भगवान सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय शान्ति का सागर यह है। वस्तु है, आत्मा पदार्थ है। उसमें अनन्त-अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द अनन्त-अनन्त (भरा है)। ऐसी अनन्त-अनन्त शक्तियों का वह सागर है! ऐसा जिसे अन्तर में सन्मुख होकर, पर से विमुख होकर ऐसी दृष्टि प्रगट हुई कि जो क्षायिक अर्थात् उसे विघ्न करनेवाले राग, मिथ्यात्व आदि का अंश रहा नहीं। ऐसा **(क्षायिक सम्यक्दृष्टि के सत्ता में से..)** आहाहा! **(मिथ्यात्व का..)** विपरीत श्रद्धा का **(क्षय होते समय ही अनन्तानुबन्धी कषाय का..)** आहाहा! वह अनन्त संसार का कारण, ऐसे राग-द्वेष का भी उसे अभाव है। **(तत्सम्बन्धी अविरति..)** आहाहा! अभी शब्द भी नहीं आते होंगे, वहाँ (यह समझ में किस प्रकार आये)?

यह तो अध्यात्म शास्त्र है, यह कोई लौकिक बात नहीं है। भाषा ही अध्यात्म है। आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उसका ऐसा अन्तर में भान होकर प्रतीति हुई कि जिस प्रतीति के काल में मिथ्यात्व सम्बन्धी का तो क्षय हुआ, अनन्तानुबन्धी कषाय का भी नाश हुआ (तथा) **(तत्सम्बन्धी अविरति..)** आहाहा! उस सम्बन्धी जो अविरति अर्थात् उस मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से सम्बन्धित जो अविरति। आहाहा! सब भाषा सूक्ष्म की है।

(अविरति और योगभाव का..) क्या कहते हैं? आत्मा में एक अयोग ऐसा स्वभाव है। (आत्म) प्रदेश में यह कम्पन होता है, वह तो विकार है। अन्तर स्वरूप में एक अयोग नाम का (स्वभाव है)। जैसे आत्मा में ज्ञान, आनन्द आदि, शान्ति आदि स्वभाव है, वैसे एक अयोग नाम का उसका गुण-स्वभाव है। उस अयोग नामक गुण का भी (परिणमन होता है)। आहाहा! **(योगभाव का भी क्षय हो गया होता है..)** एक अंश भी उस अयोगभाव का अंश प्रगट होता है। अर्थात् कम्पनभाव का इतना उसे नाश होता है। सब भाषा अलग प्रकार है। चौथे गुणस्थान में, हों!

आत्मा अभी तो पाँचवाँ, छठवाँ और केवलज्ञान, परमात्मा हो, वह तो तेरहवाँ (गुणस्थान) अलग। जैसे मंजिल पर चढ़ने में सीढ़ियाँ होती हैं, वैसे गुणधारा के चौदह सोपान होते हैं। उसमें से चौथे गुणस्थान की धारा की बात अभी चलती है। आहाहा! इस

चौथे गुणस्थान की धारा में क्षायिकदशा जहाँ हुई, भले गृहस्थाश्रम हो, परन्तु अन्तर में यह स्वामीपना उसे राग का और राज्य का उड़ गया है। चक्रवर्ती का बड़ा राज्य हो, तो भी स्वामीपना जिसे अन्तर में से उड़ गया है। आहाहा!

अन्तर में भगवान अन्तर आनन्द का दल है, आनन्द का दल! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का दल पिण्ड प्रभु आत्मा है। आहाहा! ऐसा जहाँ अन्तर की दृष्टि के सन्मुख होकर भान हुआ तो कहते हैं कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तो गये परन्तु उनसे सम्बन्धित अविरति का अंश भी गया और उनसे सम्बन्धित योग के कम्पन के अंश का भी उतना अभाव हुआ, क्यों? – कि सम्यग्दर्शन अर्थात् 'सर्व गुणांश, वह समकित।' जो आत्मा प्रभु है... यह (शरीर) तो हड्डियाँ, देह जड़-मिट्टी है, यह कोई आत्मा नहीं है, यह तो मिट्टी-धूल है। यह वाणी धूल जड़ है। अन्दर एक कर्म है, पूर्व में पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव किये हों (वैसे) पुण्य-पाप। इस पुण्य के उदय के कारण दो-पाँच लाख पैसा (रुपया) मिले न? बुद्धिरहित हो परन्तु फिर भी करोड़ों रुपये कमाये। यह तो पूर्व के पुण्य के कारण से है। वह एक जड़कर्म है। उस जड़ से भी प्रभु तो अन्दर भिन्न है। आहाहा! उसमें दया, दान और व्रत के परिणाम तथा काम, क्रोध के परिणाम से भी वह पृथक् है। ऐसे पृथक् का भान हुआ तो उसमें जितने गुण हैं, उनकी एक अंश शक्तियों की व्यक्तता हुई। यह ऐसा कहते हैं कि उस काल में योग का अंश भी गया और अयोग का अंश भी व्यक्त-प्रगट हुआ। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! **(योगभाव का भी क्षय हो गया होता है..)** क्षायिक समकित लिया है न? क्षयोपशम (समकित में) भी आंशिक होता है, परन्तु यह तो क्षायिक (समकित) लिया है। आहाहा! जिसका पूरा मूल तोड़ डाला! फिर से उगे नहीं। ऐसी आत्मा के आनन्द के स्वरूप की, ज्ञान में वस्तु को ज्ञेय बनाकर वर्तमान ज्ञान की दशा में पूरे तत्त्व को ज्ञेय बनाकर जो अन्तर में यह ज्ञान होकर प्रतीति हुई, वह प्रतीति यहाँ क्षायिक गिनी गयी है। उस क्षायिक प्रतीति में विपरीत मान्यता और उसके साथ रहे हुए राग-द्वेष का तो उसे अभाव है, परन्तु उससे सम्बन्धित अविरतिभाव जो है, वह भी नाश होता है और उसमें योग के कम्पन का भाव जो है, एक अंश उसका भी नाश होता है और अयोग का एक अंश प्रगट होता है। आहाहा!

अभी गृहस्थाश्रम में हो, साधु चीज़ तो अलौकिक, दूसरी चीज़ है! श्रावक भी कोई अलौकिक है! श्रावक अर्थात् ये वाड़ा के श्रावक हैं, ये कहीं (श्रावक नहीं हैं) अन्दर में आत्म-अनुभव होकर स्वरूप में लीनता का, आनन्द का अंश बढ़े, तब उसे श्रावक कहने में आता है और उसमें से विशेष अतीन्द्रिय आनन्द का (वेदन आवे), प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर से उफान आवे, आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन (आवे), उन्हें साधु कहा जाता है। अर र! 'साधति इति साधु!' जो अनन्त स्वभाव है, उसे साधते हैं। गुण अनन्त हैं, उन्हें साधते हैं, इसलिए साधु। आहाहा! उन साधु को भी उतने प्रकार का क्षायिक समकित सहित साधुपना होता है, तो उन्हें मिथ्यात्व और दूसरे दो कषाय भी नहीं है और यहाँ तो चौथे गुणस्थान से भी उसके योग्य अविरति और उसके योग्य योग का अंश नाश हो गया है। आहाहा! ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि प्रभु! अनन्त-अनन्त गुण का गोदाम आत्मा है। बापू! आत्मा अनन्त गुण का गोदाम, बापू! इसने कभी सुना है? आहाहा!

अनन्त, जिनकी संख्या पार नहीं होता। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. इसे अनन्त गुणाकार किया ही करो तो भी यह अन्त में अनन्त का अन्तिम अनन्त आता नहीं, इतने अधिक एक-एक आत्मा में गुण भरे हैं। आहाहा! वे सभी गुण क्षायिक सम्यक्त्व होने पर सब गुणों का एक अंश प्रगटरूप से अनुभव में व्यक्तरूप से आता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो अब अपने यह उन्नीसवीं बार चलता है। यह समयसार तो पहले से अक्षर-अक्षर अठारह बार तो पूर्ण हो गया है। यह तो उन्नीसवीं बार चलता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! देह से तो भिन्न प्रभु है, परन्तु अन्दर, दया, दान, व्रत और तप का विकल्प / राग उठता है, उससे भी प्रभु अन्दर भिन्न है। आहाहा! ऐसा प्रभु चैतन्य भगवान, सत् चिदानन्द सत् है और चिद् ज्ञानानन्द है, ऐसा अन्तर में जैसी चीज़, जितनी चीज़ है, उतनी चीज़ का जिसे अन्तर में ज्ञान होकर प्रतीति / श्रद्धा हुई, उसे अनन्त गुण जितनी संख्या में है, उन सब गुणों का एक अंश शक्ति में से व्यक्तता आती है। आहाहा! भाषा में अन्तर, भाव में अन्तर। कहो, समझ में आया?

चौथे गुणस्थान में योग के अंश का क्षय होता है, (ऐसा) कहते हैं। पूरा योग भले चौदहवें (गुणस्थान में) हो। गुणस्थान चौदह हैं वे। आहाहा! परन्तु यहाँ भी उससे **(सम्बन्धी**

अविरति और योगभाव का भी क्षय हो गया होता है..) आहाहा! भगवान पूर्णानन्द प्रभु, ज्ञानानन्द सच्चिदानन्दस्वरूप! उसका शुद्ध चैतन्यघन अनादि से है परन्तु उसके भान बिना शरीर मेरा, शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और किसी का भला कर दूँ और किसी का बुरा कर दूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव... आहाहा! ऐसा जो स्वभाव से विपरीतभाव, ऐसे मिथ्यात्व के साथ रहे हुए राग-द्वेष के कारण यह चार गति में चौरासी के अवतार में भटकता है। आहाहा! इसे भटकना कब मिटे? कि जिसमें वह भाव, विकार और विकार का फल जो अन्दर स्वरूप में नहीं है, ऐसा जो सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा है, उसका अवलम्बन लेने से जो कुछ अन्दर अज्ञान और राग-द्वेष और उस प्रकार की कषाय मिटती है, उस समय उससे सम्बन्धित अविरति और योग भाव का अंश भी मिटता है। आहाहा! अनजाने को नयी भाषा (वाले को) तो एकदम नया लगे। यहाँ तो ४४ वर्ष से (यह) चलता है। आहाहा! यह तो अन्तर की बातें हैं, बापू! बाहर की बातें अभी यहाँ कहीं है ही नहीं। बाहर की बातें सर्वत्र है।

यह अन्तर प्रभु कौन है? यह (शरीर दिखता है वह) तो मिट्टी है। उसकी यह सब दशाएँ होती है, वह भी उस मिट्टी के कारण (होती है), आत्मा के कारण नहीं। आहाहा! यह हिलना-चलना, बोलना सब जड़ की पर्याय-अवस्था है, आत्मा से नहीं। कैस जँचे? पूरे दिन मैं करूँ, मैं करूँ... यह मैंने किया, यह इसने कर दिया और मैंने उसका किया... नरसिंह मेहता भी कहते हैं न! वे वैष्णव में हुए हैं। 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है गाड़ी का भारी ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी के नीचे कुत्ता (हो) उसे खूटूँ छुए (तो वह ऐसा मानता है कि) गाड़ी मुझसे चलती है! इसी प्रकार अज्ञानी दुकान की गद्दी या घर में जाकर बैठा हो, वहाँ (ऐसा मानता है कि) ये सब घर के, दुकान के काम मुझसे होते हैं, यह स्त्री मेरी और पुत्र मेरा, मैंने इनका विवाह किया और मैंने इनको व्यवस्थित लगाया, मैंने इन्हें कमाने के रास्ते लगा दिया... ऐसा जो अज्ञान और मिथ्यात्वभाव... आहाहा! वह चार (गति में भटकानेवाला भाव है)।

मुमुक्षु : सब ही अज्ञान?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब मिथ्या है। इन्होंने सुमनभाई को पढ़ाया था। पैंतीस हजार रुपये खर्च करके पढ़ाया! और अभी आठ हजार का इनके लड़के का वेतन है। मुम्बई।

मुमुक्षु : उससे क्या हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल! भला क्या (हुआ)? लड़का किसका? पैसा किसका? बातें किसकी? क्या है यह? पैंतीस हजार तब खर्च किये, (वह) वकालात में पाप करके इकट्ठे किये थे। कोर्ट में पाँच घण्टे जाते थे, (तब) दो सौ रुपये लेते थे। पैंतीस वर्ष पहले की बात है, हों! अभी तो सब (चीज़ें) महँगी हो गयी न! अभी तो दाना महँगा हुआ, इसलिए पैसा सस्ता हो गया। पहले के एक लाख और अभी के पच्चीस लाख, दोनों समान। आहाहा! अरे! किसका पुत्र? किसका बाप? भाई! अरे रे! अरे! इसमें दया का भाव आवे, वह राग है, वह जीव का नहीं, भाई! प्रभु! तुझे तेरी प्रभुता की खबर नहीं। आहाहा! पर को नहीं मारने का और बचाने का भाव आवे, परन्तु वह कहीं बचा नहीं सकता। पर का तो उसके कारण से होता है परन्तु यह मानो कि बचा दूँ, ऐसा भाव आवे, राग (आवे)। उस राग का स्वामी हो, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह आत्मा के स्वभाव की शान्ति का घात करता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जिसे ऐसा प्रभु है, ऐसा जहाँ अन्दर में भान हुआ, ज्ञातादृष्टा हुआ, स्वरूप ज्ञान और आनन्द आदि है, उसे ज्ञान की पर्याय में-वर्तमान दशा में, उसका जितना जैसा स्वरूप है, वैसा उसे ज्ञाता हुआ और जानकर प्रतीति हुई, उस प्रतीति में विपरीत मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय तो उसे आती नहीं परन्तु उसे उस सम्बन्धी अविरति और योग भाव भी मिट गया है। आहाहा! वाड़ा में तो बातें यह करे— दया पालो, व्रत करो, अपवास करो, दया मण्डली करो और यह धूल करो और पाँच-पच्चीस हजार इकट्ठे करो, लाख-दो लाख, पाँच लाख इकट्ठे करके दूसरे की सहायता करो। क्या करे? धूल! आहाहा! भाई! सूक्ष्म बात, बापू!

यह अँगुली जड़ है, धूल है, यह तो मिट्टी है। वह यह हिलती है, वह जड़, जड़ के कारण से (हिलता है), आत्मा के कारण से नहीं। आहाहा! यह माने कि मुझसे होता है, यह इसकी दृष्टि सत्य का खून करनेवाली असत्य है। असत्य कहो या मिथ्या कहो, मिथ्या कहो या मिथ्यादृष्टि कहो, (सब एकार्थ है)। आहाहा! ऐसी बातें हैं। चौरासी के अवतार अनन्त काल से (कर रहा है)। चौरासी लाख योनि में एक-एक में अनन्त बार अवतरित हुआ। अनन्त बार अरबोंपति हुआ, मनुष्य अनन्त बार हुआ, स्वर्ग (में) अनन्त बार

(गया) पशु अनन्त बार हुआ। चींटी, कौआ, कुत्ता अनन्त बार हुआ। बापू! अनन्त भव हुए। इस प्रकार भूतकाल में भवरहित कभी रहा नहीं। इस भव के पहले भव, पहले भव, पहले भव.. भव.. भव.. भव.. अनादि से भव में परिभ्रमण कर रहा है। आहाहा! उसे परिभ्रमण को मिटाने का उपाय यह है। आहाहा!

आत्मा पुण्य, शुभ दया, दान, व्रत के परिणाम से भी भिन्न है और अपने स्वभाव से परिपूर्ण भरपूर! आहाहा! राग और दया, दान से खाली और अपने अनन्त गुण के स्वभाव से भरपूर, ऐसा जहाँ अन्तर में ज्ञान और आनन्द की प्रतीति होती है, तब कहते हैं कि उस-उस काल में अमुक-अमुक अविरति और योग का भी नाश हो जाता है। मात्र मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी गये, इतना नाश हुआ, इतना, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : मिथ्यात्व की भूमिका का समस्त विकार गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह गया; इसलिए इसे जितने गुण हैं, शक्ति / सत्व त्रिकाली प्रभु! ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. इसकी शक्तियाँ हैं। शक्तियाँ अर्थात् गुण। प्रत्येक गुण का आंशिक, वस्तु का ज्ञान और अनुभव होने पर, यह दया, दान के विकल्प से-राग से भी प्रभु भिन्न है। आहाहा! ऐसी धर्म की पहली दशा, धर्म की पहली सीढ़ी... आहाहा! वह अभी धर्म की पहली सीढ़ी है। आहाहा! उस दशा में भी जितने गुण संख्या से अनन्त हैं, उन सबका व्यक्त अंश प्रगट होता है, तो अयोगगुण जो है, उसका अंश भी प्रगट होने पर उस काल में योग के कम्पन का उतना तो नाश हो जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह किस प्रकार की बातें?

यह तो परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वरपद जिन्हें प्रगट हुआ, उन्हें तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए, उनकी वाणी इच्छा बिना निकलती है। ओम ध्वनि! उसमें आयी हुई यह बात है। जगत को बहुत कठिन पड़े, बापू! जगत पूरा दूसरे पंथ में-मार्ग में चढ़ गया। धर्म गुरुओं के नाम से भी दूसरे मार्ग में चढ़ा दिया है। आहाहा! दया पालो और व्रत करो और अपवास करो और भक्ति करो, पूजा करो, दान करो, मन्दिर बनाओ और दान में पैसा खर्च करो... इसमें क्या है? बापू! यह क्रिया तो पर की-जड़ की है। उसमें कदाचित् राग मन्द किया हो तो पुण्य / शुभभाव है, वह बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : उसे धर्म माने तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म माने तो मिथ्यात्व है। वह तो मिथ्यादृष्टि–झूठी दृष्टि है, सत्य से विरुद्ध दृष्टि है। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) **(इसलिए उसे उस प्रकार का बन्ध नहीं होता;..)** क्या कहते हैं? उस प्रकार का अविरति का अंश नहीं है, योग का उस प्रकार का क्षय हुआ, इसलिए उस प्रकार का बन्ध भी उसे नहीं होता। यह बहुत रचा, इनने! **(औपशमिक सम्यग्दृष्टि के..)** कहते हैं कि क्षायिक हुआ न हो परन्तु जैसे पानी में मैल हो और मैल बैठ जाए और जैसे पानी नितर जाए परन्तु मैल अन्दर हो, वैसे आत्मा में अन्तर अनुभव में मिथ्या भ्रान्ति है, वह बैठ गयी हो, उसे यहाँ उपशम समकित कहते हैं। पहले में क्षय हो गया हो, उसे क्षायिक कहते हैं। क्षय अर्थात? उस पानी में जैसे मैल है, वह एकदम पूर्ण निकालकर अकेला निर्मल हो जाए, वैसे आत्मा पूर्णानन्द के नाथ को क्षायिक समकित द्वारा प्रतीति करे, उसे उस सम्बन्धी के प्रकार के बन्ध के कारण वहाँ नहीं होते। ऐसे उपशम समकिती को भी... आहाहा! है?

(मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय मात्र उपशम में–सत्ता में–ही होने से सत्ता में रहा हुआ द्रव्य उदय में आये बिना..) कहते हैं कि भले निर्मलता अकेली बाहर आयी नहीं, परन्तु निर्मलता हुई है, उसमें मलिनता का अंश, सत्ता में कर्म का अंश पड़ा है, परन्तु वह सत्ता में पड़ा है, वह बाहर आये बिना आत्मा को मलिनता नहीं होती। आहाहा! **(उपशम में–सत्ता में–ही होने से सत्ता में रहा हुआ द्रव्य..)** (अर्थात्) जड़कर्म **(उदय में आये बिना उस प्रकार के बन्ध का कारण नहीं होता; और क्षायोपशमिक सम्यक्दृष्टि को भी..)** तीनों लिए। **(सम्यक्त्वमोहनीय के अतिरिक्त..)** सम्यक्त्वमोहनीय है। जरा अन्दर सूक्ष्म (रूप से है)। **(छह प्रकृतियाँ विपाक में (उदय में) नहीं आतीं, इसलिए उस प्रकार का बन्ध नहीं होता।)** आहाहा! इतने में कितना डाला है, लो! पण्डितजी अर्थ करते हैं, हों! पण्डित जयचन्दजी ने रखा है। मूल पाठ है कुन्दकुन्दाचार्यदेव का, श्लोक है और अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका है और यह अर्थ पण्डितजी का है। आहाहा!

आत्मा अर्थात् क्या, कुछ खबर नहीं। आत्मा अर्थात् यह दूसरे का कुछ करे और

कर दे, हिले और चले और यह और वह... अरे! प्रभु! आत्मा क्या? बापू! तुझे खबर नहीं। अनन्त काल हुआ। चौरासी के अवतार में, साधु भी अनन्त बार हुआ, हजारों रानियाँ छोड़कर मुनि हुआ, परन्तु राग से भिन्न आत्मज्ञान किये बिना इसका परिभ्रमण मिटा नहीं। आहाहा! यह आता है न? छहढाला में आता है।'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो', छहढाला में आता है, छहढाला! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' आहाहा! परन्तु भगवान आत्मा... आहाहा! इन दया, दान, व्रत के विकल्प से भी भिन्न अन्दर है, ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नहीं आया और पंच महाव्रतादि अनन्त बार पालन किये परन्तु उसमें कुछ भव घटा नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि के जो.. तब कहते हैं कि सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान हुआ, तो भी अभी उसे **चारित्रमोह का उदय विद्यमान है..** अस्थिरता का उदय वर्तता है। सम्यग्दर्शन होने पर भी अभी अन्दर स्वरूप में पूर्ण स्थिर नहीं होता। चरना— चारित्र अर्थात् चरना; चरना अर्थात् रमना। आनन्दस्वरूप भगवान का भान होकर और पहिचान होकर पश्चात् उसमें रमना, इसका नाम चारित्र है। चारित्र कोई क्रियाकाण्ड और पंच महाव्रत तथा नग्नपना, वह कोई चारित्र नहीं है। आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति का ज्ञान होकर 'यह वस्तु है', ऐसा भान हुआ, पश्चात् उसमें स्थिर हो, इसका नाम चारित्र कहा जाता है। उस (समय जो) चारित्र (मोह का) जब तक उदय वर्तता है (अर्थात्) स्थिरता नहीं है। **उसमें जिस प्रकार जीव युक्त होता है..** सम्यग्दर्शन है, आत्मज्ञान है परन्तु पूर्व (का) चारित्र मोहनीय का कर्म पड़ा है, वह उदय में आता है, प्रगट होता है, तब जिस प्रकार से जुड़े, उसे नया बन्ध होता है। **युक्त होता है, उसी प्रकार उसे नवीन बन्ध होता है;..** पूर्व का (उदय) आया, इसलिए उससे ही इसे विकार होता है, ऐसा नहीं है। जितना स्वयं करे, उस प्रकार से इसे विकार होता है। धर्मी को भी, हों! समकिती को भी! आहाहा! अस्थिरता का राग-द्वेष होता है। आहाहा!

इसलिए गुणस्थानों के वर्णन में.. गुणस्थान अर्थात् जैसे मंजिल पर चढ़ने में सीढ़ियाँ होती हैं, वैसे आत्मा की पूर्ण दशा प्राप्त करने में चौदह सीढ़ियाँ हैं। आहाहा! बात-बात में अन्तर लगता है। आहाहा! है? (अविरत सम्यग्दृष्टि आदि) **गुणस्थानों में अमुक**

अमुक प्रकृतियों का बन्ध कहा है। किन्तु यह बन्ध अल्प है, इसलिए उसे सामान्य संसार की अपेक्षा से बन्ध में नहीं गिना जाता। यह क्या कहा ? कि जिसे इस आत्मा का अनुभव होता है, अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ स्वाद आता है, उसे भले चारित्र का दोष आवे, राग हो, पुण्य हो, पाप हो, ऐसे भाव आवें परन्तु उनकी यहाँ मुख्यता नहीं है। उनका उसे विशेष बन्धन है और बन्धन में होने पर भी उनकी स्थिति और रस विशेष नहीं है। मूल काट डाला है। जैसे मूल काटा, उसके बाद के पत्ते सूखने में अब देर नहीं लगेगी। आहाहा! कठिन काम है। इसी प्रकार जिसने मिथ्यात्व का मूल तोड़ डाला है और जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है... आहाहा! उसे अब चारित्र का दोष है।

भरत चक्रवर्ती समकिती थे, छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं। श्रेणिक राजा! हजारों रानियाँ और क्षायिक समकिती! तीर्थंकरगोत्र बाँधा है। अभी पहले नरक में गये हैं परन्तु वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होनेवाले हैं। व्रत, तप और चारित्र नहीं था। अन्तर के व्रत और तप, हों! यह बाहर के व्रत-तप करें, वह तो राग का क्रियाकाण्ड, संसार है। अन्तर में स्वरूप में लिपट जाना और अन्तर में स्थिर हो जाना। आहाहा! आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में भान होकर स्थिर हो जाना, अन्दर जम जाना। आहाहा!

जैसे बर्फ की बड़ी शिला होती है न ? मुम्बई में पचास-पचास मण की (होती है)। शीतल शिला ऐसी बड़ी पचास-पचास मण की! बर्फ! इसी प्रकार यह भगवान अन्दर शान्तरस की बड़ी शिला है। अरे रे! कैसे जँचे ? अविकरी शान्तरस की शिला यह प्रभु आत्मा है। आहाहा! इसका जिसे भान हुआ, उसे अभी अस्थिरता का कारण दोष है, परन्तु **उसे सामान्य संसार की अपेक्षा से बन्ध में नहीं गिना जाता।** सामान्य अर्थात् मिथ्यात्व। मिथ्यात्व से जो संसार बन्ध होता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि के चारित्र के दोष से इतना ऐसा बन्ध नहीं होता। सामान्य संसार अर्थात् अनन्त संसार का कारण जो मिथ्यात्व, (वह सामान्य संसार)। आहाहा! है ?

अल्प **सामान्य संसार की अपेक्षा से..** भाषा क्या कहते हैं ? सामान्य संसार अर्थात् ? कि जो आत्मा आनन्द और शुद्ध चैतन्यघन है, ऐसा भान न होने से विपरीत मान्यता है कि पुण्य और दया, दान, ये मेरे और इनसे मेरा लाभ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह मुख्य संसार है। वह मिथ्यात्वभाव संसार है। वह संसार—सामान्य संसार अर्थात् अनन्त

संसार है। ऐसा वह संसार समकिती को नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

किन्तु यह बन्ध अल्प है, इसलिए उसे सामान्य संसार की अपेक्षा से बन्ध में नहीं गिना जाता। आहाहा! **सम्यक्दृष्टि चारित्रमोह के उदय में..** धर्मी है (कि जिसे) आत्मा का ज्ञान होता है, तब उसे जरा राग आता है, तो भी वह उस राग (में) **स्वामित्वभाव से युक्त नहीं होता,..** वह राग-विकल्प है, वह मेरा है, इस प्रकार राग में जुड़ता नहीं है। अस्थिरता से जुड़ता है, परन्तु मेरा है—ऐसी स्वामित्व से नहीं जुड़ता। आहाहा! यह किस प्रकार का उपदेश? यह किस प्रकार की बात? बापू! यह तो अलग है, दुनिया से अलग है, बापू! पूरी दुनिया को जानते हैं न! आहाहा! धर्म की पद्धति और धर्म से विरुद्ध क्या है, ये बातें ही कोई अलौकिक है, बापू! लोक को बेचारे को पड़ी कहाँ है? व्यापार में चढ़े और दो-पाँच-पचास हजार, लाख-दो लाख मिले तो मानों की आहाहा! नौकरी में पाँच हजार का वेतन (होवे) और उसमें दस हजार का हो जाए, तो कहे, लापसी बनाओ! धूल में क्या है अब? आहाहा! अकेला पाप है, बापू!

प्रभु अन्दर सच्चिदानन्द निर्मल आत्मा स्वभाव से स्फटिक जैसा पड़ा है। जैसे निर्मल स्फटिक, वैसे प्रभु निर्मल अन्दर है, परन्तु जैसे उस स्फटिक को लाल और पीले फूल होते हैं, इसलिए अन्दर लाल, पीली झाँई दिखाई देती है, इसी प्रकार प्रभु आत्मा में पूर्व के कर्म के निमित्त में जुड़ने से अन्दर राग और द्वेष की झाँई दिखायी देती है परन्तु उस राग-द्वेष के स्वामीरूप से धर्मी नहीं होता। आहाहा! अज्ञानी तो जहाँ हो, वहाँ मैंने किया... मैंने किया... मैंने किया... मैंने किया... (मानता है)।

मुमुक्षु : किसने किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : करे कौन? यह वस्तु नहीं इसकी? उसकी दशा उसके जड़ से, उससे होती है। दूसरा आत्मा और दूसरे परमाणु हैं, उनकी पर्याय-अवस्था उनसे होती है। आहाहा! कहा न? बापू! कठिन पड़े। यह हाथ देखो न, यह ऐसे चलता है, वे परमाणु हैं या नहीं? जड़ है या नहीं यह? अजीवतत्त्व है या नहीं? इसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श भरे हैं या नहीं? इसकी अवस्था ऐसे होने की अवस्था इसके कारण होती है, आत्मा के कारण नहीं। कठिन बातें हैं। दुनिया से अलग प्रकार है। प्रत्यक्ष में तो जब पक्षघात होता है, तब

खबर नहीं पड़ती? बहुत प्रेरणा करे, परन्तु इसकी जड़ की अवस्था होनी न हो, वह पर से हो—ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

अभी बेचारे लाभुभाई पड़े हैं, बड़ोदरा में। ६८ वर्ष की उम्र। ३५ वर्ष से तो ब्रह्मचर्य है। ३३ वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य लिया। कौन जाने क्या हुआ, चलते हुए चक्कर आ गया। बेहोश है। अन्दर स्थिति बेहोश है। बड़ोदरा। यहाँ रहते थे और यहाँ बैठते थे। आहाहा! ३३ वर्ष की उम्र में आजीवन बह्मचर्य लिया। एक लड़का और एक लड़की हुई। हमारे पास (संवत्) २००० के वर्ष में राजकोट में (प्रतिज्ञा ली थी)। उनके पिता विरोध में, तो भी स्वयं ने ३३ वर्ष की उम्र में आजीवन ब्रह्मचर्य (की प्रतिज्ञा ली थी)। ३५ वर्ष उसे हुए और ३३ वर्ष (स्वयं की उम्र इसलिए अभी) ६८ हुए। अभी बेचारे... आहाहा! ऐसे चक्कर आ गया है। हेमरेज हुआ है, बेसुध पड़े हैं। आहाहा! यह जड़ की दशा, भाई! तेरे रखने से नहीं रहेगी, भाई! बापू! हम ध्यान रखते हैं तो जड़ में ऐसा होता है। नहीं, तेरा ध्यान वहाँ काम नहीं आता, बापू! आहाहा! जड़ की जो अवस्था जिस समय में-काल में जो जड़ की दशा होनेवाली है, वह होगी ही। आत्मा नहीं कर सकता, आत्मा नहीं रोक सकता। आहाहा! तब फिर इस दुनिया के चतुर किस प्रकार कहना? दुनिया के चतुर किसे कहा जाए? व्यापार करे, धन्धा करे, यह वकालात करे। लो, रामजीभाई वकालात करते थे, उस समय वकीलों में होशियार कहलाते थे। आहाहा! धूल में भी नहीं, सब अभिमान था। आहाहा! अरे रे! प्रभु! तू कौन है? आत्मा। आत्मा अर्थात् क्या? यह अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, वह आत्मा। आहाहा! अरे! ...प्रभु! तुझे खबर नहीं। यह पुण्य, दया, दान, व्रत परिणाम के विकल्प उठें, वे भी तू नहीं, वे तुझे नुकसानकारी हैं। आहाहा! यह कैसे जँचे? पूरी दुनिया जहाँ-तहाँ अभिमान में चली है। इसका किया, इसका किया और इसका किया... आहाहा!

प्रभु! तू तेरी सत्ता में से बाहर तो निकलता नहीं। तेरा जो अस्तित्व है, उसमें से बाहर निकलता नहीं तो बाहर का किसका तू करेगा? आहाहा! और जगत की चीज़ें हैं, वे उनकी अवस्था के कार्य बिना, वह चीज़ अवस्थारहित होती नहीं। कोई भी अवस्था उस-उस जड़ चैतन्य की उससे होती है। उससे हो, उसमें वहाँ तू क्या कर देगा? आहाहा! स्त्री-पुत्र को सम्हालते हैं, लड़कियाँ बड़ी है, उन्हें ठिकाने किया, लड़के अच्छी जगह

विवाहित किये। मूढ़ है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व के असत्य भाव को सेवन करनेवाला संसार के मूल को सेवन करता है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

यहाँ यह कहते हैं, समकिती को जरा राग-द्वेष हो। **वह निश्चयदृष्टि में युक्तता ही नहीं है।** आहाहा! है? **स्वामित्वभाव से युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूप से युक्त होता है;..** वह अस्थिरतारूप युक्त होता है, तथापि निश्चयदृष्टि में युक्तता नहीं है। आहाहा! आहाहा! **इसलिए सम्यक्दृष्टि के रागद्वेषमोह का अभाव कहा गया है।** इस अपेक्षा से। **जब तक जीव कर्म का स्वामित्व..** है.. आहाहा! 'निष्काम काम करना'—ऐसा अज्ञानी कहते हैं। निष्काम (काम) करना, यह बात ही मूढ़ है। पर का कर सकूँ, यही बात निष्काम नहीं है, यही मिथ्या अभिमान है। आहाहा! अनासक्ति से काम लेना, ऐसा सब बोलते हैं। बहुत यह सब आता है। सब अभिमानी! निष्काम करना, काम करना, (वह) निष्काम करना। उसके फल की आशा नहीं रखना। यहाँ तो कहते हैं कि पर का कुछ कर सकता हूँ, यह मान्यता ही मिथ्यात्व भ्रम और बड़ा संसार है। आहाहा!

जो भिन्न चीज़ है, उसकी भिन्नता तब रहती है कि उसके कार्य दूसरा न कर सके और उससे तू भिन्न, तेरा कार्य वह न कर सके, तब तो वे भिन्न-भिन्नरूप से रह सकते हैं। नहीं तो एक हो जाएँगे। आहाहा! ऐसा सुनने मिलना मुश्किल पड़ता है। है, दुनिया देखी है न, बाकी पूरी दुनिया देखी है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **जब तक कर्म का स्वामित्व..** रखे। कुछ भी राग, दया, दान के परिणाम हों, उनका स्वामित्व करे (अर्थात्) यह मैंने किया, मैंने किया, मेरा स्वरूप है। (ऐसा) **जब तक जीव कर्म का स्वामित्व रखकर कर्मोदय में परिणमित होता है तब तक ही वह कर्म का कर्ता कहलाता है;..** यहाँ तक तो जीव राग का और पर का कर्ता मानता है। आहाहा! यह बड़ी दुकान में बैठता हो, तब (धन्धा) करता नहीं होगा? गद्दी में ऐसे बराबर बैठे, पाँच-पाँच हजार की आमदनी करे, लो! कर्मी लड़का जगे। कर्मी... कर्मी...! धर्मी नहीं। कर्मी लड़का जगे बड़ा, पाँच-पाँच हजार कमावे। धूल भी नहीं, सुन न! वे तो जगत के परमाणु हैं; वे आनेवाले हों, वे आते हैं; जानेवाले हों, वे जाते हैं। वह तेरी बुद्धि के कारण आये हैं (ऐसा नहीं) आहाहा! उनका तू कर्ता होता है, मेरी होशियारी से ये पैसे आये। मूढ़ है! भले बाहर (में) बड़ा पण्डित कहलाता हो।

मुमुक्षु : होशियार को तो नौकरी में रखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नौकरी में रखे, वह उसका पुण्य हो, तत्प्रमाण आये बिना रहता नहीं। बहुत बुद्धि के वारदान देखे हैं न हमने। वारदान समझ में आया? खाली। पाँच-पाँच हजार कमाते हैं, दस-दस हजार कमाते हैं। बहुत देखे हैं न! (संवत्) १९६४-६५ की बात होगी, ६५-६६! हमारी पालेज में दुकान थी न! माल लेने गये थे (वहाँ) एक खोजा जड़ जैसा था। (संवत्) १९६५-६६ की बात है। तब पचास हजार कमाता था। पचास हजार वर्ष के! अभी के हिसाब से उसके पच्चीस गुने गिनो, उसमें बुद्धि क्या काम आवे? बुद्धि का खाँ हो, (उसे) हजार कमाने में पसीना उतरे और बुद्धि का वारदान हो, वह लाखों कमावे। उसके साथ—पर के साथ क्या सम्बन्ध है? बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **उदय का ज्ञातादृष्टा होकर..** देखा? धर्मी होने पर, आत्मा का ज्ञान होने पर जो कुछ राग-द्वेषादि आवें, उन्हें ज्ञातादृष्टा अर्थात् जानने-देखनेवाला रहे। **पर के निमित्त से मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है, तब कर्ता नहीं..** आहाहा! यह राग की अस्थिरता धर्मी जीव को-धर्म का, आत्मा का भान (है, उसे) आवे, तो भी उसका वह कर्ता नहीं है। आहाहा! है? **कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है।** जाननेवाला ही है। धर्मी तो ज्ञाता है। जैसे आँख जानने का काम करती है। आँख कोई खड्डा भरे और खड्डा करे, ऐसा आँख करे? ऐसे... ऐसे... करे? धूल निकालना (ऐसा करे)? इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह करे क्या किसी का? आहाहा! वह तो जानने-देखने का काम अपने में अपने से करे। आहाहा!

मुमुक्षु : पर का काम करना या नहीं करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कर सकता है? बहुतों को जिताया था। उस समय बड़े वकील कहलाते थे। पैंतीस वर्ष पहले बड़े वकील (कहलाते थे)। दो सौ रुपये लेते थे!

मुमुक्षु : बड़ा पापी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब पाप! यह मंगलभाई कहते थे कि उस समय ये वकील थे। रामजीभाई के समय में, पैंतीस वर्ष पहले! अभी ९६ (वर्ष) हुए। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तू तेरे अतिरिक्त पर के काम तो छू नहीं सकता और पर को

स्पर्श नहीं करता तो कर कहाँ से सकेगा? परन्तु तुझमें जो रागादि होते हैं, वह यदि तुझे धर्म और आत्मा का भान हो तो उस राग का स्वामी होकर कर्ता नहीं होगा, ज्ञातादृष्टा रहेगा। आहाहा! अब इतनी सब शर्तें। धर्मी की शर्तें ऐसी। भाई! धर्म तो जिससे जन्म-मरण का अन्त आवे, चौरासी के अवतार-चक्कर मिट जाए, प्रभु! (उसे धर्म कहा जाता है)। वह तो आत्मा अन्दर पूर्णानन्द (स्वरूप से विराजता है)। आहाहा!

नरसिंह मेहता ने यह कहा नहीं? 'ज्यां लगी आतमा तत्त्व चीन्यौं नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' ऐई..! तुम्हारे सेठ को कहा नहीं था? मुम्बई, पचास करोड़! पचास करोड़ न? इसके सेठ के पास पचास करोड़ थे। अभी मुम्बई (थे, तब) हमारे पास आया था। महिलाएँ जैन और आदमी सब वैष्णव। बेचारा दर्शन करने आया था। नारियल और एक हजार रखे थे। पचास करोड़ रुपये हैं। उसमें आत्मा का क्या भला हुआ।

मुमुक्षु : सेठ कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ कहलाये, नीचे जाएगा। सेठ सब नीचे जाएँगे, नीचे! सेठ तो उसे कहते हैं, श्रेष्ठ! जिसने चैतन्य भगवान आनन्द के नाथ का अनुभव किया, जाना और जो राग का स्वामी न हो, उसे सेठ और श्रेष्ठ कहते हैं। आहाहा! जगत से अलग बात है, बापू! जगत को जानते हैं न! यह तो ९० वर्ष हुए। ६७ वर्ष से तो दुकान छोड़ी है। पूरी दुनिया को (देखा है)। दस हजार मील तो हिन्दुस्तान में तीन बार घूमे हैं और यह चीज़ बापू! अलग कोई चीज़ है, भाई!

यह यहाँ सिद्ध करते हैं। (ज्ञानी) अस्थिरता (रूप से) परिणमे परन्तु करता नहीं है, इसलिए उसे **अबन्धक कहा गया है।**

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५२, गाथा-१७३ से १७६, श्लोक ११८-११९ दिनाङ्क १३-०६-१९७९
बुधवार, ज्येष्ठ कृष्ण ३

(समयसार) ११८ कलश है, उस पर (चलता है।) **जब तक मिथ्यात्व का उदय है...** अर्थात् क्या? कि दर्शनमोह जो कर्म है, उसका उदय है और उसमें युक्त होकर, उसमें जब जुड़ता है, वह दर्शनमोह का उदय है, वह कुछ नहीं कराता, परन्तु स्वरूप चैतन्यस्वरूप अपना अखण्ड है, उस ओर का आश्रय / लक्ष्य छोड़कर दर्शनमोह के उदय काल में **उसमें युक्त होकर जीव रागद्वेषमोहभाव से परिणमित होता है,..** आहाहा! **तब तक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है।**

यहाँ दृष्टि प्रधान कथन है न! जब तक मिथ्यात्व के उदय में जुड़ता है, तब तक उसे आस्रव और बन्धन कहा जाता है। **तब तक ही उसे अज्ञानी..** आहाहा! है न? **और बन्धक कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बन्ध-अबन्ध का यह भेद जानना।** धर्मी जीव (को) तो आत्मा पूर्ण शुद्धस्वरूप (है, उस) ओर की दृष्टि है, धर्मी का पर्याय में झुकाव द्रव्यस्वभाव-सन्मुख है, इसलिए उसे ज्ञानी कहा जाता है। आहाहा!

शुद्ध चैतन्यस्वरूप सम्यग्दर्शन जैसा शुद्धस्वरूप है, उसकी प्रतीति और ज्ञान (हो), उस स्व के सन्मुख होकर स्व की प्रतीति और ज्ञान हो तथा उसका अनुभव हो, उसे सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी कहने में आता है और जब तक दर्शनमोह का उदय हो और उसमें मोह-मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप से युक्त हो, तब तक उसे अज्ञानी और बन्धक (कहा जाता है)। ज्ञानी को ज्ञानी और अबन्धक (कहा जाता है)। यह शैली अभी ली है। **ज्ञानी-अज्ञानी और बन्ध-अबन्ध का यह भेद जानना।**

और शुद्ध स्वरूप में लीन रहने के अभ्यास द्वारा.. धर्मी अपना पवित्र आनन्दधाम मूल वस्तु है, उसके भान में तो है, परन्तु उसके अभ्यास द्वारा—अन्तर में एकाग्रता के अभ्यास द्वारा **केवलज्ञान प्रगट होने से..** यह वस्तुस्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसका अनुभव है और अब भी पश्चात् उस ओर के अभ्यास में अर्थात् एकाग्रता में अभ्यास करते हुए उसे केवलज्ञान होता है। कोई क्रियाकाण्ड करते हुए—व्रत, तप, भक्ति, पूजा करते हुए केवलज्ञान नहीं होता। आहाहा!

जब जीव साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानी होता है.. वह (ज्ञानी कहा) था, वह चौथे गुणस्थान से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव (हुआ था), सम्यग्दर्शन और स्वरूप के अंश की स्थिरता हुई, इसलिए उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा था। अब वह स्वयं अपने स्वरूप का अन्तर में अभ्यास-एकाग्रता का अभ्यास करते-करते उसे जब केवलज्ञान होता है, (तब) वह साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानी (होता है)। साक्षात् और सम्पूर्ण ज्ञानी (होता है)। पहले निचली भूमिका में ज्ञानी और अबन्धक कहा परन्तु वह आत्मा के आनन्दस्वरूप में जो अनुभव में आत्मा आया था, उस आत्मा में अन्तरस्थिरता... स्थिरता... स्थिरता... अन्तर में लीनता का अभ्यास करने से केवलज्ञान होता है, वह साक्षात् ज्ञानी और पूर्ण ज्ञानी हुआ। साक्षात् पूर्ण ज्ञानी (होता है)। **तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है,..** उसे फिर कोई आस्रव नहीं रहता। **यह पहले कहा जा चुका है।**

कलश-११८

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(मालिनी)

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः,
समय-मनुसरन्तो यद्यपि द्रव्य-रूपाः।
तदपि सकल-रागद्वेष-मोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्म-बन्धः ।।११८।।

श्लोकार्थ : [यद्यपि] यद्यपि [समयम् अनुसरन्तः] अपने-अपने समय का अनुसरण करनेवाले (अपने-अपने समय में उदय में आनेवाले) [पूर्वबद्धाः] पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान-अवस्था में बँधे हुवे) [द्रव्यरूपाः प्रत्ययाः] द्रव्यरूप प्रत्यय [सत्तां] अपनी सत्ता को [न हि विजहति] नहीं छोड़ते (वे सत्ता में रहते हैं), [तदपि] तथापि

[सकलरागद्वेषमोह-व्युदासात्] सर्व रागद्वेषमोह का अभाव होने से [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [कर्मबन्धः] कर्मबन्ध [जातु] कदापि [अवतरति न] अवतार नहीं धरता-नहीं होते।

भावार्थ : ज्ञानी के भी पहले अज्ञान-अवस्था में बाँधे हुए द्रव्यास्रव सत्ता-अवस्था में विद्यमान हैं और वे अपने उदयकाल में उदय में आते रहते हैं। किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानी के कर्मबन्ध के कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानी के समस्त रागद्वेषमोहभावों का अभाव है। यहाँ समस्त रागद्वेषमोह का अभाव बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोह की अपेक्षा से समझना चाहिए।।११८।।

श्लोक - ११८ पर प्रवचन

अब ११८ कलश

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः,
समय-मनुसरन्तो यद्यपि द्रव्य-रूपाः।
तदपि सकल-रागद्वेष-मोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्म-बन्धः।।११८।।

आहाहा! आस्रव में मुख्य अधिक यह बात ली है। बाकी तो कहा, जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक अभी अस्थिरता है और उतना दोष भी है और उतना बन्धन भी है परन्तु मुख्यरूप से ऐसे जब ज्ञानी की बात करने जाए अर्थात् आत्मा का जहाँ अनुभव हुआ, परमात्मा का अनुभव हुआ, वह पूर्ण अनन्त गुण के रस का कन्द प्रभु है, उसके सन्मुख होकर जो अनुभव हुआ, तब से उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा जाता है और उस ज्ञान में अभ्यास करते-करते केवलज्ञान हो, तब साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानी कहने में आता है। उसमें ज्ञानी कहना, इतना था। यह सम्पूर्ण ज्ञानी (होता है)। आहाहा! परन्तु होता है किस प्रकार से? सम्पूर्ण ज्ञानी या अपूर्ण ज्ञानी होता किस प्रकार है?

यह अन्तर आत्मा प्रभु, परमात्मा सर्वज्ञदेव ने जो आत्मा कहा, वह अनन्त-अनन्त गुण का रसकन्द प्रभु है। वीतरागमूर्ति है, अनाकुल आनन्द का पिण्ड है, अनाकुल शान्ति का पूर्ण वीतरागस्वभाव का रस है। आहाहा! उस (ओर के) झुकाव से, ऐसे स्वभाव की

ओर के झुकाव से जो ज्ञान और दर्शन होता है, उसे यहाँ ज्ञानी कहा जाता है और उसे अबन्धक कहा जाता है। बाह्य से चाहे जितने पंच महाव्रत पालता हो, परन्तु जिसे अभी राग है, उसकी एकताबुद्धि है, वहीं नजर है; भगवान पूरा परमात्मा पड़ा है, उसकी नजर नहीं है। आहाहा! भले पंच महाव्रत पाले, नग्न हो, दिगम्बर हो, हजारों रानियाँ छोड़े परन्तु अन्तर में जहाँ तक पूर्णानन्द का स्पर्श न करे और राग की क्रिया से भिन्न न पड़े, तब तक वह मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी है। आहाहा! ऐसा है।

अब श्लोक। **यद्यपि 'समयम् अनुसरन्तः'** क्या कहते हैं? ज्ञानी को पूर्व के जो कर्म सत्ता में पड़े हैं, वे **अपने-अपने समय का अनुसरण करनेवाले (अपने-अपने समय में उदय में आनेवाले)**.. उस-उस समय में वे कर्म उदय में आते हैं। ऐसे **पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान-अवस्था में बँधे हुवे)**.. ज्ञानी को पूर्व में अज्ञान-अवस्था में बँधे हुए कर्म, वे समय-समय में उदय में आते हैं। आहाहा!

'द्रव्यरूपाः प्रत्ययाः' द्रव्यरूप प्रत्यय.. वह परमाणु वस्तु है। आठ कर्मरूप परमाणु (वस्तु है), वह **अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते 'सत्तां न हि विजहति' (वे सत्ता में रहते हैं), तथापि 'सकलरागद्वेषमोह-व्युदासात्'**.. आहाहा! यहाँ तो राग-द्वेष-मोह, मिथ्यात्व का मोह और अनन्तानुबन्धी का राग-द्वेष को यहाँ गिनने में आया है। वह सकल **सर्व रागद्वेषमोह का अभाव होने से ज्ञानी के कर्मबन्ध कदापि अवतार नहीं धरता**.. आहाहा! अल्प राग होता है और उसके कारण कर्म में जरा स्थिति, रस पड़ता है परन्तु वह अल्प है, उसकी गिनती न गिनकर यहाँ आत्मज्ञानस्वरूप आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, तब आत्मा आनन्दस्वरूप पूर्ण है, ऐसा जानने में, प्रतीति में आया, उसे यहाँ ज्ञानी कहने में आता है। उस ज्ञानी को अज्ञानरूप से बँधे हुए कर्म समय-समय में उदय में आते हैं, परन्तु यहाँ जुड़ान में राग-द्वेष-मोह का जुड़ान नहीं है। मिथ्यात्वसम्बन्धी का राग का जुड़ान नहीं है। उसके कारण उनका अभाव होने से **ज्ञानी के कर्मबन्ध कदापि.. 'अवतरति न'** अर्थात् **नहीं होते**। अवतरते नहीं अर्थात् नहीं होते। आहाहा! इसमें वापस एकान्त ले जाए (तो नहीं चलता)।

मुमुक्षु : अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का अवतार नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से बात है। एकान्त ले जाए (कि) समकिती हुआ अर्थात् ज्ञानी हुआ, इसलिए अब उसे कुछ दुःख भी नहीं और आस्रव नहीं, बन्धन नहीं।—ऐसा नहीं है। आहाहा! कहाँ-कहाँ क्या कहने का आशय है? (उसका) हार्द समझे। नहीं आया था? धर्मी जीव जिस जगह क्या कहना है, उसका हार्द समझे और कहनेवाले की अपेक्षा क्या है, उसका हार्द समझता है। आया था न? आहाहा!

इस शरीर-मिट्टी-जड़ से भिन्न, कर्म के रजकणों से भिन्न और अन्दर पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव से भी भगवान तो अन्दर भिन्न है। आहाहा! ऐसा जो आत्मा अन्दर सत्‌दल पड़ा है, अतीन्द्रिय आनन्द का दल... दल... पिण्ड है। आहाहा! उसकी जिसे दृष्टि होकर अनुभव हुआ, उसे अब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष-मोह, पूर्व के बँधे हुए उदय के अनुसार जो होते, वह अब नहीं होते। आहाहा! भारी कठिन काम! पूरा समेटकर अन्दर में जाना। बाहर के संयोग भले करोड़ों मन्दिर बनाये हों, करोड़ों गजरथ निकाले हों, वह कोई चीज़ नहीं है। वह तो परमाणु की उस समय की वह अवस्था होनेवाली, वह परमाणु से होती है, आत्मा उसे नहीं कर सकता। आहाहा! उसमें करे तो शुभराग करे। वह शुभराग भी यदि मेरा है, ऐसा माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष को करता है। आहाहा!

जिसने भगवान आत्मा को पूर्ण सबसे भिन्न—विकल्प से लेकर सब चीज़ों से भिन्न (जाना है)। पूरा एक ओर आत्माराम तथा एक ओर सब गाँव। प्रभु पूर्णानन्द का नाथ अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा प्रभु, उस पर जिसकी दृष्टि पड़ी, उस पर झुकाव हुआ, उसने परमात्मा को स्वीकार किया, उसे परमात्मस्वरूप का सत्कार किया, उस जीव को अब कहते हैं (कि) मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष नहीं होते। आहाहा!

ऐसे हजारों रानियाँ छोड़कर नग्न-दिगम्बर हो, पंच महाव्रत पाले, अट्ठाईस मूलगुण पाले, तो भी वह तो उसे धर्म मानता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! (निज) भगवान को भूल जाता है। भगवान अर्थात्? भग अर्थात् लक्ष्मी। अनन्त-अनन्त अन्तर आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी पड़ी है, उसका वान। भगवान—उस भग का वान (अर्थात्) स्वरूप है। अन्तर की लक्ष्मी है, उसका—आत्मा का स्वरूप है। आहाहा! यह पुण्य और पाप, दया

और दान, व्रत और भक्ति वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह तो विकृत व्यभिचार दशा है। आहाहा!

जिसने अन्तर्मुख के परिणाम शुरु किये हैं... आहाहा! जिसने सुख के पन्थ को आदर किया है... आहाहा! अन्तर में एकाग्र होकर अनुभव (किया है), उस सुख के पन्थ में समकिती-सम्यग्दृष्टि पड़ा है। आहाहा! जिसने दु:ख का पन्थ पूरा रोका। इस प्रकार यहाँ पूर्ण लेना है। थोड़ा राग-द्वेष है, आस्रव है, परन्तु वह अल्पता गिनकर, उसे नहीं है (कहा), परन्तु बिल्कुल नहीं है, ऐसा एकान्त कोई ले जाता हो तो ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन होने के बाद भी उसे चारित्रदोष है। उसे टालकर जब स्वरूप में स्थिर होगा, तब आनन्द और शान्ति प्रगट होगी, तब उसे आस्रव और बन्ध जरा भी नहीं होगा। आहाहा! ऐसा मार्ग! वाणी से पार, वचन से, विकल्प से पार, राग से पार, ऐसी भगवान अन्दर चीज़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान में राग तो भिन्न किया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह (भिन्न) किया नहीं (परन्तु) पड़ गया है। अन्तर में ऐसे (अन्तर्मुख) हुआ, इसलिए राग भिन्न पड़ गया। इस प्रकार (राग) आया नहीं क्योंकि इसकी चीज़ नहीं है। आहाहा!

प्रभु! बात तो मुश्किल (वाली है) अनन्त काल का अभ्यास नहीं। लोगों की पूरी प्रवृत्ति क्रियाकाण्ड में (चढ़ गयी)। राग और यह दया पालो, व्रत करो, पूजा करना, भक्ति करना, अपवास करना, गजरथ करना, रथ चलाना... कहाँ वहाँ धर्म है? लाख यात्राएँ सम्मेदशिखर की करना...

मुमुक्षु : आगम मन्दिर की तो यात्रा करना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : आगम मन्दिर की लाख बार यात्रा कर तो शुभभाव है। इस मन्दिर की गिनती क्या? यह तो छब्बीस लाख का है, परन्तु भरत चक्रवर्ती ने तीन चौबीसी के मन्दिर बनाये। भरत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वत में तीन चौबीसी के मन्दिर (बनाये)। अरबों-अरबों रुपये का एक-एक मन्दिर!

मुमुक्षु : रत्न के बनाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरबों के रत्न के अकेले! एक-एक रत्न लाखों की कीमत का!

ऐसे अकेले रत्न से (बनाये)। उससे क्या? उस ओर का लक्ष्य है, वह शुभराग है; धर्म नहीं और धर्म का कारण भी नहीं। वह भाव बन्ध का कारण है। आहाहा! आवे, धर्मी को भी अशुभ से वंचनार्थ–अशुभ को छोड़ने (के लिए आवे), ऐसा कहा जाता है, बाकी तो उस समय में आवे। आहाहा! परन्तु हेयबुद्धि से आवे। उपादेयबुद्धि से आवे तो आत्मा हेय हो जाए। यदि शुभभाव में उपादेयबुद्धि आवे, आदरणीय (माना जाए) तो भगवान पूर्णानन्द का नाथ अन्दर हेय हो जाए और जिसने भगवान आत्मा को उपादेय किया, उस समकिती को राग–तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह राग भी हेय हो जाता है। आहाहा! आवे, होता है। पूर्ण वीतराग न हो, तब राग आता है। आहाहा! परन्तु वह सब हेयरूप से होता है। उपादेय तो एक प्रभु तीन लोक का नाथ... आहाहा!

कलश जैसे अमृत के रस से भरा हो, कलश... कलश... लोटा! यह भी यह लोटा है न! यह देखो न! अन्दर भगवान अमृत के रस से पूर्ण भरपूर है। आहाहा! अतीन्द्रिय अमृत के रस से भरपूर प्रभु आत्मा है, भाई! आहाहा! जिसे द्रव्यस्वभाव कहते हैं। पर्याय तो एक समय की है, परन्तु द्रव्यस्वभाव कहें तो पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण.. अमृत के रस से भरपूर है। आहाहा! इस कलश के आकार से आकार ऐसा है इसका, उसे (कलश के) कारण नहीं। स्वयं के कारण आकार है। व्यंजनपर्याय है न! आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा... अरे रे! आत्मा (को) छोड़कर (सब) बातें (करे)।

अब अभी वह एक व्यक्ति ऐसा कहता है, वह श्रुतसागर, श्रुतसागर है न? कि अभी तो शुभभाव होता है। ऐसी प्ररूपणा करता है। अखबार में आया है। श्रुतसागर है, शान्तिसागर के मार्गानुसारी। वह कहते हैं कि अभी तो शुभभाव ही होता है। अर..र! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु..! शुभभाव तो अभव्य को भी होता है। नौवें ग्रैवेयक जाए, उसे शुभभाव कैसा होता है? वैसा भाव तो अभी होता ही नहीं। आहाहा! वह शुभभाव तो जहर और बन्धन का कारण है। शान्तिसागर यहाँ आये थे। (संवत्) १९९७ में यहाँ आये थे। चौबीस घण्टे रहे थे। परन्तु दृष्टि बहुत दूसरी चीज़, बापू! प्रवृत्ति की क्रिया से अलग। दृष्टि अलग चीज़ है। आहाहा!

(यहाँ) तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान से ज्ञानी को अबन्ध कहा। किस अपेक्षा से? मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से। बाकी तो दसवें गुणस्थान तक धर्मी, समकिती क्षायिक समकिती होता है। अरे! तीर्थंकर होवे, उन्हें दसवें गुणस्थान तक

राग का अंश है और छह कर्म बँधते हैं। एकान्त खींच जाए कि बस! समकिती हुआ, इसलिए कुछ बन्ध ही नहीं है, आस्रव नहीं है। ऐसा नहीं है। इसके योग्य जो है, वह आस्रव और बन्ध नहीं है, ऐसा। आहाहा!

सर्व रागद्वेषमोह का अभाव होने से.. देखा? पाठ तो ऐसा है, देखा! **'सकलरागद्वेषमोह–व्युदासात्'** है न? मूल पाठ ही है। यह टीका है, टीका (में) अन्दर अर्थ है **'सकलरागद्वेषमोह–व्युदासात्'** आहाहा! **सर्व रागद्वेषमोह का अभाव होने से ज्ञानी के कर्मबन्ध कदापि नहीं होता है।** भावार्थ।

यहाँ तो महिमा प्रभु की है। वह महिमा करके अन्तर में जाने की बातें हैं, बापू! बाकी सब लाख-करोड़ (बातें करे), करोड़ों-मन्दिर बनावे और करोड़ों पुस्तकें बनावे... (वह कोई चीज़ नहीं है)।

मुमुक्षु : अभी अपने करोड़ों नहीं बनाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कोई बनावे (उसकी बात है)। यह तो बाईस लाख हुए हैं। बाईस लाख, यहाँ से प्रकाशित हुई है। यह तो उस परमाणु की पर्याय उस काल में होनेवाली हो, वह होती है। कौन करे? बापू! भाई! वह परमाणु पुद्गल में उस समय की उस अवसर में वह पर्याय होनेवाली हो, वह होती है। आहाहा! उसे दूसरा कौन करे? आहाहा! होती हो, उसे कौन करे? उस-उस परमाणु में उस समय वह पर्याय (उस) अवसर में होनेवाली हो, वह होती है। होती है, उसे करे कौन? आहाहा! अभिमान करे कि हमने ऐसा किया और हमने ऐसा किया और हमने पुस्तकें बनायीं, शास्त्र बनाये, मन्दिर बनाये... कौन बनावे? प्रभु! यहाँ तो अन्तर में शुभराग हो, उसे भी बनाता हूँ और मेरा है, यह दृष्टि भी मिथ्या है। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग दिगम्बर जैनदर्शन अलौकिक है। कहीं है नहीं। ऐसा मार्ग कहीं है नहीं। आहाहा! श्वेताम्बर में तो सब गड़बड़ की है। आहाहा! यह निर्मलानन्द प्रभु तो देखो। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जिसे ज्ञान और अनुभव हुआ, उसे पूर्व में (बाँधे हुए) सत्ता में पड़े हुए कर्म होते हैं और उदय आते हैं परन्तु उसमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जुड़ान नहीं है, इसलिए सकल मोह-राग-द्वेष का अभाव है, (ऐसा) मूल में इस अपेक्षा से कहा है। आहाहा!

भावार्थ : ज्ञानी के भी.. अर्थात् कि अज्ञानी को तो ठीक परन्तु **ज्ञानी के भी पहले अज्ञान-अवस्था में बाँधे हुए द्रव्यास्रव..** अर्थात् परमाणु आठ जड़कर्म सत्ता में अजीवरूप से पड़े हैं। **द्रव्यास्रव सत्ता-अवस्था में विद्यमान हैं..** देखा? ये पड़े हुए हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहा। परमाणु नये आवें, उन्हें द्रव्यास्रव (कहे), वह तो और अलग वस्तु। यह तो सत्ता में पड़े (हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहा)। उसमें आता है—सिद्धान्त प्रवेशिका में यह आता है। पूर्व के पड़े हुए कर्म की सत्ता पड़ी है, उसे भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आहाहा! नये आवें, वह अलग वस्तु। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका!

मुमुक्षु : इसमें पहले आ गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आ गया है न! यह तो जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में डाला है। उन्हें द्रव्यास्रव कहना। आये थे न, आये थे न, इसलिए। पड़े हैं न! आहाहा! वे **द्रव्यास्रव सत्ता -अवस्था में विद्यमान हैं और वे अपने उदयकाल में उदय में आते रहते हैं।** जब सत्ता में से उनका उदय (में आने का समय) होवे, उस समय वे उदय में आते रहते हैं। **किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानी के कर्मबन्ध के कारण नहीं होते,..** आहाहा! क्योंकि उनमें उसे अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व के परिणाम नहीं हैं, इसलिए वह जुड़ता नहीं है। इस अपेक्षा से (कहा है)।

क्योंकि ज्ञानी के समस्त रागद्वेषमोहभावों का अभाव है। यहाँ 'सकल' शब्द पड़ा है न! मूल पाठ में है। सकल गये हैं। पूरे मूल ही वह है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत के परिणाम, वे मेरे और मुझे लाभदायक (है, ऐसा भाव वह) मिथ्यात्व है और उसके साथ हुए राग-द्वेष, वह अनन्तानुबन्धी, वह मूल चीज़ है। वह संसार मूल है। मिथ्यात्व, वह आस्रव है, और मिथ्यात्व, वह संसार है। आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार संसार नहीं है। वह तो परचीज़ है संसार तो आत्मा की पर्याय में होता है, मोक्ष भी आत्मा की पर्याय में होता है, मोक्षमार्ग भी आत्मा की पर्याय में होता है, संसार भी आत्मा की पर्याय में होता है। आहाहा! आहाहा!

संसार अर्थात् मिथ्यात्व। आहाहा! इस राग के कण को भी अपना मानना और लाभदायक मानना, वह मिथ्यात्व, वह संसार है। यह कहते हैं न (कि) स्त्री, पुत्र छोड़ा, (उसने) संसार छोड़ा। (यह) खोटी बात है। कुटुम्ब, स्त्री छोड़े, दुकान छोड़ी, इसलिए

संसार छोड़ा, (यह) खोटी बात है। मिथ्यात्व, वह संसार है (और) वह मिथ्यात्व छोड़े तो संसार छोड़ा कहलाता है। आहाहा! भाषा समझ में आती है थोड़ी-थोड़ी ?

आहाहा! त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा विराजते हैं, महाविदेह में प्रभु तो विराजते हैं। आहा! प्रभु का करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसा एक करोड़ पूर्व का प्रभु का आयुष्य है। दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे। साक्षात् भगवान के समवसरण में आठ दिन रहे थे। भरत (क्षेत्र) के मनुष्य, वह महाविदेह की यात्रा को गये! तीन लोक के नाथ की उपस्थिति, उनके पास गये, आठ दिन सुना। थोड़ी बहुत शंका का समाधान श्रुतकेवलियों के निकट किया। वहाँ तो श्रुतकेवली विराजते हैं, वर्तमान (में विराजते हैं)। आहाहा! वहाँ से आकर यह बनाया है। आहाहा! और उसमें से अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका और कलश (बनाये हैं)। आहाहा! अमर के धाम में जाना हो, उसे कैसे जाना, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। अमर आत्मा-अमर धाम है! आहाहा! और मोक्ष को भी अमर कहते हैं न! मोक्ष को अमृत कहते हैं, शास्त्र में मोक्ष को अमृत भी कहते हैं। अमर कहते हैं, अमृत कहते हैं, मोक्ष कहते हैं। आहाहा!

यह आत्मा अमृत और अमरस्वरूप है, प्रभु! वास्तव में तो इसे दया, दान के विकल्प, व्रत के विकल्प का भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो सकल त्रिकाल निरावरण प्रभु अन्दर विराजता है। आहाहा! सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकपरमभाव लक्षण निजपरमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। आहाहा! आहाहा! ऐसे धर्मी अपने आत्मा को ऐसा भाता है। आहाहा! मैं रागी हूँ और स्त्रीवाला तथा पुत्रवाला और पैसेवाला, यह तो कुछ है ही नहीं। आहाहा! परन्तु एक समय की पर्याय जितनी खण्ड-खण्ड है, उसकी भी भावना ज्ञानी को नहीं है। ज्ञानी को अपनी-अखण्ड की भावना है। आहाहा! इस अखण्ड की भावना में जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, इससे उस धर्मी को पूर्व के बाँधे हुए कर्म उदय में आवें, परन्तु मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जुड़ान नहीं है। आहाहा! सम्यक् और स्वरूप स्थिरता का जुड़ान यहाँ हो गया है। इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का ऐसा जुड़ान होता था, वह गया। आहाहा! बापू! अन्तर का मार्ग ऐसा बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! वाद-विवाद से तो कुछ (पार आवे, ऐसा नहीं)।

जिसे अन्तर (लगनी) लगी हो, (उसका काम है)। यह भव... भव चौरासी लाख के अवतार अनन्त भव, इस भव का जिसे डर लगे। चाहे तो स्वर्ग का भव (होवे) परन्तु वह दुर्गति है। तेरी गति नहीं, नाथ! आहाहा! तेरी गति तो अन्दर शुद्धरूप से परिणमना, वह तेरी गति है। आहाहा! स्वर्ग की गति भी दुर्गति है। वहाँ दु:ख है, आकुलता है, कषाय है, वह सुखी नहीं।

सुख तो आत्मा में है। आहाहा! ऐसे सुखसागर को जहाँ खोजकर देखा, जाना... आहाहा! कहते हैं कि उसे अब पूर्व की सत्ता के कर्म उदय में समय-समय आने पर भी उसमें उसका जुड़ान नहीं है। ऐसे (अन्तर में) जुड़ान हुआ है तो ऐसा (बाहर में) जुड़ान नहीं है, यह ऐसी दो बातें की है। अस्थिरता की बात को गौण कर डाला। आहाहा! प्रभु में जुड़ान गया है, वह रंक में—उदय में नहीं जुड़ता। आहाहा! ऐसी बात है।

यहाँ समस्त रागद्वेषमोह का अभाव बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोह की अपेक्षा से समझना चाहिए। देखा? बुद्धि अर्थात् रुचिपूर्वक। प्रेमपूर्वक जो राग-द्वेष-मोह (होता है), वह उसे नहीं है। बुद्धिपूर्वक (अर्थात्) करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धिपूर्वक। उसे राग-द्वेष और मोह का अपेक्षा से अभाव कहा है। आहाहा!

कलश-११९

अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी दो गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

राग-द्वेष-विमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम्।।११९।।

श्लोकार्थ : [यत्] क्योंकि [ज्ञानिनः रागद्वेषविमोहानां असंभवः] ज्ञानियों के रागद्वेषमोह का असम्भव है [ततः एव] इसलिए [अस्य बन्धः न] उनके बन्ध नहीं है; [हि] कारण कि [ते बन्धस्य कारणम्] वे (रागद्वेषमोह) ही बन्ध का कारण है।।११९।।

श्लोक - ११९ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी दो गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं:- ११९ कलश।

राग-द्वेष-विमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम्।।११९।।

आहाहा! **श्लोकार्थ – क्योंकि 'ज्ञानिनः रागद्वेषविमोहानां असंभवः' ज्ञानियों के रागद्वेषमोह का असम्भव है..** मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव (हुआ), उसे यहाँ अभाव कहा है। आहाहा! धर्मी को, धर्मी जीव की दृष्टि में तो भगवान है। आहाहा! अज्ञानी की दृष्टि में राग है और पर्याय है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में पर्याय एक समय की या राग है, वह उसकी दृष्टि में है। इसलिए दृष्टि का विषय (जो) स्वभाव, उसका उसे अनादर है। आहाहा! समकिती को पूर्णानन्द का स्वभाव, वही आदरणीय और (उसका ही) सत्कार है। वही उसकी चीज़ है और उसे वह आदरता है। इसलिए वे राग-द्वेष अस्थिरता के हों, उन्हें आदर नहीं देता। उसमें उत्साह और हर्ष नहीं करता। आता है, धर्मी को राग, विनय, व्यवहार, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति—ऐसा भाव आता है (परन्तु) है बन्ध का कारण। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! बहुत (कठिन) काम। जगत के साथ मेल करना मुश्किल पड़े, ऐसा है। जगत अर्थात् मिथ्यात्व और संसार.. आहाहा!

आहाहा! इसलिए **ज्ञानियों के रागद्वेषमोह का असम्भव है..** वह अभाव कहा था, यह असम्भव कहा। **इसलिए 'अस्य बन्धः न' उनके बन्ध नहीं है; कारण कि 'ते बन्धस्य कारणम्' वे (रागद्वेषमोह) ही बन्ध का कारण है।** मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष, वही बन्ध का कारण है। वह ज्ञानी को नहीं है। आहाहा! अब ऐसा सब पढ़े और एकान्त ले जाए। आहाहा! और वापस वे उसमें कह गये हैं न, कि यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक जघन्य भाव में है, उसे बन्ध है। वे कह गये हैं। आहाहा! यह बात बतला दी है।

गाथा–१७७–१७८

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसव–भावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।१७७।।
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठ–वियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसि–मभावे ण बज्झन्ति।।१७८।।

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न सन्ति सम्यग्दृष्टेः।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति।।१७७।।
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्ट–विकल्पस्य कारणं भणितम्।
तेषा–मपि च रागादयस्तेषा–मभावे न बध्यन्ते।।१७८।।

रागद्वेषमोहा न सन्ति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः। तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गल–कर्महेतुत्वं बिभ्रति, द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादि–हेतुत्वात्। ततो हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बन्धः।।१७७–१७८।।

अब, इस अर्थ की समर्थक दो गाथाएँ कहते हैं:–

नहिं रागद्वेष, न मोह–वे आश्रव नहीं सद्दृष्टि के।
इससे हि आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बने।।१७७।।
हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकार का कारण कहा।
उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहाँ बंध ना।।१७८।।

गाथार्थ : [रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [च मोहः] और मोह–[आस्रवाः] यह आस्रव [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [न संति] नहीं होते [तस्मात्] इसलिए [आस्रवभावेन

विना] आस्रवभाव के बिना [प्रत्यया:] द्रव्य प्रत्यय [हेतव:] कर्मबन्ध के कारण [न भवंति] नहीं होते।

[चतुर्विकल्पः हेतुः] (मिथ्यात्वादि) चार प्रकार के हेतु [अष्टविकल्पस्य] आठ प्रकार के कर्मों को [कारण] कारण [भणितम्] कहे गये हैं, [च] और [तेषाम् अपि] उनके भी [रागादय:] (जीव के) रागादि भाव कारण हैं; [तेषाम् अभावे] इसलिए उनके अभाव में [न बध्यंते] कर्म नहीं बँधते। (इसलिए सम्यक्दृष्टि के बन्ध नहीं है।)

टीका : सम्यक्दृष्टि के रागद्वेषमोह नहीं हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टि की अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् रागद्वेषमोह के अभाव के बिना सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता); रागद्वेषमोह के अभाव में उसे (सम्यक्दृष्टि को) द्रव्य प्रत्यय पुद्गलकर्म का (अर्थात् पुद्गलकर्म के बन्धन का) हेतुत्व धारण नहीं करते क्योंकि द्रव्यप्रत्ययों के पुद्गलकर्म के हेतुत्व के हेतु रागादिक हैं; इसलिए हेतुके हेतुके अभाव में हेतुमान् का (अर्थात् कारण का जो कारण है उसके अभाव में कार्य का) अभाव प्रसिद्ध है, इसलिए ज्ञानी के बन्ध नहीं है।

भावार्थ : यहाँ, रागद्वेषमोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता ऐसा अविनाभावी नियम बताया है, सो यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि का अभाव समझना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि को ही रागादि माना गया है। सम्यक्दृष्टि होने के बाद जो कुछ चारित्रमोहसम्बन्धी राग रह जाता है, उसे यहाँ नहीं लिया है; वह गौण है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के भावास्रव का अर्थात् रागद्वेषमोह का अभाव है। द्रव्यास्रवों को बन्ध का हेतु होने में हेतुभूत जो रागद्वेषमोह हैं, उनका सम्यक्दृष्टि के अभाव होने से द्रव्यास्रव बन्ध के हेतु नहीं होते, और द्रव्यास्रव बन्ध के हेतु नहीं होते इसलिए सम्यक्दृष्टि के–ज्ञानी के–बन्ध नहीं होता।

सम्यक्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है वह योग्य ही है। 'ज्ञानी' शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं को लेकर प्रयुक्त होता है:– (१) प्रथम तो, जिसे ज्ञान हो, वह ज्ञानी कहलाता है; इस प्रकार सामान्य ज्ञान की अपेक्षा से सभी जीव ज्ञानी हैं। (२) यदि सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उस अपेक्षा से वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो केवली भगवान ज्ञानी हैं और

छद्मस्थ अज्ञानी हैं क्योंकि सिद्धान्त में पाँच भावों का कथन करने पर बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इस प्रकार अनेकान्त से अपेक्षा के द्वारा विधिनिषेध निर्बाधरूप से सिद्ध होता है; सर्वथा एकान्त से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

गाथा - १७७-१७८ पर प्रवचन

अब, इस अर्थ की समर्थक दो गाथाएँ कहते हैं:-

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसव-भावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।१७७।।
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठ-वियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसि-मभावे ण बज्झन्ति।।१७८।।

नहिं रागद्वेष, न मोह-वे आश्रव नहीं सद्दृष्टि के।
इससे हि आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बने।।१७७।।
हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकार का कारण कहा।
उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहाँ बंध ना।।१७८।।

आहाहा! **टीका : सम्यग्दृष्टि के रागद्वेषमोह नहीं हैं...** यह वे। मिथ्यात्व और राग-द्वेष। मोह अर्थात् मिथ्यात्व (और) राग-द्वेष अर्थात् अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष। ऐसा पढ़कर दीपचन्दजी (सेठियाजी) को हो गया था न! भूल निकाली थी न वह? सोगानी की, न्यालचन्द सोगानी कहते हैं कि ज्ञानी को भी शुभराग आवे, वह ऐसा दुःख लगता है, दुःख है। वह इन्हें नहीं सुहाया। बापू! धर्मी है, भले क्षायिक समकिती हो... आहाहा! बाहुबलीजी और भरत दोनों लड़े, तो भी समकिती हैं। अन्दर राग आया है, परन्तु वह राग अस्थिरता का राग दोष है, दुःख है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव दुःख है। राग है, वह जहर है, दुःख है। प्रभु अमृत का सागर है, उससे उल्टा भाव है। वह शुभभाव भी अमृत के सागर से उल्टा भाव है। आहाहा!

अरे रे! भगवान महाप्रभु विराजता है, कहते हैं। वहाँ तेरा आसन डालता नहीं और

आसन... आहाहा! अच्छे स्थान में आसन डालता नहीं और विष्टा में आसन डालता है। इसी प्रकार राग और द्वेष, पुण्य-पाप में आसन डाला। आहाहा! उदासीनोऽसी आता है न अन्दर? उदासीनोऽसी! धर्मी तो राग और द्वेष से उदासीन है, उससे उसका आसन भिन्न अन्दर आत्मा पर पड़ा है। आहाहा! उदासीन—उद + आसीन। भगवान धाम है, चैतन्यवस्तु है, वहाँ उसका आसन दृष्टि स्थापित है, वह उसका स्थल है, वह उसकी जमीन है, वह उसका स्वामी है और वह उसका मालिक है। आहाहा! जमीन का स्वामी होता है न? यह (वास्तविक) जमीन यह है। अनन्त-अनन्त गुण से भरपूर भगवान, वह धर्मी का स्थान और क्षेत्र, दल वह चीज़ है। रागादि हो परन्तु वह उसकी चीज़ नहीं है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि के रागद्वेषमोह नहीं.. (ऐसा) यहाँ तो कहा है। **क्योंकि सम्यग्दृष्टि की अन्यथा अनुपपत्ति है..** भाषा देखो! आहाहा! मिथ्यात्व सम्बन्धी के भाव और राग-द्वेष गये न हों और सम्यग्दृष्टि हो, ऐसा तीन काल में नहीं बनता। सम्यग्दृष्टि के शुद्ध सम्यग्दर्शन का भाव (हुआ) और अनन्तानुबन्धी के अभावरूप भाव हुआ, वहाँ राग-द्वेष मेरे हैं, ऐसा भाव नहीं हो सकता।

आहाहा! यह कहते हैं, **सम्यग्दृष्टि की अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् रागद्वेषमोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता);..** यहाँ कितने ही कहते हैं कि जरा भी राग रहे, तब तक मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कितने ही कहते हैं। यह बात यहाँ नहीं है। आहाहा! यहाँ तो मिथ्यात्व सम्बन्धी, विपरीत मान्यता महा संसार है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ मोक्षस्वरूप है, उससे (विपरीत) मिथ्यात्व भाव (अर्थात्) राग के विकल्प को अपना मानना, ऐसा मिथ्यात्व भाव वही महा संसार और अनन्त जन्म-मरण का गर्भ है। आहाहा! अब उसकी जिसे कीमत नहीं, वह यह दया, दान और व्रत-तप-भक्ति करेंगे तो धर्म हो जाएगा, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! भाई! वह शुभभाव है। आहाहा! धर्म तो शुद्ध उपयोग हो, तब धर्म है। शुभ और अशुभ दोनों अशुभ हैं, अशुद्ध हैं। आहाहा! वह अशुद्धता यहाँ नहीं है। सम्यग्दृष्टि में जो राग-द्वेष-मोह तीव्र है, वह अशुद्धता उसे नहीं है, इसलिए सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव है। आहाहा!

यह १७१ गाथा में कह गये हैं। ज्ञानी को भी, जघन्यभाव से देखता है, श्रद्धता है।

देखता-जानता है, ऐसा वहाँ लिया। इससे अभी उत्कृष्ट भाव से नहीं देखता, इसलिए अभी उसे आस्रव और बन्ध आता है। पूर्णानन्द के नाथ के पूर्णरूप से देखकर, श्रद्धा करे और स्थिर हो, पूर्णरूप से स्थिर हो, उसे अब आस्रव और बन्ध नहीं होता। यहाँ जो कहते हैं, वह तो समकित की अपेक्षा की बात है। आहाहा! ऐसा धर्म कैसा! यह सब यात्रा करे, मन्दिर बनावे, लाखों रुपये खर्च करे, दस-दस लाख (खर्च करे), दस क्या तेरे अरब खर्च कर न! वह कहाँ तेरी चीज़ है? वह तो जड़ है। आहाहा! पैसा मेरा है, ऐसा मानकर दे, वह तो मिथ्यात्व है। अजीव, जीव का है (ऐसा नहीं है), वह तो अजीव है। आत्मा भगवान तो जीव है। जीव का अजीव—पैसा होगा? उस अजीव को जीव माने, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! कठिन काम। सम्यग्दर्शन में यह बात छूट जाती है। वह राजपाट में पड़ा हो, करोड़ों रुपये दान में देता हो परन्तु अन्दर स्वामी नहीं (होता)। जानता है कि ऐसा होता है, यह जाता है, यह जाता है। यह रहता है, यह जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

(सम्यग्दृष्टि को) द्रव्य प्रत्यय पुद्गलकर्म का.. द्रव्य अर्थात् जुड़ान, पुराने जड़कर्म। **पुद्गलकर्म का (अर्थात् पुद्गलकर्म के बन्धन का) हेतुत्व धारण नहीं करते..** आहाहा! धर्म की जहाँ अन्दर आत्म-अनुभव की दृष्टि हुई, भेदज्ञान हो गया, राग से-विकल्प से पृथक् पड़ गया। वह पृथक् पड़ा, वह भगवान आत्मा... आहाहा! उसे पुराने कर्म पड़े हैं, वह बन्ध का हेतु नहीं होता। आहाहा! है? द्रव्य प्रत्यय अर्थात् पुराने जड़ (कर्म) आस्रव कहा न? प्रत्यय अर्थात् आस्रव। वे द्रव्यास्रव कहे, यहाँ प्रत्यय कहा। पूर्व के पड़े हैं वे, हों!

पुद्गलकर्म के हेतुत्व के हेतु रागादिक हैं;.. हेतुत्व धारण नहीं करते क्योंकि द्रव्यप्रत्ययों के पुद्गलकर्म के हेतुत्व के हेतु रागादिक हैं;.. पूर्व के कर्म नये कर्म के कारण में मिथ्यात्व और राग-द्वेष हों तो बन्ध का कारण होते हैं। आहाहा! है? जड़कर्म पुद्गलकर्म के हेतुपना-नये बन्ध का निमित्त, पुराने कर्म नये बन्धन का निमित्त, उस निमित्त में भी हेतु रागादि हैं। पुराना (कर्म) निमित्त है, यह आ गया है कि पुराना कर्म है, वह नये कर्म का कारण है, परन्तु कब? कि पुराने कर्म में (जुड़कर) स्वयं राग-द्वेष और मिथ्यात्व करे तब। आहाहा! अब ऐसी बातें, अभी तो समझना कठिन पड़े।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की रीति ही -कला ही अलग प्रकार है। पूरी दुनिया से

उनकी रीति अलग है। आहाहा! एक-एक परमाणु अपनी पर्याय से उस समय परिणमे, उसे कौन परिणमावे, कहते हैं। यह शरीर है, देखो! ऐसे-ऐसे चले, वह तो इसकी पर्याय जड़ की है। आत्मा इसे करे, आत्मा हाथ को हिला सके, यह तीन काल में नहीं होता। यह कौन माने? आहाहा! यह लकड़ी है, (यह) भी ऐसे ऊँची-नीची होती है, देखो! इसकी अवस्था (होती है), उसका कर्ता यह पुद्गल है, उसका कर्ता अंगुली नहीं। आहाहा! इस हाथ के आधार से यह लकड़ी रही है? नहीं। इस परमाणु में आधार नाम का गुण है, उसके कारण लकड़ी (उसके) आधार से रही है, हाथ के आधार से नहीं। अरे! यह कैसे जँचे? देवीलालजी! आहाहा!

जगत का एक-एक रजकण, यह तो अनन्त रजकण का दल है। एक-एक रजकण की उस समय में होनेवाली जो अवस्था, उसे दूसरा रजकण या दूसरा आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! हल्का.. हल्का.. हल्का कर डाला। हल्का ही है। पर के कार्य के कर्तापने से रहित प्रभु है। आहाहा! यह कहते हैं, आहाहा! धर्मी को बन्ध का कारण कब होता है? कि पुराने कर्म नये कर्म के आने का (कारण) कब होगा? कि उस पुराने कर्म में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का निमित्त होवे, पुराने कर्म में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का निमित्त होवे तो पुराना कर्म, नये कर्म का कारण होगा। आहाहा! है?

द्रव्यप्रत्यय.. अर्थात् जड़ पुद्गलकर्म के (अर्थात्) नये (कर्म के) हेतु का हेतु। नये कर्म आने का निमित्त वह मिथ्यात्व और राग-द्वेष है। आहाहा! बन्ध अधिकार में भी ऐसा कहा है न? जो कोई आत्मा के उपयोग में राग करे, वह बन्ध मिथ्यात्व है। राग करे (ऐसा) अकेले की बात नहीं ली है। जानने के उपयोग में राग को करे, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! बन्ध अधिकार में पहली शुरुआत (में बात की है)।

समयसार तो अलौकिक चीज़ है! दोपहर को प्रवचनसार (चलता है), नियमसार कोई अलौकिक शास्त्र है। कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्र अर्थात् केवली की वाणी है!! आहाहा! परन्तु समझने के लिए बहुत प्रयत्न चाहिए। बापू! आहाहा!

द्रव्यप्रत्ययों के पुद्गलकर्म के हेतुत्व.. नये का हेतु, उसका हेतु **रागादिक हैं; इसलिए हेतु के हेतु के अभाव में..** आहाहा! यह क्या कहा? पुराने कर्म जो हेतु हैं,

उनका हेतु मिथ्यात्व और राग-द्वेष है। ऐसे **हेतु के हेतु के अभाव में हेतुमान् का (अर्थात् कारण का जो कारण है, उसके अभाव में कार्य का) अभाव प्रसिद्ध है इसलिए ज्ञानी के बन्ध नहीं है।** आहाहा! पुराने कर्म, नये को निमित्त हो, परन्तु उन पुराने कर्म को निमित्त जीव के मिथ्यात्व और राग-द्वेष होवें तो। आहाहा! इसलिए धर्मी को आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन में है, इसलिए उसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष नहीं है, इसलिए उसे पुराने कर्म को निमित्त होना और नये कर्म हों, यह एक भी है नहीं। नहीं मिथ्यात्व, राग-द्वेष परिणाम, नहीं पुराने कर्म को निमित्त होना और पुराना कर्म नये को लाना, यह एक भी उसे नहीं है। आहाहा! उसे बन्धन ही नहीं है—ऐसा कहते हैं। है?

(अर्थात् कारण का जो कारण है, उसके अभाव में..) कारण का कारण अर्थात्? पुराने कर्म नये का कारण है परन्तु उस कारण का कारण अज्ञानी के राग-द्वेष और मोह है। ऐसे **कारण के अभाव में कार्य का..** अर्थात् नये बन्धन का। **अभाव प्रसिद्ध है, इसलिए ज्ञानी के बन्ध नहीं है।** इस कारण से धर्मी को बन्ध नहीं है।

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५३, गाथा-१७७ - १७८, श्लोक १२० दिनाङ्क १४-०६-१९७९, गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण ४

समयसार, गाथा १७७-१७८ (गाथा के) भावार्थ का दूसरा पैराग्राफ। यहाँ सम्यग्दृष्टि का माहात्म्य कहा है। ऐसा कहा न (कि) सम्यग्दृष्टि को आस्रव और बन्ध नहीं है। यह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। पूर्ण स्वरूप शुद्धचैतन्य... आहाहा! अखण्ड स्वरूप अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. शक्ति का संग्रहालय। अनन्त की दृष्टि हुई, वह अलौकिक बात है। इस दृष्टि से संसार का वहाँ अन्त है। दया, दान, व्रत, भक्ति (आदि की) चाहे जो क्रिया करे, उसकी कुछ महिमा नहीं है। शुभभाव अनन्तबार किया और करे, उसकी कोई महिमा नहीं है। महिमा और माहात्म्य, चमत्कार को प्रभु चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, उसे जिसने स्पर्श किया, उसका जिसे अनुभव हुआ, उसका जिसे ज्ञान होकर प्रतीति हुई है, उसके माहात्म्य

का वर्णन है। उसे आस्रव और बन्ध नहीं है। अनन्त संसार का कारण, ऐसा आस्रव और बन्ध उसे नहीं है। अल्प है, उसकी गिनती (नहीं है)। (सम्यग्दर्शन के) माहात्म्य के समक्ष (उसकी) गिनती गिनी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है.. है? भावार्थ का दूसरा भाग, दूसरा पैराग्राफ। **सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है..** कितने ही ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी तो सातवें (गुणस्थान से) होता है। वीतरागरूप हो तब (होता है)। तब वीतरागदृष्टि होती है, नीचे सम्यग्दृष्टि को सरागदृष्टि है, ऐसा नहीं है। पहली भूमिका में भगवान पूर्ण स्वरूप प्रभु बाहर से सर्वथा प्रकार से उपयोग समेट डाला न! अन्तर्मुख दृष्टि में पलटा किया, वह कोई कम बात नहीं है। बाहर के लक्ष्य से तो व्रत, तप, भक्ति और पूजा (अनन्त बार की है), मन्दिर बनाये, गजरथ (निकाले), सब अनन्त बार किया। उसमें कहीं कोई भव का अन्त नहीं है। आहाहा!

यह तो भव के अन्त के करनेवाले को ज्ञानी कहा जाता है, **वह योग्य ही है।** वह उचित है। शास्त्र का इतना पढ़ा, इसलिए ज्ञानी है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी प्रभु, जाननस्वभाव का पिण्ड ज्ञायक, उसका ज्ञान (होवे), उसे ज्ञानी कहते हैं। दूसरा क्षयोपशम कम हो या समझाना न भी आवे, इससे कहीं ज्ञान, अज्ञान नहीं होता और ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर वह अज्ञान है, वह कहीं ज्ञान नहीं होता। आहाहा!

जिसे चैतन्य महाप्रभु का ज्ञान हुआ, उसे जिसने ज्ञान में ज्ञेय बनाकर, अनादि काल से पर को ज्ञेय बनाकर पर्याय को वहाँ रोका है... आहाहा! उस पर्याय को पर्याय में स्व-स्वरूप को ज्ञेय बनाकर। आहाहा! जहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान हुआ है, इसलिए उसे ज्ञानी कहना योग्य ही है। भले तिर्यंच सूकर हो.. आहाहा! चूहा हो, गिलहरी हो परन्तु भगवान आत्मा पूर्ण प्रभु वहाँ तो उसे पड़ा है। उसका जिसने अन्तर में सन्मुख होकर, संयोग का लक्ष्य छोड़कर, निमित्त का छोड़कर, राग का छोड़कर और पर्याय का (लक्ष्य भी) छोड़कर, पर्याय ने पर्याय का लक्ष्य छोड़कर पर्याय, द्रव्य के अवलम्बन करती है (तो) कहते हैं कि उसे ज्ञानी कहना, वह उचित है। आहाहा!

'ज्ञानी' शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं को लेकर प्रयुक्त होता है:- (१) प्रथम

तो, जिसे ज्ञान हो, वह ज्ञानी कहलाता है; इस प्रकार सामान्य ज्ञान की अपेक्षा से सभी जीव ज्ञानी हैं। क्या कहते हैं? सब जीव ज्ञानस्वरूप से है, इस अपेक्षा से ज्ञानी कहलाते हैं परन्तु वह कहीं सम्यग्ज्ञान नहीं है। मिथ्याज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। ज्ञानी (अर्थात्) जो आत्मा ज्ञान का धारक, पूर्ण ज्ञान का धारक, अकेला ज्ञायकभाव है। इससे सबको ज्ञानी कहा जाता है। सम्यक्-मिथ्याज्ञानी यहाँ नहीं है। पहले सामान्य की (बात है)। **इस प्रकार सामान्य ज्ञान की अपेक्षा से सभी जीव ज्ञानी हैं।** आहाहा! अभव्य भी ज्ञानी है क्योंकि उसका स्वभाव ही ज्ञानस्वरूप है न! जाननस्वभावभाव से भरपूर भगवान, उसके कारण सबको ज्ञानी कहा जाता है, परन्तु इससे वह भव के अन्त का कारण है, यह नहीं। आहाहा!

(२) यदि सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो.. यहाँ जो कहा है वह। यहाँ तो सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान, इसकी अपेक्षा से ज्ञान लिया जाए तो **सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है..** राग से भिन्न पड़कर स्वरूप का ज्ञान (हुआ ऐसा) सम्यग्दृष्टि भेदज्ञानी को होने से **सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उस अपेक्षा से वह ज्ञानी है,..** इस अपेक्षा से उसे यहाँ ज्ञानी कहा है। यह कितने ही बड़ा विवाद उठाते हैं। वास्तव में ज्ञानी (अर्थात् ऐसा कि) निर्विकल्प दृष्टि सातवें (गुणस्थान में) होवे, तब सम्यग्दर्शन निर्विकल्प होता है। आहाहा! ज्ञानसागर ने ऐसा लिया है। जब तक पूर्ण निर्विकल्प समाधि न हो, वहाँ तक उसे ज्ञान नहीं है, ऐसा कहा। आहाहा! इस बात को मानते नहीं। ऐसा कि यह तो पण्डित का कथन है न! पण्डित का कथन पाठ में बोलता है। १४४ गाथा। स्वरूप की प्राप्ति करे, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (नाम) प्राप्त होता है। वहाँ ऐसा कहा, वहाँ चारित्र तो लिया नहीं। पाठ है, ऐसे तो बहुत पाठ हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं का आशय देंगे। **सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उस अपेक्षा से वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।** आहाहा!

(३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये.. आहाहा! सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा लें **तो केवली भगवान ज्ञानी हैं..** आहाहा! बारहवें गुणस्थान तक अभी पूर्ण ज्ञान नहीं है और छद्मस्थ अज्ञानी है। अज्ञानी है अर्थात् पूर्ण ज्ञान नहीं है, ऐसा। छद्मस्थ है, छद्मस्थ (को) आवरण है, भाव आवरण में जो

रहा है, इसलिए उसे अज्ञानी कहने में आता है। बारहवें गुणस्थान तक। यह ज्ञान की पूर्णता की अपेक्षा से; और पूर्ण के अभाव की अपेक्षा से अज्ञानी कहा परन्तु सम्यग्ज्ञान नहीं है, ऐसा नहीं है। पूर्ण ज्ञान के अभाव में उसे अज्ञानी (कहा), पूर्ण ज्ञान का अभाव है, इसलिए अज्ञानी है, इतना कहा। मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन यह नहीं। आहाहा!

क्योंकि सिद्धान्त में पाँच भावों का कथन करने पर.. शास्त्र में जहाँ पाँच भावों का कथन है, पंचमभावपूर्वक चार भाव, पर्याय के (लिए हैं)। आहाहा! त्रिकाली पंचम भाव भगवान का भाव और चार पर्याय में भाव, इन पाँच भाव का जहाँ कथन है, वहाँ **बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है।** वीतराग हुआ है, अन्तर्मुहूर्त पश्चात् केवलज्ञान होना है, परन्तु उस पूर्णज्ञान के अभाव की अपेक्षा से बारहवाँ गुणस्थान वीतरागी है, उसे भी अज्ञानी कहा है। आहाहा! अज्ञानी अर्थात् मिथ्याज्ञानी, ऐसा नहीं है। पूर्ण ज्ञान का अभाव, इतनी अपेक्षा से अज्ञानी, ऐसा।

इस प्रकार अनेकान्त से अपेक्षा के द्वारा.. देखो! यह अनेकान्त! सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा, वह वस्तु के स्वरूप के भान की अपेक्षा से। मिथ्यादृष्टि को अज्ञानी कहा, वह स्वरूप के अज्ञान की (अपेक्षा से)। बारहवें गुणस्थान में अज्ञानी कहा, वह पूर्ण ज्ञान के अभाव की (अपेक्षा से)। एक ही अपेक्षा ले, कि देखो! मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, वैसा ही बारहवें गुणस्थानवाला अज्ञानी है (तो) ऐसा नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार अनेकान्त से अपेक्षा के द्वारा विधिनिषेध निर्बाधरूप से सिद्ध होता है;.. विधिनिषेध (अर्थात्) सम्यग्दृष्टि में ज्ञान है, बारहवें गुणस्थान में अज्ञान है, सम्पूर्ण (ज्ञान) नहीं है इसलिए; इस प्रकार विधिनिषेध से, अनेकान्त से बात सिद्ध होती है। आहाहा! सर्वथा एकान्त से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। सर्वथा एकान्त करने जाए तो कोई बात सिद्ध नहीं होती, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि अनेकान्त अर्थात् निमित्त से भी होता है और उपादान से भी होता है। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है, यह अनेकान्त नहीं है। अनेकान्त यह है कि निश्चय से होता है और व्यवहार से नहीं होता। उपादान से होता है और निमित्त से नहीं होता—यह वहाँ अनेकान्त है। यहाँ अनेकान्त तो अपेक्षित सम्यग्ज्ञान और पूर्ण के अभाव की अपेक्षा से अज्ञान (कहा) और नीचे मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से अज्ञान (कहा), इस अपेक्षा से यह बात कही है। आहाहा!

कलश-१२०

अब, ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, यह शुद्धनय का माहात्म्य है; इसलिए शुद्धनय की महिमा दर्शक काव्य कहते हैं:-

(वसन्ततिलका)

अध्यास्य शुद्धनय-मुद्धत-बोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादि-मुक्त-मनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्ध-विधुरं समयस्य सारम् ।।१२०।।

श्लोकार्थ : [उद्धतबोधचिह्नम् शुद्धनयम् अध्यास्य] उद्धत ज्ञान (-जो कि किसी के दबाये नहीं दब सकता, ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेकर [ये] जो [सदा एव] सदा ही [एकाग्र्यम् एव] एकाग्रता का [कलयन्ति] अभ्यास करते हैं [ते] वे, [सततं] निरन्तर [रागादिमुक्तमनसः भवन्तः] रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए, [बन्धविधुरं समयस्य सारम्] बन्धरहित समय के सार को (अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को) [पश्यन्ति] देखते हैं-अनुभव करते हैं।

भावार्थ : यहाँ शुद्धनय के द्वारा एकाग्रता का अभ्यास करने को कहा है। 'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ' - ऐसा जो आत्मद्रव्य का परिणमन, वह शुद्धनय। ऐसे परिणमन के कारण वृत्ति ज्ञान की ओर उन्मुख होती रहे और स्थिरता बढ़ती जाये, सो एकाग्रता का अभ्यास।

शुद्धनय श्रुतज्ञान का अंश है और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है, इसलिए इस अपेक्षा से शुद्धनय के द्वारा होनेवाला शुद्धस्वरूप का अनुभव भी परोक्ष है। और वह अनुभव एकदेश शुद्ध है, इस अपेक्षा से उसे व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर होता है।।१२०।।

श्लोक - १२० पर प्रवचन

अब, ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, यह शुद्धनय का माहात्म्य है.. देखा! आहाहा! शुद्ध भगवान पूर्ण शुद्धस्वरूप, पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का सागर समुद्र पवित्र प्रभु, अकेली पवित्रता का पिण्ड प्रभु! आहाहा! चैतन्य प्रतिमा! अकेली पवित्रता के गुण की प्रतिमा प्रभु! आहाहा! उसे यदि लें तो उसका माहात्म्य है। (इसलिए) **शुद्धनय की महिमा दर्शक काव्य कहते हैं:-** इस शुद्धनय के (कारण) ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, यह शुद्धनय का माहात्म्य है। शुद्धनय अर्थात् निर्विकल्प आनन्द के अनुभव का यह माहात्म्य है। पूर्ण स्वरूप का अनुभव और प्रतीति (हुई), उसका यह माहात्म्य है। ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, उसमें शुद्धनय का माहात्म्य है। आहाहा!

निर्विकल्प शुद्धचैतन्य भगवान जहाँ समाधि में अन्दर शान्ति में पड़ा है... आहाहा! वह शुद्धनय का माहात्म्य है। **इसलिए शुद्धनय की महिमा दर्शक काव्य कहते हैं:-**

अध्यास्य शुद्धनय-मुद्धत-बोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादि-मुक्त-मनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्ध-विधुरं समयस्य सारम् ।।१२०।।

आहाहा! **'उद्धतबोधचिह्नम् शुद्धनयम् अध्यास्य' उद्धत ज्ञान..** आहाहा! ज्ञान जो आत्मा का हुआ, वह ज्ञान उद्धत हो गया। वह किसी को गिनता नहीं। आहाहा! कर्म के उदय को गिनता नहीं, शास्त्र के पन्ने पढ़ूँ तो ज्ञान होगा, ऐसा भी गिनता नहीं, ऐसा उद्धत ज्ञान है। आहाहा! **उद्धत ज्ञान (-किसी के दबाये नहीं दब सकता, ऐसा उन्नत ज्ञान)..** आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, चैतन्य चन्द्र, चैतन्य चन्द्र अन्दर विराजता है। शान्ति का सागर! आहा! ज्ञान और उसके साथ शान्ति और उसके साथ आनन्द, ऐसा जो भगवान निर्विकल्प वस्तु, उसे यहाँ शुद्धनय कहा है। उस शुद्धनय का-आत्मा का ज्ञान हुआ, (वह) उद्धत ज्ञान है। आहाहा! **(-किसी के दबाये नहीं दब सकता..)** वह कर्म के उदय के जोर में दबता नहीं। आहाहा! अथवा विशेष विद्वतता और पण्डिताई न हो, इसलिए ज्ञान ऐसा माने कि अरे... मुझे ज्ञान नहीं, ऐसा वह नहीं है। वह उद्धत ज्ञान है। आहाहा!

बहुत (लोग) बाहर में ज्ञान में निपुण दिखाई दे, इससे अपने को ऐसा न हो जाए कि अरे रे! यह मुझे ज्ञान बहुत कम है। वह उद्धत ज्ञान किसी को गिनता नहीं। विशेष जाननेवालों को भी (वे) ज्ञानी हैं, ऐसा वह गिनता नहीं। आहाहा! और मैं कम जानता हूँ, इसलिए मैं ज्ञानी नहीं, (ऐसा नहीं) ऐसा वह ज्ञान उद्धत हो गया है। आहाहा! देखो! सम्यग्दर्शन का माहात्म्य और सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य! भगवान आत्मा का दर्शन और आत्मा का ज्ञान अर्थात् क्या!! आहाहा! जिसे भगवान की भेंट हुई। यह भगवान स्वयं, हों! आहाहा! उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञानी है और वह ज्ञान उद्धत हो गया है। आहाहा! मैं शास्त्र पढ़ूँ तो मुझे ज्ञान होगा, ऐसा भी उसे ज्ञान में नहीं है। इतना ज्ञान उद्धत हो गया है। आहाहा!

निज खान में से ज्ञान आया। आहाहा! जिसमें अनन्त-अनन्त ज्ञान भरा है, जिसका पार नहीं, ऐसा भगवान स्वभाव में से ज्ञान आया, वह ज्ञान दूसरे के विशेष ज्ञान देखकर मैं हीन हूँ, ऐसा नहीं कहता, ऐसे दब नहीं जाता। आहाहा! और केवलज्ञानी को देखकर उसे ऐसा नहीं होता कि ये तो केवलज्ञानी हैं, पूर्ण ज्ञानी हैं, इस अपेक्षा से तो मैं अज्ञानी हूँ। नहीं; मैं तो ज्ञानी हूँ। समझ में आया? आहाहा!

स्वद्रव्य के आश्रय से भगवान जागकर उठा, वह ज्ञान जगत की किसी चीज़ से दबता नहीं है अर्थात् किसी को गिनता नहीं है। आहाहा! वह ज्ञान, भगवान से भी मुझे ज्ञान होगा, ऐसा वह ज्ञान गिनता नहीं है। आहाहा! **उद्धत ज्ञान (-किसी के दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नत ज्ञान)..** ऐसा उन्नत ज्ञान है। आहाहा! जिसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द का नमूना स्वाद में आया। आहाहा! वह ज्ञान किसी से दब नहीं जाता। आहाहा! जैसा स्वभाव, वैसा श्रुतज्ञान।

जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेकर.. अर्थात् कि पूर्ण निर्विकल्प वस्तु हूँ, उसका आश्रय करके जो दशा हुई। आहाहा! **जो सदा ही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं..** अर्थात् आनन्द और ज्ञानस्वरूप ऐसा जो स्वभाव, उसमें एकाग्रता का अभ्यास करते हैं। आहाहा! यह शास्त्र का अभ्यास करते हैं, कि (ऐसा नहीं)। आहाहा! यह तो आया नहीं? कलश-टीका में आया नहीं? अनुभूति होने पर शास्त्र पढ़ने की अटक नहीं है। कलश-टीका में (आता है)। आहाहा! पढ़े, आवे परन्तु वहाँ

आगे ऐसा नहीं कि मैं यह पढ़ता हूँ तो ही मेरा यह ज्ञान रह जाएगा, नहीं तो ज्ञान नहीं रहेगा। आहाहा!

भगवान चैतन्यस्वभाव पूर्ण प्रभु! अरे! जो अनन्त काल में हाथ नहीं आया था (वह हाथ) आया, वह ज्ञान अपूर्ण भले हो और दूसरे को विशेष ज्ञान हो। विशेष के दो प्रकार —जानपने का विशेष और एक प्रगट हुआ विशेष केवलज्ञान। परन्तु इसे ऐसा नहीं होता कि मैं अज्ञानी हूँ और ये केवलज्ञानी हैं। ऐसी बात है। अरे! यह तो मुद्दे की रकम की बात है।

सदा ही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं.. किसकी एकाग्रता? प्रभु! चैतन्य वीतरागमूर्ति प्रभु निर्विकल्प समाधि और एकाग्रता का अभ्यास (करते हैं)। यह अभ्यास! प्रवचनसार में कहा कि भावज्ञान के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करना। कहा है, अपेक्षा से जहाँ व्यवहार से कहा है। आहाहा! यह तो प्रभु जहाँ एकाग्र होना है, वहाँ होता है। आहाहा! महासमुद्र भरा है, भगवान! आहाहा! जिसकी पूर्णता की अन्दर में कोई अनन्त गुणों में अन्तिम यह गुण है, इतने गुण भरे हैं कि जिनका अन्तिम गुण है, इतना नहीं। ऐसे अनन्त गुण भरे हैं। आहाहा! यह क्या कहा?

आत्मा में इतने अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. गुण हैं कि यह गुण अन्तिम है और यह अनन्त में से अनन्तवाँ (अन्तिम है, ऐसा जिसमें नहीं)... आहाहा! ऐसे द्रव्य का ज्ञान हुआ – ऐसे प्रभु का ज्ञान हुआ, ऐसे भगवान का ज्ञान हुआ... आहाहा! वह ज्ञान अपने में ही अभ्यास करता है, एकाग्र होता है। मुझे ज्ञान बढ़ेगा कि आगे कैसे होगा? वह तो उसमें एकाग्र (होता है) ऐसे बहुत पढूँगा और शास्त्रज्ञान करूँगा तो मुझे केवलज्ञान होगा, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! जिसमें पूरा ज्ञान भरा है। अकेली समझ.. समझ.. ज्ञान का पिण्ड है। अनन्त बेहद भरा हुआ ज्ञान और उस ज्ञान में अनन्त गुण का रूप है। आहाहा! पुरुषार्थ है, आनन्द है, उसमें शान्ति है। आहाहा! ऐसा जो ज्ञान, वह अपने में एकाग्रता का अभ्यास करता है। आहाहा! क्या शैली ली है, देखो न! आहाहा!

पूर्णानन्द... आहाहा! आठ वर्ष की बालिका को सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञानी है और वह अन्तर में एकाग्रता का अभ्यास करने लगे। आहाहा! जहाँ प्रभु की महत्ता-महिमा का भान पड़ा है। आहाहा! उसमें एकाग्रता का अभ्यास ज्ञानी करते हैं।

मुमुक्षु : इस शास्त्र का अभ्यास कब करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार से आवे तब हो। भाव के लक्ष्य से (स्वाध्याय का भाव) आवे, परन्तु जोर (वहाँ) है, ज्ञान बढ़ने में (जोर है), इस शास्त्र को भाव के लक्ष्य से भी बहुत-बहुत बढ़ जाए, (ऐसा नहीं है), अन्दर एकाग्र हो तो ज्ञान बढ़ेगा। आहाहा! अरे रे! ऐसा मार्ग, प्रभु! चैतन्य महाप्रभु विराजता है, उसकी लोगों को कीमत नहीं। कीमत यह दया, दान, व्रत, तप, भक्ति और पूजा... रंक है, भिखारी है। जहर का प्याला है। आहाहा! उसे माहात्म्य देते हैं। अमृत का सागर नाथ... आहाहा! उसे माहात्म्य नहीं देते, इसलिए इसके भवभ्रमण नहीं मिटते। आहाहा!

मुमुक्षु : आगम के अभ्यास करने की वृत्ति फिर रहती ही नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि हो तो ही इसका अभ्यास करना है, इसमें एकाग्र होना है। जिसे देखा है कि यह तो आत्मा भगवान परिपूर्ण आनन्द से भरपूर शुद्ध है, इसलिए उसमें ही एकाग्र होने पर मेरा ज्ञान और शान्ति बढ़ेगी। आहाहा! यह तो अगम्यगम्य की बातें हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने जगत को प्रसिद्ध की है। दुनिया माने, न माने, सुगठित रहे, न रहे, (उसकी दरकार नहीं है)। आहाहा!

एक जगह ऐसा कहा कि भावलक्ष्य से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना। एक जगह ऐसा कहा कि शास्त्र में बुद्धि जाती है, वह व्यभिचारिणी है। किस अपेक्षा से कहा? बापू! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि मुझे तो स्वभाव भगवान परिपूर्ण है, उसे मैंने जाना है। अब मुझे तो उसमें ही एकाग्रता करनी है। आहाहा! 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही'। आहाहा!

अनन्त-अनन्त चैतन्य के चमत्कार, बापू! उसके एक-एक गुण का चमत्कार! आहाहा! पूर्ण गुण, पूर्ण स्वभाव, पूर्ण शक्ति, पूर्ण एक-एक सत् का सत्व... आहाहा! उसके चमत्कार की क्या बातें करनी!! ऐसे-ऐसे अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. गुणों का चमत्कार, चैतन्य चमत्कारी पदार्थ है! आहाहा! आहाहा! जगत के चमत्कार, वे सब तुच्छ हैं। आहाहा! यह प्रभु का चमत्कार! आहाहा! एक-एक गुण चमत्कार से भरपूर, ऐसे अनन्त गुण का चैतन्य चमत्कारी तत्त्व प्रभु का ज्ञान हो, वह उसमें एकाग्र होने के लिये है। आहाहा! क्या शैली!

एक ओर ऐसा कहा कि भाव श्रुतज्ञान द्वारा—लक्ष्य से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना, आगम अभ्यास करना। आहाहा! परन्तु सब बात स्वद्रव्य के अवलम्बन में एकाग्रता बढ़ने की है। उसमें एकाग्रता बढ़े, वही ज्ञानी का परिणमन और हेतु है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। अभ्यास **'कलयन्ति'** है न? **'कलयन्ति'** अर्थात् अनुभव करते हैं। **अभ्यास करते हैं..** आहाहा! **एकाग्रता का ही..** ऐसा है, देखा? **'एकाग्र्यम् एव'** शब्द है न? है? संस्कृत देखो। श्लोकार्थ **'एकाग्र्यम् एव'** ऐसा है। एक यह निश्चय कर डाला। आहाहा!

ज्ञानी तो भगवान आत्मा... आहाहा! उसके पीछे चक्रवर्ती का राज भी छिलके जैसा लगता है। आहाहा! आहाहा! यहाँ महाकसदार पड़ा प्रभु! उसे यह (बाहर के) कस की क्या कीमत? आहाहा! इसलिए जिसे उसका ज्ञान हुआ, वह उसमें एकाग्र होना चाहता है। आहाहा! **'एकाग्र्यम् एव'** ऐसा शब्द है।

मुमुक्षु : ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, 'ही'। आहाहा! क्या शैली! अमृतचन्द्राचार्यदेव हजार वर्ष पहले जो हुए, परन्तु उनकी शैली तो देखो! आहाहा! उदय भाव से भर गये है। पारिणामिकभाव को जगाने के लिए जी रहे हैं। आहाहा! पारिणामिकभाव से परिपूर्ण परमभाव पड़ा है, उसका ज्ञान तो हुआ, परन्तु अब उसमें विशेष एकाग्रता का ही अभ्यास करते हैं। आहाहा! सब बात उड़ा दी! **'एकाग्र्यम् एव'** सन्त कहते हैं, प्रभु! अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। भगवान के पथानुगामी हैं। एकाध भव में केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा! केवलज्ञान जिनकी नजर में तैरता है। जिनकी श्रुतज्ञान, केवलज्ञान को बुला रहा है। आहाहा! जिनका मति और श्रुतज्ञान पंचम काल में (केवलज्ञान को बुला रहा है)! मुनि को भी बापू! काल-फाल कहाँ वहाँ है? आहाहा! वह भी मुक्ति, मोक्ष को, केवल (ज्ञान) को बुला रहा है। आहाहा! वे बुलावे (न), भाई! आओ.. आओ। ऐसा नहीं कहते? इसी प्रकार यह बुलाते हैं, आओ... आओ... आओ। हम एकाग्रता का अभ्यास करते हैं, उसमें केवलज्ञान आओ। ऐसी बातें हैं, चिमनभाई! बनिये साधारण ऐसे वीर्यहीन का यहाँ काम नहीं है। सुरेन्द्रभाई! आहाहा! यह तो वीरों का मार्ग है। आहाहा!

मुमुक्षु : सर्वार्थसिद्धि के देव तो तैंतीस सागरोपम तक आगम की चर्चा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : करे, करे, वह भाई ने लिखा नहीं ? सोगानी ने लिखा है कि चर्चा बहुत करे, उससे क्या हुआ ? (आता) है ? आहाहा ! तैंतीस सागर तक समकिती वहाँ चर्चा करे, तो भी वह आगे नहीं बढ़ता, चौथे से पाँचवें में नहीं जाता। आहाहा ! सर्वार्थसिद्धि के देव ! बापू ! यह तो अगम्यगम्य की बातें हैं, नाथ ! आहाहा ! यह तैंतीस सागर किसे कहें, भाई ! एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम (होते हैं), दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम ! एक पल्य के असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष (होते हैं), ऐसे तैंतीस सागर चर्चा करे परन्तु चौथे से पाँचवें में नहीं जाते। आहाहा ! और भगवान जहाँ है, वहाँ एकाग्र होवे तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान ले लेवे। तैंतीस सागर की चर्चा से पाँचवाँ गुणस्थान नहीं आता। आहाहा !

(यहाँ) तीन लोक का नाथ पूर्ण स्वरूप में एकाग्र होने पर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान लेता है। पाँच समिति और तीन गुप्ति का ज्ञान विशेष न भी हो। आहाहा ! परन्तु अन्तरंग एकाग्रता (करता है)। आहाहा ! यह सब महिमा प्रभु की है। स्वयं प्रभु है। वह प्रभुता, पामरता के कारण वह प्रभुता कैसे प्रगट हो ? उस प्रभुता की तो एकाग्रता हो, उसमें इसे महिमा दे और एकाग्र हो, तब प्रभुता प्रगट होती है। आहाहा ! आहाहा !

एक ओर शास्त्र में बुद्धि जाने पर व्यभिचारी कहे, एक ओर शास्त्र का अभ्यास कर तो कल्याण होगा, ऐसा कहे। एक ओर (कहे) स्व के लक्ष्य से शास्त्र का अभ्यास करना, (यह) कल्याण का हेतु है। अपेक्षा से बात है, बापू ! मूल तो यह है। आहाहा ! जिसमें-गुण में अनन्त-अनन्त केवलज्ञान की पर्यायें ठसाठस पड़ी है, ऐसे अनन्त (गुणों के एक रूप में) एकाग्र होने पर तुझे केवलज्ञान हो जाएगा। शास्त्र का बहुत अभ्यास हो गया और बहुत ज्ञान हुआ, इसलिए तुझे केवलज्ञान हो जाएगा, (ऐसा नहीं है)। आहाहा ! मीठालालजी ! ऐसी बात है।

है दरकार अमृतचन्द्राचार्यदेव को दुनिया की ? तुम एकाग्रता की ही बात करते हो। आहाहा ! भगवान तुम्हारा परिचय करना, यह भी तुम नहीं कहते ? आहाहा ! सत् समागम करना, (ऐसा नहीं कहते)। भाई ! आहाहा ! तू सत् नहीं ? आहाहा ! सत् समागम, वह क्या सत् नहीं प्रभु ? महाप्रभु सत् है। महासत्ता चैतन्य सत् है। महा अस्तित्वरूप चैतन्य सत्ता है, सत् है। महा चमत्कारी का पिण्ड, महासत्ता की सत्ता का चमत्कारी भगवान है। उस सत् में एकाग्र हो ! आहाहा ! बाकी उसके पास दूसरी बातें हों व्यवहार से। आहाहा ! और

उसमें तो ऐसा भी कह न कि बारह अंग में अनुभूति का उद्देश्य है। बारह अंग हैं, वे भी विकल्प हैं। उनमें भी अनुभूति (अर्थात्) आत्मा को अनुसरण करना, (ऐसा कहा है)। आहाहा! बारह अंग में यह कथन है। आहाहा!

भगवान तीन लोक का नाथ प्रभु! आहाहा! जिसके समक्ष परमात्मा अरिहन्त की पर्याय भी अल्प कहलाती है। यह तो अनन्त-अनन्त गुण का (पिण्ड है)। आहाहा! ऐसे महाप्रभु में एकाग्रता का अभ्यास कर, प्रभु! आहाहा! यह बाहर की धमाल, गजरथ निकाले, लोग इकट्ठे हों, जन्म-महोत्सव और दीक्षा महोत्सव और पंच कल्याणक तथा पैसे की बोली बोले, वह कहे पाँच हजार, वह कहे दस हजार, वह कहे एक लाख! परन्तु क्या है? बापू! भाई! है न अफ्रीका में! वहाँ तो पैसेवाले बहुत हैं तो बहुत पैसा उड़ायेंगे! अफ्रीका! कहाँ गये रामजीभाई? वे रामजीभाई आनेवाले हैं। उनका भानेज है न वहाँ! आहाहा! यह सब ठीक। आहाहा! बहुत ऐसा हो गया और बहुत (पैसे) इकट्ठे हुए और बहुत लोग इकट्ठे हुए, दो-पाँच करोड़ खर्च करने हैं। आहाहा! यह सब शुभविकल्प है। बाहर की क्रिया तो उसके कारण से होती है, भाई! सत् को आँच नहीं देना, बापू! इन बाहर की चमक में सत् है, उसका आश्रय लेना और उसके आश्रय से ही सब होगा, इसके अतिरिक्त आँच देना नहीं। ऐसा करेंगे तो हमें लाभ होगा और यह करेंगे तो लाभ होगा, (ऐसा) रहने दे, प्रभु! आहाहा! यह आड़ लगाना रहने दे। आहाहा!

ओहो! आचार्य के हृदय क्या काम करते हैं! उन्हें अन्तर में समाधि में एकाग्रता के सिवाय कहीं सूझ नहीं पड़ती। यह सूझ-बूझ अन्तर की है। आहाहा! है या नहीं इसमें - कलश में?

'एकाग्र्यम् एव कलयन्ति' ऐसा शब्द है न? आहाहा! इस शब्द में यह भरा हुआ है, हों, प्रभु! आहाहा! दूसरा आवे, न आवे, कविता करना आवे, न आवे, याददाश्त बहुत न हो। आहाहा! परन्तु एक याददाश्त करनेवाला भगवान है, उसे याद करके एकाग्र हो। आहाहा! चिमनभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! अभी तो मुश्किल हो गयी है। प्रभु का माहात्म्य पड़ा रहा और यह सब (बाहर के) माहात्म्य बढ़ा दिये। आहाहा! शास्त्र का पठन और मन्दिर और इन्द्र हो बड़े एक लाख, दो-दो लाख (खर्च करे)।

मुमुक्षु : अपने भी यहाँ शिविर तो लगाया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस बार लोग अधिक आयेंगे, ऐसा लगता है। चार सौ लोग तो आते हैं, इस बार पाँच सौ के लगभग हो जाएँगे। इस बार अधिक आयेंगे, ऐसा लगता है। चारों ओर से आना चाहते हैं। आवें, होता है, यह सब है, परन्तु इसमें करना तो जो द्रव्य है, उसमें दृष्टि करके फिर उसका ही अभ्यास करना। यह बात है। ऐई! आहाहा!

मुमुक्षु : एकाग्रता का अभ्यास किस प्रकार करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रश्न यह है। वस्तु है, वह अनुभव हुआ, इसलिए फिर उसमें एकाग्र हो। वस्तु पहली सम्यग्दर्शन में अनुभवी है न! उसकी बात है न! सम्यग्दर्शन कैसे होगा? ऐसा पूछे तब तो पूरे दिन बात तो चलती है। पूर्णानन्द के नाथ अभेद पर दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन की पर्याय के लक्ष्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और फिर भी उसमें ही एकाग्र होना। बाद की बात चलती है, पहले की नहीं।

यह तो यहाँ कहा न? **उद्धत ज्ञान (-जो कि किसी के दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेकर जो सदा ही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं...** आहाहा! बहुत भरा है, प्रभु! सन्तों के हृदय में उस समय भाव (कैसे होंगे)! आहाहा!

मुमुक्षु : चारित्र के लिए एकाग्रता करनी न!

पूज्य गुरुदेवश्री : उस स्वरूप में एकाग्रता वह सब यह। यह दर्शन और यह ज्ञान और यह चारित्र, यह शुक्लध्यान और केवलज्ञान सब। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! बाहर में तो छब्बीस हजार लोग! गाँव में ऐसा हो गया, ओहोहो! छब्बीस हजार लोग! परन्तु उससे क्या? बापू!

मुमुक्षु : धर्म का प्रचार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म का प्रचार ऐसे होगा? भगवान आत्मा धर्म के स्वभाव से भरपूर धर्मी! धर्म से भरपूर धर्मी! उसे पर्याय में धर्म प्रगट होना। तीनों में धर्म हो गया। धर्मी धर्मस्वरूप, धर्म गुणधर्मस्वरूप, वैसा ही पर्याय में धर्मस्वरूप, स्वरूप-सन्मुख की एकाग्रता होने पर होता है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्मस्वरूप है और उसमें भी आगे बढ़ने के

लिए, वह भगवान आत्मा जहाँ से सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, उसी और उसी में एकाग्र होने पर केवलज्ञान होनेवाला है। आहाहा! ऐसा है, लोगों को एकान्त लगे, व्यवहार का लोप लगे। लगो बापू! क्या करे? आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार के पक्षवालों को कठोर लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठोर लगता है, बहुत कठोर लगता है। वस्तु सत्य ही यह है, परमात्मा यह है, बाकी सब बातें हैं। आज मानो, कल मानो, कब मानो, जब (भी मानो) यह मानने से ही इसे छुटकारा है। आहाहा! यहाँ करोड़ों का दान दे, इसलिए दानी हो गया! आहाहा!

दानी तो (उसे कहते हैं कि) अन्दर सम्प्रदान नाम का गुण है, उस गुणी को पकड़ने पर, एकाग्र होने पर जो दशा हुई और वह दशा स्वयं ने रखी, वह दानी है। आहाहा! वह व्यवहार दानी अर्थात् विकल्प और राग। होता है, हेयरूप से जाननेयोग्य होता है। यह वीरचन्दभाई! यह तुम्हारा नैरोबी का बाकी है। उसमें यह सब यहाँ तो हल्का कर दिया है। यहाँ तो हल्का कर डालते हैं, पैसा-बैसा खर्चना और रखना, उसकी कोई कीमत नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा!

अभी वहाँ ९०वीं जन्म-जयन्ती का चन्दा किया। सवा दो लाख इकट्ठे किये। नैरोबी। मुहूर्त किया तब दो लाख दो हजार दिये। रामजीभाई के भानेज ने। आया है न! दो लाख दो हजार, ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारह, भीम ग्यारस के दिन मुहूर्त किया। आये थे न, अभी आये थे। रायचन्दभाई यहाँ आये थे। लड़का-लड़की कुछ नहीं है। उनकी माँ और पति-पत्नी (तीन) हैं। यह ठीक, राग की मन्दता है, बापू! उसे ऐसा मान बैठे कि इसमें से कुछ कल्याण हो जाएगा (तो ऐसा नहीं है)। अरे रे! ऐसी बातें भारी कठिन! आहाहा! मन्दिर बीस-बीस लाख के बनावे और कल्याण न हो? शास्त्र में तो ऐसा लिखा है कि जौ जितनी प्रतिमा स्थापित करे, उसका पुण्य सरस्वती नहीं कह सकती। परन्तु पुण्य न? धर्म नहीं न? आहाहा! वह पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा!

यहाँ तो इतना आया है कि उद्धत और एकाग्रता। दो आया, (उसके) ऊपर से यह सब चलता है। जो आत्मज्ञान हुआ, वह किसी को गिनता नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का राग

आया, उसे गिनता नहीं। ओहोहो! तीर्थंकरगोत्र का भाव बँधा, उसे भी गिनता नहीं। आहाहा! पर में जितनी एकाग्रता हो उसे तो वह गिनता नहीं, नहीं.. नहीं.. नहीं.. यहाँ एकाग्रता हो, वह (वास्तविक) वस्तु है। आहाहा!

'एकाग्र्यम् एव कलयन्ति' वे, निरन्तर 'रागादिमुक्तमनसः भवन्तः' रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए,.. रागादि है न? **रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए,..** आहाहा! अब यह पंचम काल के सन्त कहते हैं, प्रभु! और पंचम काल के साधु ऐसा कहे (कि) अभी शुभभाव ही होता है। अर र! ऐसी बात करते हैं। शान्तिसागर के पथगामी। शान्तिसागर को भी व्यवहार की क्रिया थी। बाकी कुछ नहीं। लोगों को महिमा आ जाती है (क्योंकि) बाहर में (कोई) नग्नवेश नहीं था न! व्यक्ति शान्त, उद्धत (नहीं) परन्तु दृष्टि (नहीं)। बापू! दृष्टि कोई अलौकिक बात है, भाई! आहाहा! वे श्रुतसागर उनके अनुगामी, ऐसा कहते हैं कि अभी तो शुभभाव होता है, दूसरा नहीं होता। भगवान! तू क्या करता है? प्रभु! तू है, ऐसा अव्यक्तरूप से भी तूने स्वीकार नहीं किया। महाप्रभु अन्दर है। आहाहा! भले शुभभाव से रहित, इतनी भी एकाग्रता, एक वस्तु है अन्दर महाप्रभु! और उसमें एकाग्र होना, वही मार्ग की शुरुआत है, वह मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं। पाँचवाँ काल हो या चौथा काल हो या पाँचवें काल का अन्त हो। आहाहा! काल ऐसा है, इसलिए कुछ हल्का करो, हल्का! दूसरे हल्के रास्ते से जाया जाए, ऐसा (कहो)। आहाहा!

रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए, 'बन्धविधुर' आहाहा! वह बन्ध से तो विधुर है। विधुर नहीं कहते? महिला को विधवा कहते हैं और पति को विधुर कहते हैं। इसी प्रकार यह ज्ञानी बन्ध से विधुर है। आहाहा! विधुर है, उसे बन्ध है नहीं। आहाहा! **'बन्धविधुरं समयस्य सारम्' बन्धरहित..** रहित किसका अर्थ किया? इस विधुर का। विधुर का अर्थ रहित। अपने यहाँ कहते हैं न, पति को पत्नी मर जाए, तब (कहे) कि यह विधुर हुआ। विधुर अर्थात् रहित हुआ। इसी प्रकार यह समकिती बन्ध से रहित है, विधुर है, रंडुवा है।

समय के सार को (अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को) देखते हैं–अनुभव करते हैं। आहाहा! क्या कलश! आहाहा! एक-एक कलश में (अमृत भरा है!) अन्तर में एकाग्र होता है, वह बन्धरहित हो जाता है—ऐसा कहते हैं। समकिती को भले पहले

बन्धरहित कहा परन्तु वह सम्यग्दृष्टि भी फिर अन्दर एकाग्र हो, उतना बन्धरहित होता है और सम्पूर्ण एकाग्र हो तो अत्यन्त बन्धरहित होता है। ऐसा उसका स्वरूप है। भले समकिती को बन्ध और आस्रवरहित कहा, परन्तु फिर भी वह अपने में एकाग्र होगा। आहाहा! (निजस्वरूप का) भान तो हुआ है परन्तु एकाग्र होगा, उतने अंश में बन्धरहित होगा। समझ में आया? विशेष कहेंगे.... (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५४, श्लोक १२०-१२१ दिनाङ्क १५-०६-१९७९,
शुक्रवार, ज्येष्ठ कृष्ण ६

(समयसार) १२० कलश का भावार्थ। **यहाँ शुद्धनय के द्वारा एकाग्रता का अभ्यास करने को कहा है।** अर्थात् क्या कहते हैं? शास्त्र पढ़ने का अभ्यास करना, वह यहाँ नहीं कहा। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसे परिणमन में आना, वह शुद्धनय का अभ्यास है। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायक है, इसके सन्मुख होकर परिणमन हो, वह शुद्धनय का अभ्यास कहा जाता है। सूक्ष्म बात है, भाई! मूल वस्तु पहले पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान, उसे दृष्टि में अनुभव लेकर और पश्चात् भी उसमें बारम्बार एकाग्रता का अभ्यास करना, इसका नाम शुद्धनय का अभ्यास है।

कितने ही तो इसमें कहते हैं कि यह चौथे गुणस्थान की बात नहीं है, यह सातवें की बात है, वीतराग समकित की (बात है) क्योंकि यहाँ कहा है न कि समकिती को आस्रव-बन्ध नहीं है, इसलिए यह तो वीतरागी समकित की व्याख्या है। यहाँ हेमराजजी स्वयं कहते हैं, स्पष्ट करते हैं, पाठ भी स्पष्ट करते हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शन पहली चीज़ ही कोई ऐसी है कि अनन्त काल में इसने स्वस्वरूप पूर्ण अखण्ड एक है, इस पर नजर नहीं की है, उस पर झुकाव नहीं किया है, उसका ढलान ही नहीं किया है। बाकी सब किया। सब अर्थात्? दूसरी क्रियाएँ नहीं। शुभाशुभभाव असंख्य प्रकार के हैं, वे किये। पूर्ण शुद्धस्वरूप है, उसकी एकाग्रता का अभ्यास, वह शुद्धनय का अभ्यास है। आहाहा! है?

'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ' – ऐसा जो आत्मद्रव्य का परिणमन.. आत्मद्रव्य शुद्ध है, उसके सन्मुख होकर शुद्धता का परिणमन (होवे, वह शुद्धनय है)। कलश में लिखा है। अशुद्ध परिणमन मिथ्यादृष्टि को होता है। कलश में है। आहाहा! पहले उसका ज्ञान तो करे। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, वस्तु है। पूर्ण ज्ञान-आनन्द आदि से भरपूर तत्त्व है। भले क्षेत्र से शरीरप्रमाण हो, असंख्य प्रदेशी हो, क्षेत्र से भले अनन्त प्रदेश न हो, स्वभाव से तो अगाध ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि (गुणों से पूर्ण है)।

यहाँ यह कहा। इसमें स्पष्टीकरण आया। शुद्धनय का एकाग्रता का अभ्यास अर्थात् कि वस्तुस्वरूप जो शुद्ध है, उसकी एकाग्रता अर्थात् उसका शुद्धपरिणमन (होवे), वह शुद्धनय का अभ्यास कहने में आता है। आहाहा! परन्तु वह अभ्यास होता कब है? कि प्रथम शुद्धस्वरूप की दृष्टि में आकर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हो, तब उसका शुद्ध परिणमन होता है और तब तत्पश्चात् एकाग्रता, शुद्ध परिणमन की एकाग्रता (होती है)। अभ्यास है न? जिससे केवलज्ञान होता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। उसमें बाह्य के कोई व्रत, तप, भक्ति, पूजा, ये सब मन्दिर बनाना और यह सब कुछ सहायक होता होगा या नहीं उसमें? यह कहते हैं कि जरा भी सहायक नहीं होता। ऐसी बात है।

अन्दर पूरी निरपेक्ष वस्तु पड़ी है। अतीन्द्रिय अनन्त गुण का समुद्र, उसकी अनुभव की दृष्टि करके शुद्ध परिणमन को बढ़ाना, वह एकाग्रता है। वह एकाग्रता का अभ्यास है। आहाहा!

मुमुक्षु : एक अग्र का अर्थ क्या हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक अग्र अर्थात् द्रव्य को मुख्य को लक्ष्य में लेना। एक अग्र – एक ही मुख्य पूरा द्रव्य। एक अग्र अर्थात् मुख्य। आहाहा!

मुमुक्षु : एक अर्थात् आत्मा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा। हाँ। एक स्वरूपी भगवान पूर्ण आनन्द, एकरूप जो है। एक आता है न? सबमें आता है। ३२० गाथा में आया है। जो सकल निरावरण प्रभु वस्तु जो है, वह सकल निरावरण अखण्ड और एक वस्तु है। आहाहा! भाई! यह तो अपूर्व बात है। शास्त्र को पढ़ना और अभ्यास बहुत करना, इससे वह शुद्धनय का अभ्यास है, ऐसा

नहीं है। आहाहा! उसमें पढ़ने का विकल्प भी जहाँ ज़हर जैसा है। आहाहा! अरे! जिसके जन्म-मरण का अन्त लाना, प्रभु! वह कोई अलौकिक चीज़ है! उसका पहले ज्ञान में निर्णय होना चाहिए।

वह वस्तु जो पूर्ण शुद्ध है, वह अखण्ड और एक और सकल निरावरण है। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक सहजभावरूप लक्षण जिसका है, ऐसा निज परमात्मद्रव्य, उसकी एकाग्रता, वह शुद्धनय की एकाग्रता है। ऐसी बात है, भाई! दूसरा क्या हो? आहाहा! अनन्त काल से भटकता है।

मुमुक्षु : अकेला आत्मा उपादेय आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला आत्मा ही उपादेय है; पर्याय भी नहीं, गुण-भेद भी नहीं। आहाहा! लोगों को एकान्त लगे अथवा यह बात ऐसी कि वीतराग समकिती की है, सातवें और आठवें गुणस्थान की बात है—ऐसा कहते हैं। प्रभु! ऐसा नहीं है। तू पूर्णस्वरूप प्रभु है, (वह) दृष्टि में आवे! आहाहा! पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण.. जैसा (है, वैसा)।

मुमुक्षु : तुझमें कमी क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आया नहीं था? स्तवन में नहीं (आया) था? 'प्रभु मेरे सब बातें तू पूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आश करे कहाँ प्रीतम।' 'पर की आश' (अर्थात्) राग और विकल्प और परद्रव्य त्रिलोक के नाथ की भी क्या आशा करे? 'पर की आश कहाँ करे प्रीतम, कहाँ किन बातें तुम अधूरा? किस बातें तू अधूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा।' आहाहा! यहाँ बात ऐसी है, भाई! आहाहा! एक समय की पर्याय जितना भी नहीं, केवलज्ञान की पर्याय जितना भी नहीं। आहाहा! सब गुणों से पूरा है न, प्रभु! यह तुझे विश्वास में नहीं आता। उसका माहात्म्य दिखायी नहीं देता।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि **आत्मद्रव्य का..** द्रव्य अर्थात् त्रिकाली वस्तु, परिपूर्ण वस्तु। उसका जो पर्याय में परिणमन (होता है)... आहाहा! उसे सब हो गया। आहाहा! **वह शुद्धनय। ऐसे परिणमन के कारण..** पूर्ण शुद्ध भगवान अखण्ड निर्विकल्प वस्तु है, उसके अभ्यास के कारण। आहाहा! लोगों को व्यवहारवालों को तो ऐसा लगता है कि कुछ व्यवहार (करें), उससे लाभ (होगा)। गजरथ करें, रथयात्रा (निकालें), मन्दिर

(बनावें), दस-दस, बीस-बीस अपवास करें। प्रभु! यह वस्तु तो बाह्य की चेष्टा की क्रियाएँ हैं, राग है। आहाहा! जिसमें प्रभु आया नहीं, उसे तू स्पर्श करता है, वह तो स्वरूप से भ्रष्ट है। राग के विकल्प का भाव, उसमें प्रभु चैतन्यद्रव्य आया नहीं। उसके स्वरूप के भाव का जिसमें अभाव है, उसके भाव में उत्साह और उसके परिणमन की क्रिया (करे), वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक कहा, नियमसार में! आहाहा! चार भाव से अगोचर है। आहाहा! राग से तो अगोचर है, चार भाव से अगोचर है। अर्थात्? कि चार भाव की पर्याय है, उसके आश्रय से वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। पर्याय के आश्रय से ज्ञात हो, ऐसा चैतन्य नहीं है। ऐसा भगवान पूर्ण है। आहाहा! अरे! यहाँ जरा सब्जी अच्छी हुई हो और दाल अच्छी हुई हो, दूधपाक खावे, वहाँ हो... हो (जाता है)। बैल की तरह होहकार करता है। आहाहा! तृप्त-तृप्त हो जाए। अरे रे! प्रभु! क्या है? भाई! कहाँ चला गया? प्रभु! तेरे घर में आनन्द है न, नाथ! आहाहा! उस आनन्द को स्पर्श कर परिणमन होना, वह शुद्धनय का एकाग्रता का अभ्यास है। आहाहा! ऐसी बात है। और वापस कहे कि, पूरे दिन भक्ति, पूजा, वांचन यह तो होता है। यह हो, वह सब हेयबुद्धि से है। आहाहा! दुनिया को बैठना, (जँचना) पण्डित और रूढ़िगत में लग गये हैं अनादि से, उन्हें ये बात बैठना (कठिन पड़ती है)। आहाहा!

वह शुद्धनय। ऐसे परिणमन के कारण वृत्ति ज्ञान की ओर उन्मुख होती रहे.. देखा? परिणति। वृत्ति अर्थात् परिणति। वर्तमान शुद्ध द्रव्य के आश्रय से हुई परिणति, वही परिणति अन्दर उन्मुख हुआ ही करती है, द्रव्य-सन्मुख झुका ही करती है। आहाहा! **और स्थिरता बढ़ती जाये, सो एकाग्रता का अभ्यास।** यह तुम्हारे प्रश्न का स्पष्टीकरण आया। भावार्थ में भी यह है। आहाहा!

भाई! यह तो जन्म-मरणरहित (होने का) मार्ग है, बापू! अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. काल से.. आहाहा! अशुद्धता को रगड़ा है। जैसे वह मिथ्यात्व संसार कहा है न, मिथ्यात्व आस्रव है और मिथ्यात्व संसार है; वैसे अशुद्ध परिणमन, वह संसार है। उसमें कहीं आया है अवश्य। कहीं आया है। मिथ्यात्व के परिणाम अशुद्धरूप हैं। मिथ्यात्व के परिणाम ही अशुद्धरूप हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वे मेरे हैं - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, (वह अशुद्धरूप है)। १२१ (कलश में) डाला है। मिथ्यात्व के परिणाम ही अशुद्धरूप हैं

अर्थात् दूसरे अशुद्ध हैं, उनकी यहाँ गिनती नहीं है। आहाहा! मिथ्यात्व ही संसार है। अव्रत, प्रमाद के परिणाम, वह तो अल्प-अल्प संसार है, उसे गौण गिनकर और अल्प काल में उसक अभाव हो जानेवाला है। आहाहा! वह परमात्मा होनेवाला है। यह अस्थिरता रहनेवाली नहीं है। आहाहा!

ऐसे चिद्बिम्ब को जहाँ पकड़ा। आहाहा! ध्रुव चिद्बिम्ब भगवान चैतन्य द्रव्यस्वभाव सकल निरावरण परमात्मा... आहाहा! त्रिकाल सकल निरावरण... आहाहा! उसे जहाँ पकड़ा और परिणमन किया, वह परिणमन अन्दर उन्मुख हुआ ही करता है। आहाहा! जिसके आश्रय से परिणमन शुद्ध हुआ, उसमें वह परिणमन उन्मुख हुआ करे, यह एकाग्रता का अभ्यास है। बात दूसरी है, बापू! ...बात दूसरी है। आहाहा! भाग्यशाली है, बापू! कि यह वस्तु कान में पड़ती है। आहाहा! यह तीन लोक के नाथ तीर्थंकर के हृदय की बातें हैं। आहाहा! यहाँ यह कहा, मिथ्यात्व के परिणाम ही अशुद्धरूप हैं। वे शुभाशुभ भाव अशुद्ध हैं, उनकी भी गिनती (गिनी) नहीं। १२१ में है। यह १२१ है न? अब १२१ (कलश) चलेगा, उसमें है। कलश-टीका में है।

पहले के पण्डित भी कड़क! ऐसे अर्थ किये, देखो न! आहाहा! और (कोई) कहे, चर्चा में पण्डितों का नहीं लेना। भाई के—फूलचन्दजी के साथ चर्चा हुई न! (उसमें ऐसा कहा कि) पण्डितों का नहीं, आचार्यों का (शास्त्राधार) लेना। आहाहा! बनारसीदास तो कहते हैं, भाई! 'कथा संस्कृत प्राकृता देशभाषा।'—चाहे तो संस्कृत हो या प्राकृत हो, या देशभाषा हो परन्तु जिसमें भगवान प्रभु आत्मा की बात है, वह बात पण्डित कहे तो भी मान्य है। आहाहा! अरे! तिर्यंच को भाषा नहीं है, परन्तु वह समकिती भी जो कहे, वह मान्य है क्योंकि तिर्यंच का समकित और सिद्ध के समकित में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! एक इतनी छिपकली हो, चुहिया समकिती हो... आहाहा! और सिद्ध का समकित। समकित में कुछ अन्तर नहीं है, प्रभु! आहाहा! जिसने पूर्ण आत्मा पूर्णानन्द विश्वास में लेकर प्रतीति में लेकर, आहाहा! आदर किया है न! आहाहा! पूर्णानन्द, जिसमें पर्याय का भी आदर रहा नहीं। आहाहा! ऐसा जो पूर्ण शुद्ध चिदानन्दस्वरूप, उसका जो परिणमन होना, वह शुद्धनय का अभ्यास है और वह परिणमन अन्तर उन्मुख हुआ करे, वह एकाग्रता का अभ्यास है। आहाहा!

शुद्धनय श्रुतज्ञान का अंश है.. शुद्धनय, श्रुतज्ञान जो अवयवी है, उसका एक अवयव है, भाग है। श्रुतज्ञान जो प्रमाण है, वह स्व और पर्याय को भलीभाँति जाने, ऐसा जो श्रुतज्ञान, उस श्रुतज्ञान का शुद्धनय अंश है। एक ओर का पहलू है। श्रुतज्ञान है, वह द्रव्य को, पर्याय को, राग को दोनों को जानता है, परन्तु उसका शुद्धनय है, एक भाग है। वह भाग तो त्रिकाल को स्वीकार करता है। आहाहा!

श्रुतज्ञान अवयवी है। जैसे यह शरीर अवयवी है और हाथ-पैर अवयव है। इसी तरह श्रुतज्ञान अवयवी है और शुद्धनय उसका अवयव है। व्यवहार भी उसका नय है परन्तु यह (शुद्ध) नय ऐसा है कि वास्तव में इसे ही नय कहते हैं। नय परिच्युतता आता है न? इसमें, अभी आयेगा, अब आयेगा। नयपरिहिणां! १८० गाथा, नयपरिहिणां! ऐसा नहीं कहा, वह नय ही वास्तव में तो यही है। आहाहा! १८० गाथा। नयपरिहिणां। यह नय ही उसे कहा है। आहाहा! वह (व्यवहार) तो एक कहनेमात्र, जाननेमात्र है। आहाहा!

शुद्धनय, श्रुतज्ञान का अंश है.. आहाहा! ऐसा मनुष्यपना चला जाएगा, बापू! फिर कहाँ जाएगा? भाई! कोई सामने (नहीं देखेगा), वहाँ गौशाला नहीं है। आहाहा! अनादि-अनन्त भगवान, उसकी पकड़ और अनुभव नहीं किया... आहाहा! और राग की पकड़ की, बाहर की चीज़ की तो बात ही क्या करना? आहाहा! कहाँ शरीर, कर्म और स्त्री-पुत्र, परिवार और देश तथा गाँव, वह तो कहीं अलग... अलग... अलग (रह गये)। आहाहा! यह तो अन्तर में होनेवाला राग, उस राग की एकताबुद्धि में भगवान के स्वरूप का नाश होता है। उसकी दृष्टि में (नाश होता है), हों! वस्तु तो वस्तु रहती है। वस्तु का (नाश) नहीं है। आहाहा!

राग का एक भी छोटे में छोटा अंश, उसका जहाँ आदर है, स्वीकार है, उत्साह है, प्रेम है, रुचि है। आहाहा! वहाँ परमात्मस्वरूप का अनादर है। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप है, भाई! कठिन लगे (परन्तु) दूसरा क्या हो? आहाहा!

जिसमें भव और भव के भाव का अभाव है। अरे...! जिसमें उसका जो अनुभव करे, उस अनुभव का भी जिसमें अभाव है, ऐसी जो चीज़... आहाहा! उस चीज़ का जो परिणमन हुआ और वह परिणमन उसकी ओर उन्मुख हुआ करना, वह शुद्धनय, श्रुतज्ञान

का एक अंश है। **और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है, इसलिए इस अपेक्षा से शुद्धनय के द्वारा होनेवाला शुद्धस्वरूप का अनुभव भी परोक्ष है।** इस अपेक्षा से, हों!

और वह अनुभव एकदेश.. अंश है। एकदेश शुद्ध का प्रत्यक्ष वेदन है। आहाहा! **इस अपेक्षा से उसे व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।** केवलज्ञान की भाँति प्रत्यक्ष नहीं हुआ न, इसलिए उसे परोक्ष व्यवहार कहने में आया। आहाहा! है? प्रत्यक्ष भी व्यवहार से कहा जाता है। शुद्धनय अर्थात् स्वभाव की एकाग्रता, परिणमन की उन्मुखता अन्दर रहना। एक ओर राम और एक ओर गाँव। विकल्प से, पर्याय से लेकर पूरा सब, उससे हटकर भगवान आत्मा के पक्ष में आ जाना... आहाहा! वह छूटा। वह भव से छूटा। आहाहा! बाकी सब बातें हैं।

बड़े गजरथ और रथ और... आहाहा! इन्द्र बनाना... वहाँ तुम्हारे नहीं थे? इन्द्र। एक लाख और चौदह हजार का एक इन्द्र! ऐसे सोलह इन्द्र में एक अस्सी हजार का इन्द्र। यहाँ सवा पाँच वर्ष पहले (हुआ था)। पूनमचन्द! पूनमचन्द न? क्या नाम? पूरणचन्द... पूरणचन्द! एक लाख चौदह हजार का एक इन्द्र हुआ था। एक इन्द्र! हमारे यह भाई मनहर (हुआ था)। यह अस्सी हजार का इन्द्र हुआ था। अस्सी हजार का! ऐसे सोलह इन्द्र! उसमें लोगों को ऐसा हो जाता है कि आहाहा! ऐसे इन्द्र और ऐसी सभा और छब्बीस-छब्बीस हजार लोग, लोगों को हाथी पर बैठावे। उससे क्या? बापू! यह सब बाहर की चीज़ है। आहाहा! वह तो उस ओर उन्मुख होता राग है, प्रभु! आहाहा! उस राग का झुकाव तो परसन्मुख जाता है और भगवान आत्मा पवित्र का धाम, उसका परिणमन उस स्वभाव की ओर ढलता है, वह एकाग्रता है। आहाहा! समझ में आया? गाथा आयी है तो उसका जो विषय हो, वह चलेगा न, बापू! आहाहा! बाकी वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी कहते हैं, बापू! स्वसमय-परसमय के साथ वाद करना नहीं। किस प्रकार करेगा? तू ऐसा कहने जाए कि लाख व्रत-तप और भक्ति करे, वह कुछ नहीं है। वे कहते हैं कि सब है। तब तू कहता है कि कुछ नहीं। किस प्रकार बात जँचेगी? आहाहा! और भगवान पूर्णानन्द का नाथ जहाँ दृष्टि में, अनुभव में आया, उसे पूरा आत्मा / परमात्मा प्रतीति में आ गया। यह परमात्मा होने की तैयारी हो गयी। पर्याय में परमात्मा होने की तैयारी। बापू! उसकी बातें क्या करना? वह सब बाहर की भक्ति और

बड़े हाथी (लावे), हाथी पर बैठाते हैं न ? पूरा परिवार बैठावे। पाँच हजार में, दस हजार में। भाई! यह सब क्रिया तो उस काल में उसकी पर्याय उस काल में होनेवाली हो, वह होती है। उसमें कुछ तुझसे होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले आप ऐसा नहीं कहते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले से कहते थे। अभी से कहाँ कहते हैं ? यह तो अब अधिक स्पष्टीकरण (आया)। हो..हा.. में सब लग पड़े हैं न! आहाहा! यहाँ तो पहले से कहते हैं, कि भाई! राग है, वह बन्धन का कारण है। यह राग है, उसकी दिशा परसन्मुख है। वीतराग की दशा, वह स्वसन्मुख है। आहाहा! राग है, वह ज़हर है। यह तो मोक्ष अधिकार में बहुत बार कहा गया है। आहाहा! बाह्य तरफ के झुकाव में है, वह तो सब राग है। आहाहा!

अन्तर जहाँ प्रभु पूर्ण विराजता है, उसके सन्मुख का भाव (होवे), उस शुद्ध परिणाम की एकाग्रता और वह शुद्धनय, श्रुतज्ञान का अंश है। अनुभव-अपेक्षा से उसे एकदेश प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। **साक्षात् शुद्धनय..** पूर्ण शुद्धनय, भाषा देखो! (वह) **तो केवलज्ञान होने पर होता है।** एक ओर कहते हैं कि शुद्धनय तो भूतार्थ, वह शुद्धनय है। ग्यारहवीं गाथा। ग्यारहवीं गाथा में कहा कि '**भूयत्थो देसिदो सुद्धनयो**' भूतार्थ त्रिकाली वस्तु, वह शुद्धनय है। यहाँ कहते हैं कि शुद्धनय की परिपूर्णता केवलज्ञान में होती है। अर्थात् उसे अब आश्रय लेना रहा नहीं। जब तक शुद्धनय है, तब तक आश्रय लेता है परन्तु पूर्ण हो गया, इसलिए वहाँ अब शुद्धनय वास्तव में पूर्ण हो गया, ऐसा। आश्रय लेना रहा नहीं। इसलिए शुद्धनय केवलज्ञान होने से होता है, ऐसा कहा। फिर उसे आश्रय लेने का, परिणति को ऐसे उन्मुख होने का रहा नहीं। परिणति पूर्ण हो गयी। उसे शुद्धनय पूर्ण हुआ, ऐसा कहा जाता है। आस्रव (अधिकार में) दो जगह (आता है)। आहाहा!

यह तो जिसे भव का भय लगा हो, बापू! भव का डर! चौरासी के अवतार! आहाहा! यह निगोद, चींटी, कौआ, कुत्ता, जंगल में (रहता हो)। आहाहा! सड़े हुए पानी में सुअर पड़े हों और मानो ऐसे क्रीड़ा करते हों। सड़े हुए पानी में! वहाँ कुरावड़ में (देखा था)। सुअर सड़े हुए पानी में पड़े, वह भी उन्हें ठीक लगता है। आहाहा! अरे! भगवान! सड़ा हुआ पानी, हों! दुर्गन्धित। उसके बच्चे फिर वहाँ रहे। आहाहा! यह भी भगवान, वहाँ प्रेम करके पड़ा है। एक ओर राजा होता है और मखमल के गद्दे हों और उनमें पड़ा हो, वह

सब एक ही जाति है। आहाहा! परसन्मुख के झुकाव में तो राग है, बापू! आहाहा! और वह दुःख का अनुभव है, दुःख का वेदन है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो शुद्धनय केवलज्ञान होने से पूर्ण होता है। साक्षात्! वहाँ फिर आश्रय लेना रहा नहीं न, इसलिए पूर्ण हो गया, ऐसा (कहा है)। एक ओर कहा कि शुद्धनय, श्रुतज्ञान का अंश है। शुद्धनय, श्रुतज्ञान का अंश है और दूसरे प्रकार से कहते हैं कि शुद्धनय की परिपूर्णता केवलज्ञान में होती है। तो केवलज्ञान में श्रुतज्ञान है? किस अपेक्षा से कहते हैं? आहाहा! एक ओर (कहे कि) शुद्धनय, श्रुतज्ञान का अंश है और यहाँ कहते हैं कि शुद्धनय तो केवलज्ञान होने से साक्षात् पूर्ण होता है। वहाँ श्रुतज्ञान रहता है? वहाँ नय है? किस अपेक्षा से कहते हैं? बापू! जो आश्रय ऐसे (लेता था), स्वद्रव्य की दृष्टि थी, वह शुद्धनय है। उसका अभी अन्दर में झुकाव था। ऊपर कहा न? (आत्मद्रव्य का) **परिणमन, वह शुद्धनय...** है। परिणमन अर्थात् ज्ञान में उन्मुख हुआ करे, वह शुद्धवृत्ति, परिणति अन्दर उन्मुख हुआ करे। वह उन्मुख करने का पूरा हो गया, इसलिए उन्हें शुद्धनय पूर्ण हो गया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश।

एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के अनुभव काल में नयातीत बात है। कोई नय नहीं, नय का पक्ष नहीं। आहाहा! और यहाँ कहते हैं कि शुद्धनय की साक्षात् पूर्णता केवलज्ञान (होने पर होती है)। ऐई! आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग गम्भीर है, प्रभु! आहाहा! यह कहीं हल्दी की गाँठ से पंसारी नहीं हुआ जाता। यह चीज़ बहुत गहरी है। आहाहा!

एक ओर कहते हैं कि शुद्धनय... आहाहा! वह आत्मद्रव्य का परिणमन है। उसकी उन्मुखता अन्दर रहा करे, उस एकाग्रता का अभ्यास। दूसरे प्रकार से कहे कि शुद्धनय श्रुतज्ञान का अंश है। श्रुतज्ञान का भी अंश है। वह साक्षात् शुद्धनय, केवलज्ञान होने पर होता है। आहाहा! उसका अर्थ ही (यह) कि अब उसे आश्रय लेना (रहा नहीं)। उन्मुखता थी, उन्मुखता, ऐसे यह (अन्दर) की ओर उन्मुखता थी न, वह उन्मुखता पूर्ण हो गयी। इस अपेक्षा से शुद्धनय पूर्ण हो गया, ऐसा कहा। आहाहा! अब इसे ऐसे उन्मुखता में ऐसे था न, कहा न ऊपर? वृत्ति ज्ञान में उन्मुख हुआ करती है, यह था न? उसमें था न? वह अब उन्मुख हुआ करे, नहीं रहता। इसलिए उसे शुद्धनय पूर्ण हो गया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! कथन साधारण (लगे)। पण्डित ने कथन किया है, तो भी कितने (गम्भीर भाव

हैं)। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! और जिसका फल, आहाहा! 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में' जिसके शुद्धनय के झुकाव से उसके फलरूप से केवलज्ञान सादि-अनन्त समाधि शान्ति! आहाहा! 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान सहित जब'। अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान सहित। सादि-अनन्त आनन्द! उसकी दशा की प्राप्ति, वह शुद्धनय का स्वभाव सन्मुख झुकाव (हुआ), वह झुकाव पूर्ण हुआ, तब यह प्राप्ति होती है। आहाहा!

अब इसमें कोई किसी प्रकार से तर्क उठावे कि यह तो सब सातवें गुणस्थान की बात है, आठवें की बात है और जयसेनाचार्यदेव की टीका में है कि पंचम गुणस्थान के ऊपर की बात है, परन्तु मुख्यरूप से, मुख्यरूप से। आहाहा! और यहाँ अबुद्ध को समझाते हैं, अप्रतिबुद्ध को समझाते हैं। यह तो पाठ आ जाता है। अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है, उसे समझाते हैं। आहाहा! 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही।' उसे वैसे समझना चाहिए। भाई! ऐसा आग्रह करके अन्तर में कुछ का कुछ अभिप्राय-दुराग्रह हो जाए। तू कूट जाएगा। आहाहा!

कलश-१२१

अब यह कहते हैं कि जो शुद्धनय से च्युत होते हैं, वे कर्म बाँधते हैं:-

(वसन्ततिलका)

प्रच्युत्य शुद्ध-नयतः पुनरेव ये तु,
रागादियोग-मुपयान्ति विमुक्त-बोधाः।
ते कर्म-बन्ध-मिह बिभ्रति पूर्व-बद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्।।१२१।।

श्लोकार्थ : [इह] जगत् में [ये] जो [शुद्धनयतः प्रच्युत्य] शुद्धनय से च्युत होकर [पुनः एव तु] पुनः [रागादियोगम्] रागादि के सम्बन्ध को [उपयान्ति] प्राप्त होते हैं [ते] ऐसे जीव, [विमुक्तबोधाः] जिन्होंने ज्ञान को छोड़ा है ऐसे होते हुए, [पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः]

पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव के द्वारा [कर्मबन्धम्] कर्मबन्ध को [बिभूति] धारण करते हैं (-कर्मों को बाँधते हैं) - [कृत-विचित्र-विकल्प-जालम्] जो कि कर्मबन्ध अनेक प्रकार के विकल्प जाल को करता है (अर्थात् जो कर्मबन्ध अनेक प्रकार का है।)

भावार्थ : शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमन से छूटकर अशुद्धरूप परिणमित होना अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना। ऐसा होने पर, जीव के मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिक उत्पन्न होते हैं, जिससे द्रव्यास्रव कर्मबन्ध के कारण होते हैं और उससे अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं। इस प्रकार यहाँ शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ शुद्धता की प्रतीति से (सम्यक्त्व से) च्युत होना समझना चाहिए। यहाँ उपयोग की अपेक्षा गौण है, शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोग से च्युत होना, ऐसा अर्थ मुख्य नहीं है; क्योंकि शुद्धोपयोगरूप रहने का समय अल्प रहता है, इसलिए मात्र अल्प काल शुद्धोपयोगरूप रहकर और फिर उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयों में उपयुक्त हो तो भी मिथ्यात्व के बिना जो राग का अंश है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है; इसलिए ज्ञानी के मात्र अल्प बन्ध होता है और अल्प बन्ध संसार का कारण नहीं है। इसलिए यहाँ उपयोग की अपेक्षा मुख्य नहीं है।

अब यदि उपयोग की अपेक्षा ली जाये तो इस प्रकार अर्थ घटित होता है:-यदि जीव शुद्धस्वरूप के निर्विकल्प अनुभव से छूटे परन्तु सम्यक्त्व से न छूटे तो उसे चारित्रमोह के राग से कुछ बन्ध होता है। यद्यपि वह बन्ध अज्ञान के पक्ष में नहीं है, तथापि वह बन्ध तो है ही। इसलिए उसे मिटाने के लिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को शुद्धनय से न छूटने का अर्थात् शुद्धोपयोग में लीन रहने का उपदेश है। केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय होता है।।१२१।।

श्लोक - १२१ पर प्रवचन

अब यह कहते हैं कि जो शुद्धनय से च्युत होते हैं, वे कर्म बाँधते हैं:- आगे के कलश में आयेगा। १२१ (कलश में)

प्रच्युत्य शुद्ध-नयतः पुनरेव ये तु,
रागादियोग-मुपयान्ति विमुक्त-बोधाः।

ते कर्म-बन्ध-मिह बिभ्रति पूर्व-बद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्।।१२१।।

आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव! इस **जगत् में जो शुद्धनय से च्युत..** होते हैं अर्थात् कि शुद्ध परिणमन से भ्रष्ट होते हैं और मात्र शुभ के-राग के अशुद्ध परिणमन में आ जाते हैं... आहाहा! **शुद्धनय से च्युत होकर पुनः रागादि के सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं..** आहाहा! एक बार तो राग का सम्बन्ध तोड़ा, स्वभाव का सम्बन्ध किया और वापस सम्बन्ध तोड़कर राग का सम्बन्ध करे, वह शुद्धनय से च्युत होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ओहो! छोटे में छोटा दया का राग, उसके साथ भी जुड़ जाए, यह उसने राग का सम्बन्ध किया। चैतन्य के स्वभाव से च्युत-भ्रष्ट हुआ। आहाहा!

शान्त मार्ग है। प्रभु का शान्त मार्ग है। प्रशान्त! आहाहा! 'प्रशान्त सुधामय जे' आता है न कहीं? सुधामय जो, ऐसा कुछ आता है। 'प्रशान्त अनन्त सुधामय जे, प्रशान्त अनन्त सुधामय जे, प्रणमु पदते वर्ते जयते', यह। यह तो श्रीमद् में आया। आहाहा! अन्तिम लाईन, अन्तिम लाईन। 'सुखधाम अनन्त सुसंत चही।' आहाहा! ध्यान में रहे। 'प्रशान्ति अनन्त सुधामय जे।' प्रशान्ति अनन्त सुधामय जे, प्रणमु पद ते वर्ते जयते। श्रीमद् का अन्तिम शब्द 'जयते' आया है। आहाहा! एकावतारी हो गये हैं। भले गृहस्थाश्रम में थे। एक वैमानिक का स्वर्ग का भव है। वे लोग मनुष्य कहते हैं, झूठ बात है। महाविदेह में गये हैं और केवलज्ञानरूप से विचरते हैं, यह अत्यन्त मिथ्या बात है। समकिती मरकर मनुष्य मरकर मनुष्य होता ही नहीं। भाई! तू महिमा करने जाता है परन्तु कुछ का कुछ हो जाता है। आहाहा! भरतक्षेत्र का समकिती वैमानिक देव के अतिरिक्त कहीं नहीं जाता। आहाहा! भले वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर 'अशेषकर्म का भोग है' आहाहा! 'भोगना अवशेष रे, जिससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे...' आहाहा! लो! यह स्वदेश कहा। बहिन में नहीं आता? ४०१ बोल, उसमें आता है न? आहाहा!

शुद्धस्वरूप भगवान में से निकलकर विकल्प में आवे, अरे! उसे (ऐसा लगता है कि) हम कहाँ परदेश में आ चढ़े? आहाहा! स्वदेश तो यह अन्दर है! जिसके भान में अनन्त-अनन्त आनन्द, शान्ति आदि भरे हुए हैं। आहाहा! उसमें से निकलकर शुभराग में

आना, वह परदेश है। यहाँ तो शुभराग की एकता करता है, वह स्व से भ्रष्ट होता है, यह कहना है। जिसे शुभराग का प्रेम जगा है, (उसे) यह प्रेम छूट गया है, भ्रष्ट हो गया है। भगवान आनन्द का घर... आहाहा! निज घर में आनन्द है, उसका प्रेम छोड़कर निज धर में जो चीज़ नहीं है, बाहर की भटकती चीज़ है, उस राग की चीज़ में जिसे प्रेम हुआ, वह स्वभाव से च्युत हुआ। आहाहा! बाहर से तो मुनिपना होकर अट्ठाईस मूलगुण पालता हो, पंच महाव्रत पालता हो, सब हो। आहाहा! परन्तु अन्तर में भगवान शुद्ध चिदानन्द स्वरूप से भ्रष्ट हुआ और राग के प्रेम में आ गया... आहाहा! वह शुद्धनय से भ्रष्ट हुआ है। बाहर से पंच महाव्रत पाले, जंगल में बाघ, भेड़िया के बीच अकेला रहता हो। आहाहा! उससे क्या हुआ? यह आता है न? अनशन आदि बहुत किया, वह क्या है? उससे क्या है? आहाहा!

पुनः.. अर्थात् क्या? पहले (सम्यग्दर्शन) हुआ था और फिर छूट गया, ऐसा कहते हैं। पहले राग का सम्बन्ध छोड़ा था। और स्वभाव का सम्बन्ध किया था, उस स्वभाव का सम्बन्ध छोड़ दिया और फिर से राग का सम्बन्ध किया। आहाहा! वापस जो पर घर है, वहाँ आकर पड़ा, बापू! आहाहा! निजघर में से हट गया। आहाहा!

आनन्द का धाम भगवान सुखधाम! वहाँ से हट गया और राग के धाम में रसिक हो गया, उसमें रसीला हो गया। आहाहा! राग के रस में चढ़ा, वह स्वभाव से भ्रष्ट हुआ। आहाहा! ऐसा काम है। दुनिया के साथ अभी मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो यहाँ के लोग अब जो निकले, वे फिर (समझते हैं)। मार्ग तो बापू! यह है, भाई! आहाहा!

जगत् में जो शुद्धनय से च्युत होकर.. परिणमते हैं। शुद्ध का परिणमन छोड़कर अशुद्ध के परिणमन में (आ जाए)। पुनः रागादि अशुद्ध परिणमन के **सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं..** आहाहा! **ऐसे जीव,..** **[विमुक्तबोधाः] जिन्होंने ज्ञान को..** छोड़ दिया है। **[विमुक्तबोधाः]** बोध अर्थात् भगवान ज्ञानस्वरूप, उसे इनने विमुक्त (अर्थात्) छोड़ दिया। आहाहा! **[विमुक्तबोधाः]** भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव आत्म भगवान को विमुक्त अर्थात् छोड़ दिया। राग का रसीला, राग के प्रेम में रुक गया। आहाहा! अरे! ऐसी बात कहाँ है? इसके घर की बातें हैं, बापू! आहाहा! उसे एकान्त कहते हैं। यहाँ का-सोनगढ़ का जहाँ नाम आवे तो (कहते हैं) ऐ... एकान्त, ऐ... एकान्त है। यह भाषा ठीक है।

आहाहा! गाली देने की एक पद्धति ठीक निकाली। एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... मिथ्यादृष्टि एकान्त है। आहाहा! व्रत, तप, भक्ति और पूजा तथा जिसे मुनि की बाहर की क्रियायें हैं, उसे मुनि माने तो वह सच्चा! अरे! बापू! मुनिपना कैसा है ? आहाहा!

चाहे जैसे जंगल में अकेला वर्तता हो। अकेला जंगल में से आकर आहार लेकर वापस अकेला चला जाए, ऐसी क्रिया अनन्त बार की है। वह कुछ चीज़ नहीं है। जवान अवस्था, ऐसे शरीर ठीक हो, वह चाहे जो करे। जंगल में पड़ा रहे परन्तु उस जंगल में से यह रागरहित स्वरूप है, इसकी खबर नहीं हो और विकल्प-राग उठता है, उसका रसिक हो गया। आहाहा! वह स्वरूप से भ्रष्ट हो गया।

[**विमुक्तबोधाः**] बोध, बोध अर्थात् ज्ञान से छूटा है, आत्मा से छूट गया। **ऐसे होते हुए, पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव..** पूर्वबद्ध जो जड़ द्रव्यास्रव सत्ता में थे। आहाहा! वे **कर्मबन्ध को धारण करते हैं..** क्योंकि राग का प्रेम हुआ, इसलिए पूर्व के कर्म के बन्ध का सम्बन्ध यहाँ हुआ। अब उसे नये कर्म बँधेंगे। आहाहा! ज्ञानी को बँधते नहीं थे, वे अब यहाँ बँधेंगे, ऐसा कहते हैं। राग के रस में पूर्व के कर्म के निमित्त को राग दिया... आहाहा! उससे नये कर्म बँधेंगे। ज्ञानी को आस्रव और बन्ध का निषेध किया था। यह अल्प आस्रव, अल्प बन्ध है, उसे गौण करके ऐसा कहा था। सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! जब तक केवल (ज्ञान) न हो, तब तक, दसवें गुणस्थान तक भी आठ कर्म आते हैं और लोभ का आस्रव भी अबुद्धिपूर्वक है। अबुद्धिपूर्वक भी है इसके पुरुषार्थ में, इसके उल्टे पुरुषार्थ में, इसकी दशा में है न! आहाहा! वह राग कहीं कर्म के कारण नहीं है, दसवें में लोभ का अंश है, उसके पुरुषार्थ की कमजोरी, शिथिलता के कारण है। आहाहा! और वह राग आस्रव है तथा उससे नये छह कर्म बँधते हैं। आहाहा!

एक ओर यहाँ कहना कि समकित हुआ, उसे बन्धन नहीं। क्या अपेक्षा है ? भाई! अनन्त मिथ्यात्व, वह अनन्त संसार है और मिथ्यात्व, वही संसार है। उसे अपेक्षा से कहा कि वह छूटा, उसे आस्रव, बन्ध नहीं है, ऐसा कहा। आहाहा! मूल तो वह है। आहाहा! पश्चात् चारित्र के दोष हैं, उनकी कुछ गिनती नहीं है। जैसे वृक्ष का मूल तोड़ा, उसके पत्ते, डालियाँ, पन्द्रह दिन में सूख जानेवाली हैं। आहाहा! जिसका मूल सुरक्षित है, उसके पत्ते

तोड़े, काट डाले, एक-एक पत्ता (निकाल डाला), वह महीने में वापस पल्लवित हो जाएगा। आहाहा! इसी प्रकार जिसने मिथ्यात्व के मूल को तोड़ डाला है... आहाहा! उसे अब राग-द्वेष और अस्थिरता के पत्ते रहे हैं, वे सूख जानेवाले हैं, नाश हो जानेवाले हैं और अज्ञानी ने राग-द्वेष मन्द किये हैं, जंगल में पड़ा है, परन्तु अन्दर में स्वरूप की दृष्टि का अभाव है... आहाहा! उसने संसार का मूल सुरक्षित रखा है। उसे कर्मबन्धन और आस्रव है। आहाहा! नग्न मुनि हो, जंगल में महा कष्ट भोगता हो परन्तु वह राग के प्रेम में पड़ा है, वह आस्रव और बन्ध में पड़ा हुआ है। आहाहा! और स्फटिक रत्न के मकान में गृहस्थाश्रमी समकिती हो। आहाहा! उसके भी अनन्त संसार के कारण आस्रव और बन्ध है नहीं, इस अपेक्षा से आस्रव और बन्ध नहीं है, ऐसा कहा। आहाहा!

धारण करते हैं.. [कृत-विचित्र-विकल्प-जालम्] जो कि कर्मबन्ध अनेक प्रकार के विकल्प जाल को करता है.. आहाहा! **(अर्थात् जो कर्मबन्ध अनेक प्रकार का है।)** यहाँ अज्ञानी को विकल्प जाल भी अनेक प्रकार की है और बन्धन भी अनेक प्रकार का है, वापस ऐसा। अनेक प्रकार की प्रकृति में रस और स्थितिवाले कर्म बँधते हैं। विचित्र कर्म बँधते हैं। आहाहा! ज्ञानी को (कर्मबन्ध का) निषेध किया। तब ऐसे अज्ञानी जंगल में बसता हो... आहाहा! स्त्री, पुत्र छोड़ा हो, जंगल में से बाहर आकर एक समय खाता हो... आहाहा! परन्तु (जो) राग के प्रेम में पड़ा है, उसे पुराने कर्म विचित्र प्रकार के नये बन्धन का कारण होगा। क्योंकि राग हो गया न वापस! आहाहा! ज्ञानी को राग है, वह राग अस्थिरता का है, वह मूल नहीं है। मूल तोड़ डाला है। आहाहा! इससे उस राग को अब जाने में देरी नहीं है, अभाव में देरी नहीं है। आहाहा! इसलिए उसे बन्ध और आस्रव नहीं है और इसे बन्ध और आस्रव है। (विचित्र भेदों के समूहवाला) **(अर्थात् जो कर्मबन्ध अनेक प्रकार का है।)** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५५, श्लोक १२१-१२२, गाथा १७९-१८० दिनाङ्क १७-०६-१९७९, रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण ८

समयसार, १२१ कलश का भावार्थ है। **शुद्धनय से च्युत होना अर्थात्...** क्या कहते हैं? शुद्ध जो आत्मा का निर्विकल्प अनुभव, पर से भिन्न पड़कर, राग से भिन्न पड़कर पर्याय को त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में जोड़कर अनुभव हो, शुद्ध अनुभव हो, शुद्ध आनन्द का वेदन हो, उसे शुद्धनय अथवा शुद्धनय का विषय कहते हैं। उससे जब च्युत होता है, स्वभाव के आनन्द का वेदन, परमात्मस्वभाव को जो पहुँचा है, सम्यग्दर्शन से, उसमें से जो कोई च्युत होता है **अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमन से छूटकर...** अत्यन्त शुद्ध परिणमन और आनन्द है, ऐसे शुद्ध परिणमन अर्थात् पर्याय। वस्तु तो शुद्ध है, परन्तु जैसी चीज़ है, वैसा परिणमन होना, ऐसे शुद्ध **परिणमन से छूटकर अशुद्धरूप परिणमित होना अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना।** शुद्धनय से च्युत होने की यह व्याख्या है। आहाहा!

अपना प्रभु अनन्त आनन्द की अन्तरंग मिठास में स्वभाव से भरपूर अनन्त गुण, मधुर मीठे अरूपी स्वभाव जिसका मीठा है, ऐसा जिसका अनुभव (हुआ), उसमें से च्युत होना, अर्थात् अशुद्धरूप से होना। शुद्धरूप जो परिणमन था, वह छूटकर और अशुद्ध विकाररूप से परिणमन होकर मिथ्यात्वभाव को प्राप्त होता है। ऐसी बात है।

शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमन से.. मैं शुद्ध हूँ, ऐसा विकल्प करे, ऐसा नहीं। शुद्धनय परिणमन जो है, निर्विकारी वीतरागी परिणमन जो है, वह शुद्ध परिणमन है। उससे छूटकर **अशुद्धरूप परिणमित होना अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना।** अशुद्धरूप से परिणमना अर्थात् ही मिथ्यादृष्टि। आहाहा! क्योंकि आत्मा शुद्धस्वरूप है, पवित्र स्वरूप है। वह तो वीतराग शक्तियों का भण्डार है। उसका परिणमन है, वह तो वीतरागी शुद्ध है। उसमें से भ्रष्ट होना अर्थात् वीतरागी शुद्ध परिणमन से हट जाना और अशुद्ध विकारी परिणमन से परिणमना अर्थात् मिथ्यादृष्टि होना। ऐसा है। **मिथ्यादृष्टि हो जाना।** यह शुद्धनय से च्युत होना, ऐसा। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि में तो आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप से परिणमन की मुख्य दशा है। थोड़ी

अशुद्धता है, वह गौण है। शुद्ध परिणमन की मुख्यता है। आहाहा! उस शुद्ध की मुख्यता वेदन और परिणमन से च्युत होना अर्थात् अशुद्धता के वेदन में आना अर्थात् मिथ्यादृष्टि होना। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, लालचन्दजी! ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म! मूल बात बहुत सूक्ष्म है। ऊपर-ऊपर की व्रत, तप, यह सब करे, वह साधारण है। पुण्य बँधता है। यह वस्तु कोई अलौकिक है!

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, जिसके अतीन्द्रिय स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन, इन्द्राणी के भोग सड़े हुए कुत्ते और बिल्ली सड़ गयी हो, ऐसे जिसे लगते हैं। अपने सुख के समक्ष जगत के कल्पना के सुख सड़े हुए तिनके जैसे, बिल्ली जैसे लगते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

ऐसा होने पर, जीव के मिथ्यात्व सम्बन्धी.. अर्थात् वह राग नहीं था, ऐसा पहले कहते थे न! समकिती को राग नहीं है, ऐसा कहा न? समकिती को राग नहीं था, ऐसा कहा था। वह मिथ्यात्व सम्बन्धी का राग उसे नहीं था। यह उसके सम्बन्धी के रागादि उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादि उत्पन्न होते हैं। आहाहा! **जिससे द्रव्यास्रव कर्मबन्ध के कारण होते हैं..** इसलिए पुराने द्रव्यास्रव कर्म, वे कर्मबन्ध के कारण होते हैं। **उससे अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं।**

इस प्रकार यहाँ शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ शुद्धता की प्रतीति से (सम्यक्त्व से) च्युत होना समझना चाहिए। भले उसका उपयोग राग में गया हो परन्तु शुद्ध परिणमन से च्युत हुआ नहीं। उपयोग कदाचित् राग में गया हो, तथापि शुद्ध चैतन्य के परिणमन से च्युत नहीं हुआ। दृष्टि ने शुद्ध चैतन्य को पकड़ा है, उससे वह च्युत हुआ नहीं है। यहाँ तो समकिती को राग नहीं होता, ऐसा ही कहना है। वह जरा अस्थिरता का है, वह नहीं होता अर्थात् उसे शुद्धस्वरूप का परिणमन ही है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। यह तो शुरुआत का मार्ग ही यह है।

यहाँ उपयोग की अपेक्षा गौण है,.. यह कहा, देखा? रागादि में समकिती का उपयोग जाये, यह बात गौण है। चैतन्य के शुद्धस्वरूप की प्रतीति का अनुभव (हुआ है), उससे वह च्युत नहीं होता। उपयोग में राग आवे, वह बात यहाँ गौण की है। आहाहा! और

राग आवे, इसलिए शुद्धस्वरूप से च्युत हुआ है, ऐसा नहीं है। शुद्धस्वरूप से च्युत तो तब कहलाये कि अशुद्ध परिणमन और मिथ्यादृष्टि हो, तब शुद्ध से छूटा कहलाये। शुद्धस्वरूप का भान अन्तर्दृष्टि में है और उपयोग कदाचित् रागादि में जाता है, तथापि वह शुद्धस्वरूप से च्युत हुआ नहीं है। आहाहा!

अज्ञानी शुभराग के उपयोग में है, तथापि वह शुद्धस्वरूप से तो भ्रष्ट ही है। आहाहा! और ज्ञानी को शुभभाव या अशुभभाव, उपयोग में अशुभभाव आवे तो भी शुद्धस्वरूप से च्युत नहीं होता। वहाँ जो दृष्टि है, वहाँ से हटता नहीं। मूल सम्यग्दर्शन का परिणमन च्युत नहीं होता। आहाहा! अशुभराग उपयोग में आया तो भी! और अज्ञानी को शुभराग दया, दान, व्रत, भक्ति का होने पर भी वह मिथ्यादृष्टि है और शुद्धस्वरूप से तो भ्रष्ट ही है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

यहाँ उपयोग की अपेक्षा गौण है, शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोग से च्युत होना, ऐसा अर्थ मुख्य नहीं है;.. क्या कहा? उपयोग की अपेक्षा से शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोग से च्युत होना, शुद्ध उपयोग से हटकर अशुद्ध उपयोग में आ जाये, वह बात यहाँ नहीं है। अशुद्ध उपयोग ज्ञानी को भी आता है। आहाहा! आर्तध्यान, रौद्रध्यान होता है। वह उपयोग अशुद्ध होता है, तथापि स्वरूप की शुद्धता से च्युत नहीं, आनन्द का वेदन तो साथ में है। आहाहा!

शुद्धस्वरूप से च्युत है, वह भले शुभराग के उपयोग में आवे, तो भी वह स्वरूप से तो च्युत है। शुभ में आवे तो भी शुद्धस्वरूप से च्युत है। ज्ञानी अशुभ में आवे तो भी शुद्धस्वरूप से च्युत नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। मूल मार्ग... श्रीमद् में आता है न! 'मूलमारग सुन लो जिनवर का रे...' मूल मार्ग की शुरुआत ही कोई अलौकिक है। इसके बिना सब व्यर्थ है। आहाहा!

भगवान पूरा पूर्णानन्द प्रभु, आनन्द का रसकन्द अकेला है। ऐसे अनन्त गुणों का आनन्द, ऐसा रसकसवाला प्रभु, उसका जिसे अन्तर में अनुभव हुआ, वह उपयोग में कदाचित् अशुभभाव आ जाए, तो भी वह शुद्धस्वरूप से च्युत नहीं है। आहाहा! उपयोग की अपेक्षा से उसे च्युत हुआ, ऐसा नहीं कहा जाता। उपयोग भले उसमें है परन्तु लब्धरूप से शुद्ध चैतन्य की प्रतीति और अनुभव लब्धरूप है। समझ में आया?

क्योंकि शुद्धोपयोगरूप रहने का समय अल्प रहता है.. क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा अपना शुद्ध आनन्द स्वभाव, उसमें उपयोग अन्दर रहना, ध्येय बनाकर वहाँ उपयोग रहना, उसका काल अल्प है। वह विशेष काल नहीं रह सकता। समझ में आया ? **शुद्धोपयोगरूप रहने का समय अल्प रहता है..** क्योंकि शुद्धोपयोगरूप, अन्दर आनन्द के उपयोग में रहने का काल बहुत अल्प है। पौन सेकेण्ड के अन्दर तो छठवें गुणस्थान में, उससे आधा सातवें में (आता है), ऐसे नीचे उपयोग तो बहुत थोड़े काल है। यह क्या कहा ? छठे गुणस्थान की स्थिति पौन सेकेण्ड के अन्दर, सातवें की उससे आधी है, तो वहाँ सातवें से आधी का इतना उपयोग रहे तो चौथे, पाँचवें में तो उपयोग थोड़ा रहेगा। आहाहा ! भले असंख्य समय रहे, परन्तु बहुत थोड़े समय रहता है। इसलिए उपयोग की अपेक्षा से भ्रष्ट होना, ऐसा यहाँ नहीं गिनना। चारित्रदोष में वह अस्थिर हुआ, परन्तु वस्तु में अस्थिर नहीं हुआ। शुद्ध चैतन्य का मूल पकड़ा है। आहाहा !

मात्र अल्प काल शुद्धोपयोगरूप रहकर और फिर उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयों में उपयुक्त हो तो भी मिथ्यात्व के बिना.. आहाहा ! भगवान आत्मा ! अपना शुद्ध पवित्रस्वरूप भगवान पूर्ण, उसे ध्येय बनाकर उपयोग वहाँ रहे, वह अल्प काल रहता है। वहाँ से छूटकर उपयोग राग में आता है। है न ? **उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयों में उपयुक्त हो..** स्वज्ञेय में जो उपयोग था, वह तो समकिती को भी थोड़ा काल रहता है। पश्चात् अन्य ज्ञेयों में उपयुक्त होता है। दूसरे जाननेयोग्य पदार्थ हैं, उनमें उपयोग जाता है। आहाहा ! **तो भी मिथ्यात्व के बिना..** शुद्धस्वरूप की प्रतीति और अनुभव है, उससे **मिथ्यात्व के बिना जो राग का अंश है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है..** अभिप्रायपूर्वक अर्थात् राग करनेयोग्य है और यह राग है, वह मेरा स्वरूप है—ऐसा अभिप्राय धर्मी को नहीं होता। धर्म ऐसा महँगा किया, ऐसा कोई कहता है। कोई ऐसा कहता था, सोनगढ़वालों ने समकित महँगा किया। महँगा या सस्ता... लोग अपने प्रकार से मानते हों और उससे यह दूसरा निकला, इसलिए (ऐसा कहते हैं कि) महँगा किया। यह किसका कथन है ? समयसार, हेमराजजी का (जयचन्दजी का) कथन है। मूल पाठ... आहाहा !

मिथ्यात्व के बिना जो राग का अंश है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है.. (अर्थात्) रुचिपूर्वक नहीं है। धर्मी को अशुभराग और शुभराग आवे (तो भी उसकी) रुचि नहीं है,

पोषाण नहीं है, पोसाता नहीं है, हेयबुद्धि से आता है। आहाहा! **ज्ञानी के मात्र अल्प बन्ध होता है..** उसे अभिप्रायपूर्वक राग नहीं है, इसलिए उसे राग आवे, उसका अल्प बन्धन, अल्प स्थिति पड़ती है। आहाहा! **और अल्प बन्ध संसार का कारण नहीं है।** वह कहीं संसार, मिथ्यात्व (के) अनन्त संसार का कारण नहीं है। अल्प कोई एकाध-दो भव हों, वे कुछ (गिनती में नहीं हैं)। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि चैतन्य के स्वभाव की दृष्टिवन्त को, अनुभवी को थोड़ा राग आवे, परन्तु वह राग अभिप्रायपूर्वक नहीं है, इसलिए वह अनन्त संसार का कारण नहीं है। वह अल्पस्थिति बँधे, इतना आता है। अन्य ज्ञेय है न? स्वज्ञेय में से हटकर (बाहर आया है)। आहाहा! **ज्ञानी के मात्र अल्प बन्ध होता है और अल्प बन्ध संसार का कारण नहीं है।** देखो? अल्प बन्ध (उसे गिनते नहीं)। अनन्त संसार का कारण (नहीं है)। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी अनन्त संसार का कारण है। आहाहा!

सूक्ष्म में सूक्ष्म राग का अंश अन्दर है, उसकी जिसे अन्दर मिठास है; राग है, वह मेरा कर्तव्य है, मेरा स्वरूप है—ऐसी शल्य है, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! और ज्ञानी को रौद्रध्यान जैसा भाव भी चौथे-पाँचवें में आवे... आहाहा! तो भी उसका उपयोग भले परज्ञेय में गया, लब्धि, दृष्टि कुछ स्वरूप से हटी नहीं। इसलिए उसका रस और स्थिति अल्प बँधती है। **इसलिए यहाँ उपयोग की अपेक्षा मुख्य नहीं है।** उपयोग से हट जाना तो संसार है, वह यहाँ मुख्य नहीं है। आहाहा! आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, चैतन्य भगवान की अनुभव में प्रतीति हुई, उसका उपयोग कदाचित् राग में जाये, उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है। उसकी यहाँ मुख्यता गिनी नहीं है।

अब यदि उपयोग की अपेक्षा ली जाये.. अब उपयोग की बात आयी। **तो इस प्रकार अर्थ घटित होता है:-यदि जीव शुद्धस्वरूप के निर्विकल्प अनुभव से छूटे परन्तु सम्यक्त्व से न छूटे..** आहाहा! शुद्ध चैतन्यस्वभाव परिपूर्ण परमात्मा, मात्र अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, उसकी अन्तर से दृष्टि हुई... आहाहा! वह शुद्ध **निर्विकल्प अनुभव से छूटे..** कदाचित् निर्विकल्प अनुभव में से हट जाये। **परन्तु सम्यक्त्व से न छूटे..** शुद्धस्वरूप की जो निर्विकल्प प्रतीति हुई है, उसमें से न छूटे **तो उसे चारित्रमोह के राग से कुछ**

बन्ध होता है। यद्यपि वह बन्ध अज्ञान के पक्ष में नहीं है.. ज्ञानी को थोड़ा राग होता है, परन्तु वह अज्ञान के पक्ष और अज्ञान की धारा में नहीं है। आहाहा! **तथापि वह बन्ध तो है ही।** भले अज्ञान के पक्ष में नहीं है, परन्तु बन्ध तो है। अभी तो उपयोग की अपेक्षा से लेना है न! पहले उपयोग की अपेक्षा नहीं, उसे बन्ध नहीं, ऐसा कहा; और अब उपयोग जरा अस्थिर होता है, (उसकी बात करते हैं)। आहाहा! **इसलिए उसे मिटाने के लिए..** उपयोग में भी राग आवे, उसे मिटाने के लिए धर्मी जीव स्वरूप-सन्मुखता के उपयोग को भी उन्मुख करने का प्रयत्न करता है। आहाहा! लब्धरूप तो प्रगट हुआ है, परन्तु उपयोग जो राग में जाता है, उसे भी अन्तर में सन्मुख करने का प्रयत्न करता है। समझ में आया? अब ऐसी बातें। क्या करना इसमें? करना यह आत्मा क्या है, उस ओर ढ़ल जाना, उसके पक्ष में चढ़ जाना, राग के पक्ष से छूट जाना। आहाहा!

बन्ध तो है ही। इसलिए उसे मिटाने के लिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को शुद्धनय से न छूटने का अर्थात् शुद्धोपयोग में लीन रहने का उपदेश है। शुद्ध उपयोग में ही लीन रहना, ऐसा उपदेश है। आहाहा! उसमें दया, दान का विकल्प भी उठाना नहीं। आहाहा! स्वरूप में शुद्ध स्वरूप में एकाकार होकर रहना, उपयोग में बाहर नहीं ले जाना। ऐसा यहाँ उपदेश है।

केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय होता है। पहले आ गया है। इस ओर है। शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर होता है, इस ओर (१२० कलश के भावार्थ की अन्तिम लाईन में) आया। इस ओर की अन्तिम लाईन। आहाहा! अन्तिम लाईन। यहाँ भी यह कहा, **केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय..** अर्थात् पश्चात् उसे अन्तर में उपयोग को उन्मुख करना, यह नहीं रहता। पूर्ण शुद्ध हो गया है। परमात्मदशा केवलज्ञान (हो गया)। आहाहा!

गाथा–१७९–१८०

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंस–वसा–रुहिरादी भावे उदरग्गि–संजुत्तो।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णय–परिहीणा दु ते जीवा।।१८०।।

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम्।
मांस–वसा–रुधिरादीन् भावान् उदराग्नि–संयुक्तः।।१७९।।
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम्।
बध्नन्ति कर्म ते नय–परिहीनास्तु ते जीवाः।।१८०।।

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्म बन्धं परिणामयन्ति।

न चैतदप्रसिद्धं, पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकरणस्य दर्शनात्।।१७९–१८०।।

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं:–

जन से ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्नि के संयोग से।
बहुभेद मांस, वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमे।।१७९।।
त्यों ज्ञानी के भी पूर्वकालनिबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बांधे कर्म, जो जीव शुद्धनयपरिच्युत बने।।१८०।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [पुरुषेण] पुरुष के द्वारा [गृहीतः] ग्रहण किया हुआ [आहारः] जो आहार है [सः] वह [उदराग्निसंयुक्तः] उदराग्नि से संयुक्त होता हुआ

[अनेकविधम्] अनेक प्रकार [मांसवसारुधिरादीन्] मांस, चर्बी, रुधिर आदि [भावान्] भावरूप [परिणमति] परिणमन करता है, [तथा तु] इसी प्रकार [ज्ञानिन:] ज्ञानियों के [पूर्वं बद्धा:] पूर्वबद्ध [ये प्रत्यया:] जो द्रव्यास्रव हैं [ते] वे [बहुविकल्पम्] अनेक प्रकार के [कर्म] कर्म [बध्नंति] बांधते हैं – [ते जीवा:] ऐसे जीव [नयपरिहीना: तु] शुद्धनय से च्युत हैं। (ज्ञानी शुद्धनय से च्युत होवे तो उसके कर्म बँधते हैं।)

टीका : जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो, तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है इसलिए, पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय, अपने (–द्रव्यप्रत्ययों के) कर्मबन्ध के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने पर हेतुमान भाव का (–कार्यभाव का) अनिवार्यत्व होने से, ज्ञानावरणादि भाव से पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित करते हैं। और यह अप्रसिद्ध भी नहीं हैं (अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत् में प्रसिद्ध है–सर्व ज्ञात है); क्योंकि मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये आहार को जठराग्नि रस, रुधिर, माँस इत्यादिरूप में परिणमित करती है, यह देखा जाता है।

भावार्थ : जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो, तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है, रागादिभावों के निमित्त से द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं और इसलिए कार्मणवर्गणा बन्धरूप परिणमित होती है। टीका में जो यह कहा है कि 'द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित कराते हैं', सो निमित्त की अपेक्षा से कहा है। वहाँ यह समझना चाहिए कि 'द्रव्यप्रत्ययों के निमित्तभूत होने पर कार्मण–वर्गणा स्वयं बन्धरूप परिणमित होती है।'

गाथा – १७९-१८० पर प्रवचन

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं:–

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंस–वसा–रुहिरादी भावे उदरग्गि–संजुत्तो ।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णय–परिहीणा दु ते जीवा।।१८०।।

णय-परिहीणा.. ऐसा शब्द प्रयोग किया है। व्यवहारनय, ऐसा न कहकर, उसे (शुद्धनय) ही यथार्थ नय कहते हैं। व्यवहारनय तो कथनमात्र है। आहाहा! शुद्धनय से परिहीन, उसे **णय-परिहीणा..** कहा। नीचे (हरिगीत)

जन से ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्नि के संयोग से।
बहुभेद मांस, वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमे।।१७९।।
त्यों ज्ञानी के भी पूर्वकालनिबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बांधे कर्म, जो जीव शुद्धनयपरिच्युत बने।।१८०।।

यहाँ स्पष्टीकरण करना पड़ा। **णय-परिहीणा** शब्द है न? उसे शुद्धनय परिहीण का स्पष्टीकरण किया, क्योंकि यहाँ शुद्धनय की बात है। नय परिहीण (कहे तो) नय तो व्यवहारनय भी है, परन्तु वह तो कथन (मात्र है)। मूल चीज़ (नहीं)। मूल चीज़, यह शुद्धनय है। आहाहा! और शुद्धनय अर्थात् वास्तव में शुद्ध भूतार्थस्वरूप भगवान पूर्ण। भूतार्थ 'भूयत्थ देसिदो सुद्धनयो' अनन्त गुण के रस से भरपूर भगवान सत्यार्थ, सत्य पदार्थ, सत्य पदार्थ, भूतार्थ-भूत पदार्थ, त्रिकाल, वही शुद्धनय है। फिर कहा कि उस शुद्धनय का विषय है। पहले ऐसा कहा कि वही शुद्धनय है। आहाहा!

जन से ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्नि के संयोग से। कहा न? **जो जीव शुद्धनयपरिच्युत बने।**

टीका : जब ज्ञानी.. धर्मी शुद्ध चैतन्यस्वरूप के आनन्द की परिणति में है... आहाहा! वह **शुद्धनय से च्युत हो, तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है..** तब उसे रागादि होते हैं। **पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय,..** पश्चात् पूर्व के जो द्रव्य प्रत्यय-जड़ आस्रव हैं, वे **अपने (-द्रव्यप्रत्ययों के) कर्मबन्ध के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने पर..** पूर्व के कर्म के निमित्त में राग-द्वेष निमित्त हुआ। पूर्व कर्म नये के बन्धन और पूर्व कर्म को हेतु हुआ राग-द्वेष। उपयोग में से हट गया और हुआ राग-द्वेष। वह राग-द्वेष कर्म को निमित्त हुआ और निमित्त, पश्चात् नये को निमित्त हुआ। आहाहा!

द्रव्यप्रत्यय, अपने (-द्रव्यप्रत्ययों के) कर्मबन्ध के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने पर हेतुमान भाव का (-कार्यभाव का).. आहाहा! द्रव्यास्त्रवों को जब राग-द्वेष

निमित्त हुए, इसलिए उनका कार्य नया बन्धन उसे होता है। वह कार्य हुआ। कारण जड़-कर्म के निमित्त को राग-द्वेष के परिणाम का निमित्त हुआ, इसलिए उसका कार्य नया बन्धन, वह कार्य हुआ। आहाहा! **हेतुमान भाव का (-कार्यभाव का) अनिवार्यत्व होने से,..** उसका बन्धन का कार्य होगा ही अनिवार्य है, निवारण नहीं किया जा सकता। आहाहा!

ज्ञानावरणादि भाव से पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित करते हैं। जब पुराने कर्म पड़े हैं, परन्तु धर्मी जब शुद्ध उपयोग में से हट जाता है और राग-द्वेष में आता है, तब वे राग-द्वेष पुराने कर्म को निमित्त होते हैं और इसलिए नया कर्म का कार्य होता है। नये कर्म में बन्धनरूप कार्य होता है। आहाहा! **और यह अप्रसिद्ध भी नहीं हैं (अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत् में प्रसिद्ध है-सर्व ज्ञात है); क्योंकि मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये आहार को जठराग्नि..** उदराग्नि—पेट में क्षुधा लगी है, उस उदराग्नि को पुरुष ने ग्रहण किया हुआ आहार। उस उदराग्नि से **रस, रुधिर, माँस इत्यादिरूप में परिणमित करती है,..** आहार भले अमुक प्रकार का लिया, परन्तु उदराग्नि है, उसके कारण कोई वसारूप, कोई चमड़ीरूप, कोई रक्तरूप भिन्न-भिन्न रूप से उस आहार को परिणमाती है। **ग्रहण किये गये आहार को जठराग्नि रस, रुधिर, माँस इत्यादिरूप में परिणमित करती है, यह देखा जाता है।** आहाहा! यह क्या कहा?

ज्ञानी को भी जरा (शुद्ध) उपयोग से हट जाए... आहाहा! तो उसे पुराने कर्म में विकार का निमित्तपना मिला, इससे नये कर्म बँधने का कार्य हुआ। दृष्टान्त : जैसे उदराग्नि से आहार ग्रहण किया परन्तु आहार ग्रहण करने के बाद उदराग्नि के कारण भिन्न-भिन्न रस, रुधिर आदि परिणमता है। वैसे उपयोग में राग आया, वह पुराने कर्म को निमित्त हुआ, इससे नये अनेक प्रकार के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि भिन्न-भिन्न कर्म होते हैं। जैसे उदराग्नि से माँस, खून आदि भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे यह कर्म भी भिन्न-भिन्न बँधते हैं। आहाहार! यह सब विषय बराबर सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : अनन्त संसार का बन्ध पड़ता है या अल्प संसार का पड़ता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार हैं न! एक ही कहाँ है? ऐसा कहते हैं। आठ प्रकार हुए न! आयुष्य न हो तो आठ होते हैं। अनेक प्रकार के हैं न! एक ही प्रकार

का कहाँ है ? आहाहा ! ऐसे आहार ग्रहण किया तो एक ही प्रकार के कहीं परिणमन होता है, ऐसा नहीं है। रस, रक्त, चमड़ी इत्यादि रूप (परिणमता है)। आहाहा !

इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के उपयोग से छूट जाए तो भी उसे अकेले राग के कारण पुराने कर्म को राग का निमित्त मिला, इससे नये अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं। एक ही प्रकार का बँधता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? **क्योंकि मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये आहार को जठराग्नि रस,..** रस होवे न ? रक्त, माँस, चर्बी इत्यादि **इत्यादिरूप में परिणमित करती है, यह देखा जाता है।** लो, आहाहा !

भावार्थ : जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो, तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है,.. आहाहा ! पहले तो ऐसा कहा था कि दृष्टि से छूटता नहीं, इसलिए शुद्धनय से छूटता नहीं। अब यहाँ कहा कि शुद्धनय से छूटा, अर्थात् उपयोग में से छूट गया। दृष्टि रही, परन्तु उपयोग में जो ध्यान में उपयोग एकाकार था, वह उपयोग बाह्य में चला गया। उसे भी बन्धन होता है, अब ऐसा कहा। पहले निषेध किया था (कि) सम्यग्दृष्टि को बन्धन और आस्रव है ही नहीं। वह उसके स्वरूप की दृष्टि और अनुभव और उसके भान के कारण (कहा था)। आहाहा !

यहाँ कहा कि सम्यग्दृष्टि को भले दृष्टि सम्यक् रही, ज्ञान सम्यक् है परन्तु निर्विकल्प अन्तर अनुभव में से हट गया और रागादि में भले शुभरागादि में आया, भक्ति आदि में राग आता है न ! तब उस नये कर्म का पुराना कर्मबन्धन (निमित्त) होता है, ऐसा यह निमित्त होता है। आहाहा ! इतना सब याद रखना ! कितने बोल इसमें गये।

भावार्थ : जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो तब.. छूटने की व्याख्या (में) अभी उपयोग लिया है। पहला शुद्धनय से छूटे, कहा, तब मिथ्यात्व हुआ था। समझ में आया ? चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अन्दर है, ऐसा जो भान होता है, उस भान से छूटा नहीं, इसलिए उसे बन्धन है नहीं। अब यहाँ कहते हैं कि निर्विकल्प उपयोग से छूटा परन्तु सम्यग्दर्शन से नहीं छूटा। उपयोग जरा परज्ञेय में गया, परन्तु लब्धरूप अन्दर सम्यग्दर्शन और ज्ञान उस चैतन्य के ऊपर है। आहाहा !

तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है,.. देखा ? अपेक्षा से कथन है

न? **रागादिभावों के निमित्त से द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं..** इन रागादि के कारण से पुराने कर्म अवश्य नये कर्म का कारण होते हैं। समझ में आया इसमें? ज्ञानी को भी शुद्ध उपयोग में से हट गया, वीतराग उपयोग है, उसमें से हटकर उपयोग जरा राग में आया तो उस राग के कारण पुराने कर्म, नये बन्ध का कारण, राग के कारण होते हैं। आहाहा! नहीं तो पुराने कर्म तो राग न करे, तब तो पुराने कर्म चले जायें, निर्जरित हो जायें। इन पुराने कर्मों को रागादि उपयोग हुआ, उसके कारण निमित्त हुआ, कारण मिला, (इसलिए) नये बन्धन का कारण होते हैं। आहाहा! समझ में आया इसमें? चिमनभाई!

द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं और इसलिए कार्मणवर्गणा बन्धरूप परिणमित होती है। टीका में जो यह कहा है कि 'द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित कराते हैं',.. वह तो निमित्त से कहा। टीका में ऐसा कहा न, द्रव्यास्रव, यह राग हुआ, इसलिए नये कर्म बाँधे—ऐसा कहा न? **'द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित कराते हैं',..** यह निमित्त से बात है। यहाँ राग-द्वेष हुआ, उपयोग अपने में से हटा और परज्ञेय की ओर उपयोग हुआ, इसलिए पुराने कर्म हैं, वे नये कर्म को बाँधते हैं और परिणमाते हैं। परिणमाते हैं अर्थात् नये कर्म को निमित्त होते हैं, ऐसा। परिणमते हैं उनसे। **'पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित कराते हैं', सो निमित्त की अपेक्षा से कहा है।**

वहाँ यह समझना चाहिए कि 'द्रव्यप्रत्ययों के निमित्तभूत होने पर..' आहाहा! पुरान आस्रव जो कर्मबन्ध, रजकण हैं,... पूर्व के सत्ता में पड़े हैं वे। वह **'निमित्तभूत होने पर कार्मण-वर्गणा स्वयं बन्धरूप परिणमित होती है।'** ये निमित्त होने पर नये कर्म अपने आप परिणमते हैं। उन्हें ऐसा नहीं कि यह निमित्त था, इसलिए परिणमित होना पड़ा। उस समय परमाणु में कर्म होने की अवस्था से परिणमते हैं। पुराना कर्म उन्हें निमित्त है और पुराने कर्म को राग-द्वेष निमित्त हैं। आहाहा! आज तो बहुत बोल आड़े-टेढ़े आये। एक ओर कहे कि बन्ध नहीं तथा फिर दूसरी ओर कहे, बन्ध है। किस नय की अपेक्षा है? (वह समझना चाहिए)।

ऐसा ही मान ले कि समकित है, इसलिए बस, हमारे अब कुछ बन्ध है नहीं, तब तो फिर मुनिपना लेने की आवश्यकता नहीं रहीं। चारित्र। आहाहा! अकेले समकित से

हो जाए तो चारित्रदशा... आहाहा! वीतरागता... वन में बाघ और भेड़िया विचरते हैं, वहाँ विचरे ऐसी चारित्रदशा, सीधा समकित होने पर (पूर्ण हुआ जाता होता) तो ऐसी चारित्र (दशा की) आवश्यकता नहीं। चारित्र आवे, चारित्र बिना मुक्ति नहीं होती। यह क्षायिक समकित हो तो भी चारित्र के बिना मुक्ति नहीं है। तीर्थंकर जैसे हों, वे क्षायिक सम्यक्त्व लेकर आते हैं। आहाहा!

अष्टपाहुड़ में है कि तीर्थंकर जैसे भी वस्त्रसहित हों तो मुक्ति को प्राप्त नहीं होते। ऐसा पाठ है। तीर्थंकर जैसे भी मोक्ष उस भव में निश्चित है, तीन ज्ञान लेकर आये हैं, परन्तु वे वस्त्रसहित हैं तो उन्हें भी साधुपना नहीं होता। आहाहा! वस्त्र तो निमित्त है, परन्तु उसके प्रति का जो ममत्वभाव है, वह ममत्वभाव छूटे बिना मुनिपना नहीं आता। आहाहा! सम्यक्त्व हुआ, इससे वह छूट गया, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। मोक्ष का मार्ग तीन हैं। तीन की परिपूर्णता (होवे), तब सच्चा मोक्षमार्ग है। आहाहा!

क्षायिक समकिती श्रेणिक राजा! तीर्थंकर क्षायिक सम्यक्त्व लेकर आते हैं। आहाहा! वे भी चारित्र अंगीकार करते हैं। आहाहा! भावचारित्र, हों! द्रव्य, वह तो नग्नपना। द्रव्य से नग्नपना, भाव से चारित्र वीतराग.. वीतराग.. वीतराग.. उपयोग में जो राग था, (उस समय) भले सम्यग्दर्शन था... आहाहा! परन्तु उपयोग में जो राग था, उसे हटाकर उपयोग में वीतरागता प्रगट की, तब उसे चारित्र होता है और तब उसे साक्षात् मुक्ति होती है, अकेले समकित से भी नहीं होती। आहाहा! 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही।' 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही। वह-वह आचरे आत्मार्थीजन सही।' खींचतान न करे, देखो! इस जगह यह कहा है। आहाहा! और वह चारित्र भी वापस सम्यक्त्व बिना नहीं होता। कोई कहे कि चारित्र बिना मुक्ति नहीं है, इसलिए हम यह व्रत और तप लेकर बैठे हैं। सम्यग्दर्शन बिना वह चारित्र होता ही नहीं। आहाहा! वे तो सब बालव्रत और बालतप है। कष्ट सहन करे, उपसर्ग सहन करे, उससे क्या हुआ? उससे अनन्त गुणी शुक्ललेश्या पूर्व में की है। आहाहा! नौवें ग्रैवेयक गया, परन्तु आत्मस्पर्श बिना, आत्मज्ञान बिना वह सब व्यर्थ-इकाई रहित शून्य है। आहाहा! यह आता है, हों! कल आया था। आत्मधर्म, भाई का है न? हुकमचन्दजी का कल आया है। उसमें ये सब डाला है। सामने एक श्लोक डाला है, बहुत अच्छा डाला है, सामने है। ऐसा

कि सम्यग्दर्शन बिना, आत्मा के अनुभव बिना उसके व्रत, तप, पूजा और भक्ति सब व्यर्थ है। आहाहा! और सम्यग्दर्शन आने के पश्चात् भी चारित्र तो होवे, चाहिए, वह चारित्र यह व्रत, तपादि नहीं। अन्तर की रमणता का चारित्र हो, तब उसे मुक्ति होती है। आहाहा!

राजकुमार ऐसे चल निकले, देखो न! आहाहा! सम्यक्त्वी थे। मखमल की गद्दी में सोते थे। आहाहा! स्फटिक का मकान था, उसमें सोते थे, वे चल निकले। इस अन्तर की रमणता के लिये। आहाहा! मात्र एक मोरपिच्छी और कमण्डल, बाकी कुछ नहीं होता। आहाहा! जंगल में चले गये। ऐसी चारित्र की अन्तर रमण दशा (प्रगट करने को)। अकेले जंगल में तो अनन्त बार गया। आहाहा! जंगल में गया, इसलिए चारित्र हो गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! इस भगवान आत्मा में वीतरागता हुई और वह वीतरागता (पूर्ण) होने के लिए जंगल में जिसका वास होता है। आहाहा! नीचे धरती, ऊपर आकाश, कोई आश्रय नहीं। परमात्मा अन्दर आश्रय है। आहाहा! जिसे सोने-बैठने का स्थान नहीं, पानी की प्याऊ नहीं (कि) तृषा लगे, तब पानी पीना। आहाहा! ऐसी अन्तर की दशा, चारित्रदशा हुए बिना समकिती को भी मुक्ति नहीं होती। आहाहा! समकिती की महिमा बहुत गाते हैं। महिमा तो बहुत गाये न? (कि) उसे बन्धन नहीं है, उसे आस्रव नहीं है, ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। यह सब महिमा गाये, परन्तु महिमा गाये किन्तु चारित्र के बिना वह आगे नहीं बढ़ सकता। आहाहा!

अन्तरस्वरूप की रमणता, आनन्द में चरना अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का दल जिसने देखा... आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द की खान देखी... आहाहा! जिस खान में से सोना निकले और देखा, वह खान खोदा करे। आहाहा! ऐसे जिस खान में अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि भरे हुए हैं, ऐसे भगवान को जिसने जाना और प्रतीति की है, उस प्रतीति में यह आया है कि ऐसे आनन्द के धाम में मैं रमूँगा-स्थिर होऊँगा, उतनी अशुद्धता अथवा कर्मों का नाश होगा। बाकी अपवास-बपवास करूँगा, इसलिए कर्म का नाश होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! एक ओर हाँ तथा एक ओर ना। क्या अपेक्षा है? आहाहा! खाते-पीते संसार में रहते मुक्ति हो जाती है?

भरत चक्रवर्ती जैसे चल निकले। आहाहा! तीन ज्ञान के धनी थे। खबर थी, भगवान ने कहा था कि इस भव में तेरी मुक्ति है। आहाहा! वे भी छियानवें करोड़ सैनिक,

छियानवें हजार रानियाँ, इन इन्द्रों ने बनाये हुए पाँच बड़े महल छोड़कर चल निकले। अन्तर में चल निकले, हों! अन्तर में आनन्द की रमणता, स्वरूप की रमणता (होवे), उसका नाम चारित्र है। चारित्र, यह कोई व्रत और तप वह कहीं चारित्र नहीं है। आहाहा!

आहाहा! यहाँ कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान होने पर भी, सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा का अनुभव, आनन्द का अनुभव, अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ प्रभु का अनुभव होना, इसका नाम समकित है। उसके आनन्द का स्वाद आना... आहाहा! इतने से भी उसकी मुक्ति नहीं होती, कहते हैं। उसका भी अभी राग में थोड़ा अस्थिरता का उपयोग वर्तता है... आहाहा! उसे छोड़कर स्वरूप में जमेगा, अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में जम जायेगा, अन्दर स्वरूप में आनन्द में (जम जायेगा), तब चारित्र होगा। इसका नाम चारित्र है, यह व्रत, तप और भक्ति-बक्ति वह कहीं चारित्र नहीं है, वह तो सब शुभराग है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

कलश-१२२

अब, इस सर्व कथन का तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुभ्)

इद-मेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्ध-नयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि।।१२२।।

श्लोकार्थ : [अत्र] यहाँ [इदम् एव तात्पर्यं] यही तात्पर्य है कि [शुद्धनयः न हि हेयः] शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है; [हि] क्योंकि [तत् अत्यागत् बन्धः नास्ति] उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और [तत् त्यागात् बन्धः एव] उसके त्याग से बन्ध ही होता है।।१२२।।

श्लोक - १२२ पर प्रवचन

इद-मेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्ध-नयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि।।१२२।।

यह यहाँ कहते हैं, **अब, इस सर्व कथन का तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं:–** है न ? **यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है;..** आहाहा ! अर्थात् ? आत्मा दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से भी भिन्न चीज़ है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह तो राग है। आहाहा ! उससे भगवान आत्मा अन्दर वीतरागमूर्ति प्रभु, यह शुद्धनय... है ? वह **शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है;..** आहाहा ! उस पूर्णानन्द के नाथ को प्रतीति में–श्रद्धा, ज्ञान में लिया है, वह शुद्धनय छोड़नेयोग्य नहीं है। आहाहा ! देखो ! इसमें यह तात्पर्य डाला।

भगवान आत्मा अनन्त–अनन्त पवित्र गुण से भरपूर प्रभु (है)। सर्वज्ञ जिनेश्वर ने देखा, ऐसा जो भगवान आत्मा अनन्त आनन्द का दल है, अनन्त शान्ति का सागर है, अनन्त स्वच्छता का भरपूर सागर है, अनन्त–अनन्त ज्ञानादि अतीन्द्रिय गुण का वह सागर है, उसका अन्तर में अनुभव होना, उसे अनुसरणकर होना, उसका नाम तो प्रथम सम्यग्दर्शन है। आहाहा ! वह सम्यग्दर्शन और उसके सहित स्थिरता (होना), वह **शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है;..** आहाहा ! व्यवहारनय तो व्रत, तप और भक्ति, वह तो त्यागनेयोग्य है, वह तो राग है। आहाहा ! कठिन काम है, बापू ! वीतराग का धर्म–जिनेश्वर का धर्म बहुत सूक्ष्म है। यह त्यागनेयोग्य नहीं है। वह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे शुभ हैं, वे तो त्यागनेयोग्य हैं, वह तो राग है। आहाहा ! गिरनार और शत्रुंजय की यात्रा–बात्रा, वह सब राग है, वह धर्म नहीं है। आहाहा ! वह तो अशुभराग से बचने के लिए आवे, परन्तु है शुभराग; धर्म नहीं।

धर्म तो आत्मा रागरहित जो चीज़ अन्दर है, सच्चिदानन्द प्रभु। सत् अर्थात् कायम शाश्वत् रहा हुआ, आनन्द और ज्ञान से भरपूर प्रभु, उसके सन्मुख में, उसके पक्ष में होकर, उसका अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है, इसका नाम धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म का पहला सोपान यह है, बाकी सब व्यर्थ है। आहाहा ! समझ में आया ? जगत को कठिन पड़ता है, क्या करें ? एक तो निवृत्ति नहीं मिलती, व्यापारी को व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, निवृत्त होवे तो ऐसा स्थूल, विपरीत, स्थूल सुनने को मिलता है कि व्रत करो, तप करो, और यह करो, कल्याण होगा। अनन्त काल से मर गया (यह) कर–करके। आहाहा ! यह व्रत, तप, दया, दान, पूजा और भक्ति तो राग है, विकल्प है, विकार है।

यहाँ कहते हैं कि अन्दर शुद्धचैतन्य जो है, रागरहित चीज़ है, उसे पकड़कर जो अनुभव किया है, वह छोड़ने योग्य नहीं है। **क्योंकि उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता..** आहाहा! भगवान पूर्ण शुद्ध चैतन्य को ग्रहण किया, श्रद्धा की, जाना और अन्दर स्थिर हुआ, इसके अत्याग से बन्ध नहीं होता। इसका त्याग न करे तो बन्ध नहीं होता। यह क्या कहा?

भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, जिनेश्वर ने निर्मलानन्द देखा है। अनन्त आनन्द का कन्द! उसे किसी प्रकार से त्यागनेयोग्य नहीं है। आहाहा! है? **उसके अत्याग से..** त्यागनेयोग्य नहीं है, ऐसा कहकर, वापस उसके अत्याग से अर्थात् उसे छोड़े नहीं तो। शुद्धस्वरूप आनन्द का नाथ, उसे पकड़कर अनुभव करे तो **बन्ध नहीं होता..** आहाहा! तो उसे **(कर्म का) बन्ध नहीं होता..** आहाहा! इसलिए आत्मा के ज्ञान और भान बिना जितने व्रत और तप, भक्ति और यात्रा करे, वे सब संसार, बन्ध का कारण है। उसमें धर्म का अंश नहीं और धर्म का कारण नहीं। कठोर बात है, बापू! आहाहा! पूरा जगत उलझ गया है। कैलाशचन्द्रजी! तुम्हारे लाडनूँ में भी कितनी ही गड़बड़ उठी है। वह सुजानगढ़ क्या है? वहाँ तो बहुत विपरीत है। सुजान-कैसा (नाम कहा)? सुजानगढ़! वहाँ तेरापंथी है, तुलसी, तुम्हारे गाँव का है न? लाडनूँ का! आहाहा!

यह वीतराग का मार्ग अलग है, बापू! सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव कहते हैं कि भाई! तेरे पर अनन्त-अनन्त काल व्यतीत हुए नाथ! तूने अनन्त बार बाह्य त्याग किया, व्रत लिये, नियम लिये, बाह्य साधु हुआ, परन्तु अन्तर में आत्मज्ञान जो चाहिए, आत्मा का स्वाद समकित में लेना चाहिए, वह नहीं लिया और उसके त्याग से ही बन्धन है। उसके अत्याग से बन्धन नहीं। जो स्वरूप है, उसके अत्याग से बन्धन नहीं है; उसके त्याग से बन्धन है। आहाहा! हीरालालजी! आहाहा!

उसके त्याग से बन्ध ही होता है। भाषा देखो! प्रभु! चैतन्यमूर्ति परमात्मा, वीतरागस्वरूप से अन्दर विराजमान है। उसे छोड़कर जो रागादि करे, उसे निश्चय से बन्ध ही होता है। उसे अबन्ध, कोई संवर-निर्जरा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? अन्तर में स्वरूप की दृष्टि का त्याग नहीं, उसे बन्ध नहीं है और जिसे स्वरूप की दृष्टि का त्याग है, वह फिर भले व्रत और तप करके मर जाए, सूख जाए तो (भी) उसे बन्धन है।

तात्पर्य (यह है) कि (शुद्धनय) त्यागनेयोग्य नहीं है और अत्याग से बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध होता है, दो अर्थ लिये हैं। त्रिकाली शुद्धस्वरूप का श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में आदर है, उसका त्याग नहीं है, वहाँ बन्ध नहीं है और उसका जहाँ त्याग हुआ, राग में आया, उसे बन्धन है। आहाहा! यह पूरा एक सिद्धान्त (कहा)। शुद्धस्वरूप की रमणता, श्रद्धा-ज्ञान और रमणता (होवे), उसके त्याग से बन्धन है, उसके अत्याग से मुक्ति है। आहाहा! उसके त्याग से शुभभाव में आवे तो बन्धन है। आहाहा!

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५६, श्लोक १२३-१२४ दिनाङ्क १८-०६-१९७९,
सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण ९

(समयसार) १२३ कलश। १२२ में आ गया कि शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है। अर्थात् क्या? व्यवहारनय त्यागनेयोग्य है। दो बात हुई न उसमें? आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप का परिणमन और दृष्टि (हुई), वह छोड़नेयोग्य नहीं है और उसके अत्याग से कर्मबन्ध नहीं होता, उसके त्याग से बन्ध होता है और उसके अत्याग से बन्ध नहीं होता। अर्थात्? शुद्धचैतन्यस्वभाव का जिसे त्याग नहीं है, उसे बन्ध नहीं होता और जिसे व्यवहार का त्याग है, उसे बन्ध नहीं होता। आहाहा! और जिसे व्यवहार का अत्याग है, उसे बन्ध होता है। तात्पर्य कहा है न? यहाँ इस श्लोक (में) तात्पर्य है, रहस्य है। तात्पर्य अर्थात् रहस्य। पूरे सिद्धान्त का यह रहस्य है।

मुमुक्षु : सिद्धान्त का सार क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : तात्पर्य यह सार है, रहस्य है। आहाहा! चाहे जितने फिर बारह अंग पढ़ो, वाँचो। बात यह कि यह चैतन्यवस्तु पूर्ण शुद्ध आनन्द की श्रद्धा और उसका परिणमन (होवे), वह छोड़नेयोग्य नहीं है। उसे छोड़कर व्यवहार आदरणीय नहीं है। उसे छोड़े नहीं तो बन्ध होगा नहीं। उसे छोड़े नहीं तो बन्ध होगा नहीं और व्यवहार को (ग्रहण करे) तो बन्ध होगा। व्यवहार को छोड़े तो अबन्ध रहे और व्यवहार का आदर करे तो बन्ध

होगा। आहाहा! उसमें आ गया है न यह? **उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता..** जिसे शुद्धस्वरूप की दृष्टि हुई और शुद्ध का परिणमन हुआ, वह जिसने छोड़ा नहीं अर्थात् उसके आदर में है, उसे बन्ध नहीं होता। आहाहा! और जिसने शुद्धनय को छोड़ा है और अशुद्ध ऐसा व्यवहारनय को जिसने ग्रहण किया है, उसे बन्धन (होगा)। यहाँ तो स्पष्ट बात है, तात्पर्य है, हों! तात्पर्य (लिखा) है न? **इद-मेवात्र तात्पर्यं** यह रहस्य है। आहाहा! निश्चय और व्यवहार का यह रहस्य है।

जिसने आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, परम आनन्द और अमृत के सागर का जिसने स्पर्श करके आदर किया और अनुभव किया और जिसे शुद्धपरिणति प्रगट हुई, वह छोड़ने जैसा नहीं है, क्योंकि उससे मुक्ति है और व्यवहार छोड़नेयोग्य है क्योंकि उसे छोड़ने से मुक्ति है। व्यवहार को न छोड़ने से बन्धन है। आहाहा! यह तात्पर्य (भूत) पूरी बात है। यह श्लोक ही ऐसा रखा है। **इद-मेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्ध-नयो न हि**। आहाहा! लाख बात हुई हो और अनेक प्रकार के नय के और प्रमाण के प्रकार आवें, परन्तु यह चीज़ जो है, शुद्धस्वरूप (जो) राग से भिन्न, ऐसा जो शुद्धस्वरूप का परिणमन, वही मोक्ष का मार्ग है, उससे बन्ध नहीं परन्तु उससे मुक्ति है और शुद्धनय को छोड़कर राग का, व्यवहारनय का आदर करेगा, उसे मुक्ति नहीं है, उसे बन्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार को जाननेयोग्य रखें तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाननेयोग्य का अर्थ ऐसा कि 'है',—ऐसा जाना। परन्तु है बन्ध का कारण। जाननेयोग्य है या नहीं? परन्तु अकेला जाननेयोग्य है? बन्ध का कारण है। आहाहा!

कलश-१२३

'शुद्धनय त्याग करनेयोग्य नहीं है' इस अर्थ को दृढ़ करनेवाला काव्य पुनः कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

धीरोदार-महिम्न्यनादि-निधने बोधे निबध्नन्धृतिं,
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः,
पूर्णं ज्ञान-घनौघ-मेक-मचलं पश्यन्ति शान्तं महः।।१२३।।

श्लोकार्थ : [धीर उदार महिम्नि अनादिनिधने बोधे धृतिं निबध्नन् शुद्धनयः] धीर (चलाचलता रहित) और उदार (सर्व पदार्थों में विस्तार युक्त) जिसकी महिमा है, ऐसे अनादिनिधन ज्ञान में स्थिरता को बाँधता हुआ (अर्थात् ज्ञान में परिणति को स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय-[कर्मणाम् सर्वकषः] जो कि कर्मों का समूल नाश करनेवाला है-[कृतिभिः] पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के द्वारा [जातु] कभी भी [न त्याज्यः] छोड़नेयोग्य नहीं है। [तत्रस्थाः] शुद्धनय में स्थित वे पुरुष, [बहिः निर्यत् स्वमरीचि-चक्रम् अचिरात् संहृत्य] बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञान-किरणों के समूह को (अर्थात् कर्म के निमित्त से परोन्मुख जानेवाली ज्ञान की विशेष व्यक्तियों को) अल्प काल में ही समेटकर, [पूर्ण ज्ञान-घन-ओघम् एकम् अचलं शान्तं महः] पूर्ण, ज्ञानघन के पुञ्जरूप, एक, अचल, शान्त तेज को-तेज पुञ्ज को [पश्यन्ति] देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।

भावार्थ : शुद्धनय, ज्ञान के समस्त विशेषों को गौण करके तथा परनिमित्त से होनेवाले समस्त भावों को गौण करके, आत्मा को शुद्ध, नित्य, अभेदरूप, एक चैतन्यमात्र ग्रहण करता है और इसलिए परिणति शुद्धनय के विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मा में एकाग्र-स्थिर-होती जाती है। इस प्रकार शुद्धनय का आश्रय लेनेवाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञान की विशेष व्यक्तताओं को अल्प काल में ही समेटकर, शुद्धनय में (आत्मा की शुद्धता के अनुभव में) निर्विकल्पतया स्थिर होने पर अपने आत्मा को सर्व कर्मों से भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करते हैं। शुद्धनय का

ऐसा माहात्म्य है। इसलिए श्री गुरुओं का यह उपदेश है कि जब तक शुद्धनय के अवलम्बन से केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धनय का त्याग नहीं करना चाहिए।।१२३।।

श्लोक - १२३ पर प्रवचन

१२३ (कलश)

धीरोदार-महिम्न्यनादि-निधने बोधे निबध्नन्धृतिं,
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः,
पूर्णं ज्ञान-घनौघ-मेक-मचलं पश्यन्ति शान्तं महः।।१२३।।

आहाहा! [**धीर उदार महिम्नि अनादिनिधने बोधे धृतिं निबध्नन् शुद्धनयः**] कैसा है स्वरूप? **धीर (चलाचलता रहित)..** है। भगवान अन्दर में शुद्ध जो ध्रुव; शुद्ध, वह चलाचलतारहित है। **उदार..** है। **(सर्व पदार्थों में विस्तार युक्त)..** अर्थात् सब पदार्थों को जाने, ऐसा वह उदार है। स्वयं एक पदार्थ में ऐसा ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान सब पदार्थों को जाने, ऐसा उदार है। आहाहा!

जिसकी महिमा है.. आहाहा! उदार है। जिसकी महिमा उदार है। जिसके ज्ञान की पर्याय शुद्ध चैतन्य वस्तु के अवलम्बन से प्रगट हुई, वह लोकालोक को जानने की ताकत रखती है, ऐसी उसकी महिमा है। **जिसकी महिमा है, ऐसे अनादिनिधन ज्ञान में..** अनादिनिधन—अनादि अर्थात् आदि नहीं; अनिधन अर्थात् अन्त नहीं। जिसकी शुरुआत नहीं और जिसका अन्त नहीं, ऐसा अनादि-अनन्त आत्मा है। आहाहा! ऐसे अनादि-अनन्त ज्ञान में अर्थात् आत्मा में **स्थिरता को बाँधता हुआ..** आहाहा! जैसे खूँटे से बाँधते हैं न? इसी प्रकार इस ध्रुव में आत्मा की पर्याय को बाँधता हुआ। आहाहा! अनादि-अनन्त जो आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु, उसमें स्थिरता करता हुआ। आहाहा! **(अर्थात् ज्ञान में परिणति को स्थिर रखता हुआ)..** स्थिर करता हुआ। शुद्धस्वरूप में उसकी स्थिरता को स्थिर रखता हुआ।

शुद्धनय जो कि कर्मों का समूल नाश करनेवाला है.. आहाहा! आस्रव अधिकार है न! **कर्मों का समूल नाश करनेवाला है..** आहाहा! यह जिसने चैतन्य शुद्ध की दृष्टि की और अनुभव किया, वह शुद्धनय कर्मों को मूल में से उखाड़ डालता है। मूल वस्तु को जहाँ पकड़ा, चैतन्यघन अनादि-अनन्त मूल (वस्तु को) जहाँ पकड़ा, वहाँ कर्म का मूल में से नाश हो जाता है। इस मूल को पकड़ा तो उसका मूल नाश होता है। आहाहा!

कर्मों का समूल नाश करनेवाला है.. [**कृतिभिः**] **पवित्र धर्मात्मा..** आहाहा! धर्मी को पवित्र धर्मी ऐसी उपमा दी है। [**कृतिभिः**] [**कृतिभिः**] है न? [**कृतिभिः**] [**कृतिभिः**] अर्थात् समकिती [**कृतिभिः**] अर्थात् समकिती। जिसने कार्य किया है। आहाहा! जो यह चैतन्य शुद्ध दल, उसे दृष्टि में लिया है, उसने कार्य किया है। वह कार्य करनेवाला (है, इसलिए) उसे यहाँ समकिती कहते हैं।

पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के द्वारा.. अर्थात् आत्मा के। सम्यग्दृष्टि आत्मा के। **कभी भी..** [**न त्याज्यः**] आहाहा! छोड़नेयोग्य नहीं है। किसी क्षण भी शुद्धनय-स्व का आश्रय है, वह शुद्धपरिणति छोड़नेयोग्य नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम। एक आदरणीय है, तब एक हेय है। है न? '**हि**' आता है न? आहाहा! [**तत्रस्थाः**] **शुद्धनय में स्थित वे पुरुष,..** ज्ञानस्वरूपी भगवान, उसमें जो आत्माएँ स्थित हैं। आहाहा! [**बहिः निर्यत् स्वमरीचि-चक्रम् अचिरात् संहृत्य**] आहाहा! उन जीवों को **बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञान-किरणों..** ज्ञान की किरणें बाहर में जाती थीं, राग में या उसमें जुड़ती थी, उन्हें समेट ले। आहाहा!

ज्ञान की किरणें (अर्थात्) पर्याय जो बाहर दया, दान, व्रतादि में जाती हो.. आहाहा! उसे भी समेट ले। आहाहा! समेट ले। है? **ज्ञान-किरणों के समूह को.. बाहर निकलती हुई अपनी...** (ज्ञान किरणें)। अपनी जो ज्ञान की पर्याय—उपयोग बाहर जाता हो उसे। **(अर्थात् कर्म के निमित्त से परोन्मुख जानेवाली ज्ञान की विशेष व्यक्तियों को)..** अर्थात् मूल तो विकार। ज्ञान अन्दर में से (छूटकर) बाहर जाए, वहाँ विकार (उत्पन्न होता है)। (उन व्यक्तियों को) **अल्प काल में ही समेटकर,..** आहाहा! राग में जाता हुआ ज्ञान, उसे अल्प काल में समेटकर। बाद में करूँगा, बाद में करूँगा, बाद में करूँगा - ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जो ज्ञानस्वरूप भगवान! शुभाशुभराग में उस ज्ञान की किरणें

जाती थीं, उन्हें **अल्प काल में ही समेटकर,..** आहाहा! क्योंकि जो पर में जाता था, (वह) तो बन्ध का कारण है। इसलिए उसे अल्प काल में समेटकर आत्मा में समाहित करे। आहाहा!

अल्प काल में.. (समेटकर) **पूर्ण, ज्ञानघन..** [**पूर्ण ज्ञान-घन-ओघम् एकम् अचलं शान्तं महः**] **पूर्ण, ज्ञानघन के पुञ्जरूप,..** प्रभु अकेला पुंज-ज्ञान का पिण्ड! समझ का पिण्ड! ज्ञान का रसकन्द! ध्रुव! आहाहा! ऐसा जो ज्ञान का पुंज। ज्ञानघन के पुंज में। ज्ञानघनरूपी पुंज में, **पुञ्जरूप, एक,..** आहाहा! वह एक स्वरूप है, उसमें स्थिर हो। अनेकपने की ओर उन्मुखता हो, उसे छोड़ दे। रागादि भाव (को छोड़ दे)।

एक तो यह कहा, **पूर्ण, ज्ञानघन के पुञ्जरूप,..** दो (दूसरी बात) **एक,..** वस्तु एकरूप है। चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. अनादि-निधन एकरूप वस्तु है। उसमें समेट ले। उल्टी प्रवृत्ति जाती हो तो (उसमें से) हटकर ऐसे ला दे। **अचल,..** है। ऐसा भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप अचल है। आहाहा! **शान्त तेज को..** शान्त तेज! शान्ति / उपशमरस से भरपूर! आहाहा! शान्त पुंज / शान्त तेज का पुंज! (उस) **तेज:पुञ्ज को देखते हैं..** परसन्मुख की वृत्ति खींचकर आत्मा पर आता है, तब अपने ऐसे पूर्ण को, पूर्ण ज्ञानघन पुंजरूप को, एक को, अचल को, शान्त तेज को, शान्त तेज के पुंज को **अनुभव करते हैं। देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।** इसका नाम आत्मा का ज्ञान और आत्मा का अनुभव, इसका नाम मोक्ष का मार्ग। आहाहा!

[**न त्याज्य:**] इसमें कहीं आया था। पहले में आया था न? इसमें भी आया [**न त्याज्य:**] (अर्थात् कि शुद्धनय का) त्याग नहीं करना, ऐसा। राग का त्याग करना। परवस्तु के त्याग-ग्रहण की यहाँ बात नहीं है। परवस्तु का त्याग-ग्रहण आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! जो राग है, वह त्याज्य है और जो स्वभाव है, वह अत्याज्य है। स्वभाव का आदर, सत्कार का परिणमन (और) राग का अभाव। आहाहा! ऐसा समझना पहले लोगों को कठिन पड़ता है, (इसलिए) लोग क्रियाकाण्ड में खिंच गये, उसमें धर्म मान लिया गया।

भावार्थ : शुद्धनय, ज्ञान के समस्त विशेषों को गौण करके.. क्या कहते हैं? कि ज्ञान है, वह मति, श्रुत और अवधि के जो भेद हैं, उनके प्रति का लक्ष्य छोड़ दे, सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा के स्वभाव का-धर्म का अनुभव करना हो, तब ज्ञान के भेद

जो हैं, उन्हें छोड़ दे, गौण करे। आहाहा! लो, ठीक! गौण करे। **परनिमित्त से होनेवाले समस्त भावों को गौण करके,..** दो (बातें) हुई। एक तो ज्ञान के भेद पड़ते हैं, उन्हें गौण कर डाले, अभेद पर दृष्टि करे और परनिमित्त से होनेवाले रागादि को गौण करके स्वभावसन्मुख दृष्टि करे। आहाहा! ऐसा मार्ग है। **परनिमित्त से होनेवाले समस्त भावों..** पहले में ऐसा था, ज्ञान के समस्त विशेष, ज्ञान के समस्त विशेषों को गौण करके। यहाँ (ऐसा कहा कि) परनिमित्त से होनेवाले विकल्प-इन समस्त विकल्पों को छोड़कर।

आत्मा को शुद्ध,.. ज्ञान के भेदों का लक्ष्य छोड़कर (अर्थात्) गौण करके। भले अभाव नहीं। और परनिमित्त से होनेवाले रागादि विकल्प को गौण करके। अब करना क्या? कि **शुद्ध, नित्य अभेदरूप,..** भगवान पवित्र है। आहाहा! अकेला पवित्रता की खान है। आहाहा! [**कृतिभिः**] नहीं (आया था)? सम्यग्दृष्टि पवित्र धर्मी, ऐसा कहा है न! [**कृतिभिः**] उसमें आया है। अर्थात् पवित्र धर्मी। आहाहा! अपने जो पवित्र गुण हैं, उनका जो अर्थी हुआ। अभेद से, अभेद, हों! गुणभेद भी नहीं। उसे **अभेदरूप,..** (कहते हैं)।

एक चैतन्यमात्र ग्रहण करता है.. आहाहा! सम्यग्दृष्टि ऐसे आत्मा को ग्रहण करता है। भेद के प्रकार को गौण करके, परनिमित्त से होनेवाले विकल्पों को भी छोड़कर.. आहाहा! गौण क्यों कहा? कि भले टल न जाए, परन्तु उनका आश्रय छोड़कर, उनका लक्ष्य छोड़ दे, ऐसा। रहे, रागादि रहे। पर्याय में भेदादि रहे परन्तु गौण करके, उनके प्रति लक्ष्य छोड़कर। रागादि रहे, पूर्ण वीतराग न हो, तब तक (रहे) परन्तु उनका लक्ष्य छोड़कर, (ऐसा कहना है)। आहाहा! यह धर्म करनेवाले को यह करना पड़ेगा, ऐसा कहते हैं, तब धर्म होगा। आहाहा!

ग्रहण करता है और इसलिए परिणति शुद्धनय के विषयस्वरूप.. परिणति अर्थात् वर्तमान दशा। **शुद्धनय के विषयस्वरूप चैतन्यमात्र..** शुद्धनय का विषय तो चैतन्यमात्र एक ध्रुव अखण्ड अभेद, एक है। आहाहा! ऐसा जो विषय **चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मा में एकाग्र-स्थिर-होती जाती है।** परिणति (स्थिर होती जाती है)। इस प्रकार आत्मा शुद्ध में (परिणति की) एकाग्रता होती जाती है। लो, यह एकाग्रता का आया! देवीलालजी! विकल्प से एकाग्रता का अभ्यास करना, यह नहीं। आहाहा! यह वस्तु है

भगवान आनन्दकन्द, शुद्ध, अभेद, एकरूप, उसमें एकाग्र होता जाता है। उसमें परिणति स्थिर होती जाती है।

इस प्रकार शुद्धनय का आश्रय लेनेवाले जीव.. इस प्रकार भगवान पूर्ण अभेद चैतन्य का आश्रय करनेवाले जीव, **बाहर निकलती हुई ज्ञान की विशेष व्यक्तताओं को अल्प काल में ही समेटकर,..** बाहर निकलती ज्ञान की (व्यक्तियाँ अर्थात् भेद); और **सर्व कर्मों से भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार,..** आहाहा! पुरुष के आकार से आकार है। स्त्री के शरीर में रहा हुआ आत्मा भी, है तो वह स्वयं अपने पूर्ण स्वरूप रूप ही है। उसका वह भी पुरुषाकार कहा जाता है, उसे पुरुषाकार कहा जाता है। आहाहा! **वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप..** आहाहा! वीतराग ज्ञानस्वरूप **अपने आत्मा को देखते हैं..** आहाहा!

अर्थकार ने कितनी स्पष्टता की है! वे कहते हैं, नहीं। आचार्य का कथन लाओ परन्तु आचार्य के कथन में गम्भीरता बहुत है और पण्डित हुए ऐसे कि उसका स्पष्टीकरण बहुत अच्छा किया। बनारसीदास, टोडरमल... आहाहा! चर्चा में ऐसा हुआ न वहाँ? कौन सा गाँव कहलाता है? खानिया... खानिया..! खानिया में चर्चा हुई तो वे लोग कहें, पण्डितों के शब्द नहीं, आचार्य के (कथन) चर्चा में लाओ। फूलचन्दजी ने कहा, आचार्यों, मुनि और पण्डित सबके देखेंगे। संस्कृत, प्राकृत, देशभाषा पण्डितों ने की, वह सब चाहिए। बनारसीदास ने भी तीन भाषा आती है। आहाहा! क्योंकि पण्डितों ने स्पष्ट कर दिया है, इसलिए उन्हें वह खटकता है। शास्त्रों में गम्भीर बात गम्भीर है। गम्भीर को स्पष्ट (रूप से) साधारण लोगों को समझ में आये, इस प्रकार से अर्थकार ने (अर्थ) किये हैं। टोडरमल, बनारसीदास, भागचन्दजी, जयचन्दजी, हेमराजजी भी... आहाहा!

ऐसे **जीव बाहर निकलती हुई ज्ञान की विशेष..** व्यक्तियाँ अर्थात् भेद, उन्हें **समेटकर,..** एकरूप ज्ञानरूप हो जाता है। आहाहा! भेद को भी छोड़कर। राग को तो छोड़, परन्तु भेद को छोड़ क्योंकि भेद पर लक्ष्य जाएगा तो राग होगा। आहाहा! निमित्त पर लक्ष्य जाएगा तो राग होगा और कर्म के निमित्त से होने से राग होगा परन्तु भेद के लक्ष्य पर जाएगा (तो भी) राग होगा। आहाहा! इसलिए निमित्त को छोड़कर, भेद को छोड़कर, कर्म के निमित्त से होनेवाले विकार को भी छोड़कर... आहाहा! निर्विकारी भगवान अन्दर

एकरूप विराजता है, उसका अनुभव करना। आहाहा! यहाँ से धर्म की शुरुआत, यहाँ से है। बाकी सब बातें हैं। मूल बात ऊपर से गयी, पड़ी रही।

आहाहा! वस्तु है पूरी, पूर्ण स्वरूप है, अखण्ड है, अभेद है। उसे भेद का लक्ष्य छोड़कर, राग का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! अखण्ड ज्ञायक चैतन्यस्वरूप भूतार्थ जो है, उस पर दृष्टि लगा, उसका अनुभव कर। ऐसा है।

शुद्धनय में (आत्मा की शुद्धता के अनुभव में) निर्विकल्पतया स्थिर होने पर.. देखा! आहाहा! यहाँ तो बात ही (यह है)। विकल्प से निर्णय करे, वह नहीं। अन्दर निर्विकल्परूप से स्थिर होने पर, भेद पर लक्ष्य नहीं तो विकल्प (का) तो प्रश्न कहाँ है? आहाहा! ज्ञान के भेद, दर्शन के भेद, ऐसे भेद पर्याय में हैं, उनका भी लक्ष्य छोड़कर। राग के विकल्प की तो क्या बात करना? आहाहा! ऐसा निर्विकल्प आत्मा... आहाहा! **निर्विकल्पतया स्थिर होने पर..** आहाहा! स्वरूप में भेद और राग का लक्ष्य छोड़कर स्थिर होने पर। **सर्व कर्मों से भिन्न, केवल ज्ञानस्वरूप,..** अकेला ज्ञानस्वरूप। **अमूर्तिक पुरुषाकार,..** आहाहा! **वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप..** वह तो वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप प्रभु है। आहाहा! कठिन लगे। वहाँ जाना।

एक ओर तो बाहर के धन्धा-फन्दा छोड़कर, फिर कर्म के निमित्त से होनेवाले राग को छोड़कर, पश्चात् ज्ञानादि के मति-श्रुत (आदि) भेद पड़ते हैं, उन्हें छोड़कर.. आहाहा! निर्विकल्प वस्तु में स्थिर हो। तब, इसे मोक्ष का मार्ग (प्रगट) होगा। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का अंश साथ में आता है। आहाहा! बहुत सरस लिखा है। आस्रव का अधिकार (बहुत सरस है)। आहाहा! यह तो पण्डितजी ने बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और.. यह धर्मध्यान (हुआ)। **और शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करके..** आगे जाकर अन्दर शुक्लध्यान में (आवे)। यह पहला धर्मध्यान (हुआ)। निश्चय धर्मध्यान, हों! पश्चात् निश्चय शुक्लध्यान। वहाँ शुक्लध्यान का तो एक ही प्रकार होता है। धर्मध्यान के दो प्रकार होते हैं - व्यवहार और निश्चय। इस निश्चय धर्मध्यान में आकर, आगे बढ़कर **और शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्त**

में केवलज्ञान प्रगट करते हैं.. आहाहा! उसकी ताकत अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगटाने की है! आहाहा! उसमें पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द और पूर्ण वीर्य भरा है। आहाहा! उसका जिसने आश्रय लिया और भेदादि का आश्रय छोड़ा तो पहला तो शुद्ध निर्विकल्पस्वरूप में स्थिर होते हैं और आगे बढ़कर शुक्लध्यान में (आते हैं) शुक्ल अर्थात् उज्ज्वल ध्यान। उज्ज्वल ध्यान में जाने पर केवलज्ञान होता है। लो, यहाँ तो पहले से ठेठ तक बात की है। ऐसा है। इसमें व्यवहार करना और व्यवहार से होता है, यह कुछ नहीं आया। गुलाबचन्दजी! आहाहा!

यह पण्डित लिखते हैं, हों! यह। यह जयचन्द पण्डित है न! प्रवचनसार में हेमराज (पण्डित हैं)। इस समयसार (का भावार्थ) पण्डित जयचन्दजी (लिखते हैं)।

अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करते हैं। इस शुद्धनय का ऐसा माहात्म्य है। अर्थात् कि आत्मा पूर्ण शुद्ध है, उसके परिणमन का यह माहात्म्य है। व्यवहार का माहात्म्य नहीं कि व्यवहार इसे आगे ले जाएगा। आहाहा! व्यवहार तो लक्ष्य में से छोड़ दिया है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप पूर्ण आनन्द, नित्यानन्द प्रभु एकरूप अभेद है, उसमें स्थिर होने पर... आहाहा! बाह्य से दृष्टि समेटकर, निमित्त से, राग से, और भेद से (समेटकर)। आहाहा! निमित्त से समेटकर पूर्ण शुद्ध पर आना; राग को समेटकर वीतरागस्वभाव सन्मुख आना; भेद को छोड़कर अभेद में आना। आहाहा! है तो एक समय, हों! एक साथ (होता है)। समझाने के लिए (क्रम पड़ता है)। बाकी ऐसे चैतन्य ज्योत परमात्मा में स्थिर होने पर भेद छूट जाते हैं, राग छूट जाता है (और) निमित्त तो उसमें है ही नहीं। आहाहा! उसे यहाँ आस्रवरहित मोक्षमार्ग कहते हैं। यह आस्रव अधिकार है न! आहाहा!

मुमुक्षु : आस्रव का अभाव होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आस्रव का अभाव, वह धर्म है, ऐसा बताना है; इसलिए तात्पर्य कहते हैं न? शुद्धनय का तात्पर्य-रहस्य यह है। शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं और उसके अत्याग से ही मुक्ति है। राग के त्याग से मुक्ति है और शुद्धनय के अत्याग से मुक्ति है। आहाहा! उसके लिए फिर यह विस्तार किया। दो गाथाएँ (बनायी)। अरे! पाँचवें काल के (श्रोता) के लिये? उसके लिये वस्तु की स्थिति यह है। आहाहा! जब भी केवलज्ञान

प्रगट करेगा, तब इस विधि से ही होगा। जितने केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं, वे '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन**।' अभी तक जो मुक्ति को प्राप्त हुए, वे सब भेदज्ञान (अर्थात्) पर से (अपने को) भिन्न किया है। आहाहा! '**अस्यैवाभावतो बद्धा**' (अर्थात्) भेदज्ञान के अभाव से बँधे हुए हैं। कर्म के जोर के कारण बँधे हुए हैं, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! समयसार में यह दूसरी अपेक्षा है।

'**अस्यैवाभावतो बद्धा**' आहाहा! राग और भेद से भेद करके और भेदज्ञान करे, उसकी मुक्ति होती है। उस भेदज्ञान के अभाव में (बँधता है)। आहाहा! राग और भेद के लक्ष्य से, निमित्त के लक्ष्य से संसार होता है, उसके कारण भटकना होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए भी निर्विकल्प एकाग्रता का अभ्यास करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह होता है, यह निर्विकल्प हो जाता है। अन्तर निर्विकल्प होऊँ, होऊँ – ऐसा भी नहीं। यह होता है, उसकी बात है। पर से समेटकर अन्दर (गया), इसलिए निर्विकल्प हो गया। आहाहा! सूक्ष्म बात है। यही कहा न? भेद का लक्ष्य और निमित्त से होनेवाले राग का लक्ष्य छोड़कर, अभेद के अनुभव में आवे, वह निर्विकल्प में आया। यही कहा। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्ध उपयोग में आना।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध उपयोग अन्दर में जाए, वह उपयोग शुद्ध वहाँ ही अन्दर में जाए। आहाहा! शुभ-अशुभ उपयोग बाहर के लक्ष्य से होता है और शुद्ध (उपयोग) है, वह अन्तर के लक्ष्य से होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : उस प्रकार का पुरुषार्थ चारित्र में, उसी प्रकार का पुरुषार्थ सम्यग्दर्शन में?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसी प्रकार का पुरुषार्थ चारित्र के लिए है। स्व के आश्रय के लिए जो पुरुषार्थ समकित के लिए है, वही विशेष आश्रय आत्मा का करना, वह चारित्र है और विशेष आश्रय करना, वह शुक्लध्यान है। आश्रय पूर्ण हो गया, वह केवलज्ञान। बात तो उसका-त्रिकाल का आश्रय करना, यह है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। फिर लोग विरोध करे न! एकान्त है। लोग (बाहर की) प्रवृत्ति में पड़े हों। धन्धे में से निवृत्त न हों, निवृत्त

होवे तो फिर प्रवृत्ति में जोड़ दे, पूजा करो और भक्ति करो... आहाहा! श्रावक के छह प्रकार के कर्तव्य हैं न? देवपूजा (आदि), उसमें जोड़ दे।

मुमुक्षु : श्रावक तो हो, फिर ख्याल आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक हुए बिना यह विकल्प और पूजादि है कहाँ? आहाहा! देवपूजा और वह आता है न? गुरुभक्ति, दान,... आहाहा! संयम, वह कब? बापू! वह तो अभी स्वरूप के आश्रय से दृष्टि हुई, स्वरूपारूढ़ होकर (दृष्टि हुई) और भेद से भी पृथक् पड़ा, उसे पश्चात् स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, तब उसे ऐसे छह विकल्प आते हैं। देवपूजा, श्रावक के छह कर्तव्यरूप से विकल्प आते हैं, उन्हें व्यवहार से कर्तव्य कहा जाता है। आहाहा! यहाँ तो ऐसे बड़े मकान (मन्दिर) बनवाना। विशाल मूर्तियाँ (बनवाना)। निषेध किया कि उससे धर्म नहीं होगा। आहाहा! कितने लोग! हो..हा.. हो जाए। छब्बीस हजार लोग! गाँव में ऐसा हो गया, ओ..हो..हो..! छब्बीस हजार! इतने लोग! हाथी, लोग बाहर की चमक देखे। अरे.. भाई!

बाहर से तो दृष्टि उठा, उसमें बाहर में कुछ नहीं परन्तु राग होता है, वहाँ से दृष्टि उठा और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि(ज्ञान) भेद पड़े, ऐसे भेद से दृष्टि उठा। आहाहा! करना तो यह है। बाहर के चाहे जैसे ठाठ-बाट हों, (उसमें क्या)?

मुमुक्षु : पुरुषार्थ तो निर्विकल्पता का ही करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका ही करना।

मुमुक्षु : न हो तो फिर से करना, न हो तो दोबारा करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक ही (पुरुषार्थ) करना। पूर्ण निर्विकल्प करने के लिए भी बारम्बार वहाँ ही जाना, पहली निर्विकल्पता शुरु होवे, पश्चात् भी अन्दर झुकाव हो, रहा करे, वह झुकाव करते.. करते.. करते.. केवलज्ञान हो जाएगा। बीच में कोई क्रिया करे, और ऐसा करे तो होगा, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! बीच में आवे, पूर्ण वीतराग न हो तो बीच में बहुत काल हो तो रागादि रहे, परन्तु वह बन्ध का कारण है। वह कहीं मोक्ष का-मुक्ति का कारण नहीं है। आहाहा! निर्विकल्पता में तो शास्त्र का ज्ञान भी काम नहीं करता। आहाहा! वह भी परलक्ष्य से भेद पड़ा। आहाहा! ऐसे ज्ञान में अपने को ज्ञान मानकर

दुनिया को समझावे, करे अर्थात् मानो इससे धर्म होगा, वे भी भूल में पड़े हैं। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) **शुद्धनय का ऐसा माहात्म्य है। इसलिए शुद्धनय के अवलम्बन से..** आहाहा! **जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक सम्यग्दृष्टि जीवों को..** धर्मी जीवों को **शुद्धनय का त्याग नहीं करना चाहिए।** आहाहा! अन्तर में भण्डार भरा है, पूर्णानन्द (भरा है) उसके ऊपर से लक्ष्य छोड़नेयोग्य नहीं है। उसका आश्रय छोड़नेयोग्य नहीं है। जब तक केवलज्ञान (न) हो, तब तक उसका आश्रय करनेयोग्य है—प्रभु का आश्रय करनेयोग्य है। पर्याय का और राग का आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा!

ऐसा श्री गुरुओं का यह उपदेश है लो! 'इदम् एव तात्पर्यं' आया था न? इसलिए कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्यदेव (कहते हैं), इसका तात्पर्य यह है। पर से हटकर स्व का-चैतन्य का आदर (करना)। वह शुद्धनय का त्याग नहीं। त्याग (करना तो) व्यवहारनय का त्याग (करना)। शुद्धनय का कभी त्याग नहीं है। शुद्धनय के त्याग से संसार है, शुद्धनय के अत्याग से मोक्ष है। आहाहा! उसका यह विस्तार किया है। मूल तो वह (श्लोक) १२२ है, वही उत्कृष्ट है। **इद-मेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्ध-नयो न हि।** देखा? **हेयः शुद्ध-नयो न हि। नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध।** बहुत संक्षिप्त (किया)। शुद्धस्वभाव का आदर, उसका परिणमन, उसके अत्याग से मोक्ष है। अत्याग से मोक्ष है और उसके त्याग से बन्ध है। बहुत संक्षिप्त! माल (बहुत है)।

त्रिकाल द्रव्य के आश्रय से, उसके अत्याग से मुक्ति है। व्यवहार के त्याग से मुक्ति है। व्यवहार के अत्याग से बन्धन है। आहाहा! और शुद्धनय के अत्याग से मुक्ति है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त! अभी तो कठिन पड़े। सुनने को मिलता नहीं। यह करो और अन्त में (ऐसा कहे), गुरु की भक्ति करो! देव-गुरु की भक्ति करो, बस! धुन लगाओ! वह तो राग है। आहाहा! वह कहीं सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।

मुमुक्षु : गुरु की आज्ञा की (मानी)।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्होंने आज्ञा इसकी की ही नहीं कि मेरी भक्ति से तेरा कल्याण होगा, ऐसा कहा नहीं। तेरी भक्ति से तेरा कल्याण होगा। यह सब तो व्यवहार भक्ति-राग है। वह तो आता है न! सिद्धभक्ति! वह निश्चय (भक्ति) आती है। सिद्धभक्ति, है नाम

सिद्धभक्ति परन्तु वह अपनी सिद्धभक्ति है। आहाहा! दूसरी जगह सिद्धभक्ति आती है, वह व्यवहार से है। पहली निश्चयभक्ति कही। भक्ति अधिकार, नियमसार। पहली निश्चयभक्ति कही, पश्चात् व्यवहार सिद्ध की भक्ति व्यवहार से (कही)। पश्चात् व्यवहार लिया और उसमें तो वह सिद्ध की भक्ति अर्थात् तेरी भक्ति, ऐसा। ऐसा लिया है। आहाहा! ऐसी गाथा आती है।

'सिद्ध समान सदा पद मेरो' आहाहा! सदा शुद्ध चैतन्य अकेला पवित्र का धाम, वह पवित्र पुरुषों को पवित्र के धाम को ध्यान में लेना। आहाहा! उसके ध्यान का विषय पूर्ण पवित्रता लेना। उसके ध्यान का विषय ध्यान की पर्याय भी नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

कलश-१२४

अब, आस्रवों का सर्वथा नाश करने से जो ज्ञान प्रगट हुआ, उस ज्ञान की महिमा का सूचक काव्य कहते हैं:-

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचल-मतुलं ज्ञान-मुन्मग्न-मेतत्।।१२४।।

श्लोकार्थ : [नित्य-उद्योतं] जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है, ऐसी [किम् अपि परमं वस्तु] किसी परम वस्तु को [अन्तः सम्पश्यतः] अन्तरंग में देखनेवाले पुरुष को, [रागादीनां आस्रवाणां] रागादि आस्रवों का [झगिति] शीघ्र ही [सर्वतः अपि] सर्व प्रकार [विगमात्] नाश होने से, [एतत् ज्ञानम्] यह ज्ञान [उन्मग्नम्] प्रगट हुआ-[स्फार-स्फारैः] कि जो ज्ञान अत्यन्तात्यन्त (-अनन्तानन्त) विस्तार को प्राप्त [स्वरसविसरैः] निजरस के प्रसार से [आ-लोक-अन्तात्] लोक के अन्त तक के [सर्वभावान्] सर्व

भावों को [प्लावयत्] व्याप्त कर देता है अर्थात् सर्व पदार्थों को जानता है, [अचलम्] वह ज्ञान प्रगट हुआ, तभी से सदाकाल अचल है अर्थात् प्रगट होने के पश्चात् सदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है–चलायमान नहीं होता, और [अतुलं] वह ज्ञान अतुल है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं है।

भावार्थ : जो पुरुष अन्तरंग में चैतन्यमात्र परम वस्तु को देखता है और शुद्धनय के आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है, उस पुरुष को तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावों का सर्वथा अभाव होकर, सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को जाननेवाला निश्चय, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान सबसे महान है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है।।१२४।।

श्लोक - १२४ पर प्रवचन

अब, आस्रवों का सर्वथा नाश करने से जो ज्ञान प्रगट हुआ, उस ज्ञान की महिमा का सूचक काव्य कहते हैं:– लो, १२४ (कलश)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा–
नालोकान्तादचल–मतुलं ज्ञान–मुन्मग्न–मेतत्।।१२४।।

[**नित्य–उद्योतं**] भगवान आत्मा ! नित्य जिसका उदय है, जिसका नित्य त्रिकाल उदय है। आहाहा ! ऐसी जो आत्मा चीज़, चैतन्य से भरपूर जलहल ज्योति नित्य वस्तु है, परमात्मस्वरूप से भरपूर परम आत्मा अर्थात् परमस्वरूप से भरपूर परमात्मस्वरूप.. आहाहा ! ऐसी कोई चीज़ नित्य है।

ऐसी [किम् अपि परमं वस्तु] किसी परम वस्तु को... इस प्रकार किसी परम वस्तु को अर्थात् आत्मा को। आहाहा ! [**अन्तः सम्पश्यतः**] **अन्तरंग में..** सम्यक् प्रकार से **देखनेवाले पुरुष को,..** सम्यक् है न ? [**सम्पश्यतः**] है। [**सम्पश्यतः**] है न ? अर्थात् देखने का लिया है। [**अन्तः सम्पश्यतः**] वहाँ (इसका अर्थ) अन्तरंग में देखनेवाले को,

सम्यक् नहीं। **अन्तरंग में देखनेवाले पुरुष को,..** भगवान जो आत्मा दूसरे को देखता है, उस देखनेवाले को देखने पर... आहाहा! जिसकी दशा में पर का दिखना होता है, उस दशा में स्व को देखे। आहाहा! अभी सम्यग्दर्शन किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती और साधु नाम धराते हैं। आहाहा!

नित्य उद्योत है, ऐसी परम वस्तु को **अन्तरंग में देखनेवाले पुरुष को, रागादि आस्रवों का..** [**झगिति**] उन रागादि का त्याग शीघ्रता से होता है। आहाहा! वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाल वीतरागस्वरूप ही है। आहाहा! इसे देखनेवाले। त्रिकाली वीतरागी स्वरूप प्रभु है। त्रिकाल वीतरागस्वरूप है। ऐसे आत्मा को देखनेवाले। आहाहा! आस्रवों से **शीघ्र ही सर्व प्रकार..** आस्रव से तो ठीक परन्तु सर्व प्रकार से (ऐसा कहा है)। अर्थात् कि कोई अंश न रहे। आहाहा!

सर्व प्रकार नाश होने से,.. आस्रव का सर्व प्रकार से नाश होने से। आहाहा! [**एतत् ज्ञानम्**] **यह ज्ञान..** अर्थात् आत्मा। [**उन्मग्नम्**] आया। [**उन्मग्नम्**] बाह्य। **प्रगट हुआ..** निमग्न में अन्दर समाहित हो गया। यह प्रगट हुआ। आहाहा! उन्मग्न, निमग्न दो नदियाँ हैं न! अपने आ गया न! उन्मग्न। सवेरे में उन्मग्न। पर्यायदृष्टि से देखे तो उन्मग्न है। द्रव्यदृष्टि से देखे तो निमग्न है। आहाहा! रागादि आस्रवों का **नाश होने से, यह ज्ञान प्रगट हुआ..** [**स्फार-स्फारैः**] आहाहा! [**स्फार-स्फारैः**] का अर्थ? अत्यन्त, अत्यन्त। [**स्फार-स्फारैः**] का अर्थ? अत्यन्त... अत्यन्त। जहाँ चैतन्यशक्ति का आश्रय लिया, तब अत्यन्त... अत्यन्त... पर्याय में प्रगट होता जाता है। आहाहा! ऐसा। **अत्यन्तात्यन्त (-अनन्तानन्त)..** [**स्फार-स्फारैः**] का अर्थ किया।

विस्तार को प्राप्त.. ज्ञान की पर्याय की विशालता प्रगट होने पर [**स्वरसविसरैः**] **निजरस के प्रसार से..** आनन्द के फैलाव से, विस्तार से ज्ञान जहाँ आस्रवरहित होकर पूर्णपने को प्राप्त हुआ, तब अपने निज आनन्द के रस से विस्तरित हुआ। ज्ञान तो पूर्ण हुआ परन्तु अतीन्द्रिय आनन्द का रस विस्तरित हुआ। ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द आया। आहाहा! **निजरस के प्रसार से लोक के अन्त तक के सर्व भावों को...** आहाहा! **व्याप्त कर देता है..** अर्थात् जानता है। आहाहा! यह ज्ञान जहाँ अन्तर पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हुआ, पूर्ण स्वरूप के आश्रय से, पूर्ण स्वरूप के आश्रय से पूर्ण स्वरूप प्रगट हुआ, वह

लोकालोक पूर्ण को व्याप्त कर देता है। व्याप्त (कर देता है)। अर्थात् उसे जान लेता है। आहाहा! कोई वस्तु बाकी नहीं रहती। व्याप्त कर देता है, जान लेता है।

[**अचलम्**] **वह ज्ञान प्रगट हुआ, तभी से सदाकाल अचल है..** जो ज्ञान केवल हुआ, वह तो हुआ सो हुआ। सादि-अनन्त अचल है। आहाहा! ऐसी-ऐसी पर्याय की अनन्त शक्तियों का वह सागर है। आहाहा! एक पर्याय एक गुण की, ऐसी अनन्त पर्यायें अनन्त गुणों की। **वह ज्ञान प्रगट हुआ, तभी से सदाकाल अचल है अर्थात् प्रगट होने के पश्चात् सदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है..** जो स्वरूप प्रगट हुआ, वह ऐसा का ऐसा रहता है। सोलह आने जैसे स्वर्ण प्रगट हुआ, वैसे यह पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान जो प्रगट हुआ, (वह) ऐसा का ऐसा रहता है। 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख' **सदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है-चलायमान नहीं होता, और [अतुलं] वह ज्ञान अतुल है..** आहाहा! जिसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसा अतुल है।

उसके समान दूसरा कोई नहीं है। ऐसा वह ज्ञान आस्रवरहित होने पर अनास्रवी भगवान आत्मा का आश्रय लेकर पूर्ण अनास्रवी दशा होती है, तब आस्रव जरा भी नहीं रहता परन्तु वह पूर्ण को जाने और अनन्त आनन्द को फैलाता हुआ ज्ञान प्रगट होता है। अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द, दोनों। साथ में अनन्त आनन्द-सुख भी प्रगट हुआ। अकेला ज्ञान नहीं; ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द भी विस्तरित हुआ। आहाहा! **उसके समान दूसरा कोई नहीं है।** लो! आहाहा!

भावार्थ है। **जो पुरुष अन्तरंग में चैतन्यमात्र परम वस्तु को देखता है और शुद्धनय के आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है, उस पुरुष को तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावों का सर्वथाव अभाव होकर, सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को जाननेवाला निश्चय, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान सबसे महान है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है।**

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता** : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

इति आस्रवो निष्क्रान्तः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽमः।

टीका : इस प्रकार आस्रव (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ : रंगभूमि में आस्रव का स्वाँग आया था, उसे ज्ञान ने उसके यथार्थ स्वरूप में जान लिया, इसलिए वह बाहर निकल गया।

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करैं इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चित लाय कहूं जय पाय लहूँ मन भाये।।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में आस्रव का प्ररूपक चौथा अंक समाप्त हुआ।

प्रवचन नं. २५७, श्लोक-१२५, गाथा १८१-१८३ दिनाङ्क १९-०६-१९७९
मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण १०

(समयसार, १२४ कलश का) भावार्थ। अन्तिम दो लाईनें हैं न? **रंगभूमि में आस्रव का स्वाँग आया था उसे...** पहिचान कर हटाया, यह बात है। उसमें कुछ विशेष दूसरी बात नहीं है। मिथ्यात्व आदि आस्रव रंगभूमि में आये थे, उन्हें ज्ञान ने देख लिया। ज्ञान ने (देखा कि) मैं तो चैतन्य हूँ, पूर्ण आनन्द हूँ-ऐसे भाव द्वारा उस आस्रव को जीत लिया। आस्रव का नाश किया। यह है, ऐसा। पूरे आस्रव अधिकार का, आस्रव का स्वांग आया था। ऐसा, नाटक की भाँति इसमें कहा है न! **रंगभूमि में आस्रव का स्वाँग आया था, उसे ज्ञान ने उसके यथार्थ स्वरूप में जान लिया...** जो शुभ-अशुभभावादि आस्रव

है, वह स्वभाव से भिन्न जाति है। स्वभाव है, वह शुद्ध चैतन्य है—ऐसा जानकर, उस स्वांग को जिसने दूर किया। स्वरूप में स्थिर होकर उस अस्थिरता का नाश किया। **इसलिए वह बाहर निकल गया।** इसीलिए आस्रव रंगभूमि में आया था, वह निकल गया।

अब इसके उस (अर्थ का) कलश

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करैं इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चित लाय कहूं जय पाय लहूँ मन भाये।।

हिन्दी में संक्षिप्त किया। **योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव..** यह द्रव्यत्व है। जड़, जड़ पूर्व के (बाँधे हुए हैं।) **द्रव्यत आगम गाये,..** पूर्व के (कर्म) सत्ता में पड़े हैं। **राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव..** ये भावास्रव। वे पूर्व के पड़े हैं, वे जड़ आस्रव (कहे)। वे कहीं बंध का कारण नहीं है। राग और विरोध अर्थात् द्वेष, विमोह अर्थात् मिथ्यात्व। ऐसा विभाव अज्ञानमय। अज्ञानमय जो भाव **यह भाव जताये;..** यह भावास्रव बतलाये।

जे मुनिराज करैं इनि पाल... जो मुनिराज अपना पालन (अर्थात्) स्वरूप की स्थिरता करे, **सुरिद्धि समाज...** (अर्थात्) अतीन्द्रिय आनन्द की ऋद्धिरूपी अपना समाज। **लये सिव थाये,...** वह अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति को पाकर मुक्ति को प्राप्त करे। **काय नवाय...** पण्डित जयचन्दजी स्वयं कहते हैं। हिन्दी टीकाकार! **काय नवाय...** मैं काया से उन्हें नमन करता हूँ। **चित लाय...** चित्त को साथ रखकर अर्थात् चित्त से भी नमन करता हूँ, ऐसा। **जय...** वे यह जयचन्द टीकाकार। **जय पाय...** ऐसे जय मिले और आस्रव टलकर जय हो और ऐसे 'जय' स्वयं का नाम डाला। **जय पाय लहूँ मन भाये।** मन में भावना यह है कि राग से रहित होकर मैं शुद्ध होऊँ, ऐसी मेरी भावना है।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में आस्रव का प्ररूपक चौथा अंक समाप्त हुआ।

—५—

संवर अधिकार

श्लोक–१२५

अथ प्रविशति सम्वरः।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसन्सार–विरोधि–सम्वर–जयैकान्तावलिप्तास्रव–
न्यक्कारात्प्रतिलब्ध–नित्य–विजयं सम्पादयत्सम्वरम्।
व्यावृत्तं पर–रूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर–
ज्ज्योतिश्चिन्मय–मुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते।।१२५।।

मोहरागरुष दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पारि।
संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि, मन धारि।।

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि ''अब संवर प्रवेश करता है।'' आस्रव के रंगभूमि में से बाहर निकल जाने के बाद अब संवर रंगभूमि में प्रवेश करता है।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वाँग को जाननेवाले सम्यक्ज्ञान की महिमादर्शन मंगलाचरण करते हैं:–

श्लोकार्थ : [आसंसार–विरोधि–संवर–जय–एकान्त–अवलिप्त–आस्रव–न्यक्कारात्] अनादि संसार से लेकर अपने विरोधी संवर को जीतने से जो एकान्तगर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है ऐसे आस्रव का तिरस्कार करने से [प्रतिलब्ध नित्य–विजयं–संवरम्] जिसने सदा विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को [संपादयत्] उत्पन्न करती हुई, [पररूपतः व्यावृत्तं] पररूप से भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से

होनेवाले भावों से भिन्न), [सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत्] अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चयलता से प्रकाश करती हुई, [चिन्मयं] चिन्मय, [उज्ज्वलं] उज्ज्वल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान) और [निज-रस-प्राग्भारम्] निजरस के (अपने चैतन्यरस के) भार से युक्त-अतिशयता से युक्त [ज्योतिः] ज्योति [उज्जृम्भते] प्रगट होती है, प्रसारित होती है।

भावार्थ : अनादि काल से जो आस्रव का विरोधी है ऐसे संवर को जीतकर आस्रव मद से गर्वित हुआ है। उस आस्रव का तिरस्कार करके उस पर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूप से भिन्न और अपने स्वरूप में निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरस की अतिशयतापूर्वक निर्मलता से उदय को प्राप्त हुआ है।।१२५।।

श्लोक-१२५ पर प्रवचन

अब पाँचवाँ संवर (अधिकार)।

मोहरागरुष दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पारि।
संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि, मन धारि।।

मोह... अर्थात् मिथ्यात्व **राग...** और **रुष** (अर्थात्) द्वेष **दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पारि।** जिसे निश्चय समिति, गुप्ति और व्रत का विकल्प हो वह। वह भी लिया। **संवरमय आतम कियो,...** जिसने आत्मा को राग के विकल्प के आस्रव से रहित किया। **नमूं ताहि, मन धारि।** उसे मैं नमस्कार करता हूँ, मन से नमस्कार करता हूँ।

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब संवर प्रवेश करता है।' अखाड़ा की, रंगभूमि की बात लेनी है न! **आस्रव के रंगभूमि में से बाहर निकल जाने के बाद अब संवर रंगभूमि में प्रवेश करता है।** संवर आता है। इसकी टीका की है न? कलश-टीका! वहाँ दूसरे की टीका करने से पहले ॐ नमः लिया है। संवर अधिकार है न! यह संवर अधिकार। पहले कलश टीकाकार ने ॐ नमः (लिखा है)। संवर अधिकार अलौकिक है। जो अनन्त काल में नहीं किया, इसलिए सब टीकायें कीं, परन्तु यह टीका करते हुए ॐ नमः लिखा है।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वाँग को जाननेवाले सम्यक्ज्ञान की महिमादर्शन मंगलाचरण करते हैं:- लो!

आसन्सार-विरोधि-सम्वर-जयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं सम्पादयत्सम्वरम्।
व्यावृत्तं पर-रूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्योतिश्चिन्मय-मुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते।।१२५।।

[आसंसार-विरोधि-संवर-जय-एकान्त-अवलिप्त-आस्रव-न्यक्कारात्] अनादि संसार से लेकर अपने विरोधी... आस्रव है, उसका विरोधी संवर है। मिथ्यात्व, अव्रत आदि आस्रव, उसका विरोधी संवर है। उस आस्रव ने **अपने विरोधी संवर को जीतने से...** संवर नहीं होने दिया। आस्रव के प्रेम में संवर नहीं होने दिया, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **संवर को जीतने से जो एकान्तगर्वित...** हुआ है। कौन? आस्रव। मैंने बड़े मानधाताओं को गिराया है। साधु नाम धरानेवाले, ग्यारह अंग के पाठक, पंच महाव्रत के पालनेवालों को भी मैंने गिराया है। आस्रव है, इसमें उन्हें प्रेम है, वह आस्रव है। आहाहा! मेरे पंजे में से किसी को निकलने नहीं दिया। ऐसा अहंकार आस्रव को हुआ है। आहाहा!

एकान्तगर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है, ऐसे आस्रव का तिरस्कार करने से... अब संवर (की बात करते हैं)। आहाहा! स्व का आश्रय लेकर और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके, उसका (आस्रव का) तिरस्कार किया। **[प्रतिलब्ध नित्य-विजयं-संवरम्] जिसने सदा विजय प्राप्त की है...** उसने (आस्रव ने) तो मात्र अनादि काल से अमुक (समय) तक विजय (प्राप्त की) थी और इसने (संवर ने) तो सदा विजय प्राप्त की है। ऐसा कहकर क्या कहते हैं? कि जिसने राग और पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न आत्मा का अनुभव किया, शुद्ध चैतन्य और संवर प्रगट किया, उसकी अब सदा विजय रहनेवाली है। आहाहा! वह संवर अब आस्रव होनेवाला नहीं है। संवर से गिरनेवाले नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जिसने भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जिसने अनुभव में लिया, वह संवर है। उस संवर ने सदा... आहा! विजय प्राप्त की है। आहाहा! ऐसा संवर... आस्रव पर सदा विजय प्राप्त की है, ऐसा संवर। जो संवर एक बार हुआ, वह बाद में

गिरनेवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आचार्य की भाषा देखो! **सदा विजय प्राप्त की है...** ऐसा संवर। क्योंकि आस्रव तो अमुक अनादि-सान्त था। यह तो सादि-अनन्त संवर प्रगट हुआ अर्थात् सादि-अनन्त संवर रहनेवाला है। आहाहा! सम्यक्त्व हुआ, वह सम्यक्त्व सादि-अननत रहनेवाला है। ऐसी बात है। यह श्लोक ऊँचा है!

[प्रतिलब्ध नित्य-विजयं-संवरम्] जिसने सदा विजय प्राप्त की है... ऐसा जो संवर। **[संपादयत्] उत्पन्न करती...** आहाहा! चिन् ज्योति की बात करनी है न! चिन् ज्योति-ज्ञानरूपी ज्योति, ऐसा जो भगवान आत्मा, यह चिन्मय ज्योति उत्पन्न करती। संवर को उत्पन्न करने से चैतन्यज्योति उत्पन्न हुई। वह जो आस्रव उत्पन्न था, (अब) यह यहाँ चैतन्य उत्पन्न हुआ। चैतन्य! संवर में, चैतन्यस्वरूप त्रिकाल के आश्रय से चिन्मय चैतन्यज्योति प्रगट हुई। आहा! ऐसा है।

[पररूपतः व्यावृत्तं] पुण्य और पाप के विकल्प से संवरदशा व्यावृत हुई, (आस्रव से) दशारहित हुई। आहाहा! यह संवर! ऐसे तो संवर बहुत लेकर बैठते हैं। आस्रव का तुम कराओ संवर। वह संवर नहीं। अन्तर के अनन्त आनन्द के स्वभाव का साक्षात्कार करके और उसमें लीनता हुई, इसलिए आस्रव उत्पन्न नहीं हुआ और वह नहीं हुआ, वह अब होनेवाला नहीं है। इस प्रकार संवर ने, संवर सदा रहे (ऐसी) विजय प्राप्त की है। आहा! और इसलिए चैतन्यज्योति पररूप से निवृत्ति हुई। चैतन्यज्योति-भाषा ऐसी है न? **उत्पन्न करती हुई,...** अर्थात् क्या (उत्पन्न करती हुई)? (कि) चैतन्यज्योति उत्पन्न करती हुई। आहा!

पररूप से भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न),... परद्रव्य—शरीर, कर्म इत्यादि और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले विकारी भाव, इनसे चैतन्यज्योति भिन्न हुई। आहाहा! इसमें पर्याय की बात है, हों! त्रिकाली चैतन्य है, वह तो है। यह तो चैतन्यज्योति पर्याय में प्रगट हुई। संवर पर्याय की बात है न! संवर, वह पर्याय है, तो वह चैतन्यज्योति त्रिकाल जो है, उसका आश्रय लेकर, पर से रहित होकर, स्व से सहित होकर चैतन्यज्योति पर्याय में प्रगट हुई। आहाहा!

[सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत्] अपने सम्यक् स्वरूप में... जो चैतन्यज्योति ज्ञानज्योति प्रगट हुई, वह अपने निश्चल स्थिर स्वरूप में **प्रकाश करती हुई,... अपने सम्यक्**

स्वरूप में निश्चयलता से प्रकाश करती हुई,... आहाहा! **चिन्मय, उज्ज्वल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान)...** ऐसी। [**निज-रस-प्राग्भारम्**] (अर्थात्) अपनी शक्ति के जोर से। [**प्राग्भारम्**] **चैतन्यरस (निजरस) के भार से युक्त...** आहाहा! आस्रव को तो कहीं तोड़ डाला, कहते हैं। अपने चैतन्यस्वरूप के भारवाली दशा प्रगट हुई है। चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... ऐसी जो शुद्ध परिणति और [**निज-रस-प्राग्भारम्**] **निजरस के (अपने चैतन्यरस के)...** आहाहा! आस्रव में तो दु:खरस था। यह निजरस, आनन्द के रस से फैलती है। दो बोल लिये हैं। चैतन्य चिन् ज्योति प्रगट हुई परन्तु निजरस-आनन्दसहित प्रगट हुई। वहाँ ज्ञान और आनन्द अधिक लेते हैं।

अपने सम्यक् स्वरूप में... (निर्मल, दैदीप्यमान) और निजरस के (अपने चैतन्यरस के) भार से युक्त... चैतन्यरस की अतिशय-विशेषता हुई। आहाहा! आस्रव का अभाव करके और स्वरूप का आश्रय किया, तब ऐसी चैतन्यज्योति निजरस-आत्मा के रसवाली, आनन्द के रसवाली प्रगट हुई। ऐसा है। आहाहा! **ज्योति प्रगट होती है,...** लो! यहाँ कहा है न? उत्पन्न। उत्पन्न करती हुई, था न यहाँ? वह उत्पन्न करती हुई (अर्थात्) यह चैतन्यज्योति। **प्रगट होती है, प्रसारित होती है।** आहाहा! यह तो ज्ञान की मांगलिकता की।

अपने चैतन्यस्वरूप से भरा हुआ, उसका आश्रय लेकर चैतन्यज्योति प्रगट हुई, वह नित्य प्रकाशमान रहती हुई और अपने निजरस से प्रगट हुई। उसका पर रस टल गया। आनन्द के रस से प्रगट हुई। संवर हो, उसे आनन्द आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! निजरस के... आहाहा! अतिशय से ज्योति-चैतन्यज्योति प्रगट होती है, विस्तार पाती है। ज्ञान स्वयं पर्याय में विस्तार.. विस्तार.. विस्तार पाता है, प्रसारित होता है। जैसे कमल खिले; वैसे भगवान आत्मा, आस्रव से रुककर स्वरूप-सन्मुख ढलने पर वह आत्मा पर्याय में खिल निकलता है। ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा, आदि शान्ति आदि से खिल निकलता है। उसे यहाँ संवर कहा जाता है। लोगों में ऐसा थोड़ा हाथ जोड़कर खड़ा रहे तो (कहता है) संवर हो गया! यह जामनगर में अष्टमी और पाठी के उपवास करे और बहुत संवर करे। जैसे प्रौषध करे न, उसी प्रकार से संवर करे।

भावार्थ : अनादि काल से जो आस्रव का विरोधी है... अर्थात् कि संवर, **ऐसे संवर को जीतकर आस्रव मद से गर्वित हुआ है।** आहाहा! नौवें ग्रैवेयक गये, ऐसे दिगम्बर

साधु मिथ्यादृष्टि को भी मैंने वश में किया है। हजारों रानी छोड़कर, घर-दुकान-मकान छोड़कर, धन्धा छोड़कर त्यागी हुआ, परन्तु फिर भी आस्रव कहता है कि उसमें मेरी जीत हुई है (क्योंकि) राग का भाव है, उसे ही उसने धर्म माना। आहाहा! महाव्रत के परिणाम आदि हैं, उन्हें अपना धर्म मान (लिया)।

यहाँ संवर लेते हैं। **उस पर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है...** लो! **उस आस्रव का तिरस्कार करके...** तिरस्कार करके अर्थात् फिर से अब तू होगा नहीं। आहाहा! **उस आस्रव का तिरस्कार करके उस पर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है...** आहाहा! क्या आचार्य की शैली! ओहोहो! कहते हैं न? **सदा के लिये विजय प्राप्त की है...** इसमें से मैं अब गिर जाऊँगा, संवर से गिर जाऊँगा, अब यह वस्तुस्वरूप में ऐसा नहीं है। आहाहा! एक बात है न, 'नयपरिहिणा' में? आस्रव (अधिकार) में। बाकी आदरणीय यह है। आहाहा! संवर उत्पन्न हुआ, वह हमेशा के लिये विजय प्राप्त की। आहाहा!

आनन्दसागर आत्मा! पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ सब राग मैल, आस्रव, अशुचि और जड़, दुःखरूप है। आहाहा! उनसे भिन्न पड़कर, उन्हें तिरस्कार करके और अपने चैतन्यस्वरूप में लीन हुआ, उसके निजरस से, आनन्द के रस से चैतन्यज्योति विस्तरित होती है। आहाहा! (लोग) ऐसा कहते हैं कि यह तो कष्ट है। मुनिपना अथवा यह धर्म कष्ट (रूप) है। ऐसा नहीं है। आनन्दरसवाला है। धर्म है, वह आनन्द के रसवाला है और वह तो कठिन पड़े, परीषह सहन करने में तो। आहाहा! निज रस के चैतन्य प्रकाश अपने स्वरूप से (अभिन्न)। **और अपने स्वरूप में निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरस की अतिशयतापूर्वक निर्मलता से उदय को प्राप्त हुआ है।** आहाहा! टीकाकारी टीका के समय अभिलाषा है, अभिलाषा अन्दर से। आहाहा! हम अब अपनी ओर गये वह अब बाहर निकलनेवाले नहीं हैं। आहाहा! हम हमारे घर में गये, (इसलिए) सदा हमारी विजय हुई। आस्रव पर सदा के लिये विजय प्राप्त की। आहाहा! एक आस्रव (अधिकार में) और नयपरिहीणा बतलाया था, किसी को ऐसा हो। शुद्धनय से भ्रष्ट हो जाये।

यहाँ कहते हैं कि यह तो जैसा अन्दर भगवान प्रगट हुआ है, चैतन्यज्योति, जागती ज्योति, ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। आहाहा! ऐसा कहकर अप्रतिहत संवरदशा बतलायी है। आहाहा!

गाथा–१८१–१८३

तत्रादावेव सकलकर्मसम्वरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनन्दति –

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१८१।।
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।१८२।।
एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग–सुद्धप्पा।।१८३।।

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः।
क्रोधः क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः।।१८१।।
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति।।१८२।।
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य।
तदा न किञ्चित्करोति भाव–मुपयोग–शुद्धात्मा।।१८३।।

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव। ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेय–सम्बन्धोऽवतिष्ठते।

तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं, जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्। क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूत–त्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः।

न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा सन्ति, परस्परमत्यन्तं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसम्बन्धशून्यत्वात्।

न च यथा ज्ञानस्य जानत्ता स्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादिस्वरूपं तथा जानत्तापि कथञ्चनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्च स्वभावभेदेनोद्भा-समानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम्।

किञ्च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधि-रोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैक-स्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति।

एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोप-निरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति।

संवर अधिकार के प्रारम्भ में ही, श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्म का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, उसकी प्रशंसा करते हैं:-

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषैं हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में।।१८१।।
उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में।।१८२।।
ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे।।१८३।।

गाथार्थ : [उपयोगः] उपयोग [उपयोगे] उपयोग में है, [क्रोधादिषु] क्रोधादि में [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है; [च] और [क्रोधः] क्रोध [क्रोध एव हि] क्रोध में ही है, [उपयोगे] उपयोग में [खलु] निश्चय से [क्रोधः] क्रोध [नास्ति] नहीं है। [अष्टविकल्पे कर्मणि] आठ प्रकार के कर्मों में [च अपि] और [नोकर्मणि] नोकर्म में [उपयोगः] उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोग में [कर्म] कर्म [च अपि] तथा [नोकर्म] नोकर्म [नो अस्ति] नहीं है- [एतत् तु] ऐसा [अविपरीतं] अविपरीत [ज्ञानं] ज्ञान [यदा तु] जब [जीवस्य] जीव के [भवति] होता है, [तदा] तब

[उपयोग-शुद्धात्मा] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [किंचित् भावम्] उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को [न करोति] नहीं करता।

टीका : वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ताऐं भिन्न भिन्न हैं); और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है। इसलिए ज्ञान जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है; क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, क्रोधादिक्रिया का क्रोधादि से से अभिन्नत्व होने के कारण, क्रोधादिक में ही है। (ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, इसलिए ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है। जाननक्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, ज्ञान में ही है। इसी प्रकार क्रोध, क्रोध में ही है।) और क्रोधादिक में, कर्म में या नोकर्म में ज्ञान नहीं है तथा ज्ञान में क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं हैं क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से (अर्थात् ज्ञान का स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से) उनके परमार्थभूत आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है। और जैसे ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, उसी प्रकार (ज्ञान का स्वरूप) क्रोधादिक्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादि क्रिया है, उसी प्रकार (क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो, ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं और इस भाँति स्वभावों के भिन्न होने से वस्तुएँ भिन्न ही हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा अज्ञान में (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है।

इसी को विशेष समझाते हैं-जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (आकाश के) आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है, तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से (अर्थात् अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य ही होने से) बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित (*उद्भूत) नहीं

* प्रभवित नहीं होती=लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; शमन हो जाती है; उद्भूत नहीं होती।

होती; और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक आकाश ही एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और इसलिए ऐसा समझ लेनेवाले के पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता। इस प्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये, तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेनेवाले को पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता, इसलिए ज्ञान ही ज्ञान में ही है, और क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही है।

इस प्रकार (ज्ञान का और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का) भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ।

भावार्थ : उपयोग तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म-सभी पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं, उनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है। इसलिए उपयोग में क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है। इस प्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना आधाराधेयत्व अपने अपने में ही है। इसलिए उपयोग, उपयोग में ही है और क्रोध, क्रोध में ही है। इस प्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया। (भावकर्म इत्यादि का और उपयोग का भेद जानना, सो भेदविज्ञान है।)

गाथा - १८१-१८३ पर प्रवचन

संवर अधिकार के प्रारम्भ में ही, श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्म का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, उसकी प्रशंसा करते हैं:- भेदविज्ञान उत्कृष्ट उपाय है। चाहे जैसा विकल्प हो, उससे भिन्न पड़ना और स्वरूप में अभेद होना, यह उपाय है। यह बात करते हैं, देखो!

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१८१।।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।१८२।।
एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग-सुद्धप्पा।।१८३।।

हरिगीत—

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषैं हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में।।१८१।।
उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में।।१८२।।
ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे।।१८३।।

टीका : वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती)... आहाहा! वास्तव में भगवान एक आत्मस्वरूप, उसकी दूसरी वस्तु नहीं है, दूसरी उसकी नहीं है। एक की दूसरी नहीं है। आहाहा! इसके पुण्य-पाप ही इसके नहीं हैं। आहाहा! एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। **क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं...** आहाहा!

मुमुक्षु : विकार के प्रदेश भिन्न हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें कहा क्या? उपयोग में उपयोग है, उपयोग में उपयोग है। शुद्ध.. शुद्ध... श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति (की) परिणति, इस उपयोग में उपयोग / आत्मा है। क्या कहा? उपयोग में उपयोग है। पहला उपयोग है, वह शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की निर्मल परिणति। इस उपयोग में उपयोग है (अर्थात् कि) इसमें आत्मा है। क्योंकि इसके द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। है न?

उपयोग में उपयोग है। आहाहा! पहला शब्द ही कठिन है। आत्मा किसमें है? कहते हैं कि आत्मा, शुभ-अशुभभावरहित शुद्धभाव दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ऐसे भाव में आत्मा

है। आत्मा में यह भाव है, ऐसा नहीं लेकर इस भाव में आत्मा है (-ऐसा कहा है)। क्यों? इसे आधार बनाया। आधेय बनाया आत्मा को। यह क्या कहा? शुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान पवित्र परिणाम को आधार बनाया। इसके आधार से ही आत्मा आधेय है। यह सूक्ष्म बात है।

उपयोग में उपयोग है। पहले उपयोग में अर्थात् शुद्ध परिणति। वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, यह शुद्धपरिणति, वह उपयोग। इस उपयोग में उपयोग है। इस उपयोग की परिणति में आत्मा है। वैसे देखें तो द्रव्य के आधार से पर्याय है। यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय के आधार से द्रव्य है। क्योंकि पर्याय से ज्ञात हुआ न इसलिए। समझ में आया? दूसरी शैली की अपेक्षा यह शैली अलग ली है।

उपयोग में आत्मा है। उपयोग अर्थात् शुद्ध उपयोग। राग-द्वेषरहित ऐसा जो शुद्ध उपयोग, उस उपयोग में उपयोग अर्थात् आत्मा द्रव्य है। क्योंकि इस शुद्ध उपयोग द्वारा ज्ञात होता है। जिससे ज्ञात हुआ, उसके आधार से आत्मा है, ऐसा कहा। थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह गाथा थोड़ी सूक्ष्म है। आहा! क्योंकि परिणति जो शुद्ध है, उस शुद्ध में शुद्धद्रव्य है, ऐसा ज्ञात होता है। अशुद्ध से ज्ञात नहीं होता तथा शुद्ध में द्रव्य है, ऐसा जाना किसने? कि शुद्धपरिणति ने। इसलिए शुद्धपरिणति में शुद्धद्रव्य है। आहाहा! उपयोग में उपयोग है। आहाहा! अभी आगे लेंगे।

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. क्या कहते हैं? यह आया इसमें। उपयोग शुद्ध है, उसमें आत्मा है। अब, यहाँ तो यह लेना है कि जो पुण्य और पाप के भाव हैं, उनके प्रदेश भिन्न हैं। असंख्य प्रदेश में वह पर्याय उत्पन्न हो, उसका भेद है। विकारी भाव उत्पन्न होता है, वह आत्मा के असंख्य प्रदेश से भिन्न प्रदेश है। लो, ऐसा सूक्ष्म है। हैं तो वे असंख्य प्रदेश, परन्तु उनका जो अन्तिम भाग है, उनके उन प्रदेश में हैं। इसलिए यहाँ कहा कि **दोनों के प्रदेश भिन्न हैं..** भगवान आत्मा की शुद्धपरिणति में ज्ञात हुआ, वे प्रदेश और आस्रव के प्रदेश दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। हैं तो इसके असंख्य प्रदेश। सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ तो विकार (लिया है)। नहीं तो निर्विकारी में भी प्रदेश भिन्न हैं।

निर्विकारी परिणति और शुद्धद्रव्य; वह पर्याय है, इसलिए उतना अंश, प्रदेश भिन्न है। परन्तु वह यहाँ अभी नहीं कहना है। यह चिद्विलास में आता है। चिद्विलास में!

चिद्‌विलास। निर्मल परिणति के प्रदेश भिन्न हैं और द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं। निर्मल परिणति पर्याय है और द्रव्य है, वह ध्रुव है। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु! उसका जो भान हुआ, उस भान में आत्मा ज्ञात हुआ; इसलिए भान में आत्मा है। आत्मा में भान है, ऐसा नहीं। राग से, शुभ से तो ज्ञात नहीं होता। राग से भिन्न है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे आस्रव हैं, उनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता और उनसे आत्मा को लाभ नहीं होता। यह अन्दर ज्ञात होता है (तो) आस्रवरहित शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, शान्ति और आनन्द की जो परिणति होती है, उसमें आत्मा ज्ञात हुआ। उसमें आत्मा है। जिसमें ज्ञात हुआ, उसमें वह है। यह सूक्ष्म है।

क्योंकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। एक आत्मा, दूसरे आत्मा में नहीं; दूसरे आत्मा के कारण नहीं। आहाहा! एक परमाणु, दूसरे परमाणु के कारण नहीं। आहाहा! ऐसे यह आत्मा दूसरे द्रव्य के कारण नहीं, कर्म के कारण नहीं। आहाहा! **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** एक वस्तु की दूसरी वस्तु कोई सम्बन्धी नहीं है। इस आत्मा को और कर्म को भी कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म परद्रव्य है, यह चैतन्य स्वद्रव्य है।

दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. देखो, वह वस्तु कही। किसे? उस आस्रव को भी वस्तु कहा। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आस्रव-राग है। उन्हें यहाँ वस्तु कहा है। **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! पहले ये सिद्ध किया कि चैतन्यप्रभु, वह आस्रव वस्तु से भिन्न है। आस्रव वस्तु, वह जीव की नहीं और जीव, आस्रव का नहीं। आहाहा! **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** आस्रव, आत्मा की वस्तु नहीं है। आत्मा के परमाणु आदि नहीं। आत्मा के यह पुत्र, स्त्री, पैसा, धन्धा, इसका नहीं है।

मुमुक्षु : निश्चय से नहीं, व्यवहार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार अर्थात् खोटा, बोलने के लिये होता है। आहाहा!

यहाँ तो आस्रव में यह वस्तु नहीं। वस्तु है, वह दूसरी वस्तु की नहीं अर्थात् आस्रव की नहीं। मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम हों, उनकी यह वस्तु नहीं। आहाहा! तो बाहर की बात तो कहाँ करना? कहो, चिमनभाई! क्या करना इसमें? कारखाने में जाना?

आहाहा! यहाँ दो वस्तु ली है। एक ओर आस्रव तथा एक ओर आत्मा। दूसरी चीज़ तो है ही नहीं, परन्तु एक वस्तु दूसरी वस्तु में नहीं अर्थात् आत्मा, आस्रव में नहीं और आस्रव आत्मा में नहीं। आहाहा!

यह गम्भीर श्लोक है। क्योंकि (एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ) सम्बन्ध ही नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा और आस्रव को कोई सम्बन्ध ही नहीं है। आहाहा! भिन्न तत्त्व है या नहीं? आत्मा और आस्रव तो भिन्न तत्त्व है न? नव तत्त्व में भिन्न है या नहीं? तो यह नव तत्त्व में आया। आत्मा ज्ञायकतत्त्व है, आस्रव मलिन तत्त्व है; भिन्न तत्त्व है। आहाहा! ऐसी बात सुने नहीं, सुनने को मिले नहीं, फिर गड़बड़ करे। एक समय का संवर इसके जन्म-मरण का अन्त लाता है। आहाहा!

दो बातें हुई कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु (के साथ) सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को और आस्रव को सम्बन्ध नहीं है, आत्मा को और कर्म को सम्बन्ध नहीं है, आत्मा को और शरीर को सम्बन्ध नहीं है, आत्मा को, बाहर का धन्धा, स्त्री-पुत्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, कहते हैं।

मुमुक्षु : कोई रोटियाँ नहीं घड़ देगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन (घड़े)? उसका आत्मा है, वह दूसरी चीज़ का नहीं है। उसका आत्मा है-स्त्री का आत्मा है, वह पति का नहीं। पति का आत्मा है, वह पत्नी का नहीं है। आहाहा! एक वस्तु को दूसरी वस्तु के (साथ) सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

यहाँ तो आगे ले गये। एक वस्तु—आस्रव, वह दूसरी वस्तु है, ऐसा कहते हैं। ऐसे तो नव तत्त्व में तो संवरतत्त्व ही भिन्न लिया है। अभी उसे शुद्ध संवर है, उसमें वह ज्ञात होता है, इसलिए उसके आधार से ज्ञात हुआ, इसलिए उसका आधार-संवर का आधार आत्मा को है। संवर का आधार आत्मा को है! क्योंकि संवर द्वारा ज्ञात हुआ। समझ में आया? आहाहा!

बहुत संक्षिप्त थोड़े में शुरुआत की है, गजब की है! **वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** निश्चय से अर्थात् वास्तव में, ऐसा कहा है। परन्तु व्यवहार से है या नहीं? -कोई ऐसा कहे। व्यवहार से कहने में आता है, वह तो कथनमात्र है कि भाई! यह मेरा शरीर है या ये मेरे कर्म हैं, या जीव को तीन शरीर हैं और जीव को औदारिक,

तैजस, कार्माणशरीर है, यह कथनमात्र कहने में आता है। बाकी एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह तो और प्रदेश भिन्नवाली चीज़ें तो नहीं, परन्तु यह आस्रव है, वह तो अपने प्रदेश में है, तथापि वे प्रदेश भिन्न हैं और आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं। निर्मल शुद्ध ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं और जितने अंश में से आस्रव उत्पन्न हो, वे प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! दो वस्तु भिन्न हैं तो दो वस्तुओं के प्रदेश भी भिन्न हैं। अरे! क्या कहा, समझ में आया?

आत्मा भगवान चिदानन्दस्वरूप में पुण्य और पाप के भाव दूसरी वस्तु है तो इसे और उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई सम्बन्ध नहीं, इतना नहीं, परन्तु अब (कहते हैं) उनके प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! जिस क्षेत्र में, जितने में ध्रुवपना है, उतने में वह आस्रव नहीं है। उससे जरा भिन्न प्रदेश अन्तिम अंश में आस्रव है। इसलिए इसके प्रदेश असंख्य में का प्रदेश भिन्न है। हैं तो अपने असंख्य (प्रदेश) जो हैं वे। आहाहा!

मुमुक्षु : एक अपरिणमते प्रदेश और एक परिणमते प्रदेश हैं? ध्रुव अपलटते प्रदेश में विराजमान और आस्रव पलटते प्रदेश में हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तिम अंश में है। अन्तिम अंश, असंख्य प्रदेश का अन्तिम अंश। वह प्रदेश इतने भिन्न हैं। इस ओर पूरा ध्रुव आत्मा भिन्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तिम का मतलब की परिणमते प्रदेश, पलटते प्रदेश लेना न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पलटते, नहीं पलटते की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो क्षेत्र की अपेक्षा है। क्षेत्र ही भिन्न है। यह भाव भिन्न है, इसलिए उनका क्षेत्र भिन्न है। आहाहा! शरीर, वाणी, एक ओर रखो, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव, वे भाव भिन्न हैं; इसलिए वस्तु भिन्न है; इसलिए उनके प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! प्रदेश तो असंख्य प्रदेश में के ही हैं, परन्तु वे भिन्न हैं, यह भिन्न है। सूक्ष्म बात है। आहा! बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा!

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है.. आहाहा! भगवान आत्मा की सत्ता और आस्रव की सत्ता, दोनों भिन्न होने से दोनों की एक सत्ता की अनुपपत्ति है। (अर्थात्) दोनों की एक सत्ता नहीं है। दोनों की दो सत्ता है। आहाहा! दो-तीन लाईन में तो (कितना भर दिया है)! **उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है..**

आस्रवभाव, मलिनभाव, अशुचिभाव। भगवान निर्मल और शुचि-पवित्र भाव है। दो की सत्ता भिन्न-भिन्न है। आहाहा! दो का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। आहाहा!

जैसे शरीर और कर्म से आत्मा भिन्न है, और आत्मा से वे भिन्न चीज़ें हैं। वे तो पृथक् प्रदेश हैं। यह शरीर, वाणी, कर्म के पृथक् प्रदेश हैं और आस्रव के पृथक् प्रदेश नहीं, उस में के प्रदेश का अन्तिम अंश, वह इसका प्रदेश है। यह शरीर, वाणी, मन के प्रदेश भिन्न हैं, पृथक् प्रदेश हैं। आत्मा के पृथक् और इसके पृथक्। इसमें (-आस्रव में) पृथक् हैं सही, परन्तु वे असंख्य में के पृथक् हैं। दूसरे पृथक् प्रदेश हैं, ऐसा नहीं है। क्या कहा?

असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से, जितने अंश में जितने क्षेत्र में से आस्रव होता है, उसके प्रदेश भिन्न गिने हैं, उसके प्रदेश भिन्न गिनने में आये हैं। बहुत सूक्ष्म! असंख्य प्रदेश में से उसके प्रदेश भिन्न गिनने में आये हैं। हैं तो असंख्य (प्रदेश), परन्तु जितने क्षेत्र में से आस्रव उत्पन्न हो, वह क्षेत्र भिन्न, उसके प्रदेश भिन्न। जिसमें आत्मा निर्मलानन्द पड़ा है, उसके प्रदेश भिन्न, वह निर्मल क्षेत्र है।

मुमुक्षु : दृष्टान्त देकर समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त! यह तो सादी भाषा है, यह तो सादी भाषा है। जहाँ आत्मा की पर्याय में आस्रव जो है, वे अशुचि और मलिन हैं। इसलिए वे आत्मा की चीज़ से भिन्न हैं-एक बात। और भिन्न हैं, इसलिए उनके प्रदेश भी भिन्न हैं। कोई भी चीज़, यह घास उगे, जमीन है उसमें पत्थर ऐसा ऊँचा हो। उसमें अन्तिम भाग में घास उगे। तो वह घास जितने में उगती है, उतने प्रदेश भिन्न हैं और इसके अतिरिक्त पूरा पत्थर बड़ा भिन्न है।

मुमुक्षु : आत्मा के पूरे प्रदेश में आस्रवतत्त्व नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : असंख्य प्रदेश में से... असंख्य प्रदेश में से जितने अंश में से पुण्य-पाप आस्रव उत्पन्न होता है, वे प्रदेश और इन प्रदेश के-निर्मल के प्रदेश से भिन्न गिनने में आये हैं। सूक्ष्म बात है, भाई!

मुमुक्षु : एक-एक प्रदेश में भिन्न है?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्येक प्रदेश-प्रदेश में भिन्न है। असंख्य प्रदेश से भिन्न है, इसलिए वह तो प्रत्येक प्रदेश से भिन्न ही है। असंख्य प्रदेश में अन्तिम अंश में आस्रव होता

है और यह असंख्य प्रदेश में पूरा आत्मा है अर्थात् कोई प्रदेश आत्मा का-ध्रुव का जो है, वह आस्रवों का नहीं है। आस्रव का प्रदेश है, वह इसका (आत्मा का) नहीं है। आहा!

मुमुक्षु : आप ऐसा कहना चाहते हो कि ऊपर का भाग और अन्दर का भाग?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है तो वह की वह चीज़, परन्तु जरा ऊपर अन्तिम स्थिति और ऐसे अन्दर..

मुमुक्षु : आत्मा में से निकल जाता है इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल जाता है, इसलिए अथवा प्रदेश तो कहीं निकलते नहीं। भाव निकल जाता है। इसलिए नहीं कहा। ख्याल में है। आस्रव का भाव निकल जाता है परन्तु कहीं वे प्रदेश निकल नहीं जाते परन्तु जहाँ तक आस्रव है, वहाँ तक के प्रदेश भिन्न हैं, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) **उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है..** आस्रव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव है, वह आस्रव है और वह जितने अंश में से उत्पन्न हो, उसका क्षेत्र भिन्न है। इसलिए आत्मसत्ता और आस्रव की सत्ता दोनों एक नहीं है। दोनों की सत्ता दो अलग-अलग है। दो का अस्तित्व दो रूप है। आस्रव का अस्तित्व आत्मा से नहीं और आत्मा का अस्तित्व आस्रव से नहीं। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : दो के बीच अतद्भाव है या अत्यन्त अभाव है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो अत्यन्त अभाव है। विकार है न! अत्यन्त अभाव है। आहाहा! विकार को अत्यन्त अभाव कहा न! कठिन बात है, भाई यह सब। संवर अधिकार कठोर है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा में से निकल जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकल जाते हैं, तथापि प्रदेश तो इसके रहते हैं। अवस्था निकल जाये परन्तु जो प्रदेश निर्मल हैं और वे रहें। यहाँ तो जब तक आस्रव है और आत्मा है, तब तक की बात है। जब तक भगवान यहाँ है और आस्रव है, वह वस्तु भिन्न है; अत: भिन्न है तो प्रदेश भिन्न है। पश्चात् आस्रव निकल गये, फिर वे इसके प्रदेश थे, वे सब निर्मल हो गये। अरे.. अरे! बातें गजब!

मुमुक्षु : बड़ी कठिन पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कठिन पड़े; इसलिए धीरे-धीरे लेते हैं।

यह भाव आता है, उस प्रकार से पकड़ो। जो आस्रवभाव है, वह आत्मवस्तु से उसे दूसरी वस्तु ही कहा गया है। पर्याय को भी वस्तु कहने में आयी है। अन्य वस्तु (कहने में आयी है)। त्रिकाल की अपेक्षा से पर्याय को अन्य वस्तु कहा है। यों तो निर्मल पर्याय (भी)। आहा! चिद्विलास में बहुत अधिकार है। निर्मल पर्याय अन्य वस्तु है। आहाहा! त्रिकाली की अपेक्षा से एक समय की अवस्था, वह भिन्न है। तथापि वह पर्याय निर्मल है अन्दर और वस्तु भी निर्मल है। इसमें (चलते विषय में) अन्तर है। जितने में भगवान शुद्ध चैतन्य है, वे सब निर्मल प्रदेश हैं और जो प्रदेश के अंश में पुण्य-पाप, मिथ्यात्व आदि उत्पन्न हुआ, वह वस्तु भिन्न और वे प्रदेश भिन्न। जो प्रदेश भिन्न तो ऐसा कोई कहे कि आस्रव जाने के बाद वे प्रदेश कहाँ गये? आस्रव जाने के बाद प्रदेश निर्मल हो गये। फिर वह अन्य वस्तु नहीं रही। आहाहा! समझ में आया? आस्रव है, तब तक अन्य वस्तु के प्रदेश भिन्न हैं। आस्रव का नाश हुआ, तब फिर वे आस्रव के जो प्रदेश थे, वे तो अभिन्न हो गये, निर्मल हो गये। फिर वे प्रदेश आस्रव के थे, इसलिए भिन्न रह गये, निर्मल, परन्तु ऐसा नहीं है। ऐई!

मुमुक्षु : अगम-निगम की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अगम-निगम की बात है। आहाहा!

(अर्थात् दोनों की सत्ताऐं भिन्न भिन्न हैं); और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है,.. आहाहा! अब तीसरा बोल आया। **तब उनमें परस्पर आधाराधेय -सम्बन्ध भी है ही नहीं।** आहाहा! आत्मा के आधार से कर्म रहते हैं और कर्म के आधार से आत्मा, (ऐसा) तो नहीं। यह शरीर, आत्मा के आधार से रहता है, (ऐसा नहीं) यह जीवित शरीर है, तब तक ऐसे रहता है, लो! जीव निकल जाने के बाद?

मुमुक्षु : गिर जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : गिर जाये!

यहाँ कहते हैं कि जीव के आधार से यह सिर रहा नहीं है। आहाहा! किसी के

आधार से कोई द्रव्य नहीं रहता। यहाँ तो आस्रव के आधार से आत्मा नहीं है, (ऐसा कहते हैं)। आहाहा! सूक्ष्म बात है (कलश) *टीकाकार ने इसीलिए यह ॐ नमः कहकर टीका शुरु की है। अन्यत्र ॐ नमः नहीं लिखा। ॐ नमः नहीं लिखा। मैंने कहीं रखा है, हाँ! है? यह नहीं, वह। नहीं। उसमें है। संवर अर्थात् मोक्ष का मार्ग, आत्मा की निर्मल परिणति। उसका मांगलिक करते हुए पहले ॐ नमः किया। आहाहा!

पहली यह बात हुई कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। आ गया? फिर एक वस्तु के (और) दूसरी वस्तु के प्रदेश भिन्न हैं, ऐसा कहा। इसलिए दोनों की सत्ता एक नहीं है, ऐसा कहा। अब कहते हैं कि एक दूसरे को आधार-आधेय भी नहीं है। आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है, ऐसा है न? **आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं।** ये तो दो कहे, अब यह तीसरा कहना है। आहाहा! शरीर के आधार से आत्मा और आत्मा के आधार से शरीर। (ऐसा नहीं है।) आत्मा जब निकलकर स्वर्ग में जाये, तब कर्म के आधार से आत्मा वहाँ जाता है और आत्मा के आधार से कर्म जाता है – ऐसा नहीं। सबका कारण सब। आहाहा! स्वर्ग में जाये, तब कर्म तो साथ में है न? परन्तु उस कर्म के आधार से आत्मा चलता है और आत्मा गति करता है, इसलिए आत्मा के आधार से कर्म साथ आता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। आचार्यों ने गजब काम किया है! सादी भाषा में....

एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होने से, ऐसा। एक के साथ दूसरे को, एक के साथ अर्थात् दूसरे के साथ दूसरे को आधार-आधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। **इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेय-सम्बन्ध है।** आहाहा! इसलिए अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप आधार-आधेयसम्बन्ध है अर्थात् आत्मा की निर्मल परिणति, वह आधार है और भगवान, वह आधेय है। उससे ज्ञात होता है, इसलिए वह आधेय है। आहाहा! आस्रव आधेय है और आत्मा उसे आधार है, ऐसा नहीं है। वे शोर मचाते हैं न कि व्यवहार से निश्चय होता है। (उनकी यह) झूठ बात है। राग-पुण्य-पाप का, दया, दान का, आस्रव, वह वस्तु ही भिन्न है, उसके प्रदेश भिन्न हैं, उसकी सत्ता भिन्न है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। अब चौथा।

अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध

है। आहाहा! यह क्या कहते हैं? भगवान आत्मा निर्मल शुद्ध चैतन्य की शुद्ध परिणति को आधार-आधेय है। (शुद्धपरिणति) आधार है, उसे आत्मा आधेय है। दूसरे के आधार-आधेय के साथ सम्बन्ध कुछ नहीं है। जिसकी शुद्धपरिणति से ज्ञात हो, इसलिए उसे आधार कहा और आत्मा को आधेय कहा। ऐसा है।

इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है। अपने साथ आधार है। अर्थात्? निर्मल परिणति, वह आधार और आत्मा, वह आधेय, ऐसा सम्बन्ध है। समझ में आया? निर्मल मोक्ष का मार्ग, वह आधार; आत्मा, वह आधेय। संवर, वह आधार; आत्मा, आधेय, क्योंकि संवर से वह आत्मा ज्ञात होता है। निर्मल परिणति से वह आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए संवर की सत्ता और इसकी सत्ता यहाँ एक गिन डाली और उसे आधार-आधेय सम्बन्ध गिना है। संवर आधार है, वस्तु आधेय है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५८, गाथा १८१-१८३ दिनाङ्क २०-०६-१९७९
बुधवार, ज्येष्ठ कृष्ण ११

(समयसार, १८१ से १८३ गाथा) **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है...** इसमें पूरा सिद्धान्त है। एक चीज़ की दूसरी चीज़ नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि पुण्य और पाप के विकार भी इसके-आत्मा के नहीं हैं। **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है...** दूसरी अनन्त अन्य (चीजें) हैं, वह तो नहीं, परन्तु अन्दर में होते हुए क्रोध, मान, पुण्य, दया, दानादि के भाव, वह भी एक वस्तु की - यह वस्तु आत्मा की नहीं, आत्मा में वह नहीं। आहा! **(एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती)...** निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहाँ गया?

मुमुक्षु : निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अर्थात् कुछ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कुछ तो कहे, जानने के लिये है। वह निमित्त उसके रूप, नैमित्तिक अपनी पर्यायरूप परिणमे। एक-दूसरे को कोई सम्बन्ध है नहीं।

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. है ? आत्मा के प्रदेश और शरीर, वाणी, कर्म के प्रदेश तो भिन्न है, परन्तु इसमें पुण्य-पाप के भाव हों, उनके प्रदेश यहाँ भिन्न गिनने में आये हैं। भिन्न गिनने में आये हैं। भिन्न अर्थात् हैं तो असंख्य प्रदेश में के, परन्तु उनका अंश जिसमें जितना विकार उत्पन्न हो, उतने क्षेत्र को भिन्न प्रदेश गिनने में आया है। समझ में आया ? क्योंकि दूसरी, दूसरे की वस्तु नहीं अथवा सम्बन्ध नहीं। क्यों ? कि दोनों के प्रदेश भिन्न होने से। आहाहा!

उस कान्तिलाल ने लिखा है, रत्नत्रय में, एक उसमें आता है न ? पंच परमेष्ठी की स्तुति-भक्ति से विशुद्ध परिणाम होते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक... और विशुद्ध से फिर शुद्ध होते हैं, ऐसा आता है। विशुद्धि से शुद्ध होता है। ऐसा ढूँढ़कर डाले। यह तो जरा निमित्त से कथन किया है। मोक्षमार्गप्रकाशक में है। जहाँ पंच परमेष्ठी की बात की न, वहाँ पंच परमेष्ठी की स्तुति विशुद्ध है। विशुद्ध परन्तु इसे ऐसे विशुद्ध (अर्थात्) मानो कि शुभ को ही विशुद्ध कहते हैं, ऐसा। परन्तु विशुद्ध तो शुद्ध को भी कहते हैं, शुभ को भी कहते हैं। इस जगह भले विशुद्ध शुभ है, परन्तु दूसरी जगह शुद्ध को भी विशुद्ध कहते हैं और शुभभाव को भी विशुद्ध कहते हैं और शुभभाव विशुद्ध, वह बन्ध का कारण है।

यहाँ तो इस शुभभाव के प्रदेश ही भिन्न (कहे हैं)। भाव भिन्न तो उसका क्षेत्र-स्थान भी भिन्न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा के शुभभाव इसके नहीं। वह वस्तु दूसरी, उसके प्रदेश ही दूसरे हैं और इसके प्रदेश दूसरे हैं। भाव दूसरा, इसलिए वस्तु दूसरी। दया, दान के परिणाम भी आत्मा की अपेक्षा से दूसरी वस्तु है और उसकी अपेक्षा से... क्यों ? कि प्रदेश भिन्न हैं। **दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है..** उन्हें-दो को एक सत्ता की उत्पत्ति नहीं है। राग के परिणाम, दया, दान आदि देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहार श्रद्धा के (परिणाम) और आत्मा, इन दो की एक सत्ता नहीं है। आहाहा! दो की सत्ता तो भिन्न, अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! ऐसा है।

वह है, इसलिए उसमें डाला है, आज कुछ आया है-रत्नत्रय। एक समाचार पत्र

निकालता है न! वह इसमें है न – मोक्षमार्गप्रकाशक में! वह खबर है, विशुद्धि (शब्द) दोनों जगह प्रयुक्त होता है। शुभभाव में भी प्रयुक्त होता है, शुद्ध में भी प्रयुक्त होता है। वह डाला है। अरिहन्त आदि के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते हैं, वह कषाय की मन्दतापूर्वक होते हैं। इसलिए वे विशुद्ध परिणाम हैं। उन्हें विशुद्ध (कहा है)। देखो! इसमें है। विशुद्ध कहलाते हैं तथा समस्त कषाय भाव मिटाने का साधन है। निमित्त से कहते हैं। व्यवहार साधन कहीं कहा है न! इस अपेक्षा से ऐसा कहा। इसलिए वह शुद्धपरिणाम का कारण भी है। इतना है। अरे!

उसका क्षेत्र भिन्न, प्रदेश भिन्न, सत्ता भिन्न। किस जगह कहा हो, (वह समझना चाहिए)। यह तो व्यवहार साधन-साध्य (आता है)। निर्मल पर्याय का क्षेत्र भिन्न है, परन्तु यहाँ अभी उसका काम नहीं है। यहाँ तो मलिन परिणाम जो शुभ है, क्रोधादि... क्रोध कहेंगे, स्वभाव के प्रति विरुद्ध भाव, ऐसा जो क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध, मान अर्थात् द्वेष और माया, लोभ अर्थात् राग। वह राग और द्वेष की सत्ता भिन्न है, उसके प्रदेश भिन्न हैं। वे आत्मा की वस्तु से वस्तु भिन्न है। आहाहा! ऐसी बात है।

(दोनों की सत्ताऐं भिन्न भिन्न हैं);.. आहाहा! चैतन्य भगवान ज्ञायकस्वभाव और व्यवहाररत्नत्रय का राग, इन दोनों के प्रदेश भिन्न और सत्ता भिन्न। आहाहा! जगत को जँचना (कठिन पड़े।) **और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है,..** एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होने से **तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं।** है ही नहीं, ऐसा कहा है। राग आधार और निश्चयस्वभाव आधेय – समझ में आये, राग के आधार से निर्मल (स्वभाव) समझ में आये, ऐसा नहीं है। आहाहा! निर्मल पर्याय है... उसमें नाशवान उपयोग लिया है परन्तु अकेला शुद्ध उपयोग है, वह सदा नहीं रह सकता। इसलिए उसका शुद्धपरिणमन आधार लिया। नहीं तो उपयोग में उपयोग है। शुद्ध उपयोग में आत्मा है, परन्तु ऐसा कहने जाये तो अकेला शुद्ध उपयोग कितनी बार नहीं, परिणमन शुद्ध है और उपयोग राग में जाता है। इसलिए इसका शुद्धपरिणमन है, आत्मा का शुद्ध परिणमन है, उसमें आत्मा है। समझ में आया? उपयोग का अर्थ ऐसा हुआ। ज्ञानस्वरूप जाननक्रिया, वह जाननक्रिया उपयोग का अर्थ किया है। आहा! वह अत्यन्त शुद्ध उपयोग करे तो शुद्ध उपयोग सदा होता नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। सम्बन्ध भी नहीं, ऐसा कहा। सत्ता तो भिन्न है, परन्तु आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है, ऐसा। **इसलिए भी है ही नहीं।** ऐसा (कहा)। यह भी नहीं, ऐसा (कहना है)। वह तो प्रदेश भिन्न है, सत्ता भिन्न, परन्तु आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। राग, व्यवहाररत्नत्रय का राग आधार और उसके कारण आत्मा ज्ञात हो, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी बात संवर अधिकार में स्पष्ट रखी है। **इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप..** प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में आधार-दृढ़पने रहनेरूप 'ही' एकान्त किया। **आधाराधेयसम्बन्ध है।** अर्थात् कि प्रत्येक वस्तु को अपने स्वरूप में ही रहनेरूप आधार है।

इसलिए ज्ञान जो कि.. ज्ञान अर्थात् आत्मा। ज्ञान अर्थात् आत्मा। यह अपनी **जाननक्रिया..** ऐसी भाषा ली है। वह उपयोग न लेकर यह (जाननक्रिया) ली है। जो शुद्धचैतन्यस्वरूप है, उसकी जो जानने की, श्रद्धा की, स्थिरता की, आनन्द की क्रिया।

टीका। **वास्तव में..** अर्थात् निश्चय से। **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** अर्थात्? एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात्? चैतन्यस्वरूप को और दया, दान, व्रत या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का व्यवहार का रत्नत्रय का राग, उस राग को और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! है? **एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती)..** कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्बन्ध अर्थात् निमित्त-निमित्त हुआ। यह तो कहते हैं। उसमें क्या, वह तो निमित्त वस्तु नहीं। वास्तव में तो वह ज्ञेय और यह, यह भी व्यवहार है। ज्ञान, ज्ञेय को जाने, यह व्यवहार है; ज्ञान, ज्ञान को जाने, यह निश्चय है। सूक्ष्म बात, सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो पाठ तो ऐसा है, उपयोग में उपयोग में नहीं, ऐसा नहीं कहा। उपयोग में उपयोग है। तब यहाँ उपयोग में उपयोग है, ऐसा यदि लेने जायें तो शुद्ध उपयोग में आत्मा है, तो ऐसा लेने जायें तो शुद्ध उपयोग तो सदा रहता नहीं। इसलिए शुद्ध उपयोग में, शुद्ध

उपयोग जो है, इसका अर्थ यह करेंगे, फिर जाननक्रिया अर्थ करेंगे, उपयोग अर्थ नहीं करेंगे। क्योंकि उपयोग है, वह शुद्ध उपयोग सदा नहीं रहता, तो फिर उसके आधार से ही हो तो जाननक्रिया परिणमन जो शुद्ध है, उसका आधार नहीं, ऐसा हो जाता है। है यह ? उपयोग भले बाहर में-रागादि में जाये, तथापि आत्मा की जाननक्रिया, परिणमन क्रिया, शुद्ध परिणमनक्रिया, वही इतना उपयोग है। उसमें आत्मा है। आहाहा! नहीं राग में, नहीं अजीव में, नहीं शरीर में, नहीं वास्तव में तो शुद्ध उपयोग में भी त्रिकाल वस्तु नहीं है। जाननक्रिया में वह वस्तु है। आहाहा!

मुमुक्षु : जाननक्रिया में निष्क्रिय वस्तु कैसे कहलाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाननक्रिया, वह निर्मल परिणति है, उसके द्वारा जानने में आती है। जाननक्रिया का अर्थ यह कि स्वभाव का निर्मल परिणमन है, उसके द्वारा ज्ञात होती है। परिणमन है, वह आधार है; आत्मा, वह आधेय है। आहाहा! ऐसी शैली ली है।

(अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं.. आहाहा! यह व्यवहाररत्नत्रय का राग और भगवान आत्मा दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। हैं असंख्य प्रदेश में के, परन्तु असंख्य प्रदेश में जिस प्रदेश के अंश में राग उत्पन्न होता है, वह राग भाव और उसका क्षेत्र; भाव और उसका क्षेत्र इसके भाव और इस क्षेत्र से भिन्न हैं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : मन में कल्पना करनी या दोनों भिन्न हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानस्वरूप यहाँ तो आत्मा लेना है।

मुमुक्षु : काल्पनिक रीति से भिन्न नहीं पड़ते।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न नहीं। आत्मा और ज्ञान दोनों एक ही यहाँ तो लिये हैं। राग भिन्न। ज्ञान शब्द से यहाँ आत्मा है। उपयोग कहा, उपयोग कहा न ? उपयोग में उपयोग है। उपयोग में उपयोग है, वह उपयोग है तो यह। आत्मा उपयोग में अर्थात् जाननक्रिया में उपयोग है अर्थात् आत्मा है। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। दोनों को सम्बन्ध नहीं है, क्यों ? कारण देते हैं कि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। क्योंकि भाव भिन्न है तो भाव का क्षेत्र भी भिन्न है। ध्रुव और ध्रुव

का क्षेत्र, ध्रुवभाव और क्षेत्र उससे भिन्न है और उनसे (क्रोधादि से) यह भिन्न है। यहाँ तो विकार में लिया है, परन्तु निर्विकारी परिणति हो, उसके भी प्रदेश भिन्न हैं, क्योंकि दो भाव हुए न, एक ध्रुवभाव है और एक परिणतिभाव है। दो भाव हुए, इसलिए दो भाव के प्रदेश दोनों के भिन्न हैं। शुद्ध परिणति के प्रदेश भिन्न हैं। यहाँ तो अशुद्ध (परिणति की) बात की है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। वे कहे, दया पालो, व्रत करो और अपवास करो, लो! हो गया (धर्म) जाओ! अब इन बनियों को यह समझना। एक दूसरे को सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दोनों के अंश—क्षेत्र, भाव भिन्न होने से। (इसलिए) **उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है..** शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा और राग, दोनों की एक सत्ता की अनुपपत्ति है। दोनों की एक सत्ता ही नहीं है, दो की सत्ता भिन्न है। आहाहा!

यह तो अभी कहा, वह कान्तिलाल ईश्वर है न? मासिक निकालता है न, उसमें डाला है। मोक्षमार्गप्रकाशक में पहले (आता) है कि भगवान की स्तुति से विशुद्ध परिणाम होते हैं, परन्तु विशुद्ध तो शुभ को भी कहा जाता है, शुद्ध को (भी कहा जाता है)। यहाँ शुभ को (विशुद्ध) कहते हैं। उसका अर्थ ऐसा नहीं कि शुभ है, इसलिए उसे विशुद्ध (परिणाम होते हैं)। अपेक्षा से विशुद्ध कहा है परन्तु तदुपरान्त मोक्षमार्गप्रकाशक में जरा स्वयं ऐसा लिया है कि विशुद्धि है, वह शुद्ध का कारण है। ऐसा लिया है। निमित्त से कथन है।

यहाँ कहते हैं विशुद्धि जो शुभभाव है, वह आत्मा में नहीं है। दोनों की सत्ता भिन्न है। भिन्न सत्ता, भिन्न सत्ता को क्या करे? आहाहा! ऐसा है। कठिन बात है कठिन। **एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ताऐं भिन्न भिन्न हैं);..** आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव का भाव, उसे द्रव्य गिने तो उसके प्रदेश भी भिन्न हैं। जितने में से वह उठता है, उतने प्रदेश-क्षेत्र भिन्न है। उसे भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव लें तो काल उसका एक समयमात्र, क्षेत्र उस प्रदेश का अन्तिम अन्त, वस्तु स्वयं वह, भाव उसका वह विकारी। समझ में आया इसमें?

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस राग के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न। आहाहा! और भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप के प्रदेश भिन्न। आहाहा! उन्हें एक सत्ता की प्राप्ति है ही नहीं। आहाहा! परन्तु वह मोक्षमार्गप्रकाशक में जरा लिखा है न! विशुद्धि का आठवें पृष्ठ

पर है। स्तवन से उसे विशुद्धि होती है। उसे मानो ऐसा कि शुभ को विशुद्ध कहा न! ऐसा। परन्तु उस शुभ को भी विशुद्ध कहा है और शुद्ध को भी विशुद्ध कहा है, दोनों है। शास्त्र में दोनों शब्द हैं। विशुद्ध अर्थात् उस कषाय की तीव्रता की अपेक्षा से उसे विशुद्धि कहा है। परन्तु है तो राग, कषाय और आत्मा की सत्ता दो भिन्न, दोनों के प्रदेश भिन्न, दो के भाव भिन्न। तदुपरान्त **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं**। आहाहा! राग आधार और निर्मल परिणति आधेय, उसके आश्रय से प्रगटे, ऐसा नहीं है। आहाहा! आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति (आधार और आत्मा आधेय, ऐसा नहीं है)।

एक ओर कुन्दकुन्दाचार्यदेव मोक्षपाहुड़ में कहते कि 'परदव्वादो दुग्गई'! 'परदव्वादो दुग्गई' तथा एक ओर ऐसा कहे कि यह विशुद्धि, वह शुद्धता का कारण है। शुभभाव, वह परद्रव्य के लक्ष्य से (होता है) परन्तु वह दुर्गति है, चैतन्यगति नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। चर्चा से कुछ पार नहीं पड़ता। भाव समझना चाहे तो समझ में आये, ऐसी बात है।

परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। क्या (कहा)? सत्ता भिन्न है, प्रदेश भिन्न है (और) यह भी नहीं, ऐसा; इसलिए 'भी' (शब्द) लेना पड़ा। समझ में आया? आहाहा! राग की क्रिया और आत्मा का स्वभाव, दोनों को कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए दोनों की सत्ता इस कारण भिन्न है इसलिए; और इससे इनको-दोनों को आधार-आधेयसम्बन्ध भी नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, यह इनकार करते हैं। उसकी सत्ता भिन्न है, प्रदेश भिन्न है और दोनों को आधार-आधेयसम्बन्ध भी नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। सम्प्रदाय से तो इस (बात का) मेल खाना मुश्किल है। कितने बोल स्पष्ट किये हैं! आहाहा!

चैतन्य भगवान निर्मलानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द आदि अतीन्द्रिय गुण का धाम, वह आधेय है और उसका आधार, जो उसकी परिणति से ज्ञात होता है, इसलिए उसका आधार परिणति है। आहाहा! शुद्धपरिणति से आत्मा ज्ञात होता है। वह था, है भले हो। है भले, परन्तु है का हैपना इसे कब आवे? आहाहा! वह कारणपरमात्मा है अवश्य परन्तु वह है कब? कि पर्याय में कार्यपना हो, उसे वह कारणपरमात्मा है। इसलिए दूसरे को कारण

-परमात्मा है, ऐसा कहाँ आया ? आहाहा ! सबको कारणपरमात्मा है, यह तो बराबर है, परन्तु कारणपरमात्मा का जिसे भान हुआ नहीं, उसे कारणपरमात्मा की श्रद्धा कहाँ है ? आहाहा ! इसलिए भाई ने कहा था न ? त्रिभुवन वारिया ! ऐसा कि कारणपरमात्मा आप कहते हो तो कारण हो तो कार्य तो आना चाहिए ? (हमने कहा) परन्तु कारणपरमात्मा है, उसका अस्तित्व है—ऐसा जिसे प्रतीति में आया, उसे है या न हो उसे है ? और जिसे प्रतीति में आया, उसे समकित का कार्य आया ? समझ में आया ? आहाहा ! ऐसा है। मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई !

एक-दूसरे के साथ **आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं।** वापिस 'ही' (लिखकर) एकान्त किया है। कथंचित् आधार-आधेयसम्बन्ध और कथंचित् आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं, कथंचित् दोनों की सत्ता एक है और (कथंचित्) दोनों की सत्ता भिन्न है, ऐसा नहीं। आहाहा ! सम्यक् एकान्त नय का विषय सिद्ध किया है। आहाहा ! **इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में..** अपने स्वरूप में (कहा है)। **प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है।** यह तो पहले सिद्धान्त किया। अब आत्मा पर घटित करते हैं।

इसलिए ज्ञान जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है.. आहाहा ! सिद्धान्त यहाँ है। उपयोग में उपयोग है, वह यहाँ (है)। पहले तो सिद्धान्त सिद्ध किया। आहाहा ! जो आत्मा, उसकी जो जाननक्रिया, जो परिणमन द्वारा आत्मा ज्ञात हुआ... आहाहा ! जिस परिणमन द्वारा आत्मा ज्ञेय जानने में आया, ज्ञेय हुआ, उस जाननक्रिया के आधार से वह ज्ञात हुआ। आहाहा ! क्योंकि कार्य हो, तब कारण कहलाये न ? इसी प्रकार यहाँ जब कार्य-जाननक्रिया हुई तो उससे आत्मा ज्ञात हुआ कि यह आत्मा है।

वैसे द्रव्य के आश्रय से गुण और पर्याय रहते हैं। वह तो एक वस्तु की सिद्धि करनी है। द्रव्य के आश्रय से गुण और पर्याय है। बस ! 'द्रव्याश्रया गुणा' तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है। द्रव्य के आश्रय से गुण (रहे हुए हैं), यह तत्त्वार्थसूत्र का (सूत्र है)। आहाहा ! उसमें भी-श्वेताम्बर में अट्ठाईसवें अध्ययन में भी है 'द्रव्याश्रया गुणो, एक दव्वसिया गुणा' वहाँ यह दूसरी बात है।

यहाँ कहते हैं, उसके आश्रय से जो कहा था, वह तो वस्तुसिद्ध करने को (कहा था), परन्तु अकेली वस्तुस्थिति जिसे ख्याल में, अनुभव में न आवे उसे क्या ? कहते हैं।

आहाहा! जिसे ख्याल में आवे, ज्ञान के परिणमन में, श्रद्धा के परिणमन में, शान्ति के परिणमन में अर्थात् स्वरूपाचरण स्थिरता इत्यादि परिणमन में ख्याल आवे कि यह आत्मा है, इसलिए जाननक्रिया, ऐसा अपना स्वरूप। वह जाननक्रिया इसका स्वरूप है। रागादि इसका स्वरूप नहीं है। जानना, जानना-देखना, ऐसा परिणमन वह तो इसका स्वरूप (परिणमन) है।

उस **जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है..** आहाहा! उस अपने स्वरूप में आत्मा-ज्ञान रहा है, ऐसा कहना है न? ज्ञान अपने स्वरूप में रहा है। स्वरूप अर्थात्? ज्ञान ऐसा जो अपना आत्मा, उसे जाननक्रियारूपी जो अपना स्वरूप, उसमें वह रहा है; इसलिए उसमें वह ज्ञात होता है। ऐसी बात है। समझ में आया इसमें?

ज्ञान... अर्थात् आत्मा **जो कि जाननक्रियारूप..** वह अपना स्वरूप है। आहाहा! रागादि इसका स्वरूप नहीं था। जो जाननक्रिया, आत्मा जो ज्ञायक चैतन्यमूर्ति प्रभु, उसकी जो वर्तमान जाननक्रिया, श्रद्धाक्रिया, शान्ति की क्रिया, आनन्द की (क्रिया), उस जाननक्रिया में सब गुणों की पर्याय आ गयी। आहाहा! समझ में आया? **जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है..** दोनों वस्तुएँ भिन्न की हैं। ज्ञान अर्थात् ही आधेय और जाननक्रिया, वह आधार। उस जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में रहा हुआ है। आहाहा! समझ में आया? पुस्तक है न सामने? इसमें लोहे में-बोहे में कहीं वहाँ हाथ आवे, ऐसा नहीं है। पैसा आवे, वह भी उसकी पर्याय का काल (होवे तो आवे)। आहाहा!

यहाँ तो पहले ऐसा कहा, प्रवचनसार में तो ऐसा आ गया कि द्रव्य अपनी पर्याय को पहुँचता है। द्रव्य अपनी पर्याय को पहुँचता है, प्राप्त करता है, पाता है और पर्याय द्रव्य-गुणों से उत्पन्न होती है। समझ में आया? पर्याय, द्रव्य-गुण से उत्पन्न होती है और पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है। फिर विकार या अविकार दोनों, हों! यहाँ निर्विकारी (पर्याय की) बात नहीं है। द्रव्य जो है, वह अपनी जो परिणति है या पर्याय है, विकारी या अविकारी। द्रव्य है वह स्वयं मिथ्यात्व को पाता है, वह अपनी क्रिया / पर्याय है। ऐसा है। यह तो अपने बहुत बोल आ गये। ९८ और ९९वीं (गाथा) उसके अवसर में होनेवाला मिथ्यात्वभाव, उसे द्रव्य पहुँचता है, द्रव्य प्राप्त करता है, द्रव्य प्राप्त करता है। उसे द्रव्य प्राप्त करता है। आहाहा! आहाहा! दूसरी कोई चीज़ नहीं पाती, इतना वहाँ सिद्ध करना है।

यहाँ दूसरी बात सिद्ध करनी है। आहाहा! यहाँ तो वस्तु है परन्तु उस वस्तु का जहाँ अन्दर भान करते हैं, उसकी सन्मुखता होती है, तब जो ज्ञान और श्रद्धा का परिणमन हुआ, उसके स्वरूप के आधार से वह चीज़ है। क्योंकि उसके स्वरूप के आधार से वह ज्ञात हुआ है। इतना अब याद कब रखना? कहो, त्र्म्बकभाई! इसे मुम्बई का सम्हालना या कांप का सम्हालना या यह (समझना)? क्या करना। आहाहा! उल्लासचन्दजी! यह अलग प्रकार का उल्लास है। आहाहा! (श्रोता—मुम्बई का और लोहे का दोनों का सम्हालना?)

कहते हैं, प्रभु! एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। यह रागादि और पर आदि की अपेक्षा। दोनों की सत्ता भिन्न, यह रागादि और पर की अपेक्षा। दोनों का आधार-आधेय नहीं, यह रागादि और पर की अपेक्षा। यहाँ आधार-आधेय है। आहाहा! वह वस्तु तो वस्तु है। भगवान पूर्णानन्द प्रभु है, उस 'है' का यहाँ परिणमन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि परिणमन हुआ, उस परिणमन के आधार से 'यह है', यह है अंश। अंश का परिणमन हुआ, उस अंश में 'यह अंशी इतना पूरा है' ऐसा उसके आधार से ज्ञात हुआ। इसलिए उसे आधार (कहा), वस्तु तो आधेय (कहा)। आहाहा! कहो, मीठालालजी! ऐसी चीज़ है। लोगों को कठिन पड़े परन्तु क्या हो?

एक ओर ऐसा कहे कि प्रवचनसार ऐसा पुकारता है (कि) द्रव्य पर्याय को पहुँचता है। विकारी या अविकारी, हों! वहाँ तो द्रव्य, गुण और पर्याय सिद्ध करना है, इतना। यहाँ तो संवर सिद्ध करना है। संवर कब होता है? चैतन्यमूर्ति शुद्ध है, उसका आश्रय लेकर और शुद्ध परिणमन जो होता है, तब उस परिणमन में यह चीज़ ज्ञात हुई, इसलिए परिणमन, वह आधार है; आत्मा, वह आधेय है। आहाहा! इतना सब बदलना कितना! साफ है, ऐसी स्पष्ट (बात है)। आहाहा!

जिसे राग और कर्म का सम्बन्ध ही नहीं। निमित्त-निमित्त वह कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, वह भी व्यवहार है। आहाहा! आहाहा! उसमें होनेवाली शुद्ध परिणति, शुद्ध की दृष्टि से, लक्ष्य से (होती उस) परिणति में उसे ज्ञात हुआ कि 'यह द्रव्य है।' परिपूर्ण भगवान परिपूर्ण वस्तु, भले उस परिणति में वह द्रव्य आया नहीं, परन्तु परिणति में उस द्रव्य की जितनी सामर्थ्य है, उतना ज्ञान और प्रतीति हो गयी। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह सब सिर फिर जाये ऐसा है। आहाहा!

जाननक्रियारूप अपने स्वरूप.. देखा यह ? उसका परिणमन है और वह अपना स्वरूप है। चैतन्य भगवान ध्रुव है, उसका जो परिणमन है, वह अपना स्वरूप है। आहाहा ! एक जगह ऐसा कहे कि पर्यायस्वरूप में द्रव्य नहीं आता और द्रव्यस्वरूप में पर्याय नहीं आती। यह बात तो ऐसी ही है। यहाँ भी ऐसा कहा, पर्यायस्वरूप है, उसमें द्रव्य ज्ञात हुआ, द्रव्य उसमें आया नहीं परन्तु जितना जैसा द्रव्य है, जितनी सामर्थ्यवाला है, अनन्त गुण के पुरुषार्थ के, एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप है, ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ का रूप है, अनन्त आनन्द का रूप है, अनन्त अकर्ता, अकारण का रूप है। ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का जो सामर्थ्य, ऐसा जो तत्त्व, जो जाननक्रिया के उपयोग में (आया), जाननक्रिया ली। उपयोग में उपयोग है, उसमें उपयोग में (अर्थात्) उसे यहाँ जाननक्रिया ली है। आहाहा ! समझ में आया ? है न सामने ? पुस्तक है या नहीं ?

जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है.. आहा ! क्यों ? (कि) **जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से,..** आहाहा ! आत्मा चैतन्यस्वरूप पूर्ण आनन्द आदि, उसका जानना हुआ, श्रद्धान हुआ, स्थिरता हुई, अनन्त गुणांश शक्ति में जो थे, वे व्यक्तरूप हुए, सब अंश (व्यक्तरूप हुए), उस परिणमन के आधार से ज्ञात हुआ कि यह (आत्मा) है। आनन्द के आधार से ज्ञात हुआ कि पूर्ण आनन्द है, ज्ञान की व्यक्तता का अंश पूर्ण ज्ञान, (को बतलाता है), शान्ति के आश्रय से पूर्ण शान्ति (ज्ञात हुई), पुरुषार्थ के आश्रय से पूर्ण (पुरुषार्थ) ज्ञात हुआ, ऐसे वह प्रगट जो पर्याय (हुई), उसमें जो अंश आये, उन अंशों द्वारा वह ज्ञात हुआ; इसलिए उसे—अंश को आधार कहा जाता है और अंशी को आधेय कहा जाता है। समझ में आया ? आहाहा !

जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है;... वह आत्मा भगवान त्रिलोकनाथ, उसकी जो जानने की, देखने की श्रद्धा की पर्याय हुई, वह उसका स्वरूप है और इसलिए वह ज्ञान की क्रिया, श्रद्धा की क्रिया, शान्ति की क्रिया, वह ज्ञान से अभिन्न है, आत्मा के स्वभाव से वह पर्याय अभिन्न है। आहाहा ! **अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है;..**

मुमुक्षु : पर्याय में द्रव्य आवे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस पर्याय में द्रव्य आया नहीं, परन्तु वह इस सन्मुख हो गया, इसलिए अभिन्न है, ऐसा (कहना है)। बाकी पर्याय, पर्याय है और द्रव्य, द्रव्य है। यह अभी नहीं लेना है। अभिन्नता का अर्थ अभेद हो गया। राग है भिन्न है, इस प्रकार से यह अभिन्न है, ऐसा।

मुमुक्षु : द्रव्य को और पर्याय को अभिन्न कहना, वह किस नय का कथन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी निश्चयनय का कथन है। ऐसी बात है। यह तो १९वीं बार वंचता है न! इसमें मौके से तुम आये हो। रतिभाई नहीं आये? मुम्बई होंगे, ठीक! आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान और आत्मा के प्रदेश अभिन्न होने से अभिन्न कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेश तो भिन्न वह नहीं। वस्तु वह की वह, एक ही सत्ता है। उसमें स्वरूप में वस्तु रही है। स्वरूप जो जाननक्रिया है, उसमें यह वस्तु रही है, इसलिए वह वस्तु का स्वरूप है, वह स्वरूप होने के कारण वस्तु अभिन्न है, ऐसा। पकड़ में आये उतना पकड़ो, बापू! यह तो (भण्डार है)।

मुमुक्षु : पर्याय के प्रदेश भिन्न हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी भिन्न नहीं (कहना)। अभी तो विकारी पर्याय के प्रदेश भिन्न कहना है, पश्चात् निर्विकारी पर्याय के प्रदेश भिन्न; अभी नहीं। यह बात तो कल हो गयी थी, नहीं? कि भाई! विकारी पर्याय मिट गयी, फिर निर्मल पर्याय मिल गयी, निर्मल के साथ। इसलिए वह पर्याय मिल गयी निर्मल, परन्तु फिर भी उसके प्रदेश तो, पर्याय के अंश भिन्न हैं। जो त्रिकाली प्रदेश हैं, और एक समय के प्रदेश हैं, वे भिन्न हैं। अभी यहाँ तो मात्र पर से भिन्न करना है। आहाहा! ऐसा है।

जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से,.. अर्थात् जानने की जो परिणति की क्रिया है, उससे ज्ञान अर्थात् आत्मा **अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है;..** ऐसा। यह आत्मा आत्मा में ही है। जो आत्मा का परिणमन कहा, उसे आत्मा कहा, जाननक्रिया को आत्मा कहा। इसलिए आत्मा, आत्मा में हैं। वह आत्मा अपने स्वरूप में है। वह स्वरूप जाननक्रिया ऐसा स्वरूप है, इसलिए आत्मा उसमें है। समझ में आया? ऐसा स्वरूप है।

जाननक्रिया है, वह पर्याय है। उस पर्याय के आधार से आत्मा है। उस पर्याय के

आधार से ज्ञात होता है, इसलिए उसे आधार कह है। आहाहा! जाननक्रिया, वह उत्पन्न क्रिया है, उत्पाद है, उत्पन्न है। उस उत्पन्न क्रिया के आधार से आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए इस आत्मा का वह स्वरूप है। इसलिए उस स्वरूप के आधार से वह आत्मा है, इसलिए स्वरूप और आत्मा, दोनों अभिन्न हैं। यह अपेक्षा है। आहाहा! इसमें कितने पहलू (समझना)? नये लोगों को (कठिन लगे), बापू! वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है! वीतरागमार्ग के अतिरिक्त किसी धर्म में, किसी में यह सत्य बातें हैं ही नहीं। सबने कल्पित किया है। श्वेताम्बर धर्म में यह बात नहीं न! आहा! क्या कहें, परन्तु लोगों को कठोर पड़ता है। श्वेताम्बर धर्म और स्थानकवासी में जैनपने की शैली ही नहीं है। आहाहा! आहाहा!

कहते हैं राग और आत्मा की सत्ता दोनों भिन्न हैं परन्तु राग को जाननेवाला और अपने को जाननेवाला, ऐसी जो जानने की क्रिया, ऐसा जानने का जो उत्पाद परिणमन, उसको आधार (कहा जाता है) और आत्मा आधेय है। आहाहा!

मुमुक्षु : संवर की बात तो कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संवर की बात तो बहुत सादी भाषा में—अत्यन्त सादी भाषा में मर्म खोला है। बापू! संवर अर्थात् क्या? आहाहा! आस्रवरहित संवर की उत्पत्ति है। उस संवर की उत्पत्ति (होना), वह जाननक्रिया है। वह आत्मा की जानन श्रद्धा, वह क्रिया है। वह क्रिया आत्मा का स्वरूप है और आत्मा का स्वरूप होने से उसके आधार से आत्मा रहा है। आहाहा! उसे जाननेवाली उत्पन्न पर्याय यदि न हो तो वह किसके आधार से ज्ञात हो? ऐई! राग (के) आधार से तो ज्ञात होता नहीं, तो पर्याय ही उत्पन्न न हो, प्रगट (न हो) तो यह त्रिकाल है, उसे जाना किसने? आहाहा! मूल में बड़ा अन्तर है। आहाहा!

जाननस्वरूप ही उसका है, ऐसा कहते हैं। यह रागादि उसका स्वरूप नहीं, इसलिए उसकी सत्ता भिन्न, प्रदेश भिन्न, आधार-आधेय भिन्न.. आहाहा! और जाननक्रिया और आत्मा, दोनों की सत्ता एक, दोनों में आधार-आधेय एक, जानन (क्रिया) आधार और वस्तु आधेय। दोनों को अन्दर सम्बन्ध अवश्य। उसके आधार से रहे और आधेय उसमें रहे, ऐसा सम्बन्ध है। आहाहा!

यह जानन जो शुद्ध उपयोग; शुद्ध उपयोग अर्थात् परिणमन। शुद्ध उपयोग पाठ में

लिया है, परन्तु अर्थ में जाननक्रिया ली है। कारण है कि वह उपयोग जो है, शुद्ध उपयोग में यदि आत्मा कहो तो शुद्ध उपयोग सदा नहीं रहता। कोई विकल्प में रहे, परन्तु शुद्ध का परिणमन सदा रहता है। चन्दुभाई! समझ में आया? शुद्ध का परिणमन, आहाहा! पर्याय की प्रगट सदा शुद्ध की कायम रहती है। उपयोग कदाचित् न रहे; इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है। आहाहा! उपयोग को 'जाननक्रिया' शब्द प्रयोग किया है। आहाहा! यह टीका कहलाये, ऐसी! आहाहा! सन्तों-दिगम्बर मुनियों (ने) गजब काम किया है! आहाहा!

लोगों को अभ्यास नहीं (और) प्रवृत्ति के कारण निवृत्ति नहीं। आहाहा! प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के घर रही। इसकी सत्ता में वह प्रवृत्ति है नहीं। आहाहा! इसकी सत्ता में तो शुद्धपरिणमन है। आहाहा! राग भी नहीं तो पर शरीर, वाणी, मन और धन्धे की क्रिया, वह तो कहाँ है इसमें? आहाहा! समझ में आया?

जाननक्रिया का ज्ञान से.. जाननक्रिया अर्थात् परिणमन—शुद्धपरिणमन। उसका **ज्ञान से..** अर्थात् आत्मा से। **अभिन्नत्व होने से,..** जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नपना होने से जाननक्रिया **ज्ञान में ही है;..** आहाहा! उससे भिन्न नहीं, ऐसा कहते हैं। है? आहाहा! **जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से,..** जाननक्रिया **ज्ञान में ही है;..** आत्मा में ही है। वह निर्मल पर्याय है, वह आत्मा में ही है, ऐसा कहते हैं। वह आत्मा है। आहाहा!

अब, यह सिद्ध करके अब विरुद्ध सिद्ध करते हैं। यह अविरुद्ध सिद्ध किया। जाननक्रिया स्वरूप प्रतिष्ठित उसमें आत्मा रहा हुआ है। जाननक्रियास्वरूप, उसके आधार से प्रतिष्ठित अर्थात् उसके आधार से रहा है। क्योंकि वह आत्मा है। जाननक्रिया का संवरभाव, वह आत्मा है। आहाहा! एक ओर शुद्धभाव अधिकार नियमसार (में ऐसा कहे कि) संवर, निर्जरा और केवलज्ञान बहिर्तत्त्व है। किस अपेक्षा से? सभी तत्त्व (बहिर्तत्त्व है)। संवर, निर्जरा और सब बहिर्तत्त्व है। अन्त:तत्त्व तो एक त्रिकाली आनन्द का नाथ है परन्तु उसे जाननेवाले बिना, 'है'—ऐसा जाना किसने? ऐसा कहते हैं। उसे ज्ञेय बनाये बिना, यह ज्ञेय है, ऐसा जाना किसने? आहाहा!

महापुरुष कोई करोड़पति, अरबोंपति मिलने आया, परन्तु उसके सामने देखा नहीं और लड़के के साथ में आधे घण्टे खेल में रह गया तो वह उठकर चला गया। इसलिए

इसे तो मिला ही नहीं। इसी प्रकार पूरी चीज़ प्रभु महा आत्मा पड़ी है, महात्मा—महा पुरुष, वह समीप में पड़ी है परन्तु उसके सामने देखे बिना (खबर कैसे पड़े) ? आहाहा!

मुमुक्षु : वह चला नहीं जाता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो वहाँ का वहाँ (है परन्तु) इसकी दृष्टि में से चला गया न! वह चला गया। अनन्त काल से चला गया। आहाहा! इसकी सत्ता का अस्तित्व जैसा और जितना है, उतना उसके सन्मुख होकर जाना नहीं तो उसे तो यह सत्ता चली गयी है। आहाहा! ऐसा है। अरे! धन्य भाग्य! यह चीज़ कहाँ से कान में पड़े!! यह कोई सम्प्रदाय की चीज़ नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! वस्तु के स्वरूप की यह सब टीका है। आहाहा! यह (कहकर) अब विरुद्ध का लेते हैं।

क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है.. आहाहा! क्रोधादि है, उनका परिणमन जो है, उसके आधार से यह क्रोध है। **क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रिया..** (अर्थात्) परिणमन। आहा! क्रोध वस्तु है, वह वस्तु गिनी और फिर उसका परिणमन गिना। उस परिणमन के आधार से क्रोध है। आहाहा! आज सूक्ष्म आया, परन्तु अधिकार ऐसा है, वहाँ (क्या हो) ? आहाहा!

क्रोध शब्द से द्वेष और आदि शब्द से राग। राग में लोभ और माया आवे। यह लोभ की-इच्छा की वृत्ति उत्पन्न हुई... आहाहा! यह इच्छा की परिणति, वह क्रोध की क्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। यह इच्छा की परिणति, जो क्रोध, मान, माया, लोभ है, उनकी परिणति है, उसके आधार से वह है। उस परिणति के आधार से वह क्रोध है; आत्मा के आधार से नहीं। आहाहा!

क्रोधादि है न ? क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय-वासना, रागादि, वह जो क्रोधादि क्रिया, उसका परिणमन, वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। उसका स्वरूप—परिणमनस्वरूप उसका है। विकारीभाव का परिणमन, वह उसका स्वरूप है। आहाहा! उस स्वरूप में प्रतिष्ठित है। उसके स्वरूप के आधार से विकार है, आत्मा के आधार से नहीं, आत्मा की पर्याय के आधार से नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

मुमुक्षु : क्रोधादि का आधार मोहकर्म गिनने में आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म-फर्म यहाँ नहीं। यहाँ तो अन्दर की बात है। कर्म-फर्म,

नोकर्म तो बाहर रहे। वह आयेगा। यह मिलान के बाद आयेगा। आठ कर्म और नोकर्म बाद में (आयेगा)। आठ कर्म आयेंगे परन्तु यह तो पहले अन्दर का निश्चित करे, पश्चात् वह है। वह तो बाहर का (तत्त्व है), भिन्न है परन्तु वे भिन्न भासित नहीं होते; इसलिए उन्हें भिन्न बताकर फिर कहेंगे, इनकी तरह सब ले लेना। कर्म, शरीर, अमुक-अमुक... सब ले लेना। आहाहा!

मूल प्राण तो साधारण शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न है, ऐसी धारणा तो बहुत बार हो गयी है। ग्यारह अंग का जानपना (तो हो गया है) परन्तु यह भिन्न हुए बिना, वह भिन्न है—ऐसा यथार्थपना नहीं आता। आहाहा! वैसे तो ग्यारह अंग का जानपना नहीं किया? शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न है, इतना तो आया न? राग भिन्न है, ऐसा भी ख्याल में—धारणा में आया था, परन्तु भाव में नहीं आया था। आहाहा!

रागरहित स्वभाव की दृष्टि करके जो परिणमन होना (चाहिए), वह नहीं था। इसलिए इसे कहते हैं कि परिणमन के आधार से वह ज्ञात हुआ और क्रोध, और विकार है, वह परिणति के आधार से विकार है, वह आत्मा के आधार से विकार है ही नहीं।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५९, गाथा १८१-१८३ दिनाङ्क २१-०६-१९७९
गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण १२

समयसार, संवर अधिकार। यहाँ (तक) आया है। क्रोधादिक आया। आत्मा है, वह त्रिकाली नित्य ध्रुव है, परंतु वर्तमान जाननक्रिया उस सन्मुख की हो, उसमें वह ज्ञात होता है; इसलिए जाननक्रिया, वह आधार है और आत्मा आधेय है। दोनों एक स्वरूप है। उपयोग में उपयोग। जाननक्रिया में आत्मा है। आत्मा राग में, शरीर में, वाणी में कहीं नहीं है। वह जाननक्रिया-जानने का उपयोग जो होता है, क्रिया होती है, उसके आधार से ज्ञात होता है, इसलिए वह जाननक्रिया में प्रतिष्ठित है। आहाहा!

अब, **क्रोधादिक..** अर्थात् पुण्य और पाप के भाव, जो विकारी भाव **जो कि**

क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है.. वे विकारीभाव, विकारी परिणति में रहे हुए हैं। जाननक्रिया में आत्मा रहा हुआ है, वैसे विकारी परिणति की क्रिया में विकार रहा हुआ है। इसलिए व्यवहार... व्यवहार करे तो कहते हैं कि व्यवहार विकार है और विकार की परिणति में विकार रहा हुआ है; आत्मा में नहीं। आहाहा! ऐसा है।

क्रोधादि का अभिन्नपना होने से। किसे? क्रोधादिक में ही हैं वे। क्रोधादि क्रिया का क्रोधादि से अभिन्नपना होने से। आहाहा! जैसे जाननक्रिया, आत्मा के साथ अभिन्न होने से वह जाननक्रिया, वह आधार प्रतिष्ठित; उसके आधार से आत्मा है, ज्ञात होता है। वैसे क्रोधादि क्रिया क्रोधादि से अभिन्न है; आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! व्यवहार रत्नत्रय का जो राग, कषाय, वह क्रोधादि से अभिन्न है, वह विकार से अभिन्न है; आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। आहा! ऐसा है।

अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है.. अर्थात् विकारभाव जो है, इसकी पर्याय में जो परिणमन है, उसमें वह रहा है। वह उसमें प्रतिष्ठित है, आत्मा में नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प-राग, वह उसकी पर्याय की क्रिया में रहा हुआ है, प्रतिष्ठित क्रिया (में रहा हुआ है), आत्मा में नहीं। आहाहा! **क्रोधादिक्रिया का क्रोधादि से अभिन्नत्व होने के कारण, क्रोधादिक में ही है।**

(ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है,..) अधिक स्पष्ट किया। ज्ञान का स्वरूप अर्थात् आत्मा का स्वरूप जाननक्रिया है। जानना-देखना, आनन्द, शान्ति आदि क्रिया जाननक्रिया कही जाती है। आहाहा! आत्मा की पर्याय में जो जानन, श्रद्धा, शान्ति, आनन्द है, वह सब जाननक्रिया कही जाती है। वह जाननक्रिया, **(ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है,..)** आत्मा का स्वरूप जाननक्रिया है। राग और क्रोधादि स्वरूप, वह उसका स्वरूप नहीं है। **(इसलिए ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है।)** आत्मा उसमें रहा है। किसमें? जाननक्रिया में। आहाहा! जाननक्रिया आधार है, आत्मा आधेय है, क्योंकि उससे (जाननक्रिया से) ज्ञात होता है, इसलिए।

तत्त्वार्थसूत्र में तो ऐसा पाठ है, 'द्रव्याश्रया..' द्रव्य के आश्रय से गुण हैं - ऐसा पाठ है। 'द्रव्याश्रया निर्गुण गुणा:' - ऐसा पाठ है। द्रव्य के आश्रय से गुण हैं। यहाँ तो पर्याय

का वर्णन है। वहाँ द्रव्य के आश्रय से गुण हैं और पर्याय भी वास्तव में तो द्रव्य के आश्रय से है, परन्तु यहाँ तो (यह) सिद्ध करना है कि जिसके द्वारा वह ज्ञात हो, उसके आधार से वह है। आहाहा!

जानन, श्रद्धा आदि परिणमन जो होता है, उसके परिणमन के आधार से यह (आत्मा) ज्ञात हुआ; इसलिए जाननक्रिया, वह आधार है; आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह आधेय है। दोनों एक ही जाति है। इसकी जाति में वह (जाननक्रिया) आधार में है। कजात जो राग है, उसमें यह आत्मा नहीं है। आहाहा! **(जाननक्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है।)** अर्थात् क्या? कि आत्मा जो ज्ञान है, उसकी क्रिया ज्ञान की ही है; इसलिए उस सब क्रिया के आधार से वह ज्ञान ही है, वह आत्मा ही है। जाननक्रिया और आत्मा, जाननक्रिया के आधार से आत्मा, दोनों एक ही है। दोनों एक जाति है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बहुत ही। जानने की क्रिया, श्रद्धा की क्रिया, उसे प्रतिष्ठित – उसके आधार से आत्मा है, क्योंकि दोनों एक ही जाति है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान ही स्वरूप है, वह आत्मा स्वरूप है। जाननक्रिया, वह आत्मा का ही स्वरूप है। आहाहा!

(कारण कि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं है, इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ज्ञान में ही है।) आत्मा, आत्मा में ही है, ऐसा। आत्मा जाननक्रिया, ऐसी आत्मा, वह आत्मा, आत्मा में ही है। जानन, श्रद्धा आदि आत्मा, वह आत्मा, आत्मा में ही है। आत्मा राग में, विकल्प में नहीं है। समझ में आया? **(इसी प्रकार क्रोध, क्रोध में ही है।)...** विकार परिणाम है, वह विकार के आधार से, विकार की परिणति के आधार से विकार है। आहाहा!

ऐसा तो कहा न? 'द्रव्यश्रया निर्गुणा गुणा:'—यह तत्त्वार्थसूत्र में है और तत्त्वार्थसूत्र का एक शब्द ऐसा है कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति है, वे उपकार करते हैं, ऐसा पाठ है और वहाँ 'इष्टापदेश' में कहते हैं, भाई! सब धर्मास्तिकायवत् है। उपकार का अर्थ है (निमित्त), इतनी बात। वहाँ उपकार का अर्थ 'उपकार करता है'—ऐसा ले लेवे, ऐसा नहीं है। पाठ ऐसा है। यहाँ पुस्तक नहीं।

मुमुक्षु : पाठ है, तदनुसार अर्थ करना चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस उपकार का अर्थ ही यह है। यह उस लोक की छाप आती है न? फिर नीचे (लिखते हैं) 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' परस्पर उपग्रह (अर्थात्) उपकार करते हैं। उपकार का अर्थ (यह है कि) एक, दूसरी चीज़ है, इतना। उपकार करते हैं, इसका अर्थ उपकार (वास्तव में करते है - ऐसा नहीं)। यहाँ वह पुस्तक नहीं न? तत्त्वार्थसूत्र। 'सुख-दुःख, जीवित-मरण' लिया है। अर्थात् क्या? सुख-दुःख में उपकार करता है? दुःख उपकार करता है? मरण उपकार करता है? है, ऐसा बतलाता है। आहा! परन्तु क्या हो? उसमें तो उपग्रह है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' आता है न समाचार पत्र में जहाँ-तहाँ? लोक का (चित्र) बनाकर नीचे लिखते हैं—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' उपग्रहो अर्थात् उपकार करने में मानते हैं; और सर्वार्थसिद्धि वचनिका में स्पष्टीकरण किया है कि इस उपकार का अर्थ क्या? ऐसा नहीं, मात्र उस समय होता है, इसलिए उपकार कहा गया है। ऐसा अर्थ किया है। सर्वार्थसिद्धि वचनिका (में किया है)। परन्तु वह (चीज़) दूसरी चीज़ को स्पर्श नहीं करती। एक-दूसरे में अभाव है। आहा! कहीं उपग्रह है, दूसरे में होगा।

मुमुक्षु : पाँचवें अध्याय में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँचवें में है? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पाँचवें में है। उसमें होगा, यह आया, लो! हाँ, इसमें है। (सूत्र-१७) 'गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः'—ऐसा शब्द है, लो! उपग्रह का अर्थ उपकार करे। उपकार का अर्थ उपग्रह किया है। है, बस एक (वस्तु) समीप में है।'गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः' लो, 'उपकार' शब्द है। जड़ का उपकार, उपकार? जड़ क्या उपकार करे? पाठ तो ऐसा है। धर्मास्ति-अधर्मास्ति जड़ उपकार करे। अर्थात् क्या?

मुमुक्षु : धर्मास्तिकाय उपकार तो करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं करता। आहाहा! वहाँ इष्टोपदेश में तो यह अर्थ किया है कि निमित्त है, वह कैसा? धर्मास्तिकायवत् उदासीन निमित्त है। उदासीन निमित्त को यहाँ उपकार कहा। क्या हो परन्तु अब?

मुमुक्षु : आचार्यों ने उपकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह संक्षिप्त भाषा में उपकार का अर्थ उपग्रह किया है। उपग्रह का अर्थ उपकार किया है और वे आचार्य स्वयं कहते हैं कि निमित्त और दोनों को कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात रखकर यह बात करनी चाहिए या नहीं ? कि एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय (का) अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का अत्यन्त अभाव है। अब वह अत्यन्त अभाव कब सिद्ध होता है ? एक दूसरे उपकार करें, (तब सिद्ध होता है ?) दूसरी बात। (समयसार) गाथा ३—प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-धर्म को स्पर्श करता है, परन्तु दूसरे को स्पर्श नहीं करता। स्पर्श नहीं करता तो उपकार कहाँ (करे) ? इसका अर्थ एक-दूसरे से मिलान खाना चाहिए न ? मिलान बिना करे वह कुछ काम आवे ? आहाहा!

मुमुक्षु : सर्वार्थसिद्धि में यह अर्थ किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र अर्थ किया है। सर्वार्थसिद्धि कहा न! सर्वार्थसिद्धि वचनिका में अर्थ किया है। उपकार का अर्थ किया है। एक दूसरी चीज़ होती है, उसे उपकाररूप से कहा जाता है। समीप में होती है, उपकारी-समीप, बस ऐसा। उचित निमित्त उसमें भी आ गया न ? आहाहा! विवाद... एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करे। बड़ा विवाद! स्पर्श नहीं करे, उसे करे क्या ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं **और क्रोधादिक में,...** अर्थात् विकारी भाव में। अब कर्म मिलाये। पहले यह लेकर, सूक्ष्म भाव, विकारी भाव, उसकी क्रिया और उसका परिणमन अत्यन्त भिन्न ज्ञान हुआ। यह सिद्ध करके और अब जड़ परवस्तु (लेते हैं)। क्रोध अर्थात् पुण्य-पाप की क्रिया में। **कर्म में...** यहाँ तो क्रोधादि शब्द में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा (का भाव) उसमें आत्मा नहीं है। उस विकारी परिणति के आधार से विकार है, आत्मा के आधार से नहीं। उसके आधार से आत्मा नहीं। इतना सूक्ष्म है। कहो, गुलाबचन्दजी! अलग है, दिगम्बर आचार्यों की ऐसी बात है। गजब बात है! धीरे से, शान्ति से (समझना)। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, चुम्बन नहीं करता। अब चुम्बन नहीं करता, वह उपकार करे ?

मुमुक्षु : उपकार तो करे न, यहाँ से सौ रुपये भेजना हो तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन रुपये भेजे ? रुपये, रुपये के कारण जाते हैं। आहाहा! थैली में जाये, इसलिए थैली से जाते हैं, रेल से जाते हैं, ऐसा भी नहीं है। वे अपनी उस समय की क्रियावतीशक्ति है, उसका परिणमन होकर ऐसे जाते हैं। आहाहा! कठिन बात।

यहाँ पहले यह लिया कि जाननक्रिया अर्थात् शुद्ध उपयोग। जाननक्रिया लिया, क्योंकि वह (शुद्ध) उपयोग सदा नहीं होता। पाठ में भले उपयोग है, परन्तु जानने की क्रिया, परिणमन, श्रद्धा करने की, उसके आधार से आत्मा ज्ञात होता है। इसलिए उसे प्रतिष्ठित –आत्मा का आधार उसे लिया है। यह बात की और फिर यह बात ली कि विकारी परिणाम, वह विकार के आधार से है। विकार के आधार से है, यह बात ली। पहले कर्म और नोकर्म नहीं लिये क्योंकि सूक्ष्मरूप से सिद्ध करके (यह लिया)। आहाहा! ऐसी बात है भाई!

मुमुक्षु : पहले तो आप ऐसा कहते थे कि विकार, वह पुद्गलजनित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गलजनित किस अपेक्षा से ? वह निश्चय से तो पुद्गल ही है। आत्मा का स्वभाव नहीं, परिणति का स्वभाव उसका नहीं। उसकी परिणति द्रव्य के अनुसार परिणति होती है। वह वास्तव में पुद्गलजन्य है परन्तु जब इसकी पर्याय सिद्ध करनी हो, तब पर्याय अपने में, पर्याय पर्याय के आधार से है, विकार, विकार के आधार से है, ऐसा (कहते हैं)। उसमें से ले तो विकार पुद्गल के आधार से है, ऐसा होता है। पुद्गल से विकार होता है, आत्मा से नहीं। आत्मा में अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. गुण (हैं, उनमें) एक भी गुण विकार करे, ऐसा तीन काल में (कोई) गुण नहीं है। ऐसा जो द्रव्य, आनन्द का दल, अनन्त गुण की पवित्रता का महासागर, उसमें कोई गुण ऐसा नहीं कि विकृति (करे)। पर्याय में विकार होता है, इससे अशुद्ध उपादान से उसमें है और यह अशुद्ध उपादान है, वह व्यवहार है और व्यवहार है, वह निमित्त के आधीन हुआ है, इसलिए वह आत्मा का नहीं है, वह पर का है। आहाहा! ऐसा है। बनियों को भी धन्धे के कारण इतनी सब निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा! ऐसी बात है, ऐसा निर्णय करना चाहिए न, बापू! ऐसी वस्तु जिस प्रकार है, उस प्रकार (निर्णय करना चाहिए)। आहाहा!

यहाँ तो मुझे दूसरा क्या कहना था ? आत्मा जाननक्रिया के आधार से है और क्रोधादि, क्रोधादि क्रिया के आधार से (रहे हुए हैं)। विकारी भाव, विकारी पर्याय के

आधार से है। आहाहा! पहले यह बात सिद्ध की। आत्मा के आधार से वह नहीं और उसके आधार से आत्मा नहीं। आहाहा! है या नहीं? भाई! इस बार उल्लासचन्दजी ने समय निकाला। निवृत्ति मिली। अच्छा किया। यह तो बापू! समझने योग्य बात है, भाई! अभी तो कठिनाई पड़ गयी है। आहाहा! यह तो परम सत्य का प्रवाह है। परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर का कथन इस शैली का है।

आहाहा! यह कहकर अब कहते हैं, और विकार में यह पहले सिद्ध किया। अब साथ में दूसरा मिला देते हैं। विकार में **कर्म में या नोकर्म में..** वह जड़कर्म। पहले भावकर्म लिया। भावकर्म के साथ इसे सम्बन्ध नहीं है। फिर इसके साथ मिलाने को लिया, द्रव्यकर्म। फिर नोकर्म-बाहर के निमित्त (लिये)। वे **ज्ञान नहीं है..** ये तीनों ज्ञान नहीं है, इन तीनों में आत्मा नहीं है। जैसे विकार में आत्मा नहीं, कर्म में आत्मा नहीं, नोकर्म में आत्मा नहीं। आहाहा! मीठालालजी! ऐसा है। कहाँ गया, तुम्हारा लड़का गया? कहो, समझ में आया? आहाहा!

कर्म में आत्मा नहीं और नोकर्म, नोकर्म में। इस प्रकार एक नोकर्म तो आहार, शरीर वर्गणा आदि ली है न? उसे नोकर्म लिया और एक नोकर्म अर्थात् दूसरी सब चीज़ें। भावकर्म, द्रव्यकर्म के अतिरिक्त सब चीज़ें, उन्हें नोकर्म कहा जाता है। स्त्री, पुत्र, परिवार सब नोकर्म हैं। उनमें यह आत्मा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा नहीं है परन्तु उसके साथ सम्बन्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी सम्बन्ध नहीं है। कल्पना मानी है। परद्रव्य के साथ क्या? आहाहा! जहाँ स्वचतुष्टय से है और परचतुष्टय से नहीं, ऐसी सप्तभंगी पहला और दूसरा बोल। आहाहा! भाई! यह तो शान्ति से, आग्रह छोड़कर समझने जैसी बात है। बहुत सूक्ष्म है। इसलिए प्रभु ने कहा न कि वाद-विवाद करना नहीं, क्योंकि शास्त्र में इतने अधिक कई प्रकार के शब्द होते हैं, उन्हें वे सामने रखते हैं। वह उपग्रह का रखा, लो! धर्मास्ति, अधर्मास्ति उपग्रह करते हैं। अब यहाँ इष्टोपदेश में तो ऐसा (कहा कि) धर्मास्ति, अधर्मास्तिकायवत् सब उदासीन निमित्त हैं। आहाहा! यह तो स्वयं गति करे, तब उसे निमित्त कहा जाता है, इतना। दूसरी चीज़ जानने के लिये है। इसके लिये तो स्पष्टीकरण किया है कि यदि वह गति करावे तो सदा गति ही हुआ करे। अधर्मास्तिकाय की स्थिति

का निमित्तपना भी न रह सके। इसलिए गति करे, उसे वह निमित्त कहलाता है, स्थिति करे, उसका वह (अधर्मास्तिकाय) निमित्त कहलाता है। ऐसा करके ऐसा स्वतन्त्र सिद्ध किया है। आहा!

दो द्रव्य हैं और उन दो द्रव्यों की जो क्रिया एकसाथ में वह करायी जाती हो तो एक यहाँ गति करावे और एक स्थिति करावे? ऐसा तो है नहीं। आहाहा! जो गति करती हो, उसे धर्मास्तिकाय निमित्त कहलाता है। वह तो गति करता हो, उसे कहा। उसे निमित्त कहलाता है। गति करते जीव या जड़ स्थिर हो जाये (तो) वह अधर्मास्तिकाय स्थिर करे? वह तो स्वयं स्थिर होता है, तब अधर्मास्तिकाय का निमित्त कहलाता है। ऐसी बात है। आहाहा! विकार में, भावकर्म में जैसे आत्मा नहीं... आहाहा! वैसे जड़कर्म में आत्मा नहीं तथा बाह्य के सब निमित्त हैं, उनमें आत्मा नहीं। आहाहा! और **ज्ञान में..** आत्मा में **क्रोधादिक..** भावक्रोध, जड़कर्म और नोकर्म नहीं है। आत्मा में वे नहीं और उनमें यह आत्मा नहीं, पारस्परिक है। आहाहा!

यह तो संवर का अधिकार है। एकदम सब रुक गया। भगवान आत्मा ने अपने सन्मुख देखा, वहाँ जो जाननक्रिया हुई, वहाँ आस्रव रुक गया। आहाहा! और जाननक्रिया में आत्मा ज्ञात हुआ। आहाहा! वहाँ क्रोधादि अर्थात् भाव आस्रव है, वह रुक गया और उसके कारण फिर द्रव्य–नये परमाणु आनेवाले थे, वे इसे आनेवाले थे ही नहीं, इससे नहीं आये, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! अरे रे! बात बात में अन्तर लगे।

क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप–विपरीतता होने से.. लो! भाषा देखो! धर्मास्ति, अधर्मास्ति उपकार तो एक ओर रह गया, परन्तु आत्मा में होनेवाले दया, दान के परिणाम, भक्ति आदि के परिणाम और आत्मा को परस्पर अत्यन्त विपरीतता है। है? समझ में आया? आहाहा! **उनके परस्पर..** अर्थात् कि विकारी परिणाम को, जड़कर्म को और नोकर्म को परस्पर (अर्थात्) आत्मा में वे नहीं और उनमें आत्मा नहीं, ऐसे परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। ओहोहो! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प / राग, शुद्ध चैतन्य भगवान से अत्यन्त स्वरूप विपरीत है। विपरीत, ऐसा नहीं लिया; अत्यन्त स्वरूप विपरीत है। आहाहा! है या नहीं इसमें? कोई कहे कि घर के अर्थ करते हैं। ऐसा कहते हैं। घर के सही, आत्मा के घर के। आहाहा!

अरे... भाई! तुझे क्या करना है? तुझे दूसरी चीज़ को सम्बन्ध में रखना है? रखना है (कहाँ)? वह तो अनादि से है। तो अनादि से सम्बन्ध में रखा तो संयोग नरक, निगोद के मिलेंगे। आहाहा! आत्मा के आनन्द और ज्ञान की परिणति के अतिरिक्त किसी भी चीज़ को यदि सम्बन्ध में रखनी हो तो वह सम्बन्ध में रखने से नरक और निगोद का सम्बन्ध होगा। आहाहा! गोविन्दरामजी! ऐसी बात है। यह समझकर क्या करना? दोपहर को प्रश्न किया था न? आहाहा!

उनके.. अर्थात् विकारभाव को और आत्मा को, कर्म और आत्मा को। देखा? और नोकर्म को तथा आत्मा को **परस्पर..** परस्पर (अर्थात्) वह इसमें नहीं और यह उसमें नहीं। आहाहा! विकार परिणाम आत्मा में नहीं और आत्मा विकार परिणाम में नहीं। कर्म आत्मा में नहीं और आत्मा कर्म में नहीं। नोकर्म में आत्मा नहीं और आत्मा में नोकर्म नहीं। आहाहा! सभी चीज़ें आ गयीं। राग से लेकर सभी चीज़ें (आ गयीं)। आहाहा! **परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से..** आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा और उनकी वाणी भी... आहाहा! वह नोकर्म में आती है न? उसे और आत्मा को स्वरूप विपरीतता है, कहते हैं। आहाहा! अरे, ऐसा है! अत्यन्त स्वरूप विपरीतता। परस्पर— इससे यह और इससे यह। एक दूसरे को **परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से..** आत्मा का स्वरूप और विकारी तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से। लो! विपरीत का अर्थ विरुद्ध है। आहाहा! अब भावकर्म का स्वरूप आत्मा के स्वरूप से अत्यन्त विपरीत और विरुद्ध है। वह भावकर्म जीव को लाभ करे? कहो, आहा! वह कान्तिलाल सर्वत्र यह लिखता है कि उन्होंने विशुद्धि कही है। इसलिए विशुद्धि शुद्ध का कारण कितने ही नहीं मानते? तुम्हारा कान्ति ईश्वर (ऐसा लिखता है)। आहाहा!

मुमुक्षु : एकान्त से ऐसा ही मानना चाहिए क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कुछ खबर नहीं। एकान्त ही मानता है, विशुद्धि से होता है। उन्होंने विशुद्धि शब्द प्रयोग किया है। भाई! यह तो यहाँ बहुत बार कहा गया है कि विशुद्धि शुभ को भी कहा जाता है और विशुद्धि शुद्ध को भी कहा जाता है। विशुद्धि शब्द आया, इसलिए शुद्ध का कारण है, ऐसा है ही नहीं।

यहाँ तो वह विशुद्धि जो कषाय की मन्दता और आत्मा को परस्पर अत्यन्त विरुद्ध

है। यहाँ तो यह कहा है। कहा या नहीं उसमें? आया या नहीं उसमें? विशुद्ध भाव। कषाय मन्द भाव क्रोधादि में आ गया। आहाहा! क्रोध विभावभाव है, (वह) अत्यन्त स्वरूप विपरीत है। व्यवहार का स्वरूप और निश्चय आत्मा का (स्वरूप) दोनों के बीच परस्पर अत्यन्त स्वरूप विरुद्ध है। आहाहा! कितने भेद हुए?

एक की दूसरी चीज़ नहीं, दूसरे के प्रदेश भिन्न, आहाहा! इसलिए एक सत्ता की उत्पत्ति नहीं। आहाहा! इसलिए आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं। आहाहा! इतने सब (भेद)! कितना स्पष्ट किया है। मध्यस्थ होकर (समझ) बापू! तुझे तेरा कल्याण करना हो (तो समझ)। दुनिया दुनिया की जाने। दुनिया-नवतत्त्व सदा रहनेवाले हैं। आस्रव-बंध रहनेवाले हैं। अनन्त काल अनन्त तीर्थंकर हुए और अभी होंगे तो इस तत्त्व की श्रद्धा करनेवाले रहनेवाले हैं। आस्रव और बन्ध को धर्म माननेवाले, ऐसा तत्त्व माननेवाले रहनेवाले हैं। अनन्त तीर्थंकर हुए, महाविदेह में हुए... आहाहा! और वहाँ भी तू अनन्त बार गया। आहाहा! यह स्वरूप सुनकर भी अन्दर विपरीतता गयी नहीं। उस विपरीतता में रहा था। विपरीतता में रहा तो उसका स्वभाव सम्बन्ध संयोग विपरीत मिले। आहाहा! संयोग में नरक और निगोद, तिर्यंच और पशु (मिले)। आहाहा!

मुमुक्षु : कान्ति ईश्वर को तो शाबाशी देनी चाहिए, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो दे। बहुत सामने है। होवे उसके माननेवाले भी। सबके माननेवाले होते हैं न! बकरा काटे तो बकरों के लेनेवाले होते हैं या नहीं? ऐसा। विपरीत मान्यता (के) माननेवाले भी होते हैं या नहीं? आहाहा! अरे रे! क्या हुआ? भाई! बापू! तू अनादि-अनन्त, उसकी सम्हाल नहीं की और राग से मुझे लाभ होगा, उसमें सम्हाल करे, तो जिसे संयोग से लाभ होगा, ऐसा माना वह संयोग इसे नहीं छूटेगा। चार गति का संयोग भाव तेरा आना और उससे लाभ माना तो संयोगभाव नहीं छूटेगा। संयोगी चीज़ नहीं छूटेगी। आहाहा!

ज्ञान अर्थात् आत्मा का स्वरूप **(और क्रोधादिक..)** व्यवहार भावकर्म **(तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से) उनके परमार्थभूत..** अब दूसरा अधिक आया। वहाँ था, पहले में आ गया था। **परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं।** पहले आ गया था, चौथी लाईन। यहाँ विशेष सिद्ध किया। **उनके परमार्थभूत आधाराधेयसम्बन्ध**

नहीं है। आहाहा! उसमें तो एक-दूसरे को आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है, इतना आया था। चौथी लाईन। एक-दूसरे को आधार-आधेय (सम्बन्ध नहीं है) अब यहाँ परमार्थ से (सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं)। **परमार्थभूत..** आहाहा! राग को और आत्मा को परमार्थभूत आधार है ही नहीं। व्यवहाररत्नत्रय को और आत्मा को परमार्थभूत आधार-आधेय है ही नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

परमार्थभूत आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है। पहले यह आ गया था परन्तु यह एक-दूसरे को आधार-आधेय सम्बन्ध (नहीं है) इतना (था)। अब यहाँ (कहते हैं) परमार्थ से आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में एक-दूसरी चीज़ को आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं, ऐसा। वास्तव में राग को और भगवान आत्मा को वास्तव में आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है कि राग के आधार से आत्मा ज्ञात हो और आत्मा के आधार से राग हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। आहा!

और जैसे ज्ञान का स्वरूप.. अर्थात् आत्मा का स्वरूप। **जाननक्रिया है..** जाननक्रिया है **उसी प्रकार (ज्ञान का स्वरूप) क्रोधादिक्रिया भी हो,..** पारस्परिक लेते हैं। परस्पर था सही न? **जैसे क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादि क्रिया है, उसी प्रकार (क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो, ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता;..** आहाहा! कितना स्पष्ट किया है! दोनों अत्यन्त (भिन्न हैं)। रागादि पदार्थ, दूसरा पदार्थ भिन्न, परन्तु अन्दर राग (हो, वह) परपदार्थ है। भावकर्म। आहाहा! अशुद्धनय से इसकी पर्याय में है परन्तु शुद्धदृष्टि से देखें तो उसे और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं। अशुद्धनय से राग-द्वेष आदि इसकी पर्याय में है और अशुद्धनय अर्थात् व्यवहार हुआ। वहाँ तो यह लिया, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से, ऐसा लिया है। अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से... द्रव्यार्थिक क्यों (कहा)? क्योंकि इस द्रव्य की पर्याय है न, ऐसा। इसलिए शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से विकार इसका है, ऐसा कहा, परन्तु वह तो वस्तु की स्थिति बतलाने को (कहा है)। अब जब इन्हें संवर भेद बताना है। आहा! जो वास्तविक एक तत्त्व में नहीं और इस तत्त्व में वह तत्त्व नहीं, ऐसा भेदज्ञान बताना है, वहाँ तो राग में आत्मा अत्यन्त विरुद्ध (है, इसलिए आत्मा में) है ही नहीं। आहाहा! यह विरुद्ध है, वह आत्मा में है ही नहीं, ऐसा।

जैसे क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादि क्रिया है, उसी प्रकार (क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो.. आहाहा! राग में राग है और राग, जाननक्रिया भी कर सकता है, आत्मा की जानन, सम्यग्दर्शन भी कर सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! राग-राग को करे, वैसे राग, समकित को करे, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! **ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता;..** विकार को, कर्म को और नोकर्म को आत्मा के साथ और आत्मा उनके साथ, किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता।

क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं.. यहाँ यह अधिक लिया, देखा? जाननक्रिया, वह स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान की क्रिया और राग की क्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव-दोनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। अब, इतना तो सिद्ध किया। आहाहा! दोनों के स्वभाव भिन्न हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और आत्मा के परिणाम जो जानने के परिणाम, सम्यग्दर्शन के (परिणाम), इन दोनों का स्वरूप भिन्न हैं। आहाहा! इन दोनों के स्वभाव ही भिन्न हैं। दोनों के स्वभाव भिन्न स्वभाव से प्रकाशित हैं। आहाहा! राग, राग के स्वभाव से प्रकाशित है, भगवान आत्मा जाननक्रिया से प्रकाशित है। आहाहा! कहो। कहा न, जहाँ हो वहाँ सर्वत्र यही शब्द लेते हैं। क्षमा के सामने। कषायभाव है। सब जगह यह आता है। कर्ताकर्म में आता है। आहाहा! बहुत अच्छा लिखा है, हों! पहला अधिकार पूरा बहुत अच्छा अधिकार!

क्योंकि विकाररूप से आत्मा का जाननपना स्थापित नहीं किया जा सकता और आत्मा का जानपना विकार से होता है, ऐसा स्थापित नहीं किया जा सकता **क्योंकि जाननक्रिया..** अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान की परिणति और क्रोधादि की परिणति, राग की परिणति **भिन्न भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं..** दोनों का स्वभाव ही भिन्न-भिन्न है, ऐसा जानते हैं। आहाहा! अब इसमें व्यवहार के रत्नत्रय शास्त्र में आवे, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है (ऐसा आवे), परन्तु वह तो निमित्त का ज्ञान करावे। इस बात को मिथ्या करके करे? (यदि ऐसा कहे तो) पूर्वापर विरोध हो गया। आहाहा!

आत्मा आनन्दस्वरूप, उस ज्ञान और आनन्दस्वरूप की परिणति तथा राग की परिणति दोनों का स्वरूप भिन्न स्वभाव है। दोनों का स्वभाव ही भिन्न प्रकाशित करता है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन तो कहीं आगे नोकर्म में रह गये, परन्तु अन्दर भावकर्म और

आत्मा का स्वभाव, दोनों भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होते हैं। भगवान जानन-देखन से प्रकाशित होता है और राग है, वह विकार से प्रकाशित होता है। आहाहा! अत्यन्त स्वरूप विपरीत से प्रकाशित होते हैं। आहाहा! सामने है या नहीं? एक-एक लाईन में बहुत भरा है। ओहोहो!

और इस भाँति.. अभी एक नयी बात। **स्वभावों के भिन्न होने से..** दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और चैतन्य के जानने के परिणाम, दो प्रकार स्वभाव भिन्न है। आहाहा! यह वापस कारण दूसरा लेना है। **इस भाँति स्वभावों के भिन्न होने से वस्तुएँ भिन्न ही हैं।** वे वस्तुएँ भिन्न हैं। परन्तु अब वह वस्तुएँ भिन्न हैं, इसमें जरा कहना है। **वस्तुएँ भिन्न ही हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा अज्ञान में..** देखा? यह लेना है वापस। ये रागादि अज्ञान हैं, उनमें ज्ञान नहीं है, वापिस ऐसा कहना है। आहाहा!

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानपरिणति से आत्मा ज्ञात होता है और राग है, वह अत्यन्त भिन्न स्वभाव है। क्योंकि कहा न? ज्ञान और अज्ञान, दोनों को आधार-आधेय है ही नहीं। राग अज्ञान है। यह दया, दान का विकल्प भी अज्ञान है अर्थात् इसमें ज्ञान का अंश नहीं है। अज्ञान है। आहाहा! यह पुण्य-पाप के भाव, वे अज्ञान हैं। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसलिए **वस्तुएँ भिन्न ही हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा अज्ञान में (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है।** आहाहा! एक-दो यह गाथा पढ़े तो (समाधान हो जाये ऐसा है)। आहाहा! ऐसा कहा है, देखो न! **भिन्न भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं...** दोनों के स्वभाव भिन्न प्रकाशित होते हैं। दोनों के स्वभाव भिन्न प्रकाशित होने से दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। दोनों वस्तुए भिन्न होने से... आहाहा! ज्ञान और अज्ञान कहा। (स्पष्टता) करते-करते लाते हैं। राग के, दया, दान के, व्रत के परिणाम, वह अज्ञान है; उनमें ज्ञान नहीं है, वे तो राग हैं। आहाहा! और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञानस्वरूप और अज्ञान दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा!

इस प्रकार.. गजब बात की है! टीका.. ओहोहो! ज्ञान अर्थात् आत्मा को। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु है। उसकी परिणति ज्ञान और आनन्द की है। उस परिणति द्वारा वह ज्ञात हो, ऐसा है। इसलिए परिणति उसका आधार है। राग का आधार राग है। राग और इसे दोनों को—ज्ञान और अज्ञान को—दोनों को अन्तर है। आहाहा! स्वरूप का ज्ञान,

श्रद्धा-ज्ञान का परिणमन और राग का परिणमन, वह अज्ञान है। ज्ञान और अज्ञान दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। कहकर फिर (कहते हैं कि) ज्ञान और अज्ञान दोनों भिन्न हैं। **ज्ञान तथा अज्ञान में (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है।** ऐसा। दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं, इसलिए राग को आत्मा का आधार जरा भी है, शुभराग आत्मा को सम्यग्दर्शन में सहायता करता है, ऐसा जरा भी नहीं है।

कान्तिलाल का यही कहना है, बस! शुभभाव है न? अध:करण और अनिवृत्तिकरण (आता है न)? आहाहा! अरे रे! क्या हो? भाई! वापिस अभिमान छोड़ देना कठिन पड़े। आते थे, सुनने आते थे। सुनने तो आवे ही वह (परन्तु) अपनी बात रखकर। वे यहाँ सौभागभाई आते थे, वे अपनी बात रखकर सुनते थे, परन्तु अन्त में नरम पड़ गये। राजकोटवाले सौभागचन्द! सुनने आवे, परन्तु बराबर उसकी (स्वयं की) बात रखकर (सुने)। बहिन की पुस्तक पढ़ी और एकदम नरम पड़ गये और एकदम मेरे पास आये। महाराज! यह पुस्तक कोई एकाध व्यक्ति भी पढ़कर भव का अन्त लायेगा तो क्या? छह हजार पुस्तक लिये। रुपये, रुपये देते थे न? ऐसे तीन रुपये (कीमत है) परन्तु मुम्बईवाले दो (रुपये) देते थे। छह हजार पुस्तक सभा में बाँट दी। साढ़े तीन हजार विक्रय हुई। क्योंकि कितने ही लड़के हों, कितने ही अन्यमति हों, कितनों के पास तो है। इसलिए ऐसा कि न हो उसे दो। साढ़े तीन हजार बाँटे। कहो, यह नवीन बात हुई है। राजकोट २००० घर का प्रमुख व्यक्ति, साधु उसे पूछे, वह व्यक्ति मुम्बई में बहिन की पुस्तक में लिखा है कि यह दिगम्बर धर्म सत्य है। उसमें लिखा है न? वह पुस्तक सभा में बाँटी। स्थानकवासी छोड़कर। बापू! यह मार्ग दूसरा है, बापू! आहाहा! और फिर मेरे पास हर्ष करने आया। हर्ष करे,हों! आहाहा! यह पुस्तक कोई एकाध बहिन पढ़ेगी, एकाध आदमी पढ़कर भव का अन्त लायेगा तो भी लाभ होगा। ऐसा बोले, हों! आहाहा! लोगों को ऐसा साधारण लगे। छोटे मुँह बड़ी बातें कहते हैं यह। साधुपना नहीं, मोटर में बैठना, ऐसे में फिर बातें ऐसी करना। कहते हैं। आहाहा! बापू! वह बाहर की चीज़ भिन्न है, अन्तर की भिन्न है। क्षायिक समकिती तो चक्रवर्ती के राज में हों, दिखायी दे। छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, आसक्ति का राग होता है। आहाहा! रुचि उड़ गयी है, सुखबुद्धि उड़ गयी है। किसी भी चीज़ में सुखबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! धर्मी को आत्मा के सुख के अतिरिक्त सर्वत्र सुखबुद्धि

(उड़ गयी है)। तीर्थंकरगोत्र (जिस) भाव (से) बँधे, उसमें भी सुखबुद्धि उड़ गयी है कि यह ठीक बँधा, यह ठीक फलेगा। आहा! ऐसा है। बहुत सरस बात की है, हों! पूरा पैराग्राफ अकेले तत्त्व से भरपूर है। संवर, संवर। आहाहा! अब दस मिनिट है।

इसी को विशेष समझाते हैं–जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके.. देखो! आधार–आधेय की व्याख्या। **आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है, तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से..** आकाश किसी दूसरे के आधार से है, यह है ही नहीं। आकाश जो सर्व व्यापक है, वह तो आकाश, आकाश के आधार से है। आहाहा! इस आधार का दृष्टान्त देते हैं। गजब गाथा।

एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (आकाश के) आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है, तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से (अर्थात् अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य ही होने से) बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित (उद्‌भूत) नहीं होती;.. बुद्धि में, आकाश को दूसरा आधार हो, ऐसी बात प्रभवित नहीं होती। ***प्रभवित नहीं होती=लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; शमन हो जाती है; उद्‌भूत नहीं होती।*** आकाश दूसरे द्रव्य के आधार से है, यह बात शमन हो जाती है। ऐसा है नहीं। आकाश को और आधार कौन? परवस्तु उसमें रहे, इसलिए व्यवहार अवगाहन कहलाये, परन्तु आकाश किसमें रहे? आहाहा! आधार भी वह और आधेय (भी) वह। आहाहा!

इस राग और आत्मा को आधार–आधेय सम्बन्ध नहीं है, यह सिद्ध करने के लिये यह बात ली है। बात तो वह सिद्ध करनी है, परन्तु वह न समझ में आये, उसे यह दृष्टान्त दिया कि भाई! तू, आकाश है, वह विचार। आकाश को आधार कौन? दूसरे किसी द्रव्य का आधार है? तेरी कल्पना वहाँ शमन हो जायेगी। आकाश का आधार आकाश है। आहाहा! वाह! **और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक आकाश ही एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है'..** ठीक! आहा! आकाश है, वही आकाश को आधार है। **यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और इसलिए ऐसा समझ लेनेवाले के पर–आधाराधेयत्व भासित नहीं होता।** आकाश को कोई दूसरा आधार है, उसमें आकाश रहा हुआ है, ऐसा भासित नहीं होता। आहा!

इस प्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके.. अब आत्मा पर उतारते हैं। आहाहा! ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा, आनन्दस्वभाव शुद्ध पवित्र स्वभाव परमात्मा को **अपनी बुद्धि में स्थापित करके..** आहाहा! भेदज्ञान कराया। **(ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये..** आत्मा का आधार-आधेयभाव विचार किया जाये, **तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से..** यह आत्मा किसी दूसरे द्रव्य के आधार से नहीं है। आहा! आत्मा, राग के आधार से नहीं है; राग, आत्मा के आधार से नहीं है। आहाहा! है ?

बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है'.. आत्मा, आत्मा की परिणति में, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। स्वयं वस्तु अपने आपके स्वरूप में प्रतिष्ठित है। आहाहा! **यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेनेवाले को पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता..** पर का आधारपना और आत्मा आधेय, ऐसा भासित नहीं होता। जैसे आकाश को पर आधार और आकाश आधेय नहीं है, वैसे भगवान आत्मा को आधार रागादि और आत्मा आधेय, ऐसा भासित नहीं होता। उसका स्वरूप है, वह आधार और आत्मा वह आधेय। आहाहा! उसमें है ?

पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता, इसलिए ज्ञान ही ज्ञान में ही है,.. आहाहा! आत्मा, आत्मा में ही है, अर्थात् आत्मा का स्वरूप जो परिणति करे, वह आत्मा में है, वह भी आत्मा है। रागादि, आत्मा नहीं; शरीर, नोकर्म वह आत्मा नहीं परन्तु आत्मा का जानना, देखना, श्रद्धान, स्थिरता, वह आत्मा है। उसका स्वरूप है, वह आत्मा है और उस स्वरूप के आधार से आत्मा रहा हुआ है, तो ज्ञान, ज्ञान में रहा है, आत्मा में आत्मा में रहा है। आहाहा!

ज्ञान ही ज्ञान में ही है, और क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही है। जैसे आकाश का आधार आकाश ही है, वैसे विकार का आधार आत्मा है, ऐसा नहीं। आहाहा! एक ओर ऐसा कहे कि पुण्य और पाप, राग-द्वेषादि लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है। ऐई! पंचास्तिकाय! वह पर से भिन्न वस्तु की स्थिति बतानी है। यहाँ तो अब विकार से भिन्न बताना है। क्षणिक कृत्रिम विकृत और त्रिकाली अविकृत स्वरूप, दो के बीच के विभाजन

की बात है। पंचास्तिकाय में यहाँ तक आता है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, तो राग-द्वेष का उत्पाद वह लक्षण है और आत्मा द्रव्य लक्ष्य है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य लक्षण है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य लक्षण है तथा द्रव्य है, वह लक्ष्य है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् है और सत् है, वह द्रव्य है। दो सूत्र है न! एक घण्टे में कितना याद रहे? ऐसी बहुत बातें हैं। आहाहा!

इस प्रकार.. आत्मा का और विकारी का। आहाहा! स्वभाव जहाँ शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. ऐसा जहाँ शुद्ध का भान हुआ, उस शुद्ध की परिणति में राग का और राग की परिणति में आत्मा का.. आहाहा! **भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ।** ठीक! आहाहा! इस प्रकार आत्मा का और विकार का—भाव क्रोध का; द्रव्य क्रोध तो जड़ है, तथा कर्म-नोकर्म का.. आहाहा! **भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ।** विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६०, गाथा १८१-१८३ दिनाङ्क २२-०६-१९७९
शुक्रवार, ज्येष्ठ कृष्ण १३

(समयसार) संवर अधिकार, पहले से शुरु (करते हैं), फिर से। **वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है..** उपचार से कथन कहा जाता है, वह तो जानने के लिये है, बाकी एक वस्तु को (और) दूसरी वस्तु को कोई सम्बन्ध नहीं है। एक आत्मा को और दूसरे आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। एक परमाणु और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। एक परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सब इसमें आ जाता है।

वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती).. आहाहा! आहाहा! ऐसे आत्मा को देव-गुरु-शास्त्र से भी कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार सम्बन्ध तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा, कथन-भाषा कही जाती है, बाकी वस्तु नहीं है।

व्यवहार तो कथनमात्र है। आता है न, कलश-टीका में?

बाकी एक चीज़ आत्मा है उसे दूसरे आत्मा के साथ या परमाणु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। **क्योंकि..** कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका कारण कि **दोनों के प्रदेश भिन्न हैं..** दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! विकारी परिणाम और निर्विकारी वस्तु, दोनों का क्षेत्र भिन्न है। दोनों का रहने का स्थान भिन्न है। विकार अल्प प्रदेश-अंश में रहता है और पूरी चीज़ समस्त प्रदेशों में रहती है। राग, दया, दान, भक्ति आदि के प्रदेश, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनके अलग हैं और आत्मा त्रिकाली आनन्दस्वरूप है, उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो भिन्न हैं। आहाहा! पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो भिन्न हैं, परन्तु इसकी पर्याय का अंश जितना, जितने में से उठे, उतने प्रदेश भी द्रव्य / आत्मा की अपेक्षा से भिन्न हैं।

उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है.. दो होकर एक सत्ता उत्पन्न नहीं होती। वस्तु स्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति का परिणमन और राग का परिणमन, दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है, दो का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। आहा..! यह भेदज्ञान कराया है। भगवान आत्मा ज्ञान-परिणमन में ज्ञात हो, ऐसा है; इसलिए ज्ञान परिणमन, वह आत्मा का स्वरूप है। राग है, वह जड़ है, अचेतन है; इसलिए उसके प्रदेश भिन्न होने से दो की एक सत्ता नहीं है। दो का अस्तित्व एकरूप नहीं है, दो का अस्तित्व दोरूप से भिन्न-भिन्न है। आहाहा!

(अर्थात् दोनों की सत्ताऐं भिन्न भिन्न हैं); और इस प्रकार जबकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है,.. इस प्रकार एक वस्तु आत्मा और उसके साथ दूसरे आत्मा तथा शरीरादि... आहाहा! भगवान आत्मा को और पंच परमेष्ठी को भी भिन्न सत्ता है, भिन्न अस्तित्व है, इसलिए कोई सम्बन्ध नहीं है। **एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है,..** यह कारण है।

उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। आहाहा! राग का आधार, आत्मा आधेय, ऐसा नहीं है। आहाहा! दया, दान, व्रत, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह राग जड़ है। जड़ का आधार और चैतन्य उसमें आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार चैतन्य की शुद्ध परिणति-निर्मल परिणति, वह आधार, आत्मा आधेय। आहाहा! यहाँ तो यह सिद्ध करना है न! नहीं तो पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं है। वर्तमान पर्याय प्रगट है, उसके अतिरिक्त की सभी पर्यायें द्रव्य में है, बाह्य नहीं, परन्तु वर्तमान पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं

है। यह क्या कहा ? कि आत्मा में जो अनादि-अनन्त पर्याय है, उसमें प्रगट एक समय की पर्याय; वह पर्याय, द्रव्य में नहीं है। उसका सत्व भिन्न है। भूत और भविष्य की पर्यायें अन्तर में रही है, वह द्रव्य है। आहाहा! और वर्तमान प्रगट पर्यायरहित कभी इसका काल नहीं होता। वह प्रगट पर्याय और वस्तु दोनों की सत्ता-प्रदेश भिन्न है। आहाहा! इसलिए उनकी सत्ता भिन्न है। अरे! आहाहा!

इसलिए **परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं।** पहले व्यवहाररत्नत्रय हो तो उसके आधार से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। शुभराग-मन्दराग पहले हो और पश्चात् सम्यग्दर्शन हो, ऐसी वस्तु नहीं है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म! परन्तु उस वस्तु को समझने में उसका फल भी अनन्त आनन्द है न! आहा! कठिन पड़े। पंच परमेष्ठी के साथ आधार-आधेय नहीं! इष्ट कहलाते हैं न ? पंच परमेष्ठी, परन्तु पंच परमेष्ठी तो उनके लिये हैं। वह तो व्यवहार से इष्ट कहलाते हैं। बाकी आत्मा को और उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। ऐसा। अर्थात् क्या ? ऊपर बहुत कहा न ? एक वस्तु को (दूसरी वस्तु के साथ) प्रदेश सम्बन्ध नहीं है। एक-दूसरे को कोई सम्बन्ध नहीं है और एक-दूसरे की सत्ता भिन्न है; इसलिए आधार-आधेयसम्बन्ध भी नहीं है। **है ही नहीं,** ऐसा है। आहाहा! चाहे जितना कषाय का मन्द भाव हो, शुक्ललेश्या हो परन्तु उससे आत्मा को धर्म हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! अभी तो धन्धे के कारण यह भी फुरसत नहीं मिलती, संसार के पाप।

यहाँ तो कहते हैं कि इस कषाय की इतनी अधिक मन्दता हो, तथापि उसके आधार से सम्यग्दर्शन हो, ऐसा नहीं है अथवा उसके आधार से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप..** अब क्या है ? वस्तु अपना स्वरूप है, ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वरूप वह आत्मा कहलाता है। उस स्वरूप में प्रतिष्ठा है। उसमें रहना, उसकी शोभा है और उसका इसे आधार है। आहाहा!

अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप.. आहाहा! इस पर्याय का आधार है, ऐसा कहते हैं। वस्तु है, उसका स्वरूप अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; उस स्वरूप के आधार से वह वस्तु है। आहाहा! प्रगट पर्याय जो है, वह आत्मा का स्वरूप है। यहाँ पर्याय को आत्मा

का स्वरूप कहना है। एक ओर पर्याय को परद्रव्य कहे। नियमसार। किस अपेक्षा से? पर्याय में से नयी पर्याय नहीं आती, इस अपेक्षा से उसे परद्रव्य कहा है, परन्तु यहाँ तो पर्याय जो है, पहली-पहली, उसे अनन्त काल में ज्ञात नहीं हुआ, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान की परिणति द्वारा ज्ञात होता है; इसलिए उसे आधार और आत्मा को आधेय कहा है। आहाहा! पर्याय आधार।

यह तो सिद्ध करने से पहले आ गया था, पर्याय कर्ता, कर्म, करण और द्रव्य उसका कार्य। कर्ता-कर्म में आ गया है न? आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। अभी तो सब गड़बड़ उठायी है। यह दरकार कहाँ है? आहाहा! एकदम वस्तु भगवान द्रव्य है न! वस्तु है न! तो वस्तु का जो स्वरूप-परिणति है, वह उसका आधार है। आहाहा! प्रगट जो पर्याय है, वह उसका आधार है, क्योंकि उस पर्याय द्वारा ज्ञात हुआ। आत्मा है, वह प्रगट पर्याय (में ज्ञात हुआ)। दूसरी भूत-भविष्य की पर्यायें अन्दर में है परन्तु वर्तमान जो पर्याय प्रगट है, उससे वह ज्ञात होता है; इसलिए वह पर्याय आधार है, द्रव्य आधेय है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

इसलिए ज्ञान.. ज्ञान अर्थात् आत्मा। अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप है, आधार-आधेयसम्बन्ध है। अपने स्वरूप के साथ आधार-आधेयसम्बन्ध है। इसलिए जो पर्याय प्रगट शुद्धपरिणति है, उसका आधार है, उसके आधार से ज्ञात हुआ है। ऐसा आधार। पर्याय में वह है, यह प्रतिष्ठा है। आहाहा! शुद्धस्वभाव की परिणति वर्तमान है, उसके आधार से है, इसलिए प्रतिष्ठा वहाँ रही है। द्रव्य का आधार वहाँ रहा है। आहाहा! एक ओर परिणति को बहिर्तत्त्व कहते हैं। आहा! वह किस अपेक्षा से? यहाँ कहे, परिणति के आधार से वस्तु ज्ञात होती है; इसलिए परिणति, वह आत्मा है। राग, दया, दान, व्रत, तप का, यात्रा आदि का विकल्प, वह सब जड़ है। आहाहा!

इसलिए ज्ञान.. अर्थात् आत्मा **जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में..** देखा? उसे जानने की जो वर्तमान क्रिया; प्रगट पर्यायरहित कभी नहीं होता। वह प्रगट पर्याय उसे जाननेवाली है। आहाहा! आत्मा जो कि जाननक्रियारूप अपना स्वरूप... वापस वह पर्याय अपना स्वरूप है (-ऐसा कहा है)। आहाहा! एक ओर पर्याय को परस्वरूप परद्रव्य कहे। परद्रव्य परभाव हेय है। वह किस अपेक्षा से है? त्रिकाली स्वभाव की

अपेक्षा से (कहा है)। कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो ऐसा कहते हैं कि मेरी भावना के लिये नियमसार बनाया है। आहाहा!

इसलिए ज्ञान.. अर्थात् आत्मा **जो कि जाननक्रिया..** जाननक्रिया (अर्थात्) वर्तमान पर्याय, हों! आहाहा! वह **जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है..** उसे जाननक्रिया, द्रव्य को जानने की क्रिया करे तो वह उसमें जाना; इसलिए उसका आधार है। वहाँ द्रव्य रहा हुआ है। आहाहा! द्रव्य, द्रव्य में रहा है नहीं। द्रव्य यहाँ जानन आधार (रूप क्रिया में) वह रहा हुआ है। आहाहा! यह तो फिर से लिया है। आहाहा!

उस जाननक्रिया का अर्थात् आत्मा जो अनन्त गुण का पिण्ड वस्तु है, उसे जो वर्तमान पर्याय जानती है, वर्तमान पर्याय प्रगट है, वह जाननक्रिया है। क्रिया तो आयी। राग की क्रिया और पर की क्रिया नहीं। जाननक्रिया आयी। क्रिया का निषेध नहीं परन्तु कौन सी क्रिया? यह कर्ताकर्म में भी आता है। आहाहा! यह भगवान आत्मा ध्रुव नित्य है, उसकी परिणति वर्तमान में जो प्रगट पर्याय है, वह परिणति है, वह जाननक्रिया है और जाननक्रिया के आधार से आत्मा रहा हुआ है, क्योंकि उस जाननक्रिया से जानने में आया। नहीं तो 'है', ऐसी कुछ खबर नहीं थी। वस्तु थी, तथापि पर्याय में जाननक्रिया उस सन्मुख नहीं ढली तो उसके लिये कुछ थी नहीं। आहाहा!

है भगवान अन्दर परिपूर्ण, परन्तु उस ओर ज्ञान की पर्याय झुकी, तब जाननक्रिया के आधार से वह ज्ञात हुआ; इसलिए जाननक्रिया, वह आत्मा का स्वरूप है और उसके आधार से वह (जानने में आया है)। आत्मा अपने स्वरूप के आधार से ज्ञात हुआ है। आत्मा अपने स्वरूप के आधार से जानने में आया है। अपना स्वरूप यह जाननक्रिया। आहाहा! क्यों? कि **जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से,..** आहाहा! वर्तमान जो प्रगट ज्ञानपर्याय द्रव्य को जाने... आहाहा! उस जाननक्रिया का और आत्मा का अभिन्नपना है। आहाहा! राग और जगत के क्रियाकाण्ड, वे सब आत्मा से भिन्न हैं। आहाहा! जिससे ज्ञात हुआ वर्तमानपर्याय से (ज्ञात हुआ) तो वह जाननक्रियारूप परिणमन उसका स्वरूप है और इससे स्वरूप में रहा हुआ है और इससे वह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह जाननक्रियास्वरूप ही है। ज्ञान / जाननक्रिया वह पर्याय है और ज्ञान, वह द्रव्यवस्तु है। आहाहा! ऐसा मार्ग! किसे पड़ी है? अरे! कहाँ चले जाना है?

ज्ञान में ही है;.. जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से,.. वह जाननक्रिया में ज्ञान में ही है। इसलिए वस्तु का स्वरूप अभिन्न है। वस्तु, वह वस्तु में ही है। वस्तु के स्वरूप में है अर्थात् वस्तु, वस्तु के स्वरूप में ही है। समझ में आया? यहाँ तक तो अस्ति की बात ली है।

अब, जो कुछ दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, यात्रा के परिणाम हों, वह विकार है। जो क्रोधादि हैं, वे क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका—क्रोधादि का परिणमन है, उस परिणमन में वह विकार है। आहाहा! निर्मल परिणमन में जैसे आत्मा है, वैसे उसकी परिणमन की क्रिया में वह विकार है। आहा! आत्मा में नहीं। ऐसी चीज़ पड़ी है। अभ्यास के लिये समय मिलता नहीं। पूरे दिन पाप। स्त्री, पुत्र और धन्धा। पाप के धन्धे कर-करके चले जानेवाले हैं। आहाहा! ऐसी चीज़ अभी समझने में भी न आवे, (वह अनुभव में कब ले?)

मुमुक्षु : आपको गुरु धारण किया और समझ में न आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसने बहुत परिचय किया है, उसकी बात अभी नहीं है। आहाहा! परन्तु कुछ परिचय नहीं (कि) यह क्या चीज़ है? और उस चीज़ को जिस पर्याय ने जाना, वह पर्याय उसका स्वरूप है और इसीलिए वह स्वरूप और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं। आहाहा! जिस पर्याय ने जाना, वह पर्याय और आत्मा अभिन्न एक है। आहाहा! उसमें ऐसा कहते हैं कि पर्यायमात्र हेय है, परभाव है और परद्रव्य है (नियमसार गाथा ५०)। वहाँ आगे अकेला उपादान ध्रुवस्वभाव बतलाना है। यहाँ आश्रय किसका लिया जाता है, इतना बतलाना है। परन्तु पर्याय बिना वह ज्ञात किसमें हो? कार्य तो पर्याय में है। ध्रुव तो कूटस्थ है। वह हिलता नहीं, सदृशरूप से कायम है। उसे त्रिकाली भगवान को जानने के लिये वर्तमान पर्याय प्रगट है, वही उसे जानती है। समझ में आया?

विकारीपर्याय विकार के आधार से है। **क्रोधादिक्रिया का क्रोधादि से से अभिन्नत्व..** देखा? जैसे वह आत्मा जिस पर्याय से ज्ञात हुआ, वह उसका स्वरूप है। उस स्वरूप को और आत्मा को अभिन्नपना है। वैसे ही क्रोधादि की पर्याय का परिणमन और वस्तु दोनों अभिन्न हैं। आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आत्मा

से भिन्न है। आहाहा! और उसकी विकार की परिणति से वह वस्तु अभिन्न है। समझ में आया? आहाहा!

(ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है,..) आत्मा का स्वरूप तो जानना है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है न! श्रद्धा, आनन्द अनन्त गुण का व्यक्त अंश है, वे सब अंश, वह पर्याय, द्रव्य को जानते हैं। जानता है ज्ञान। दूसरी तो एक ओर ढली हुई वस्तु है। आहाहा! आत्मा का स्वरूप जाननक्रिया है **(इसलिए ज्ञान आधेय है..)** आहाहा! आत्मा वस्तु है, वह आधेय है। आहा! रहनेवाले का रहने का स्थान वह आत्मा नहीं। रहनेवाले का रहने का स्थान ज्ञानपर्याय का स्वरूप वह उसका रहने का स्थान है। आहाहा!

(ज्ञान आधेय..) है। ज्ञान अर्थात् आत्मा। त्रिकाली ज्ञानस्वरूप प्रभु, वह आधेय है अर्थात् रहनेवाला है। किसमें (रहनेवाला है)? **(जाननक्रिया आधार है।)** आहाहा! जाननक्रिया जो चैतन्य का निर्मल परिणमन (हुआ), चैतन्य का निर्मल परिणमन (हुआ), उससे वह ज्ञात हुआ है; इसलिए वह आत्मा, जाननक्रिया में है। जाननक्रिया (के) आधार से है। आहाहा! अब ऐसी बातें! इसमें क्या करना? यह करके, यह समझकर क्या करना? यह समझकर आत्मा ऐसा है, यह पर्याय है, जानन पर्याय है, उसमें आत्मा रहा हुआ है; अर्थात् उसमें आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए रहा हुआ है। आहाहा! राग और पुण्य-पाप के परिणाम में परिणति उनकी, उसमें वह विकार रहा हुआ है। आहाहा! यह तो दूसरी-तीसरी बार पढ़ा गया है। थोड़ा चला था या नहीं? फिर राजकोटवाले आये थे, (इसलिए) फिर से (लिया है)।

ज्ञान ही आधार है। अर्थात? आहा! यह ज्ञान ही आधार, यह ज्ञान कौन? जाननक्रिया। पहले लिया न कि ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है। वह ज्ञान अर्थात् पूरी त्रिकाली वस्तु और जाननक्रिया, वह वर्तमान परिणमन, उसके आधार से है। आहा! क्योंकि जानन परिणमन में ज्ञात हुआ है। है तो है, परन्तु इसे ज्ञात नहीं हुआ तो इसे कहाँ है? आहाहा! वस्तु तो भगवान अनन्त गुण का पिण्ड, भगवत्स्वरूप विराजता है। प्रत्येक भगवान आत्मा अन्दर भगवत्स्वरूप है। आहा! बाल-गोपाल सब। शरीर को निकाल डालो (अर्थात्) उसे न देखो, शरीर को न देखो, राग को न देखो तो सब भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य, वह उसकी परिणति में ज्ञात होता है। (इसलिए) वह परिणति उसका

स्वरूप है। इसलिए स्वरूप और परिणति, परिणति और वस्तु अभिन्न है। ज्ञान की परिणति और वस्तु अभिन्न है। आहाहा!

ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। जो जानने की पर्याय हुई, जिसने स्व को ज्ञेय बनाया, जिस ज्ञान की वर्तमान दशा ने स्व को ज्ञेय बनाया, वह जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं है, आत्मा भिन्न नहीं है। आहाहा! धीरे-धीरे तो कहा जाता है।

मुमुक्षु : ज्ञान आधाररूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा नहीं? ज्ञान आधार है, तो वह कौन सा ज्ञान? जाननक्रिया। जिस पर्याय में आत्मा को जाना, वह ज्ञान। वह आधार है।

ज्ञान ही आधार है,.. और **जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं हैं।** परिणति जानने की दशा है, उसमें ज्ञान रहा है और वह जानना ज्ञान का स्वरूप ही है। उस स्वरूप के आधार से ज्ञात हुआ है, इसलिए वह आधार है, ज्ञान उसमें रहा है। आहाहा! **ज्ञान ही आधार है,.. जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं हैं।** यह परिणमन, वह ज्ञान का स्वरूप ही है, ऐसा कहते हैं। उस परिणमन के आधार से रहा, वह सब अभिन्न ही है। राग-द्वेष के परिणाम भिन्न हैं, वैसे यह भिन्न नहीं है। आहा!

यहाँ **ज्ञान ही आधार है,..** ऐसा कहा न। यह ज्ञान आधार है कौन? कि जाननक्रिया। ज्ञान आधार है, वह कौन? कि जाननक्रिया। कहा है न? देखो न! **ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान..** अर्थात् वर्तमान जानने की परिणति और ज्ञान अर्थात् कायमी चीज़, वे **भिन्न नहीं हैं।** आहा! अब ऐसा कुछ अभ्यास में आवे नहीं, वकालात में आवे नहीं, बी.ए., एल.एल.बी. में विद्यालय में आवे नहीं। पूरे दिन पाप के धन्धे। यह वस्तु!

यहाँ तो तेरा स्वरूप तुझे जाने, वह जानने की क्रिया, वह तेरा स्वरूप और उसके आधार से तू। आहाहा! अरे! ऐसे बड़े लड़के हों, आधार मिले नहीं, बुजुर्ग हो गये हैं। मकान ठीक हो तो ठीक आधार कहलाये। आहाहा! यहाँ तो दया, दान का, भगवान की भक्ति का राग, वह आधार और आत्मा उसमें आधेय, ऐसा नहीं है। उस राग को और

त्रिकाल को जाननेवाली पर्याय... राग है, उसके अस्तित्व का ज्ञान और त्रिकाली अस्तित्व प्रभु का ज्ञान उस ज्ञानक्रिया में आधार, वह ज्ञान आधार-वह जाननक्रिया आधार; आधेय आत्मा। आहाहा! यह तो अपने वह सब आ गया है।

(तात्पर्य यह है कि ज्ञान ज्ञान में ही है।) ज्ञान अर्थात् वस्तु, ज्ञान में ही अर्थात् जाननक्रिया में ही है। आहाहा! वस्तु है, उसकी पर्याय वह उसका स्वरूप है। जाना कि यह भगवान ज्ञायक है, चैतन्य है, पूर्ण है, प्रभु है, भगवान है—ऐसा जिस ज्ञानपर्याय ने जाना, वह पर्याय ही, **(ज्ञान, ज्ञान में ही है।)** इसलिए उस आत्मा का स्वरूप ही... आत्मा कहो या ज्ञान कहो, वे दोनों ज्ञान ज्ञान में ही है। आहाहा! आत्मा अपने स्वरूप में पर्याय में है। **(ज्ञान, ज्ञान में ही है।)** ज्ञान अर्थात् त्रिकाली स्वरूप, जाननक्रिया में ही है। आहाहा!

(इसी प्रकार क्रोध, क्रोध में ही है।) मुनि है न? (इसलिए) उत्तम क्षमा के सामने का क्रोध लिया है। अरुचि। वस्तुस्वरूप है, उसकी अरुचि और राग का प्रेम; राग का प्रेम, वह क्रोध है। आहाहा! **(क्रोध, क्रोध में ही है।)** आत्मा में नहीं। आत्मा उसमें नहीं और क्रोध, आत्मा में नहीं। आत्मा, क्रोध में नहीं; क्रोध, आत्मा में नहीं। आहाहा! जैसे जाननक्रिया के भाव में आत्मा है; इसलिए ज्ञान, वह ज्ञानस्वरूप ही है, जानना वह अपना स्वरूप है। क्रोध—अरुचि, आत्मा जिसे रुचता नहीं, सुहाता नहीं - ऐसा जो क्रोध भाव, वह क्रोध, क्रोध में है। उसके आधार से आत्मा नहीं है और क्रोध, आत्मा के आधार से हुआ नहीं है। ऐसी बात है। **(क्रोध, क्रोध में ही है।)**

और क्रोधादिक में,.. अर्थात् विकार के परिणाम में। **कर्म में..** वे भावकर्म हैं। भावकर्म (अर्थात्) क्रोध, मान, माया, राग, दया, दानादि वह भावकर्म। जड़कर्म। **कर्म में..** अर्थात् जड़ (कर्म), वह भी जड़ है, ये भी जड़ हैं - विकार आदि वे जड़ हैं। यह कर्म द्रव्य जड़ है और **नोकर्म..** मन-वचन और काया से दूसरी सभी चीज़ों को नोकर्म (कहते हैं)। आहाहा! नोकर्म में आत्मा नहीं है। **(क्रोध, क्रोध में ही है।) और क्रोधादिक में, कर्म में या नोकर्म में ज्ञान नहीं है..** आत्मा नहीं है। आहाहा! विकार, विकार में ही है; इसलिए विकार और कर्म, नोकर्म ज्ञान नहीं है (अर्थात् कि) आत्मा नहीं है। आहाहा! विकार, विकार में ही है। आहाहा! इसलिए विकार में और कर्म में तथा

नोकर्म में आत्मा नहीं है। भाषा तो सादी है परन्तु परिचय नहीं होता, इसलिए ऐसा लगता है कि यह क्या बात (करते हैं) ? यह जैन परमेश्वर की बात होगी ? या यह तो दूसरा धर्म होगा ? आहाहा ! भाई ! जैनधर्म में तो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रौषध करो (ऐसा होता है)। धूल में भी सामायिक, प्रौषध नहीं। मिथ्यात्व है।

अभी दर्शन की तो खबर नहीं होती। समकित और सामायिक... समकितरूपी परिणमन के आधार से द्रव्य है, क्योंकि जानने की पर्याय में साथ में प्रतीति है, वह कुछ द्रव्य को जानता नहीं। इसलिए जानने की पर्याय में ज्ञात हुआ है, इसलिए वह जानने की पर्याय आत्मा का स्वरूप है, इसलिए वह ज्ञान अर्थात् आत्मा का स्वरूप, पर्यायस्वरूप से भिन्न नहीं, अभिन्न है। आहाहा !

विकारी परिणाम में, जड़कर्म में और नोकर्म में आत्मा नहीं और आत्मा में **क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं हैं..** पारस्परिक लिया है। आहा ! **क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से..** भाषा देखो ! **उनके परस्पर..** आत्मा में जो दया, दान, व्रत के परिणाम हों और आत्मा जो जाननक्रिया से ज्ञात हो, इन दोनों का स्वरूप विपरीत है। आहाहा ! **क्योंकि उनके..** उन्हें अर्थात् पुण्य और पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा यह भाव... आहाहा ! और आत्मा। कर्म, नोकर्म तो ठीक जड़ है। **उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से..** आहाहा ! व्यवहाररत्नत्रय का राग और भगवान जाननक्रिया से ज्ञात हो, वह स्वरूप, दोनों विपरीत है। आहाहा ! विपरीत है तो विपरीत भाव से आत्मा ज्ञात हो (-ऐसा नहीं है)। थोड़ा रखो, व्यवहार का थोड़ा रखो (ऐसा लोग कहते हैं)। शास्त्र में आवे, आवे परन्तु वह तो एक निमित्त का ज्ञान कराने को (कहा होता है)। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि व्यवहार आवे, वह निमित्त का ज्ञान कराने को (कहा है)। आहाहा ! (व्यवहार के सम्बन्ध में) ऐसा लिखा है (कि) 'ऐसा नहीं है' व्यवहार हुआ, उसमें 'ऐसा नहीं है', परन्तु वहाँ निमित्त का ज्ञान कराना है। आहाहा !

उनके.. अर्थात् कि दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को और आत्मा के स्वरूप को अर्थात् ज्ञान से आत्मा ज्ञात हुआ, उस ज्ञानस्वरूप को **उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से..** उन दोनों में अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता है। आहाहा ! जाननक्रिया जो जानने की-देखने की, स्व को देखकर जानने की-देखने की क्रिया हुई, वह तो आत्मा

ही है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप है और उसके आधार से तो ज्ञान हुआ, इसलिए वह आधार है। उस पर्याय को और क्रोधादि, रागादि, दया-दान के परिणाम तो अन्दर में परस्पर है? **अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता..** आहाहा! अत्यन्त स्वरूप विपरीत है। अरे! ऐसा किस प्रकार का धर्म? उसमें अब यह भेदज्ञान का संवर अधिकार। आहाहा! गजब अधिकार है।

(ज्ञान का स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से).. ज्ञान का स्वरूप तो जाननस्वरूप है और विकार का स्वरूप तो मलिनता, दु:खरूप है। अज्ञानमय है, ऐसा आयेगा, आयेगा। ज्ञान को और अज्ञान को आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है। अन्तिम लाईन में आयेगा। इस पैराग्राफ की अन्तिम लाईन। भगवान आत्मा की वर्तमान जाननक्रिया का स्वरूप है, उसमें वह ज्ञात हुआ इसे, और रागादि हैं, वे अज्ञान हैं। आहाहा! यह ज्ञानस्वरूप है। जो पर्याय में ज्ञात हुआ, उस पर्याय में ज्ञात होता है। वह उसका स्वरूप है। उस स्वरूप में ही स्वयं आत्मा है। उसे और क्रोध को अर्थात् अज्ञान है। यह ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! द्रव्य से ज्ञान, गुण से भी ज्ञान और पर्याय से भी ज्ञान। यह ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि दूसरी चीज़ अज्ञान है। उसमें यह ज्ञान नहीं है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के परिणाम में ज्ञान नहीं है, वहाँ आत्मा नहीं है; वह तो अनात्मा है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। भाषा सादी है। टीका बहुत सादी भाषा (में है)। कितने बोल कहे! आहाहा!

(ज्ञान का स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से).. आहा! आत्मा में राग, दया, दान, व्रत, पूजा का विकल्प उठे, वह आत्मा नहीं है, वह जड़ है और भगवान (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञानस्वरूप है, अर्थात् ज्ञान की पर्याय में वह ज्ञात हुआ, इसलिए ज्ञानपर्याय भी आत्मा का ही स्वरूप है और ये रागादि हैं वे जड़स्वरूप हैं। दोनों अत्यन्त भिन्न स्वरूप हैं। अरे! लो, ऐसा सुने नहीं और (शोर मचाये), व्यवहार उत्थापित करते हैं, एकान्त है, बेचारे ऐसा कहें। अरे भाई! आहा! मुश्किल से सत्य बाहर आया, तब आरोप देने लगे। एकान्त.. एकान्त.. एकान्त.. पुकारते हैं। करुणादीप (मासिक पत्र) आता है (उसमें) यहाँ का एक-एक विरुद्ध (आता है)। जैनदर्शन (तत्कालीन समाचार पत्र) में थोड़ा दूसरा डालते हैं। वस्तु का ख्याल नहीं है, बहुत गूढ़ वस्तु है। आहाहा!

यहाँ आत्मा है, उसमें यह ज्ञान की जानने की परिणति है। वह जानने की परिणति द्वारा ज्ञात हुआ। आत्मा, राग द्वारा ज्ञात नहीं हुआ; ज्ञान की परिणति द्वारा ज्ञात हुआ; इसलिए वह परिणति इस ज्ञान का स्वरूप है और इसलिए वह आत्मा का स्वरूप अभिन्न है। साथ में दया, दान का राग उठा, वह राग का परिणमन विकार है और वह क्रोधादि का परिणमन, क्रोध है। विकार का परिणाम, वह विकार है। उसे जड़पना है, उसे अज्ञानपना है। आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय से ज्ञानस्वरूप है। पर्याय से जाना न, इसलिए। पर्याय से द्रव्य ज्ञात हुआ; इसलिए जाननक्रिया, वह आत्मा का स्वरूप है।

मुमुक्षु : सम्यग्ज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्ज्ञान की ही बात है न, अन्य बात है ही नहीं। आहा..हा..!

(ज्ञान का स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से) उनके परमार्थभूत आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है। लो! आहाहा! राग का कण मन्द हो तो आत्मा का ज्ञान हो, आत्मा की ओर ढले—ऐसा जरा भी नहीं है, कहते हैं। आहाहा! कहाँ गया? जीतू नहीं? दूसरी जाति है यह दो। आहाहा! सूक्ष्म बात है, बापू! जन्म-मरण रहित की बातें अलग हैं और जन्म-मरण कर-करके अनादि से मर गया है। आहाहा! नरक के, निगोद के भव कर-करके (मर गया है)। आहाहा! जिनके दुःख देखकर देखनेवाले को रोना आया है। ऐसे दुःख अनन्त बार भोगे हैं, बापू! अभी तू भूल गया है। आहाहा! नरक और निगोद के दुःख! निगोद में हीन (दशा का दुःख है)। नरक में संयोग की अपेक्षा से दुःख कहा जाता है और निगोद में हीनदशा की अपेक्षा से दुःख कहा जाता है। अत्यन्त हीनदशा, अक्षर का अनन्तवाँ भाग रह गया। आहाहा! आनन्द और ज्ञान और कहीं (नहीं)। आनन्द तो जरा भी नहीं। ज्ञान अनन्तवें भाग रह गया। आहाहा! और संयोगी दुःख आवे (तो) लोग उसे देखे।

मुमुक्षु : व्यवहार कथनमात्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कथनमात्र है, कहा नहीं? दूसरा नय है परन्तु वह कथनमात्र है। जाना (कि) ऐसा कहते हैं। बस! इतना। उसमें वह आदरनेयोग्य है नहीं। आहाहा!

आहा! इसलिए **परमार्थभूत आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है।** किसके साथ?

जाननक्रिया जो आत्मा की परिणति है, उससे जानने में आया, वह जाननक्रिया और क्रोध की जो परिणति, क्रोध की क्रिया, मान की क्रिया; इन दोनों को अत्यन्त स्वरूप विपरीत है, इसलिए दोनों में आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं है। आहाहा! परन्तु आवे, किसी जगह (आवे), व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। जयसेनाचार्यदेव में तो बहुत आता है। जयसेनाचार्यदेव में! वह तो निमित्त है, उसका ज्ञान कराया है। एक वस्तु है, उसका ज्ञान (कराया है), बाकी वह तो उसका स्वरूप ही नहीं है। स्वरूप तो उस जाति का जो आनन्द और ज्ञान है, उसका परिणमन हो, वह उसकी जाति है। राग का परिणमन तो कुजाति है। यहाँ तो उसे जड़ कहा है। जड़ है। 'चिद्रूप' है न? श्लोक आयेगा न? 'चिद्रूप जड़तो' यह श्लोक ही आयेगा। '**चिद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतो:**' आहा! (१२६) कलश में है।

भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु, उसे जानने की परिणति से जाना। आहाहा! वह चैतन्य है। भले परिणति पर्याय है परन्तु वह चैतन्य है। वह चैतन्य का स्वरूप है और दया, दान का विकल्प उठे, वह जड़ स्वरूप है। एक ओर जड़ तथा एक ओर आत्मा। आहाहा! और इसमें भी कहेंगे **ज्ञान तथा अज्ञान में (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है।** अन्त में कहेंगे। इस पैराग्राफ का अन्तिम शब्द है। आहाहा!

यह तो फिर से लेने को कहा था, इसलिए फिर से लिया। **और जैसे ज्ञान का स्वरूप जानन..** देखी भाषा? आत्मा का स्वरूप तो जाननक्रिया है। आहाहा! इस आत्मा का स्वरूप तो जाननक्रिया है। जो प्रगट पर्याय जानती है, वह आत्मा की जाननक्रियास्वरूप है। आहाहा! **ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, उसी प्रकार (ज्ञान का स्वरूप) क्रोधादि -क्रिया भी हो,..** राग भी है, ऐसा किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होता, किसी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता। आहा! यहाँ तो ऐसा कहते हैं, लो! व्यवहार से भी स्थापित किया जा सकता है या नहीं? किसी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता। देखो!

(क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो, ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता;.. भाषा क्या है? किसी प्रकार से। इसमें किसी में व्यवहार से भी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देवीलालजी! ऐसी बात है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु, अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति आत्मा है। भगवान जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ भगवान ने आत्मा देखा, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द

की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसका परिणमन उसे जाननेवाला हुआ, वह जानने का हुआ, वह तो उसका स्वरूप है, कहते हैं। उस स्वरूप द्वारा जानने में आया, इसलिए वह स्वरूप है। आहाहा! पर्याय उसका स्वरूप है। दूसरी जगह ऐसा कहते हैं कि पर्याय, वह परद्रव्य है। आहाहा! आश्रय, उसकी ओर का लक्ष्य छुड़ाना है। त्रिकाली पर दृष्टि करानी है। इसका परिणाम, परन्तु त्रिकाल पर दृष्टि है।

रात्रि को कहा था कि समय-समय की पर्याय हो, जिस समय पर्याय हो, वह हो। एक बात। और वह भी निर्मल परिणति, जिस समय निर्मल परिणति हो, उस समय वह ज्ञात हुआ। इसका अर्थ कि सबमें जिस समय जो पर्याय हो वह और जाननक्रिया भी जिस समय में जाननक्रिया हो वह, उस आत्मा को जानने की भी जिस समय में हो, उस क्रिया का समय है न? इसलिए वास्तव में तो अवसर में परिणाम होते हैं कि जाननक्रिया से ज्ञात हो, ऐसा होने पर उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। इसका सार यह है। आहाहा! जिसे जानना है, वह जाननक्रिया वह आया, इसका स्वरूप आत्मा स्वयं जानता है। आहा! क्योंकि प्रत्येक अनुयोग का तात्पर्य तो वीतरागता है। उसमें भी उसका तात्पर्य तो वीतरागता कहना है। वीतरागता किस प्रकार होती है? जिस समय में जो होगा, उस पर नजर रखने से नहीं होती। आहाहा! और स्वरूप को जानने की जाननक्रिया, वह भी जिस समय में होनी है, वह होगी। ऐसा निर्णय जिसे करना हो, उसे तो ज्ञायकभाव पर जाना पड़ेगा। जिसमें से वीतरागभाव प्रगटे, वीतरागभाव प्रगटे, उसमें जाना पड़ेगा। आहाहा! गजब बात है! यह तो पूरी दुनिया छोड़कर अकेला होना हो, उसकी बात है। अकेला है। आहाहा! कहाँ है कुछ? है अनन्त परन्तु इसमें। दोनों की सत्ता ही भिन्न है, कहा न? राग की, दया, दान की सत्ता और आत्मा की सत्ता ही भिन्न-भिन्न है। आहाहा! तो दया, दान, व्रत, पूजा के परिणाम का आधार और आत्मा (उनसे) ज्ञात हो, (इसका) निषेध है। कहो, चिमनभाई! आहाहा! यह शास्त्र कहीं सोनगढ़ का है? आहाहा! सोनगढ़ में (प्रकाशित हुआ है।)

भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा महाविदेह में विराजते हैं। प्रभु सीमन्धर भगवान (विराजते हैं), उनकी यह वाणी है। अरे, जगत के जीवो! समयसार की भेंट रह गयी। लोगों को भेंट दी, भेंट। आहा! भाई! एक बार तू यह समयसार ले। ले अर्थात् कि परिणति में आत्मा को ले ले। आहाहा! आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए, भाई! यह... बड़ी

क्रिया और अपवास और वर्षीतप और बड़े २५-५०-१०० लड़के सामायिक लेकर करने बैठे। यह सब कुछ धूल में भी धर्म नहीं है, अधर्म है, अधर्म का पोषण है। आहाहा!

जैसे ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है.. (अर्थात् कि) शुद्धपरिणति। **उसी प्रकार (ज्ञान का स्वरूप) क्रोधादिक्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादिक्रिया है..** क्रोधादिक्रिया लेनी है न? यहाँ जाननक्रिया है और वहाँ क्रिया लेनी है। **उसी प्रकार (क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो, ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता;..** यहाँ वजन है। आचार्य महाराज का यहाँ वजन है। ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता। किसी में भी सब आ गया। व्यवहार भी (आ गया)। आहाहा! विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६१, गाथा १८१-१८३, श्लोक १२६ दिनाङ्क २४-०६-१९७९
रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण १५

समयसार, संवर अधिकार। संवर अर्थात् धर्म की उत्पत्ति, धर्म की उत्पत्ति। निर्जरा अर्थात् धर्म की वृद्धि। यह अधिकार है। यहाँ तो अब दृष्टान्त देंगे, परन्तु उसके पहले यह आत्मा है, उससे पुण्य और पाप के भाव जो अन्दर (होते) हैं, शुभ-अशुभभाव है; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम-क्रोध, हिंसा, व्यापार-धन्धे के परिणाम, उन शुभ-अशुभ परिणामों को वस्तु ही दूसरी गिनी है। आत्मा से वह वस्तु दूसरी है। आहाहा!

आत्मा तो सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्दघन है और यह विकार—शुभ-अशुभभाव दोनों दु:खरूप और परवस्तु है; दोनों एक वस्तु नहीं है। एक वस्तु नहीं है; इसलिए उनके उनके प्रदेश एक नहीं हैं। आहाहा! उनके रहने का क्षेत्र एक नहीं है। वस्तुएँ भिन्न, इसलिए उनका क्षेत्र भी भिन्न। दो (बातें हुईं)। तीसरा, उनकी सत्ता भिन्न है, इसलिए पुण्य-पाप के भाव और आत्मा आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द प्रभु-दोनों की सत्ता भिन्न है, दोनों का अस्तित्व भिन्न है और इसलिए दोनों में आधार-आधेयपना नहीं है। कि भाई!

शुभ-अशुभभाव आधार और उनके कारण आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! और शुभ-अशुभभाव तथा आत्मा, दोनों को परस्पर अत्यन्त विपरीतता है। यह आ गया है। परस्पर विपरीत है। आहाहा! आत्मस्वभाव और पुण्य-पाप के भाव, दो के बीच अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। इतना कहकर अन्त में ऐसा कहा कि इस प्रकार ज्ञान के और अज्ञान के आधार-आधेयपना नहीं है। है अन्तिम लाईन ? अर्थात् क्या कहा ?

इस प्रकार से है, इसलिए ज्ञान अर्थात् आत्मा—प्रज्ञाचक्षु, जो ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, उसे और अज्ञान अर्थात् पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, वह अज्ञान है, उनमें ज्ञान नहीं है, इसलिए ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। ज्ञान को और अज्ञान को आधार-आधेयपना नहीं है। अर्थात् रागादि दया, दान, व्रत, परिणाम आधार और उनके कारण आत्मा ज्ञात हो और सम्यग्ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा कहते हैं कि राग है, वह आत्मस्वरूप चिदानन्द से वह वस्तु ही भिन्न है। प्रदेश भिन्न है, सत्ता भिन्न है, आधार-आधेय भिन्न है और दोनों के बीच अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। इसलिए ज्ञान और अज्ञान... ज्ञान अर्थात् आत्मा। अन्तिम शब्द है न ? आत्मा को और अज्ञान को। यह पुण्य और पाप के भाव, वे अज्ञान हैं, उन्हें ज्ञान नहीं है, उनमें ज्ञान नहीं है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा और अज्ञानस्वरूप ये पुण्य-पाप के भाव, अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। इस अज्ञान के आधार से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? यह बात तो पहले सिद्ध कर गये हैं।

अब, इसका दृष्टान्त देकर समझाते हैं। **इसी को विशेष समझाते हैं–जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके..** आकाश सर्व व्यापक है न, आकाश! यह दिखता है, वह आकाश नहीं, हों! आकाश अरूपी है। इस लोक में चौदह ब्रह्माण्ड में है और खाली भाग, खाली.. खाली.. खाली.. खाली.. अलोकाकाश, कहीं अन्त नहीं, अन्त नहीं। अन्त होवे तो अन्त के बाद क्या ? इस चौदह ब्रह्माण्ड के चारों ओर आकाश है, वह अनन्त है। वह आकाश सर्व व्यापक है। इस लोक में भी है और अलोक में भी है। जिसका अन्त कहीं नहीं। उससे क्षेत्र में बड़ी कोई चीज़ नहीं है। आकाश के क्षेत्र से बड़ी (दूसरी) कोई चीज़ नहीं है।

जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके.. ज्ञान में उस बात

को लेकर **आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है..** कि इस आकाश का आधार कौन है ? और आकाश में रहता है, वह क्या ? यह आधेय क्या है ? रहनेवाला क्या है ? और आधार देनेवाला क्या है ? आहाहा ! यदि बुद्धि में आकाश के लिए विचार करे, **तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से..** आकाश, आकाश के ही आधार से है। आकाश से बड़ा कोई क्षेत्र नहीं कि जिससे उसके आधार से आकाश हो। आहाहा ! इसमें कहेंगे। आकाश क्षेत्र से बड़ा है, भगवान ज्ञान और आनन्द से बड़ा है। आहाहा !

मुमुक्षु : दो बड़ों में से बड़ा कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा आत्मा। इस आकाश को भी जाननेवाला आत्मा है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! तात्त्विक विषय बहुत सूक्ष्म है।

आत्मा को, यह पाँच बोल में कहा, उसका यह तो अब दृष्टान्त देते हैं। **(आकाश के) आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है..** ज्ञान में-बुद्धि में आकाश का विचार करो कि यह सर्व व्यापक आकाश है, वह अरूपी है, वह अरूपी है, हों ! उसे आधार कौन ? उससे बड़ा कौन है कि जो आधार हो ? आहाहा ! यह आकाश है, वही आधार और आधेय है। आधार वह और आधेय भी वह। आहाहा ! आकाश। **तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से (अर्थात् अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य ही होने से) बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती;..** ज्ञान में विचार करे तो आकाश को लक्ष्य में ले और उस आकाश को आधार कौन ? ऐसा विचार करे तो बुद्धि में आधार-आधेय ऐसी भिन्नता उसमें भासित नहीं होती। आकाश आधार और आकाश आधेय। बाकी दूसरा आधार और आकाश आधेय, ऐसा नहीं है। आहाहा !

और उसके प्रभवित नहीं होने से,.. क्या कहते हैं ? बुद्धि में आकाश का विचार करने पर... आहाहा ! एक तो आचार्य कहते हैं कि हम तुझे आत्मा की बात करेंगे परन्तु एक आकाश का तो तेरी बुद्धि में विचार कर। नास्तिक होवे तो भी उसे जरा विचार करना पड़ेगा कि आकाश खाली.. खाली.. अरूपी है। यहाँ है, बाहर खाली अलोक है, जहाँ यह

चौदह ब्रह्माण्ड है नहीं। जीव, जड़ का जहाँ संग्रह नहीं है। खाली भाग अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. कहीं चले जाओ तो भी कहीं अन्त नहीं आता। ऐसा अनन्त आकाश चारों ओर है। आहाहा! इतने आकाश को बुद्धि में स्थापित करके विचार कर। आहाहा! कि इस आकाश को रहने का स्थान कौन ? कि यह स्वयं ही रहने का स्थान और स्वयं आधेय है। इसे दूसरा कोई आधार नहीं होता। आहाहा! है ?

'एक आकाश ही एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है'.. आहाहा! एक आकाश ही आकाश के आधार से है। प्रतिष्ठित (अर्थात्) आधार से। ओहोहो! आकाश का दृष्टान्त दिया। वह क्षेत्र से ऐसे व्यापक है। यह चौदह ब्रह्माण्ड जो जड़ और चैतन्य का (संग्रह है), वह असंख्य योजन में ही है, अनन्त में नहीं। इस जड़-चेतन का संग्रह असंख्य योजन में है। फिर खाली भाग है। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. वहाँ अरूपी आकाश है। उसका कहीं अन्त नहीं है। इतने आकाश को तू बुद्धि में ले, विचार कर। आहाहा! और उसका विचार करने पर तुझे ऐसा लगेगा कि आकाश इतना बड़ा, उसे आधार कौन ? वही बड़ी चीज़ है। अब उसे आधार कौन ? आधार और आधेय उसका वह है। आहाहा! देखा ?

आचार्य ने, बुद्धि में... है न ? स्थापित कर (कहा है) आहाहा! **बुद्धि में स्थापित करके..** (अर्थात्) लक्ष्य में लेकर। आकाश अमाप है। चारों ओर खाली भाग अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त नहीं तो फिर बाद में क्या ? बाद में क्या ? बाद में क्या ? नास्तिक को भी एक बार विचार करना पड़े कि यह सब जड़-चैतन्य यहीं के यहीं समाप्त हो जाए, फिर खाली भाग है, उसका अन्त कहाँ ? आकाश का अन्त नहीं होता। दसों दिशायें अनन्त... अनन्त... अनन्त... चारों ओर। ऐसे बुद्धि में आकाश को स्थापित करके विचार करने पर आकाश ही आकाश का आधार है। आहाहा! है ? **ऐसा समझ लेनेवाले के पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता।** ऐसा समझ जानेवाले को आकाश का आधार पर है, ऐसा भासित नहीं होता।

इस प्रकार.. अब सिद्धान्त (कहते हैं)। यह तो दृष्टान्त (था)। **एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके..** अब यह ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप भगवान, जाननेवाला आत्मा... आहाहा! उसका यह त्रिकाली जाननस्वभाव है। त्रिकाली ज्ञानस्वभाव,

उस **ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके..** आहाहा! राग में स्थापित करके या ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? आहाहा! आकाश के लिए भी बुद्धि में स्थापित करके कहा था। वहाँ राग में, विकल्प में रखकर विचार कर, ऐसा वहाँ नहीं कहा। आहाहा! अलौकिक बातें हैं।

यह आत्मा अन्दर देह से भिन्न है। यह (देह) तो जड़ मिट्टी है, यह वाणी जड़, मन जड़ है। अन्दर चैतन्य प्रभु, जो ज्ञान की मुख्यता से ज्ञान प्रधान है, उस ज्ञान को अपनी बुद्धि में-पर्याय में स्थापित करके। बुद्धि में अर्थात् ज्ञान की पर्याय में। यह एक ज्ञान जो त्रिकाली वस्तु है, उसका विचार कर। **(ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये..** इस आत्मा का आधार-आधेयभाव विचार किया जाए। ज्ञान अर्थात् आत्मा। भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो (गम्भीर है)। आहाहा!

जैसे आकाश को बुद्धि में स्थापित करके उसका आधार-आधेय (भाव) नहीं है। इसी प्रकार इस ज्ञान को अर्थात् आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, सत्—शाश्वत् चिद्—ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु अन्दर आत्मा है। अरे! कैसे जँचे? इतना शरीर और एक बीड़ी पीवे, वहाँ प्रसन्न हो जाता है। सिगरेट पीवे, (तब) पाखाने में दस्त उतरे, (उसमें) प्रसन्न हो जाए। आहाहा! उसे ऐसा आत्मा (समझना)। बापू! आत्मा तो अलौकिक है! जैसे आकाश क्षेत्र से अव्यापक नहीं, पसरा हुआ है; इसी प्रकार यह महा ज्ञान, अनन्त ज्ञान, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता... आहाहा! ऐसे भाव की अनन्तता है। उस भाव को बुद्धि में लेकर.. आहाहा! आधार-आधेय भाव विचार किया जाए। बात तो बहुत अच्छी आयी है। मनसुखभाई! तुम्हारा रविवार (आवे, तब) बात अच्छी आती है। आहाहा!

जैसे ये शुभ-अशुभभाव, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति और काम-क्रोध, ये कमाना, विषय-वासना, ये सब भाव आत्मा की चीज़ से दूसरी चीज़ है, उनकी जाति दूसरी है। यह जाति है, तब वे कुजात है और इसलिए उनके रहने के अंश भिन्न हैं और इसलिए उनकी सत्ता भिन्न है और इसलिए उनका आधार-आधेय भिन्न है और इसलिए उनकी स्वरूप विपरीतता, स्वरूप की विपरीतता अनन्त भिन्न है। आहाहा! और इसी से

वह अज्ञान और ज्ञान दोनों भिन्न हैं। अज्ञान (अर्थात्) इन पुण्य-पाप के परिणाम को अज्ञान कहा। आहाहा! समझ में आया? यह तो समझ में आये ऐसा है, ऐसा कोई बहुत सूक्ष्म नहीं है। आहाहा!

अन्दर जाननेवाला है, वह किसे नहीं जाने? उसे जाननेवाले को मर्यादा क्या होगी? अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त दर्शन, उसका यदि विचार किया जावे... आहाहा! **ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये..** आहाहा! **तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से..** आहाहा! यह वस्तु है, ज्ञानस्वरूपी प्रभु वह कोई दूसरी चीज़ के आधार से है, ऐसा है ही नहीं। वह चीज़ स्वयं वस्तु है, वह स्वयं अपने आधार से है। अर्थात् पर्याय जिसका स्वरूप जानना है, जिसे जानने की जिस स्वरूप की बुद्धि है, वह स्वरूप ज्ञानस्वरूप है, वह आत्मस्वरूप है। इसलिए ज्ञानस्वरूप जाननक्रिया, वह आधार है और आत्मा, वह आधेय है परन्तु आत्मा आधेय है और किसी दूसरे के आधार से रहता है, राग के आधार से और पुण्य के आधार से रहता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें। सम्प्रदायवालों को तो कठोर लगे ऐसी है। (सम्प्रदाय) बाँधकर बैठे हैं। तीनों काल ऐसा मार्ग है, बापू! आहाहा! क्या कहा?

ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके.. ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके, हों! किसी की बुद्धि में स्थापित करके तू विचार कर, ऐसा (नहीं कहा)। ज्ञान में ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके **(ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये, तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से..** तब आत्मा दूसरे किसी भी तत्त्व के आधार से है, ऐसा है ही नहीं। वह तो स्वयं अपने आधार से ही है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है'.. अर्थात् क्या कहा? जाननस्वभाव जो है, कायम असली त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का विचार करने पर **'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है'..** अर्थात् कि दूसरी कोई चीज़ नहीं। उसका जो ज्ञान का परिणमन

किया, ज्ञान का परिणमन पर्याय में दशा की, उस दशा के आधार से वह ज्ञात हुआ; इसलिए ज्ञानदशा, वह आत्मा का स्वरूप है, ज्ञान का स्वरूप है। ज्ञान के स्वरूप को ज्ञान के ही स्वरूप का आधार है। आहाहा! अब ऐसा धर्म के नाम से... वस्तु ऐसी है, बापू! कठिन है। धर्म तो एक सेकेण्ड हो तो उसे जन्म-मरण मिटते हैं, ऐसी चीज़ है। परन्तु धर्म कहना किसे, यह समझना बहुत कठिन, बापू! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, जब आकाश को बुद्धि में स्थापित करके उसका आधार-आधेय कोई दिखायी नहीं देता; इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु त्रिकाली को वर्तमान परिणमन ज्ञान में विचारने पर, वर्तमान ज्ञान के परिणमन में विचारने पर उसे ज्ञान के आधार से ज्ञान है। वह परिणमन जो हुआ, उसके आधार से ज्ञात हुआ, इसलिए आत्मा के आधार से आत्मा है, यह ज्ञान के आधार से आत्मा है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ज्ञान तो इन्द्रियों द्वारा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, इन्द्रियाँ जड़ हैं, वह तो मिट्टी, जड़ धूल है। वह जानती है? जानता है तो आत्मा। जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है, जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है, वह आत्मा है। इसमें ज्ञात होता है इसमें? वह (इन्द्रियाँ) तो जड़ मिट्टी है। जिसके अस्तित्व में, जिसकी मौजूदगी में यह है, यह है, यह है - ऐसा ज्ञात होता है, वह आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप है। ऐसी बातें हैं। दुनिया से बहुत अलग लगे। क्या हो? बापू! मार्ग ही यह है। आहाहा!

जैसे बुद्धि में आकाश को स्थापित करके आकाश का कोई आधार नहीं, (ऐसा भासित होता है)। ऐसी बुद्धि पसरती नहीं, ऐसी बुद्धि होती ही नहीं कि आकाश को कोई दूसरा आधार होगा। इसी प्रकार भगवान आत्मा वर्तमान ज्ञान का परिणमन, ज्ञान की उत्पाद दशा जो है... आहाहा! उस ज्ञान की वर्तमान दशा को उस ज्ञान का विचार कर कि इस आत्मा को आधार किसका है कि आत्मा को जानने की दशा प्रगट की, वही आत्मा है। तो उसका आत्मा को आत्मा का आधार रहा। आहाहा! समझ में आया?

राग नहीं, पुण्य दया, दान, व्रत, भक्ति नहीं। ज्ञान (को) बुद्धि में स्थापित करके... आहाहा! यह कहीं कम बात है? बुद्धि में ज्ञान आत्मा है, ऐसा स्थापित करके विचार करे

तो उस ज्ञान का जो परिणमन है, ज्ञान का जो जानने का भाव हुआ, उस भाव में आत्मा ज्ञात होगा, इसलिए उस भाव में आत्मा है, वह भाव भी आत्मा ही है। वह भले जानन पर्याय है, परन्तु है वह आत्मा। अत: आत्मा के आधार से आत्मा है; आत्मा दूसरे के आधार से नहीं है। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा-पाठ करे, इससे आत्मा ज्ञात होता है, इसका निषेध करते हैं। वह राग है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : छठे गुणस्थान तक राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धिपूर्वक राग है। राग है, अचेतन है।

मुमुक्षु : कहाँ तक आधार है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा को आत्मा का आधार है। राग का आधार है ही नहीं। इसके लिए तो यह बात चलती है। राग का आधार नहीं, परन्तु उसके कारण पहले दे गये न? कि राग और आत्मा दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। दोनों के लक्षण भिन्न हैं, दोनों का स्वभाव भिन्न है और इसलिए दोनों के प्रदेश भिन्न हैं और इसलिए उनकी सत्ता भिन्न है। इसलिए उनका आधार-आधेय भी भिन्न है और इसलिए उन दोनों के बीच अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है; इसलिए उनका आधार-आधेय भिन्न है। आहाहा! ऐसी बात है। अभी तो यह दया पाले और व्रत करे, भक्ति पूजा करे, वहाँ धर्म हो जाएगा। धूल में भी धर्म नहीं। वह तो सब राग की क्रिया है।

आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। जो ज्ञान जानना और आनन्दस्वरूप है, वह अज्ञान और दु:खरूप रागादि के परिणाम से वह ज्ञात होगा? आहाहा! अज्ञान से ज्ञान ज्ञात होगा? दु:ख से आनन्द ज्ञात होगा? आहाहा! शशीभाई! इस संवर अधिकार की शुरुआत में है। आहाहा! चैतन्यप्रकाश का पूर, नूर प्रभु, वह चैतन्यप्रकाश का पूर, उससे दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम अत्यन्त भिन्न जाति है। जाति भिन्न, भात भिन्न, क्षेत्र भिन्न। अरे! काल भिन्न। वे एक समय रहते हैं और यहाँ भगवान तो त्रिकाल रहता है। आहाहा! भाव भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? दोनों भाई आये लगते हैं। माणेकचन्दजी आये लगते हैं। आहाहा! ऐसी बात है।

आचार्यों ने तो ऐसी भाषा करके, करुणा करके जगत को सत्य में बैठाया है। प्रभु!

तू सत्य वस्तु है न! और सत्य वस्तु तुझमें प्रभु! ज्ञान और आनन्द है न! उस ज्ञान और आनन्द का विचार कर तो उस विचार और मनन के आधार से वह ज्ञात होता है, इसलिए मनन के परिणाम आधार और वह (स्वयं) आधेय। राग आधार और आधेय तीन काल में नहीं है। आहाहा! ऐसा है। लोगों को न जँचे, इसलिए एकान्त कहते हैं, फिर लोग ऐसा कहते हैं। वह था नहीं। नहीं था इसलिए (एकान्त लगता है)। वस्तु तो यह है, बापू! आहाहा! और वह न्याय से विचार करे तो इसे जँच जाए ऐसा है।

न्याय से विचार करे कि जो विकारी भाव है, शुभ-अशुभभाव, पुण्य-पाप (भाव है) वह दुःखरूप है, आकुलता है। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। वह आकुलता और आनन्दस्वरूप की जाति एक है? और उस आकुलता के आधार से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा है? आहाहा! उसका जानना तो, बुद्धि में आत्मा को स्थापित करके, बुद्धि में राग (स्थापित करके) नहीं। ज्ञान में (स्थापित करके), ज्ञान की पर्याय में-बुद्धि में आत्मा को स्थापित करके विचार करने पर, उस बुद्धि में दूसरा आधार है, ऐसा नहीं पसरता, ऐसा ज्ञात नहीं होता। कितने बोल डाले हैं न इसमें? पहले डाला है। प्रभवित नहीं होता, डाला है न? पहले (आ गया है)। कहाँ आया वह?

मुमुक्षु : दूसरे पैरेग्राफ की चौथी लाईन।

पूज्य गुरुदेवश्री : चलता है उसकी चौथी? हाँ, यह। बराबर है। **प्रभवित नहीं होती;..** यह लो। (भिन्न) आधार-आधेय की **अपेक्षा प्रभवित (प्रभवित नहीं होती =लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; शमन हो जाती है; उद्भूत नहीं होती।) नहीं होती;..** आहाहा!

बुद्धि में आत्मा को लेकर—लक्ष्य में लेकर यदि उसका विचार करे तो तुझे ऐसा लगेगा कि आत्मा जो मैं जानता हूँ, विचार-मनन (करता हूँ), उस स्वरूप में वह ज्ञात हुआ। वह स्वरूप है, वह आत्मा का स्वरूप ही है। इसलिए स्वरूप का आधार वह जाननक्रिया का आधार, आत्मा आधेय, परन्तु जाननक्रिया के अतिरिक्त राग आधार और जाननक्रिया दो होकर आधेय है, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया? है न? सामने पड़ा है न? आहाहा!

प्रभवित नहीं होती अर्थात् यहाँ कहना है कि ज्ञान में-ज्ञानपर्याय में सूक्ष्मपना करके जब आत्मा जो त्रिकाल है, उसका विचार करे। आहाहा! तो उसकी बुद्धि में इस आत्मा का दूसरा कोई आधार है, यह बात प्रभवित नहीं होती, लागू नहीं (हो सकती) ऐसा लिखा है न? लागू नहीं हो सकती। आत्मा को दूसरा कुछ राग का आधार है, ऐसा लागू नहीं हो सकती। शमन हो जाती है, उद्‌भवित नहीं होती। आहाहा! इसलिए कहते हैं कि सत्ता स्वरूप भगवान त्रिकाल को बुद्धि में स्थापित करके विचार करने पर पर का आधारपना है, वह शमन हो जाता है। अर्थात् होता नहीं। उससे ज्ञात हुआ, इसलिए जाननक्रिया जो धर्म की (हुई), सम्यग्दर्शन-ज्ञान की क्रिया (हुई) वह आधार; आत्मा आधेय है। उससे आत्मा ज्ञात हुआ, इसलिए (आत्मा) आधेय। पहले कल बहुत आ गया है।

तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती;.. लो! जैसे आकाश की बात थी, वैसे इसकी बात है। आहाहा! **और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है'..** अर्थात्? वस्तु है, उसका जहाँ अन्तर्मुख होकर मनन करे, ज्ञान करता है, ज्ञान का परिणमन होता है, वह ज्ञान ही एक ज्ञान में ही; ज्ञान अर्थात् आत्मा; एक ज्ञान, वह भी एक निर्विकल्प ज्ञान, ऐसा। राग, भेद नहीं। आहाहा! क्या आचार्य की टीका!

एक आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु, वह एक ही ज्ञान में प्रतिष्ठित है, वह एक ही ज्ञान में प्रतिष्ठित है। ज्ञान परिणति एक ही उसकी है। उस परिणति में वह ज्ञात होता है, इसलिए वह परिणति में प्रतिष्ठित है, परिणति में उसे आधार है। आहाहा! ये शब्द दूसरे, भाव दूसरा। यह तो वीतराग की कॉलेज है। अलग जाति, बापू! अभी बहुत फेरफार हो गया है। बहुत फेरफार। बाड़ा में सच्ची बात कहे तो उसे मिथ्या सिद्ध करते हैं, मिथ्या बात को सच्ची सिद्ध करते हैं। आहाहा!

यह **एक ज्ञान ही..** अर्थात् आत्मा। **एक ज्ञान में ही..** एक ज्ञान में ही अर्थात् उसकी जाति में। ज्ञान का परिणमन, ज्ञान की श्रद्धा, ज्ञान में रमणता इत्यादि-इत्यादि एक ज्ञान में ही आधार है। इस आत्मा को, ज्ञान अर्थात् मनन जो परिणमन हुआ, उसमें ही यह आत्मा है, अन्यत्र कहीं आत्मा है नहीं। **यह भलीभाँति समझ लिया जाता है..** ऐसा बराबर समझा जा सकता है। **और ऐसा समझ लेनेवाले को पर-आधाराधेयत्व**

भासित नहीं होता.. आहाहा! यह दया-दान का मन्द राग आया, मन्द था, (इसलिए) यह ज्ञात हुआ, ऐसा वहाँ नहीं रहता। धर्मी जीव को ज्ञानस्वरूप के परिणमन से यह आत्मा है, ऐसा ज्ञात हुआ, उसे इस ज्ञान परिणमन का आधार है, परन्तु राग आधार है (ऐसा) ज्ञात नहीं होता। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय आधार है और निश्चयरत्नत्रय आधेय है, (ऐसा नहीं है)। यहाँ तो आधेय पूरे तत्त्व को कहना है, परन्तु ऐसा भी नहीं, ऐसा। आहाहा!

यह तो समकित आदि मोक्ष का मार्ग जो अन्दर प्रगट किया, जिससे ज्ञात हुआ, वह जिससे ज्ञात हुआ, वह उसका आधार। क्योंकि ज्ञात किससे हुआ? कि ज्ञान से। इस प्रकार ज्ञान को अन्तर में झुकाया, तब ज्ञात हुआ; इसलिए ज्ञान को अर्थात् आत्मा को ज्ञान का आधार अर्थात् उसके स्वरूप का आधार है। आहाहा!

क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही है। देखा? **ज्ञान ही ज्ञान में ही है,..** क्रोधादि अर्थात् राग। क्रोध और मान दो द्वेष है। माया और लोभ दो राग है। इसलिए इस लोभ में राग आ जाता है। इसलिए रागादि सब पर है। वह रागादि राग में है। आत्मा ज्ञान की परिणति में से ज्ञात हुआ, (वह) परिणति में है। आहाहा! समझ में आया? अन्दर बुद्धि में पूरा आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु पूर्ण, 'पूर्णम् इदं' पूर्ण स्वरूप है। तत्त्व है, वह कहीं अधूरा होगा? पूर्ण है। वह पूर्ण ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। उसे बुद्धि में-लक्ष्य में लेकर विचार करे कि इसको आधार कौन? इस वस्तु को आधार कौन? आधार वह मनन करने का परिणमन—जाननक्रिया हुई, वह आधार है। उससे ज्ञात हुआ, इसलिए आधार। राग से ज्ञात हुआ नहीं, इसलिए आधार नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म पड़ता है।

ज्ञान ही ज्ञान में ही है,.. रागादि रागादि में ही है। आहाहा! व्यवहार है, वह व्यवहार में ही है और निश्चय है, मनन वह निश्चय परिणमन हुआ, उसमें वह आत्मा है। उसमें आत्मा ज्ञात हुआ है। आहाहा! समझ में आया? यह तो संवर का शुरुआत का अधिकार है। बहुत अलौकिक है। आहाहा!

यहाँ तो कहा कि दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, यह वस्तु आत्मा से भिन्न है और इसके प्रदेश भिन्न है, इसकी सत्ता भिन्न है, इसका आधार भिन्न है। आहाहा! और दोनों के बीच अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। आहाहा! इसलिए ज्ञान, अज्ञान में नहीं है। अर्थात्

रागादि अज्ञान है, उसमें आत्मा नहीं है। इसलिए ऐसी क्रियाकाण्ड से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इस प्रकार (ज्ञान का और क्रोधादिक..) आत्मा का और राग-द्वेष का— क्रोध, मान, माया, लोभ **(तथा कर्म–नोकर्म का)**.. कर्म जड़-मिट्टी है, वह आत्मा नहीं है और कर्म के आधार से आत्मा नहीं है तथा कर्म आत्मा के आधार से नहीं है। आहाहा! कर्म की पर्याय कर्म के आधार से है। उस कर्म पर्याय के आधार से है, उसकी पर्याय ज्ञात हुई कि यह विकार है, उसके आधार से कर्म है। आत्मा के आधार से कर्म (नहीं है)। यहाँ एक प्रदेश इकट्ठे हैं। जहाँ आत्मा है, वहाँ कर्म है परन्तु कर्म का आधार आत्मा को नहीं तथा आत्मा का आधार कर्म को नहीं। आहाहा! इसी प्रकार यह शरीर है। नोकर्म लिया है न? उसका अर्थ करते हैं। **भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ।** लो! इस प्रकार भावकर्म (अर्थात्) पुण्य-पाप, द्रव्यकर्म जड़ और नोकर्म (अर्थात्) बाहर की चीज़ें। (उनका) **भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हुआ।** आहाहा!

भावार्थ : उपयोग तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है.. यह व्याख्या की। उपयोग में उपयोग है, ऐसा कहा था न? उपयोग तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है, आत्मस्वरूप है। **और क्रोधादि भावकर्म,..** पुण्य और पाप के भाव, भावकर्म विकार है।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म.. ज्ञानावरणादि आठ जड़कर्म हैं न! **तथा शरीरादि नोकर्म..** शरीर के आधार से आत्मा अभी नहीं है तथा शरीर, आत्मा के आधार से अभी नहीं है। अरे.. अरे..! ऐसी बातें! किस प्रकार की बात होगी यह? यह (शरीर) मिट्टी, धूल है, वह अजीवतत्त्व है, उसके आधार से अन्दर आत्मा नहीं है तथा आत्मा के आधार से यह शरीर रहा है, ऐसा नहीं है। शरीर, शरीर की पर्याय के आधार से शरीर रहा है। आहाहा! इसे कितना बदलना? सोचा हो कुछ, निकले कुछ। अब सब बदल डालना पड़ेगा। आहाहा! श्रद्धा पूरी लाईन बदल डालनी पड़ेगी। आहाहा!

सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से.. कौन? यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, कर्म और शरीर, ये सब पुद्गल के परिणाम होने से पुद्गलद्रव्य हैं। आहाहा! ये

जीवद्रव्य नहीं। **पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं,..** आहाहा! व्रत करूँ और तप, अपवास करूँ और ऐसा जो विकल्प होता है, वह जड़ है। पुद्गल के परिणाम है; जीव के नहीं। आहाहा! अजीव है।

मुमुक्षु : पर करे, ऐसा कहे तो जड़ हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मान्यता उसकी जड़ हो जाये। मुझे धर्म हुआ, अपवास करता हूँ तो मैंने वस्तु छोड़ी, यह मान्यता मिथ्यात्व-जड़ है। आहाहा! ऐसा कठिन है। लौकिक शिक्षा से यह शिक्षा अलग प्रकार है। आहाहा!

उनमें और ज्ञान में.. अर्थात् (क्रोधादि को) और ज्ञान को, आत्मा को अर्थात् ज्ञान को और उन्हें अर्थात् पुण्य-पापादि भाव को **प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है।** जिसमें से जितने क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं, वे प्रदेश भिन्न हैं। जड़ के प्रदेश, जड़ के भाव वे जो प्रदेश हैं, चैतन्य का परन्तु वह प्रदेश भिन्न प्रदेश है। आहाहा! **अत्यन्त भेद है।**

इसलिए उपयोग में क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं.. चैतन्य के परिणमन में और चैतन्य वस्तु में वे राग-द्वेषादि नहीं हैं तथा कर्म और शरीरादि नहीं हैं। आहाहा! **और क्रोधादिक में,..** इन रागादि में **कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है।** उनमें आत्मा नहीं है। आत्मा में वे नहीं हैं और उनमें आत्मा नहीं है। आहाहा! जाननस्वभाव से जो आत्मा जानने में आया, उसमें राग नहीं है, क्रोध नहीं है, कर्म नहीं है, शरीर नहीं है और शरीर तथा राग, वे पुद्गल के परिणाम हैं, उनमें आत्मा का परिणमन ज्ञान या आत्मा उनमें है ही नहीं। आत्मा का परिणमन उनमें नहीं है। आत्मा का परिणमन तो शुद्ध है। आहाहा! शुद्ध परिणमन के आधार से आत्मा ज्ञात हुआ, इसलिए शुद्ध परिणमन आधार है, ऐसा यहाँ लेना है। आहाहा!

इस प्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है;.. आत्मा को और राग को, कर्म को और शरीर को आधार-आधेय नहीं है। **प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना आधाराधेयत्व अपने-अपने में ही है।** आहाहा! इस सिर के ऊपर यह परमाणु है न, ऊपर का परमाणु, वह निचले परमाणु के आधार से नहीं है। उसके आधार से वह है। इस पुस्तक के आधार से यह नहीं है। इसमें आधार नाम का गुण है, उसके आधार से यह है। ऐसा दुनिया से (उल्टा है)।

मुमुक्षु : ठवणी के आधार से पुस्तक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके आधार से पुस्तक नहीं है। आहाहा! व्यवहार के आधार से निश्चय नहीं है और निश्चय के आधार से व्यवहार नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। अरे! अपना विचार करके मैं कौन हूँ? यह क्या है? निर्णय करने का अवसर कम। जगत के पाप के धन्धे पूरे दिन। आहाहा! अरे! यह तो क्या चीज़ है? और यह क्या कहते हैं? आहाहा! पहली तीन गाथाओं में तो गजब काम किया है! तीन हैं न? ओहोहो!

उपयोग में क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं.. उपयोग अर्थात् आत्मा। **और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग (आत्मा) नहीं है। इस प्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तु का अपना अपना आधाराधेयत्व अपने अपने में ही है। इसलिए उपयोग..** अर्थात् आत्मा। **उपयोग में ही है..** आत्मा आत्मा में ही है। यह आत्मा का परिणमन हुआ, वह उपयोग, वह आत्मा। उसके आधार से आत्मा है। राग का परिणमन हुआ, वह जड़ के आधार से है, वह जड़ है। आहाहा! अन्दर भिन्न पड़कर ज्ञान का परिणमन हुआ, उसमें आत्मा है, क्योंकि उस परिणमन में आत्मा ज्ञात हुआ है। आहाहा! राग परिणमन में जड़ ज्ञात हुआ है, अज्ञान ज्ञात हुआ है। आहाहा!

उपयोग, उपयोग में ही है.. मूल पाठ था, उसका लिया है। **क्रोध, क्रोध में ही है। इस प्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया।** लो, भिन्नता भलीभाँति सिद्ध हुई। जैसा भिन्न है, वैसा भिन्न भलीभाँति सिद्ध हुआ। आहाहा! **(भावकर्म इत्यादि का और उपयोग का भेद जानना, सो भेदविज्ञान है।)** भावकर्म, हों! **(भावकर्म इत्यादि का और उपयोग का भेद जानना, सो भेदविज्ञान है।)** अन्तिम।

कलश-१२६

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतो: कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुण-दारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञान-मुदेति निर्मल-मिदं मोदध्व-मध्यासिता:
शुद्ध-ज्ञान-घनौघ-मेक-मधुना सन्तो द्वितीयच्युता: ।।१२६।।

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोप-योगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किञ्चनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति।

ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भ: प्रभवति। शुद्धात्मोपलम्भात् रागद्वेषमोहाभावलक्षण: सम्वर: प्रभवति ।।१८१-१८३।।

श्लोकार्थ : [चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतो: ज्ञानस्य रागस्य च] चिद्रूपता को धारण करनेवाला ज्ञान और जड़रूपता को धारण करनेवाला राग-[द्वयो:] दोनों का [अंत:] अन्तरंग में [दारुणदारणेन] दारुण विदारण के द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यास के द्वारा), [परित: विभागं कृत्वा] सभी ओर से विभाग करके (-सम्पूर्णतया दोनों को अलग करके-) [इदं निर्मलम् भेदज्ञानम् उदेति] यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है; [अधुना] इसलिए अब [एकम् शुद्ध-ज्ञानघन-ओघम् अध्यासिता:] एक शुद्धविज्ञानधन के पुञ्ज में स्थित और [द्वितीय-च्युता:] अन्य से अर्थात् राग से रहित; [सन्त:] हे सत्पुरुषो! [मोदध्वम्] मुदित होओ।

भावार्थ : ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होने से जड़ हैं; किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञान से ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप-जड़रूप-भासित होते हैं। जब अन्तरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है, ज्ञान में जो रागादि की कलुषता-आकुलतारूप सकल्पविकल्प भासित होते हैं, वे सब पुद्गलविकार हैं; जड़ हैं। इस

प्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है। जब ऐसा भेदज्ञान होता है, तब आत्मा आनन्दित होता है क्योंकि उसे ज्ञात है कि ''स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ'' इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि 'हे सत्पुरुषो! अब मुदित होओ'।।१२६।।

टीका : इस प्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी (रागादि-विकाररूप) विपरीतता को न प्राप्त कराता हुआ अविचलरूप से रहता है, तब शुद्ध-उपयोगमयात्मकता के द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी रागद्वेषमोहरूप भाव को नहीं करता; इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) होती है और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से रागद्वेषमोह का (आस्रवभाव का) अभाव जिसका लक्षण है, ऐसा संवर होता है।

श्लोक - १२६ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- लो १२६ (कलश)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुण-दारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञान-मुदेति निर्मल-मिदं मोदध्व-मध्यासिताः
शुद्ध-ज्ञान-घनौघ-मेक-मधुना सन्तो द्वितीयच्युताः।।१२६।।

आहाहा! अर्थ **चिद्रूपता को धारण करनेवाला ज्ञान..** भगवान आत्मा तो जाननस्वभाव का धारक है। है? **जड़रूपता को धारण करनेवाला राग..** राग शब्द से राग-द्वेष, पुण्य-पाप सब (ले लेना)। आहाहा! टीका का वापिस संक्षिप्त कलश किया है। टीका का ही भाव है। **चिद्रूपता को धारण करनेवाला ज्ञान और जड़रूपता को धारण करनेवाला राग-दोनों का अन्तरंग में दारुण विदारण के द्वारा..** आहाहा! अन्दर **(भेद करनेवाले उग्र अभ्यास के द्वारा),..** आहाहा! अन्तर में यह राग, विकल्प है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध और भगवान ज्ञानस्वरूप है, उन दोनों को उग्र भेद करके। आहाहा! यह भेदज्ञान, इसका नाम धर्म। ऐसी बात है।

भेद, आहाहा! **[दारुणदारणेन] दारुण विदारण के द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यास के द्वारा),..** देखा? आहाहा! क्योंकि अन्दर जो रागादि हैं, उनकी दिशा परसन्मुख जाती है और ज्ञानस्वरूप का परिणमन, वह स्वसन्मुख जाता है। आहाहा! समझ में आया? राग होता है, उसका लक्ष्य बाहर जाता है और ज्ञान का परिणमन है, वह चैतन्यद्रव्य है। लक्ष्य वहाँ जाता है। आहाहा! **[दारुणदारणेन] (उग्र अभ्यास के द्वारा),.. [परित: विभागं कृत्वा] सभी ओर से विभाग करके..** आहाहा! **(–सम्पूर्णतया दोनों को अलग करके)..** कहीं भी राग अंश आत्मा में रहे नहीं, (इस प्रकार से)। आहाहा! चारों ओर से भिन्न करके। आहाहा!

(–सम्पूर्णतया दोनों को अलग करके–) [इदं निर्मलम् भेदज्ञानम् उदेति] यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है;.. आहाहा! अनन्त काल में किया नहीं था, वह यह किया, कहते हैं। इसका नाम धर्म कहा जाता है, बाकी सब बातें व्यर्थ है। आहाहा! राग से भिन्न पड़ा हुआ जो आत्मा, उग्र अभ्यास से विभाग करके चारों ओर से विभाग करके। कोई भी राग का अंश या शरीर का अंश आत्मा में नहीं आता। आहाहा! आत्मा का ज्ञानांश है, वह कहीं राग में और शरीर में नहीं जाता। चारों ओर से विभाग करके **(–सम्पूर्णतया दोनों को अलग करके–) [इदं निर्मलम् भेदज्ञानम् उदेति] यह निर्मल भेदज्ञान उदय..** होता है। यह सम्यग्ज्ञान, इसका नाम सम्यग्ज्ञान, इसका नाम सम्यग्दर्शन। आहाहा!

सम्यक् अर्थात् जैसा है, वैसा दर्शन। सम्यक् अर्थात् सत्य का दर्शन। सत्य—जैसा आत्मा है। राग से भिन्न पड़कर, भेद करके जैसा है, वैसा अन्दर अनुभव किया, वह सत् है, इसलिए उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा के सत्य को सत्यरूप से जानकर, अनुभव करके स्वीकार किया। आहाहा!

इसलिए अब एक शुद्धविज्ञानधन के पुञ्ज में स्थित.. आहाहा! देखा? **और अन्य से अर्थात् राग से रहित; हे सत्पुरुषो! [मोदध्वम्]..** आनन्द में आ जा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! राग के विकल्प से, वृत्ति से आत्मा को पृथक् करने पर, आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द आवे, तब उसे भेदज्ञान और समकित हुआ—ऐसा कहने में आता है।

तब उसे धर्म की शुरुआत हुई। आहाहा! ऐसा मार्ग। [**मोदध्वम्**] है न? आनन्द, आनन्द को प्राप्त कर?

हे सत्पुरुषो! तुम्हें मुदित होओ। अन्दर आनन्द में आ जाओ। आहाहा! (रागादि से) भेद करके। जैसे तू दुःख में था, राग अर्थात् दुःख, (उससे) भेद करने पर आत्मा का आनन्द आवे, मुदित होओ, प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ, प्रसन्नता इसमें आओ।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६२, श्लोक १२६, गाथा १८४-१८५ दिनाङ्क २५-०६-१९७९
सोमवार, अषाढ़ शुक्ल १

(समयसार, १२६ कलश का भावार्थ) **ज्ञान तो चेतनास्वरूप है..** अर्थात् यह आत्मा चेतनास्वरूप है, ऐसा। जाने-देखे, यह उसका स्वरूप है। **और रागादिक..** शुभ-अशुभराग, वह **पुद्गलविकार होने से जड़ हैं;..** यह (आत्मा) चैतन्यस्वरूप है तो वह (राग) जड़ है। दोनों आमने-सामने लिये। जानने-देखनेवाला इसका (आत्मा का) स्वरूप है। राग-द्वेष अर्थात् पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव, दोनों **पुद्गलविकार होने से जड़ हैं;..** आहाहा!

किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञान से ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो,.. अनादि अज्ञान के कारण चैतन्यस्वरूप, वह मानों रागरूप हो गया हो —ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। राग से भिन्न है, वह भासित नहीं होता। आहाहा! **रागादिरूप हो गया हो-ऐसा भासित होता है। अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप-जड़रूप-भासित होते हैं।** आहा! राग जड़ है और यह जीव चैतन्यस्वरूप है। उसे दोनों जड़रूप भासित होते हैं। राग मैं हूँ (-ऐसा भासित होता है)। उसका अस्तित्व, जो चैतन्य सत्व है, उस सत्ता का सत्व खबर नहीं और यह राग हूँ - ऐसे अचेतन को-जड़ को अपना जानकर जड़रूप परिणमता है। आहाहा!

जब अन्तरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास.. जीव

करे। तीव्र दारुण आया था न? चैतन्य के स्वरूप को अन्तर में झुकाकार राग से भिन्न करके अन्दर चैतन्य का अभ्यास करे। आहाहा! नहीं तो चैतन्य को जाना नहीं, इसलिए उसके जानपने में कहीं अपनापना तो मानेगा न? चैतन्यपना जानने में नहीं आया, इसलिए दया, दान, रागादि भाव, वे मेरे हैं—ऐसे उन्हें अपना अस्तित्व मानता है। अपना अस्तित्व चैतन्य है, वह जाना नहीं, (इसलिए) कहीं अपनी अस्ति तो माननी पड़ेगी न! ये राग और द्वेष के परिणाम... आहाहा! उस अचेतन को आत्मारूप से मानता है।

भेदज्ञान करने से अन्तरंग में आत्मा और राग का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से। पढ़कर या ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। अन्दर भेद करने का तीव्र अभ्यास। ज्ञानस्वरूप और परसन्मुख जाती रागादि की दिशा, दोनों के लक्षण भिन्न जानकर, जो भेदज्ञान का तीव्र अभ्यास करे। आहाहा! **भेदज्ञान प्रगट होता है.. भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान..** आत्मा का ज्ञान भिन्न पड़ता है। आहाहा!

तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है,.. आहाहा! सब लाख बात आवे, करोड़ बात आवे। जड़ सब, चैतन्य सब, उनके गुण-पर्यायें सब.. वास्तव में तो जानने का स्वभाव है। कोई मेरा है - ऐसा मानने का उनका स्वभाव नहीं है। जानना, समय-समय की अवस्था हो, वह अवस्था जीवद्रव्य की है। ऐसे उस अवस्थ का लक्ष्य छोड़कर द्रव्य पर दृष्टि करे और तीव्र पुरुषार्थ से यह अभ्यास करे तो उसे भेदज्ञान होता है।

मुमुक्षु : अन्तरंग में क्या लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तरंग में राग और आत्मा, दो (लेना)। यह तो बात हुई न! यह (आत्मा) चैतन्यस्वरूप है और यह राग, इन दो का भेद। अन्तर में दो (का) भेदकर, बाहर में नहीं, ऐसा कहते हैं। बाहर नहीं, अन्दर में राग और आत्मा दोनों भिन्न करे। आहाहा! अन्तरंग में अर्थात् अन्दर में। बाहर से कुछ (भेद) पाड़ना है? अन्दर में राग-दया, दान का विकल्प आवे, उससे चैतन्यस्वरूप का भेद-भिन्न पाड़ने का अभ्यास करे। आहाहा! भले (ही) रागादि टले नहीं, चारित्र बिना (टले नहीं), परन्तु पहले अभ्यास करके मैं राग नहीं, मैं चैतन्य हूँ—ऐसे राग से भिन्न करके भेदज्ञान करे। आहाहा!

अन्तरंग में ज्ञान और राग-द्वेषादि का भेद करने का। अन्तर में भेद करने का। शास्त्र पढ़कर या ऐसा करके धारे, वह नहीं। सुनकर धार रखे (कि) राग भिन्न है और आत्मा भिन्न है - यह नहीं, ऐसा कहते हैं। अन्तर में चैतन्यस्वरूप, राग से पूर्ण भिन्न है, ऐसे अन्तर का अभ्यास करे। आहाहा! क्यों ?—कि **ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है,..** मात्र जानने का ही है, ऐसा। रागादि करना, यह भी उसका स्वभाव नहीं, तो पर का करना तो बन नहीं सकता। राग से लेकर सब परचीज़, पूरा लोकालोक ज्ञाता का ज्ञेय है। (आत्मा) जाननेवाला है (और) वह जानने में ज्ञात हो - (ऐसा) ज्ञेय है।

समय-समय की अवस्था समय-समय में होती है। द्रव्य स्वयं पर्याय को प्राप्त करता है, पहुँचता है। द्रव्य और गुण से पर्याय होती है, परन्तु इसका तात्पर्य क्या ? ऐसा जानकर अन्तर में पृथक् करना, आहाहा! राग और ज्ञानस्वरूप भगवान दोनों पृथक् हैं।

ज्ञान में जो रागादि की कलुषता.. आत्मा में जो राग-द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध भाव (होते हैं, वे) कलुषित हैं। चाहे तो दया का, दान का, व्रत का भाव होवे (परन्तु) है वह कलुषित। विकल्प है, राग है, कलुषित है। वह कलुषता **आकुलतारूप सकल्पविकल्प भासित होते हैं..** वह आकुलतारूप है। आहाहा! भगवान तो अतीन्द्रिय अनादि-अनन्त आनन्द और शान्तस्वरूप है। रागादि, आकुलता और दुःखरूप है। ऐसे दोनों को भिन्न (करे)।

वे सब पुद्गलविकार हैं; जड़ हैं। वे सर्व। वे नहीं जानते अपने को। राग-द्वेष, दया, दान, वे नहीं जानते अपने को, नहीं जानते आत्मा को। पर द्वारा जानने में आते हैं। यह आ गया है। पर द्वारा जानने में आते हैं; इसलिए वे जड़ हैं। जाननेवाले द्वारा जानने में आते हैं। राग, जाननेवाले द्वारा जानने में आता है। आहाहा! राग, राग द्वारा जानने में नहीं आता है।

इस प्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का स्वाद आता है.. आहाहा! ऐसे जब राग के विकल्प से चैतन्यस्वरूप जानक भिन्न है - ऐसा भेदज्ञान होता है, तब उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! अनादि का जो राग का स्वाद आकुलता था, (वह) दुःख का स्वाद था। उससे भिन्न पड़कर, चैतन्यस्वरूप में राग नहीं, राग में

(चैतन्य) स्वरूप नहीं। ऐसे सर्वत्र अभ्यास करने से, भिन्न करने से उसे आनन्द का स्वाद आता है। यह लक्षण बताया।

ऐसा तो बहुत से कहते हैं कि भेद पड़ा है, भेदज्ञान हुआ है। परन्तु भेदज्ञान होता है, उसे अतीन्द्रिय आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! समझ में आया? जिसे, चैतन्यस्वरूप त्रिकाली है और राग विकृत आकुलता और दु:खरूप है—ऐसे दो के बीच का भेद जानकर आत्मा की ओर झुकता है, झुकने पर राग से भिन्न पड़ता है; इसलिए उसे राग का स्वाद था, वह छूट जाता है। आहाहा! अर्थात् आंशिक (छूट जाता है) और आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है, तब उसे भेदज्ञान हुआ कहा जाता है। आहाहा! तब उसे सम्यग्दर्शन होता है।

आहाहा! यह तो पहली शुरुआत की बात है। पहली भूमिका सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं होता। क्या कहलाता है, कैसे होता है – इसकी खबर नहीं होती और व्रत, तप, अपवास करके... आहाहा! जिन्दगी मिथ्यात्व में व्यतीत करता है।

अर्थात् अनुभव होता है। भेदज्ञान होता है अर्थात् राग और द्वेष के विकल्प... आहाहा! वह आकुलता है और भगवान अन्दर निराकुल आनन्दस्वरूप है। ऐसा भेदज्ञान होने पर वह आत्मा का जो स्वभाव है, उसका आंशिक आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! समझ में आया? तब उसे भेदज्ञान कहा जाता है। आहाहा! **अनुभव होता है।**

जब ऐसा भेदज्ञान होता है, तब आत्मा आनन्दित होता है.. आहा! आया था न? आनन्द आता है। राग के विकल्प की आकुलता और भगवान स्वभाव की अनाकुल दशा, दोनों का अन्तर करने पर उसे अतीन्द्रिय आनन्द आता है, अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का–आत्मा का अनुभव होता है। तब उसे ज्ञान में ज्ञात होता है कि यह आत्मा ऐसा है। यह ज्ञान में ज्ञात हुए बिना, आत्मा ऐसा है – ऐसा निर्णय अज्ञानी को नहीं होता। आहाहा! ऐसा मार्ग। यह तो धर्म की पहली सीढ़ी की बात है।

क्योंकि उसे ज्ञात है कि 'स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है,..' यह क्या कहा? – कि राग–द्वेष के परिणाम जो पुण्य–पाप के विकल्प थे, वह आकुलता थी। उनसे, आत्मा के चैतन्यस्वरूप की ओर झुकने पर उनसे –विकल्प से भेद पड़ गया। भेद पड़ने

पर आनन्द का स्वाद आया। स्वाद आने पर ज्ञात हुआ कि आत्मा तो सदा ऐसा ही रहा है; कभी रागरूप हुआ नहीं। आहाहा! जहाँ दृष्टि पड़कर आत्मा का अनुभव हुआ, इसलिए (ऐसा हुआ कि) यदि यह आत्मा ऐसा का ऐसा न रहता हो तो अनुभव हुआ उस समय यह कहाँ से आया? यह अनुभव होने पर आत्मा अनादि (से) ऐसा ही है। उसमें नहीं राग, नहीं द्वेष, नहीं विकल्प, दया-दान का विकल्प उसमें नहीं है। आहाहा!

आनन्दित होता है क्योंकि उसे ज्ञात है कि ''स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है,.. अर्थात् ज्ञान की पर्याय राग से भिन्न पड़ने पर, ज्ञान का भाव-स्वाद आया, इसलिए उसमें ज्ञात हुआ कि यह आत्मा तो यह ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप ही सदा है। कभी रागरूप आत्मा हुआ नहीं। कठिन बात है, भाई! मूल बात (छोड़कर) यह सब ऊपर-ऊपर से करते हैं, लोगों को अभ्यास नहीं। व्रत, तप में जोड़ देते हैं। धामधूम! बड़ी मूर्तियाँ स्थापित करे और जुलूस (निकाले)।

जब तक राग के विकल्प से चैतन्यस्वभावी प्रभु भिन्न है, ऐसा भान हुए बिना उस चैतन्य की जाति का नमूना, स्वाद का अर्थ कि सम्यग्ज्ञान का (स्वाद) नहीं आता। नमूना आया, उसके द्वारा ज्ञात हुआ कि यह तो पूरा आत्मा इस स्वरूप ही है - ज्ञानस्वरूप ही है और आनन्दस्वरूप ही है। आहाहा!

'स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है,.. देखा? **स्वरूप ही रहा है,..** (ऐसा कहा)। वस्तु जो है, वह दया, दान के रागरूप कभी हुई ही नहीं। आहाहा! हुई होवे तो भिन्न जानने में कैसे आवे? ऐसा। आहाहा! राग के विकल्प दया, दान से भिन्न करके ज्ञात हुआ, तब जानने में आया कि यह कभी रागरूप हुआ नहीं। होवे तो यह अनुभव में कैसे आवे? समझ में आया? आहाहा! मूल सम्यग्दर्शन की बात छोड़कर सब बातें (लोग करते हैं)। व्रत पालना और अपवास करना, यह करना और वह करना। लोगों में (धर्मिष्ठ) माने, लोग माने, कर सके नहीं और (कहे), बेचारा कष्ट करता है, परन्तु उसका फल तो चार गति में भटकना है। आहाहा! यह वस्तु भव के अभाव की है।

चैतन्यस्वरूप जाननस्वभाव और राग आकुलता और यह (स्वरूप) अनाकुल। दोनों की भिन्नता जानी, तो आत्मा को जाना। आत्मा को जाना अर्थात् आत्मा ऐसा ही सदा

रहा है, ऐसा जाना। आहाहा! **'रागादिरूप कभी नहीं हुआ'** **इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि 'हे सत्पुरुषो!..'** आहाहा! देखो न करुणा! है न कलश में? हे सत्पुरुषों! आहाहा! **भेदज्ञान-मुदेति निर्मल-मिदं मोदध्व-मध्यासिताः** ऐसा करो, प्रभु! ऐसा कहते हैं। आहाहा! हे सत्पुरुषों! लिंगपाहुड़ में बहुत आता है, लिंगपाहुड़ है न? उसमें हे महाजस! ऐसे शब्द बहुत आते हैं। वह चाहे जैसा हो, परन्तु उसे हे महाजस! महासन्त! हे मेरे मित्र! मित्र! ऐसी भाषा बहुत आती है, हों! हे महाभाग्य! ऐसा कहकर बुलाते हैं। आहाहा! अष्टपाहुड़! आहाहा!

यहाँ तो उसे भिन्न करके अनुभव कराना है न! राग के कण से भी भिन्न। अब फिर बाहर के (पदार्थों का) क्या? लोहे का (व्यापार करे)। आहाहा! बहुत कठिन काम। धन्धा कर सके नहीं। कर सकता है, ऐसा मानता है। धन्धा कर सकता नहीं। आहाहा! क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है। जो ज्ञान है, वह किसी एक चीज़ को मेरी माने, वह तो ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है। ज्ञान सर्व को जाने, यह उसका स्वरूप है। आत्मा के अतिरिक्त सर्व वस्तुओं में से कोई एक-दो चीज़ भी मेरी है, ऐसा मानना, वह वस्तु नहीं है। परन्तु आत्मा के अतिरिक्त अनन्त चीज़ें हैं, उन सबको जाने, ऐसा इसका स्वभाव है। आहाहा! इसलिए स्वयं ज्ञातादृष्टा है। यह सब कहकर भी ज्ञातादृष्टा कराना है। आहाहा!

'हे सत्पुरुषो! अब मुदित होओ'। आहाहा! हे धर्मात्मा! आहाहा! अब धर्म में आनन्द करो। धर्म का आनन्द लो। राग का आनन्द तो अनन्त काल से लिया। दुःख का (स्वाद था)। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हों या चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी (के परिणाम हों), वे सब परिणाम दुःखरूप हैं, आकुलता है। भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। कैसे जँचे? अतीन्द्रिय वीतरागस्वभाव से भरपूर है। आहाहा! अतीन्द्रिय शान्ति, वह चारित्र है। वीतरागस्वरूप से-चारित्र से भरपूर भगवान है। आहाहा! उसमें विकार तो नहीं, परन्तु अपूर्णता नहीं, ऐसी परमात्मवस्तु स्वयं है। आहाहा! उसे राग से भिन्न करके उसे देख।

'हे सत्पुरुषो! अब मुदित होओ'। अब गया काल, गया काल भले गया, परन्तु अब अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में आओ। आहाहा! लो, ऐसा है, चिमनभाई! अमुक

करो, ऐसा नहीं कहा। हे सत्पुरुषो! मन्दिर बनाओ, शास्त्र बनाओ, दान करो, (ऐसा नहीं कहा)। आहाहा! भगवान की भक्ति करो, वह तो सब राग है। आहाहा! वीतरागस्वरूप ही प्रभु है। चारित्रस्वरूप कहो, या रागरहित वीतरागस्वरूप कहो। उसका स्वरूप ही वीतराग है, उसका स्वरूप ही ज्ञान है, उसका स्वरूप ही श्रद्धा है, उसका स्वरूप ही शान्ति है, उसका स्वरूप स्वच्छता है, उसका स्वरूप प्रभुता है। ऐसे अनन्त गुण से पवित्रता से भरपूर भगवान को इस कृत्रिम क्षणिक विकार के दुःख में से भिन्न करके प्रभु को देख। आहाहा! और देखकर आनन्द करो, उसमें आनन्द होगा। आहाहा! **'मुदित होओ'** उसमें तुम्हें आनन्द आयेगा। कितने ही ऐसा कहते हैं कि ऐसी दशा सातवें गुणस्थान में होती है। ऐसा सब पाले, व्रत सब (पाले), फिर सातवें गुणस्थान में (ऐसी दशा) होती है। अरे रे! बहुत विपरीत।

टीका : इस प्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी (रागादि-विकाररूप) विपरीतता को न प्राप्त कराता.. भेदविज्ञान—राग से पृथक्ता का ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान। आत्मज्ञान हुआ, इसलिए राग से भिन्न पड़ा। **जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी..** आत्मा को जरा। अणुमात्र राग का अंश, गुण-गुणी के भेद का अंश एक राग, ऐसे अणुमात्र राग को भी। आहाहा! **(रागादि-विकाररूप) विपरीतता को न प्राप्त कराता..** ज्ञानस्वभाव में राग मेरा है, ऐसी विपरीतता नहीं प्राप्त कराता। आहाहा! चौथे गुणस्थान में ऐसा होता है। राग आता है, तथापि अपनेरूप नहीं मानता। ज्ञानस्वरूपी भगवान मैं ज्ञातादृष्टा हूँ। आहाहा! यह ज्ञातादृष्टा अनादि का स्वभाव है। यह रागादि कृत्रिम थे, क्षणिक और कृत्रिम थे। वह (स्वभाव) सदा अकृत्रिम रहता है। राग से भिन्न पड़कर... आहाहा! **विपरीतता को न प्राप्त कराता..** ज्ञान अणुमात्र राग को अपना नहीं मानता। आहाहा!

भगवान को सुनने का भाव, वह राग है। आहाहा! ऐसी बातें। स्वद्रव्य के आश्रय के अतिरिक्त किसी भी परद्रव्य पर लक्ष्य गया तो राग हुए बिना रहेगा ही नहीं। इसका अर्थ कहते हैं। राग से पृथक् कर अर्थात् तेरा आश्रय ले। भगवान चैतन्यज्योति सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय ले। आहाहा! आत्मा क्या है? (वह) ज्ञात हुए बिना आश्रय किस प्रकार लेना? पहले अनुमान से जाने, विकल्प से जाने। पहले आवे, तो भी उसे छोड़कर फिर अनुभव कर। आहाहा!

जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को.. ज्ञान को अर्थात् आत्मा को **अणुमात्र भी (रागादि –विकाररूप) विपरीतता को न प्राप्त कराता हुआ..** अणुमात्र भी रागादिरूप से प्राप्त नहीं कराता। समकिती को भले दूसरे राग आवें, परन्तु उससे भिन्न वह ज्ञान को रागरूप नहीं परिणमाता। आहाहा! ज्ञान को रागरूप नहीं कराता। आहाहा! **अविचलरूप से रहता है,..** ज्ञान में ज्ञान चलित न हो वैसे रहता है। चैतन्य ज्योति जलहल ज्योति प्रभु! शान्त.. शान्त.. स्वभाव का पर्वत! आनन्द का पर्वत! प्रभु! आहाहा! उसे जहाँ दृष्टि में आया (तो) अब वहाँ अविचलरूप से रहता है। स्वभाव में अविचलरूप से–चले नहीं वैसे रहता है। राग में तो फेरफार–फेरफार हुआ ही करता था और दोनों (भाव में) दु:ख था। शुभराग, वह दु:ख और अशुभराग, वह दु:ख। आहाहा!

तब शुद्ध–उपयोगमयात्मकता के द्वारा.. शुद्ध–उपयोगमयात्मकता के द्वारा देखा? यहाँ शुद्ध उपयोग डाला है। यह आत्मा का भेद करके उपयोग हो, वह शुद्ध उपयोग से होता है; शुभोपयोग से नहीं। आहाहा! कितने ही ऐसा कहते हैं कि शुद्धोपयोग सातवें (गुणस्थान में) होता है। अभी यहाँ तो (उसके) पहले की बात है। आहाहा! शुभराग में वह नहीं होता। शुभराग में शुभोपयोग में वह ज्ञात नहीं होता। राग से रहित शुद्धोपयोग में वह आत्मा ज्ञात होता है। आहाहा! है?

शुद्ध–उपयोग.. उपयोगात्मक अर्थात् उपयोगस्वरूप शुद्ध उपयोगस्वरूपपने द्वारा **ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ..** ज्ञान अर्थात् आत्मा। शुद्ध–उपयोग परिणमन में आकर स्वरूप में दृष्टि की, वहाँ ही अब स्थिर होता है। जहाँ से आनन्द आया, वहाँ स्थिर होता है। जिसमें से अतीन्द्रिय आनन्द देखा, उसमें अब स्थिर होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शुद्ध उपयोगात्मक **ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ..** आहाहा! शुभ और अशुभ उपयोग छूटकर स्व–सन्मुख का शुद्ध उपयोग हुआ, तब सब पृथक् पड़ जाता है। **ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ..** ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ, लो! आत्मा, वह केवल आत्मारूप ही रहता हुआ। आहाहा!

किंचित्मात्र भी रागद्वेषमोहरूप भाव को नहीं करता;.. ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द से पूर्ण भरपूर, उसका राग से भिन्न पड़ने पर वह आत्मा को रागरूप नहीं करता। आहाहा! ज्ञान **किंचित्मात्र भी रागद्वेषमोहरूप**

भाव को नहीं करता; इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि.. (होती है)। आहाहा! भेदविज्ञान से आत्मा का अनुभव (होता है)। आहाहा! दूसरा कोई साधन नहीं है। व्यवहार साधन और निश्चय साध्य, (ऐसे) कथन बहुत आते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : भेदविज्ञान और आत्मानुभव दोनों साथ होते हैं या पहले भेदविज्ञान होता है और फिर आत्मानुभव होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों एक का एक ही है। यहाँ भेदविज्ञान हुआ, वही (आत्मानुभव का) स्वरूप है, शब्दफेर है। राग से भिन्न पड़कर अनुभव हुआ, वही भेदज्ञान। शुद्ध उपयोग हुआ। शुद्ध उपयोग में ही सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : भेदविज्ञान को विकल्परूपी कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यहाँ नहीं। वह तो (समयसार नाटक में है)। जयसेनाचार्यदेव की टीका में कहा है कि भेदज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है। वह (नाटक समयसार में) विकल्प से बतलाया है। यह मैं नहीं, यह मैं नहीं, यह मैं नहीं, वहाँ तक विकल्प है, ऐसा। परन्तु (अन्दर) स्थिर होता है, तब विकल्प नहीं है। आहाहा! ऐसा धर्म।

मुमुक्षु : ऐसा धर्म सुने थोड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! शुद्धोपयोगात्मक होता हुआ, आहाहा! **ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी रागद्वेषमोहरूप भाव को नहीं करता; इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव)..** उससे उपलब्धि (होती है)। भेदज्ञान से राग-द्वेष-मोह से भिन्नता का उपलब्धि (होती है)। आहाहा! राग करने से होगी, व्यवहार साधन है, (उससे) होगी, (इसका) यहाँ निषेध करते हैं। व्यवहार साधन है, आया था। कल आया था। प्रवचनसार में अन्तरंग-बहिरंग साधन (आया था)। वह साधन, निमित्त है, उसका ज्ञान कराया है। आहाहा! होता है, निमित्त किस समय में? किस कार्य-काल में निमित्त नहीं है? निमित्त होता ही है, जानता है। उससे कुछ होता नहीं। आहाहा!

आत्मा का अनुभव भेदविज्ञान से होता है। यह सिद्धान्त कहा। राग से भेद करना,

ऐसा भेदज्ञान, (उससे) आत्मा की प्राप्ति होती है। राग को शामिल रखकर उससे लाभ होगा, ऐसा रखकर आत्मा का लाभ नहीं होगा। आहाहा! **भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि..** अर्थात् प्राप्ति। **और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से..** शुद्ध आत्मा के अनुभव से **रागद्वेषमोह का (आस्रवभाव का) अभाव..** आहाहा! जितने अंश अन्दर में एकाग्र हो, उतने अंश में राग-द्वेष का अभाव (होता है); मोह का अभाव तो हो गया है, परन्तु अस्थिरता रही है, उसका (अभाव करता है)। और शुद्ध आत्मा के अनुभव से **रागद्वेषमोह का (आस्रवभाव का) अभाव जिसका लक्षण है..** ऐसा जिसका लक्षण है। **ऐसा संवर होता है।** लो, यह संवर। आहाहा! यहाँ तो अभी (लोग मानते हैं कि) लड़के-लड़कियाँ बैठे और संवर हो जाये और फिर लड्डू और पताशा, ऐसा कुछ मिले। आहाहा!

मुमुक्षु : छह काय की रक्षा तो हुई न?

पूज्य गुरुदेवश्री : छह काय की रक्षा में स्वयं आत्मा छह काय (में) नहीं? अनन्त-अनन्त आनन्द का समुद्र है, पवित्र गुण से भरपूर है। आहाहा! उसकी सत्ता का तो स्वीकार अभी करता नहीं, उसकी अस्ति का स्वीकार करता नहीं और बाह्य चीज़ का स्वीकार (करता है, वह) अज्ञान है। आहाहा! यह संवर हुआ, संवर। वह राग है, वह आस्रव है। उससे भिन्न पड़कर स्वरूप का अनुभव करना, वह अनास्रव और संवर है। उससे अब कर्म नहीं आते। आहाहा! यह संवर। यहाँ तो (लोगों ने) संवर को सरल कर डाला। सामायिक करके जरा बैठे, (इसलिए) हो गया संवर, प्रौषध किया तो हो गया संवर। ऐसा नहीं है—यह कहते हैं। आहाहा!

ऐसा संवर होता है। कैसा? आत्मा का अनुभव और राग-द्वेष-मोह का अभाव जिसका लक्षण है, ऐसा संवर होता है। आहाहा! उसे संवर कहते हैं, फिर निर्जरा होती है। राग-द्वेष से भिन्न पड़ा, प्रभु! उसका अनुभव हो, तब इसे संवर होता है। आहाहा! यह पूरा हुआ।

गाथा–१८४–१८५

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भ इति चेत् –

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदय–तविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं।।१८४।।
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि राग–मेवादं।
अण्णाण–तमोच्छण्णो आद–सहावं अयाणंतो।।१८५।।

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम्।।१८४।।
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानम्।
अज्ञान–तमोऽवच्छन्नः आत्म–स्वभाव–मजानन्।।१८५।।

यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावात् ज्ञानी सन्नेवं जानाति। यथा प्रचण्डपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचण्डकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्; तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात्।

न चास्ति वस्तूच्छेदः, सतो नाशासम्भवात्। एवं जानन्श्च कर्माक्रान्तोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति, किन्तु शुद्धमात्मानमेवोपलभते।

यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसच्छिन्नतया चैतन्यचमत्कार–मात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च, न जातु शुद्धमात्मानमुप–लभते। ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भः।।१८४–१८५।।

अब यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) कैसे होती है? उसके उत्तर में गाथा कहते हैं:–

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्मउदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे।।१८४।।
जीव ज्ञानि जाने ये हि, अरु अज्ञानि राग ही जीव गिनें।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतमआच्छादसे।।१८५।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [कनकम्] सुवर्ण [अग्नितप्तम् अपि] अग्नि से तप्त होता हुआ भी [तं] अपने [कनकभावं] सुवर्णत्व को [न परित्यजति] नहीं छोड़ता [तथा] इसी प्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी [कर्मोदयतप्तः तु] कर्मों के उदय से तप्त होता हुआ भी [ज्ञानित्वम्] ज्ञानित्व को [न जहाति] नहीं छोड़ता;- [एवं] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [जानाति] जानता है, [अज्ञानी] और अज्ञानी [अज्ञानतमोऽवच्छन्नः] अज्ञानांधकार से आच्छादित होने से [आत्मस्वभावम्] आत्मा के स्वभाव को [अजानन्] न जानता हुआ [रागम् एव] राग को ही [आत्मानम्] आत्मा [मनुते] मानता है।

टीका : जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है, वही उसके (भेदविज्ञान के) सद्‌भाव से ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है-जैसे प्रचण्ड अग्नि के द्वारा तप्त होता हुआ भी सुवर्ण, सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; उसी प्रकार प्रचण्ड कर्मोदय के द्वारा घिरा हुआ होने पर भी (विघ्न किया जाये तो भी) ज्ञान, ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है; उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा, और वस्तु का उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि सत् का नाश होना असम्भव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से आक्रान्त (-घिरा हुवा) होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता, किन्तु वह शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है। और जिसे उपरोक्त भेदविज्ञान नहीं है, वह उसके अभाव से अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानांधकार द्वारा आच्छादित होने से चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को न जानता हुआ, राग को ही आत्मा मानता हुआ, रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, किन्तु शुद्ध आत्मा का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (-अनुभव) होती है।

भावार्थ : जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञान स्वभाव से छूटता नहीं है।' ऐसा जानता हुआ वह, कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी, रागी द्वेषी मोही नहीं होता, परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। जिसे

भेदविज्ञान नहीं है, वह आत्मा, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है, इसलिए वह रागी, द्वेषी, मोही होता है, किन्तु कभी भी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।

गाथा – १८४-१८५ पर प्रवचन

(अब) दो गाथायें आयीं। **अब यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव)..** तुम एक ही बात करते हो, एक ही (कहो तो) एकान्त (हो जाता है)। कुछ दूसरा तो कहो, कुछ साधन से होता है, इससे होता है, इससे होता है। भगवान का स्मरण करे, भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... वह राग है। आहाहा! **भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) कैसे होती है?** किस प्रकार होता है? ऐसा पूछता है। शिष्य का प्रश्न है। जिसे अन्दर ऐसा उगा (प्रश्न उठा), उसे उत्तर दिया जाता है। पूछता है, **भेदविज्ञान से ही..** राग से भिन्न करके स्वरूप आत्मा का ज्ञान हुआ, यह बात कुछ कम नहीं, बापू! ओहोहो! जिसे आत्मा नजर में पड़ा, उसको ज्ञेय बनाया और उसका ज्ञान हुआ, वह अलौकिक बात है। आहाहा! उसके समक्ष ये सब व्रत, नियम और तपस्या उसके समक्ष पानी भरते हैं। बन्ध के कारण हैं। आहाहा!

अब यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव).. उपलब्धि का अर्थ (अनुभव किया है)। **कैसे होती है?** उसका उत्तर कहते हैं।

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदय-तविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं।।१८४।।
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि राग-मेवादं।
अण्णाण-तमोच्छण्णो आद-सहावं अयाणंतो।।१८५।।

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्मउदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे।।१८४।।

जीव ज्ञानि जाने ये हि, अरु अज्ञानि राग ही जीव गिनें।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतमआच्छादसे।।१८५।।

टीका : जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है.. राग के विकल्प से अत्यन्त निर्विकल्प प्रभु आत्मदल अन्दर आनन्द दल है, सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा है। आहाहा! उसके ज्ञान का पार नहीं होता। वकालात और डॉक्टर का सब ज्ञान करते हैं न, वह सब अज्ञान है। यह तो ज्ञान का (अभ्यास है)। आहाहा! ज्ञानस्वभाव का क्या पार! ऐसे ज्ञानस्वभाव से **भेदविज्ञान है, वही उसके (भेदविज्ञान के) सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ..** भेदज्ञान से **वही उसके (भेदविज्ञान के) सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ..** आहाहा! कोई शास्त्र पढ़कर ज्ञानी होता हुआ, ऐसा नहीं कहा। ग्यारह अंग अनन्त बार पढ़ गया। आहाहा! **जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है, वही उसके (भेदविज्ञान के) सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है..** ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है। **जैसे प्रचण्ड अग्नि के द्वारा तप्त होता हुआ..** सुवर्ण। प्रचण्ड कठोर अग्नि द्वारा तप्त होता हुआ ऐसा सुवर्ण। **सुवर्ण सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता..** सुवर्णत्व को सुवर्ण छोड़ता नहीं। उसे चाहे जैसी अग्नि लगी हो... आहाहा! उसे अग्नि की आँच लगती नहीं। सुवर्णत्व नहीं छोड़ता। आहाहा! यह दृष्टान्त हो गया।

उसी प्रकार प्रचण्ड कर्मोदय के द्वारा घिरा हुआ.. आहाहा! कठोर कर्म के उदय से घिरा हुआ। कुटुम्ब और कबीला, स्त्री और पुत्र, धन्धा और व्यापार, दुकान (इनसे) घिरा हुआ। प्रभु आत्मा आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप है, वह बाहर के कर्मोदय से घिरा हुआ। आहाहा! **घिरा हुआ होने पर भी (विघ्न किया जाय तो भी) ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता,..** अर्थात् आत्मा, वह आत्मत्व नहीं छोड़ता। आहाहा! अग्नि के कारण जैसे सुवर्ण सुवर्णत्व नहीं छोड़ता; वैसे ही धर्मी जीव को प्रतिकूलता के ढ़ेर आवें तो भी वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। आहाहा!

ज्ञान ज्ञानत्व.. (अर्थात्) आत्मा आत्मत्व नहीं छोड़ता। **क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है;..** आहाहा! स्वभाव है, वह किस प्रकार छूटे? हजारों कारण, लाख कारण नहीं हो। आहाहा! चैतन्यस्वभाव है, निर्लेप

है, निरालम्ब है। ऐसी चीज़ को कभी... आहाहा! छोड़ता नहीं और परवस्तु को अपनी मानता नहीं। **हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है;..** कहीं स्वभाव छूटता है? **उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा,..** आहाहा! सुवर्ण को अग्नि देने पर भी सुवर्ण, सुवर्णत्व नहीं छोड़ता, इसी प्रकार धर्मी ने आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप जाना है, इससे चाहे जैसी प्रतिकूलता आवे परन्तु वह अपने आनन्दस्वरूप को, अनुभव को नहीं छोड़ता। आहाहा!

वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा,.. उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा,.. आहाहा! वस्तु, वस्तु तो ज्ञान शुद्ध चैतन्य पवित्र का पिण्ड प्रभु है। पर्याय में जो विकार दशा है, उससे भिन्न करके भेदज्ञान हुआ, पश्चात् अब रागरूप हो, ऐसा है नहीं। ऐसा होवे तो वस्तु का नाश हो जाए। वस्तु का अस्तित्व निर्मल है, पवित्र है, ऐसा भान हुआ है; इसलिए अपवित्रता के प्रसंग में भी आत्मा का पवित्रतपना छूटता नहीं है। आहाहा! चाहे जितने परीषह हजार (आवे), चाहे जितने परीषह आवे, उपसर्ग आवे। आहाहा! अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं। छोड़े तो वस्तु का नाश हो जायेगा। आहाहा!

क्योंकि सत् का नाश होना असम्भव है। सत् है। है, उसका अभाव किस प्रकार होगा? ऐसे भगवान आत्मा ज्ञानानन्द है, उसका भान—अनुभव हुआ, राग का (अनुभव) नहीं, ऐसा है—सत् है, उसका उच्छेद कैसे होगा? आहाहा! सत्स्वरूप भगवान आत्मा को जहाँ अनुभव में लिया, अब कहते हैं कि वह सत्स्वभाव जाये कहाँ? सत्स्वभाव स्वयं स्वभाव है, वह उच्छेद हो जाये? सत्स्वभाव असत् हो जाये? आहाहा! वह सत्स्वभाव कहीं रागरूप हो जाये? वह सत्स्वभाव दयारूप हो जाये? आहाहा! सत्स्वभाव तो सत्स्वभावरूप ही रहता है। है? **क्योंकि सत् का नाश होना असम्भव है।**

ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से आक्रान्त (-घिरा हुआ).. कर्म अर्थात् बाहर की प्रतिकूलता। ओहोहो! सातवें नरक की प्रतिकूलता, तथापि वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव है। सम्यक् दृष्टि छोड़ता नहीं। आहाहा! अपना आनन्दस्वरूप जाना है, उसे लाख, करोड़, अनन्त प्रतिकूल संयोग आवे परन्तु अपने स्वरूप का विच्छेद नहीं होता। नहीं छोड़ता अर्थात् विच्छेद नहीं होता अर्थात् नाश नहीं होता। आहाहा!

ऐसा जानता हुआ.. धर्मी—ज्ञानी... आहाहा! **रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता,..** आहाहा! घिरा हुआ होने पर भी, ऐसा कहते हैं। प्रतिकूलता के घेरे में पड़ा हुआ हो। आहाहा! वह सातवें नरक की पीड़ा के घेरे में पड़ा है, वह दु:ख सुना जाये नहीं। आहाहा! ऐसा अनन्त बार भोगा है। कहते हैं, वहाँ भी समकिती है, वह ऐसी प्रतिकूलता में भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। आहाहा! जिसे अनाज का कण मिलता नहीं, पानी की बूँद (मिलती) नहीं। आहाहा! (यहाँ) तो जरा (गर्म) हवा लगे तो पंखा खाये और यह खाये और यह खाये। उसे बेचारे को अग्नि जैसी गर्म हवा प्रतिदिन (लगती है)। क्षुधा का पार नहीं। पूरे ढाई द्वीप का अनाज खिलाओ तो भी उसे दु:ख मिटे नहीं, समुद्र का पानी पूरा पिलाओ तो तृषा मिटे नहीं, इतनी तृषा, इतनी क्षुधा, तथापि वहाँ मरता नहीं, देह छूटती नहीं, जब तक आयुष्य है। उसके शरीर के टुकड़े हों, टुकड़े हों। आहाहा!

(ऐसा होने पर भी) **रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता, किन्तु वह शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है।** लो! आहाहा! चाहे जैसे बाहर के प्रसंग में, अनुकूलता में प्रसन्न नहीं, प्रतिकूलता में द्वेष नहीं। आत्मा के अतिरिक्त जितनी चीज़ है, वह तो सब ज्ञेय है। ज्ञानी को तो ज्ञेय है। ज्ञेय के दो भाग करना कि यह प्रतिकूल है और यह अनुकूल है, वह अज्ञानी है। आहाहा! वह तो अज्ञान है। बीमार पड़े, स्त्री सम्हाले, वह कुछ कर दे, वस्त्र धो दे, ऐसा सब साधन करते हैं या नहीं? करे, उसमें आत्मा को क्या? वह तो बाहर की बात है। यह तो प्रतिकूल संयोग होवे तो भी वह आत्मा का अनुभव करता है।

और जिसे उपरोक्त भेदविज्ञान नहीं है, वह उसके अभाव से अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानांधकार द्वारा आच्छादित होने से.. वह ज्ञानस्वरूपी ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, इस अज्ञान से ढँक गया है, भेदज्ञान नहीं है। राग से पृथक् (नहीं पड़ा है)। राग, वह मैं। यह दया, दान, व्रत, मैं हूँ। आहाहा! उनसे ढँका हुआ होने से **चैतन्य-चमत्कारमात्र.. चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को न जानता हुआ, राग को ही आत्मा मानता हुआ,..** लो। **रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, किन्तु शुद्ध आत्मा का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता।** आहाहा! **इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि..** अर्थात् प्राप्ति। भेदविज्ञान से ही प्राप्ति होती है, दूसरे किसी कारण से नहीं होती। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६३, गाथा- १८४-१८५-१८६, श्लोक-१२७ दिनाङ्क २६-०६-१९७९, मंगलवार, अषाढ़ शुक्ल २

समयसार, १८४-१८५ (गाथा का) भावार्थ। **जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि..** अर्थात् ? यह आत्मा जो है, वह अन्दर राग से भिन्न है। शरीर जड़ है, उससे तो भिन्न है, अलग है, परन्तु यह दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव से भी वह प्रभु भिन्न है। ऐसा जिसे भेदविज्ञान हुआ है। आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसमें राग भिन्न है। **जिसे भेदविज्ञान हुआ है, वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।'** क्या कहा ? धर्मी हो, तब उसे आत्मा आनन्द, ज्ञानस्वरूप है, ऐसा भान हो, तब उसे ख्याल में आता है कि यह आत्मा ज्ञानस्वभाव से कभी छूटा नहीं है। अनादि से ज्ञानस्वरूप ही रहा है। ऐसा धर्म है। **'ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।'**

ऐसा जानता हुआ.. धर्मी जीव की शुरुआत, राग के विकल्प से भिन्न पड़कर स्वयं को अनुभवे-जाने और ऐसा जाने कि यह (आत्मा) तो कभी रागरूप हुआ ही नहीं, अकेला ज्ञानरूप रहा है। आहाहा! **'आत्मा कभी ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।' ऐसा जानता हुआ वह, कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी,..** अर्थात् ? कर्म के निमित्त से प्रतिकूलता का ढ़ेर आवे, सातवें नरक जैसी प्रतिकूलता हो। आहाहा! तो भी **रागी-द्वेषी -मोही नहीं होता,..** सूक्ष्म बात है, भाई! संवर अधिकार है। लोग कहते हैं कि हमें संवर कराओ। वह संवर नहीं है। वह सब तो आस्रव की बातें हैं। संवर, जिससे धर्म हो, जिससे जन्म-मरण का अन्त आवे, अन्त आवे - उसे यहाँ संवर / धर्म कहते हैं।

वह, कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी, रागी द्वेषी मोही नहीं होता,.. क्योंकि आत्मा पुण्य-पाप के राग से अन्दर भिन्न जाना है, अन्तर्मुख होकर जाना है कि ज्ञानस्वभावी, आनन्दस्वभावी है। इसीलिए उसे प्रतिकूलता के ढ़ेर होने पर भी वह राग-द्वेष और मोह को प्राप्त नहीं होता। आहाहा! **परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।** आहाहा! धर्मी जीव तो उसे कहते हैं। आहाहा! आत्मा अत्यन्त आनन्द और शुद्धस्वरूप, पवित्रता का धाम प्रभु है, उसे राग-द्वेष से भिन्न करके अनुभव करना। जैसा

उसका पवित्रस्वरूप है, उस प्रकार से अनुसरकर दशा में होना, उसका नाम यहाँ धर्म अथवा संवर कहते हैं। आहाहा!

जिसे भेदविज्ञान नहीं है.. जिसे राग के विकल्प से, वृत्ति से भी आत्मा अत्यन्त भिन्न है, ऐसा भेद-पृथक्ता का ज्ञान नहीं है। आहाहा! **वह आत्मा, आत्मा के ज्ञान स्वभाव को न जानता हुआ..** जो आत्मा ज्ञानस्वभावी है, आनन्दस्वभावी है। अनन्त-अनन्त स्वच्छ शक्ति का पिण्ड है, ऐसा भेदज्ञान है नहीं, वह वैसा नहीं जानता। आहाहा! ऐसी बात है। **आत्मा, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को न जानता हुआ..** ज्ञानस्वभाव शब्द से पूरा आत्मा। पूरा आत्मा आनन्द और ज्ञान और शुद्ध चैतन्य है। ऐसा जिसे ज्ञान नहीं, वह अज्ञानी **राग को ही आत्मा मानता है,..** यह राग की वृत्ति, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव उठता है, वह सब राग है। उससे कल्याण माने और मेरा स्वरूप है, ऐसा माने, वह सब राग है, आस्रव है। नये आवरण का कारण है, वर्तमान दुःखरूप है, आहा! परन्तु उससे भिन्न को जानता नहीं, इसलिए कहीं अपना जानने का मानना तो (होता है), अपनापन कहीं माने तो सही न! अकेला चैतन्य भगवान, राग से भिन्न जानने में नहीं आया, इसलिए राग है, वह मैं हूँ—ऐसा माना है। आहाहा!

राग को ही आत्मा मानता है, इसलिए वह रागी, द्वेषी, मोही होता है,.. आहाहा! अपने स्वरूप को वीतरागीस्वरूप है, ज्ञानस्वरूपी है, उसे नहीं जानता, इसलिए उस रूप परिणमित नहीं होता। राग को जानता है, इसलिए रागरूप परिणमित होता है। आहाहा! भारी सूक्ष्म बात। पूरे दिन दूसरा करना और उसमें ऐसी बात (समझना)। **किन्तु कभी भी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता।** आहाहा! जो कोई आत्मा बहिर्मुख वृत्ति ऐसा जो राग, उसे अपना जानता है, वह कभी राग से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं करता। आहाहा! सूक्ष्म अधिकार है। बाहर से धर्म हो गया, ऐसा यह नहीं है। व्रत किये और तप किये, पूजा की और भक्ति की, भगवान की बहुत भक्ति की, इसलिए धर्म हो गया, (ऐसा माननेवाला) वह राग को अपना मानता है, बस! आहाहा! राग से भिन्न भगवान पड़ा है, इसका उसे ज्ञान और अनुभव नहीं है, इसलिए वह राग के ही अनुभव को आत्मा मानता है। आहाहा!

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि

होती है। उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति **इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान..** राग के विकल्प से भी भिन्न, पूर्णानन्द स्वरूप प्रभु, ऐसा जिसे भेदज्ञान हुआ, उससे शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। क्रियाकाण्ड करते हुए शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : चरणानुयोग से आत्मा का अनुभव होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बिल्कुल नहीं। चरणानुयोग से नहीं, वह तो यह दृष्टि खुलने के पश्चात् चरणानुयोग का भाव आता है, उसे जानता है। पहले यह होने के बाद चरणानुयोग और व्रत और अतिचाररहित पालना और अमुक, यह बाद में (आता है)।

मुमुक्षु : प्रतिमाएँ नहीं पालनी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिमाएँ सम्यग्दर्शन के बाद। पहले प्रतिमा कहाँ थी ? आहाहा! आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु अन्दर है, जिसमें दया, दान का विकल्प राग भी जिसमें नहीं है, ऐसी चीज़ को अन्दर जाने बिना उसकी प्रतिमा-फ्रतिमा सब शून्य है। शून्य बड़ा है। अंकरहित शून्य-बिन्दी नहीं कहते ? आहाहा! और अन्तर्मुख देखने से आत्मा राग से भिन्न है, ऐसा भासित होता है। वह भासित होता है, वह आत्मा के अनुभव को करता है। उसे राग-द्वेष और मोह नहीं होता परन्तु अन्तर्मुख की जिसे दृष्टि नहीं, बहिर्मुख की जहाँ दृष्टि है, वहाँ उसे रागादि दिखते हैं, भासित होते हैं। राग भासित होता है, द्वेष भासित होता है। भ्रमणा, उसरूप से परिणमता है। आहाहा!

गाथा–१८६

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्ध–मेवप्पयं लहदि।।१८६।।

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः।
जानन्स्त्वशुद्ध–मशुद्ध–मेवात्मानं लभते।।१८६।।

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयात् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसन्तानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति; यस्तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोह–संतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति। अतः शुद्धात्मोपलम्भादेव सम्वरः।।१८६।।

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से ही संवर कैसे होता है? इसका उत्तर कहते हैं:–

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।।१८६।।

गाथार्थ : [शुद्धं तु] शुद्ध आत्मा को [विजानन्] जानता हुआ–अनुभव करता हुआ [जीवः] जीव [शुद्धं च एव आत्मानं] शुद्ध आत्मा को ही [लभते] प्राप्त करता है, [तु] और [अशुद्धम्] अशुद्ध [आत्मानं] आत्मा को [जानन्] जानता हुआ–अनुभव करता हुआ जीव [अशुद्धम् एव] अशुद्ध आत्मा को ही [लभते] प्राप्त करता है।

टीका : जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार

आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो रागद्वेषमोह की संतति (परम्परा), उसका निरोध होने से शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो रागद्वेषमोह की संतति, उसका निरोध न होने से, अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अत: शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।

भावार्थ : जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञान से आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है, उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं; इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है; और जो जीव अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है, उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते, इसलिए वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अत: सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।

गाथा – १८६ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि.. अर्थात् अनुभव से **संवर कैसे होता है?** इसी प्रकार से धर्म होगा? ऐसा (पूछता है)। धर्म की शुरुआत शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही होगी, वह किस प्रकार? ऐसा पूछता है। यह क्या कहा? कि संवर अर्थात् धर्म। शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही **संवर कैसे होता है?** ऐसा प्रश्न है। उसका उत्तर दिया जाता है। आहाहा! जिसे यह प्रश्न अन्दर से ऐसा उद्‌भवित होता है कि यह प्रभु आत्मा शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही इसे धर्म होगा; बाकी धर्म नहीं होगा, यह किस प्रकार से है? इसकी विधि किस प्रकार से है? ऐसा शिष्य पूछता है। आहाहा! शिष्य ने ऐसा नहीं पूछा कि हम राग क्रिया करते हैं तो धर्म होगा, भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं, व्रत करते हैं (तो) धर्म होगा—ऐसा तो पूछा नहीं। यहाँ तो शुद्ध आत्मा के अनुभव से संवर किस प्रकार होता है? (ऐसा पूछा है)। आहाहा! गाथा...

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्ध-मेवप्पयं लहदि।।१८६।।

नीचे हरिगीत

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।।१८६।।

आहाहा! **जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही..** यह सब तो सब सूक्ष्म बात है, भाई! **ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है..** जो सदा टूटक पड़े बिना, अविच्छिन्नधारा। राग से भिन्न भेदज्ञान (हुआ), वह अविच्छिन्न धारा है। जिसे एक धारा से राग से भिन्न का अनुभव है। आहाहा! अविच्छिन्न धारावाही ज्ञान अर्थात् आत्मा से शुद्ध आत्मा को अनुभव करते हुए। शुद्धस्वरूप है, पुण्य-पाप के राग से तो भिन्न है, उसे अनुभव करते हुए। **शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है'..** आहाहा! क्या कहते हैं? देखो! संवर कैसे होता है? ऐसा कहते हैं।

ज्ञानमय आत्मा है तो ज्ञानस्वरूप में ज्ञानमय की परिणति करे तो संवर होता है। भेदज्ञान से इस प्रकार से संवर होता है। **'ज्ञानमय भाव में से..'** ज्ञानवाला, ऐसा भी नहीं। ज्ञानमय ऐसे भाव में से। मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ। जाननेवाला-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा हूँ - ऐसा जाननेवाले को **'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है'..** उसे तो शुद्धभाव ही होता है। अशुद्धता तो होती ही नहीं। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, उसे ज्ञान की अन्तर एकाग्रता होने से ज्ञान होता है; राग नहीं होता, इतना कहना है। ज्ञान शब्द के साथ श्रद्धा होती है, स्थिरता होती है, आनन्द होता है परन्तु ज्ञानमय (भाव) में से ज्ञान होता है। राग को अपना माने तो राग होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो सातवें गुणस्थान की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे, चौथे की बात है। अभी तो भेदज्ञान चौथे (गुणस्थान) की बात है।

मुमुक्षु : संवर किस गुणस्थान में होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : संवर चौथे से शुरु होता है। बहुत से ऐसा ही कहते हैं, भाई कहते हैं (वही कहते हैं)। सातवें की बात है, सातवें की बात है। यहाँ तो अभी चौथे गुणस्थान

की, धर्म की पहली शुरुआत (की बात है)। आहाहा! क्योंकि आत्मा पुण्य-पाप के राग से भिन्न है, ऐसा जहाँ भेदज्ञान हुआ, तब उस ज्ञानस्वरूप को अनुभवे और ज्ञानस्वरूप अनुभवने पर ज्ञानमय भाव ही प्रगट होते हैं। आहाहा!

ज्ञानस्वभावी आत्मा को ज्ञानमय से अनुभव करने पर उसमें रागरहित ज्ञानमय भाव होता है। रागरहित ज्ञानमय भाव होता है। ज्ञानमय में से ज्ञानमय भाव होता है। आहाहा! ऐसी बात। ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय ही भाव होता है। ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय ही भाव होता है। अर्थात् क्या कहते हैं? कि शुद्ध आत्मा पवित्र पूर्ण प्रभु है, उसे विकार से रहित अनुभव करे तो उस ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होता है। उस शुद्ध के अनुभव में से शुद्ध का ही अनुभव होता है। वहाँ आनन्द आता है और शान्ति आती है और वीतरागता आती है। आहाहा! उसे संवर कहते हैं। आहाहा! ऐसा है।

ज्ञानमय भाव में से.. अर्थात् आत्मा स्वभाव है। शुद्ध चैतन्य नित्यानन्द प्रभु है, उसे ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव होता है। वह ज्ञानमय भाव है, वह शुद्ध है। उसमें से शुद्धभाव होता है। पाठ तो यह है न? **'सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि'** उस शुद्धचैतन्य को जानने से, उसकी ओर झुकने से, उसके सन्मुख होने से शुद्ध स्वरूप है, वह शुद्धरूप से परिणमता है। आहाहा! उसमें पुण्य और पाप का परिणमन नहीं आता। अरे.. अरे..! ऐसी कठोर बातें हैं।

शिष्य का प्रश्न था कि भेदविज्ञान से संवर किस प्रकार होता है? उसका यह उत्तर है। कि **'सुद्धं तु वियाणंतो'** शुद्ध को प्राप्त करता है। पाठ यह है। आत्मा अन्दर शुद्ध पवित्र अन्दर राग से भिन्न पड़कर गहरे तल में पवित्र है, उसे जो अनुभव करे तो शुद्ध को अनुभव करने से शुद्धता आती है। ज्ञान को अनुभव करने से ज्ञान आता है, आनन्द को अनुभव करने से आनन्द आता है, श्रद्धा को अनुभव करने से श्रद्धा आती है। यह सब निर्मल पर्यायें संवर हैं। समझ में आया?

'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है'.. राग से भिन्न शुद्ध चैतन्य वस्तु है, उसका ज्ञान और श्रद्धा करने से तो आनन्द और ज्ञानमय ही भाव होते हैं। ज्ञानमय ही (भाव होते हैं), राग नहीं। ज्ञानमय भाव ही होता है, राग नहीं होता। द्रव्य के अवलम्बन

से... वस्तु जो शुद्ध है उसके अनुभव से राग कैसे होगा? आहाहा! ऐसी बातें। यहाँ निवृत्ति-फुरसत नहीं मिलती। अभी इसका निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती कि यह क्या है परन्तु अन्दर? आहाहा! अन्दर यह है, वह शरीर से भिन्न है। वह तो द्रव्य (ही) पर है, परन्तु अन्दर में पुण्य के परिणाम होते हैं, उससे भी भिन्न है-पृथक् चीज़ है। दोनों एक वस्तु नहीं है। आहाहा! यह संवर पहले आ गया (है कि) दो वस्तुएँ एक नहीं है। दो की सत्ता एक नहीं है। दोनों की परस्पर स्वरूप विपरीतता है। आहाहा! उसे अन्दर में देखने से शुद्ध पवित्र आत्मा जो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है, उसे देखने से, अनुभव करने से, उस जाति की ही दशा प्रगट होती है। ज्ञानमय (भाव में से) ज्ञान होता है, उसका अर्थ यह है। जो शुद्ध पवित्र जाति है, उसका अनुभव करने पर पवित्रता ही प्रगट हो, वह संवर है। आहाहा!

अब अनजाने मनुष्य को तो (ऐसा लगे कि) किस प्रकार की बात होगी? भाषा (अलग)। यह जैनधर्म की बात होगी? यह किस प्रकार की बात आयी? दया पालना, व्रत करना, अपवास करना, हरितकाय नहीं खाना, ऐसी बात तो आती नहीं। भाई! वह चीज़ तो भिन्न है। जड़ की चीज़ है, वह जड़ की पर्याय से जड़ टिक रहा है। तेरे कारण यह शरीर, वाणी टिकती है, आती है, जाती है—ऐसा नहीं है। इस जड़कर्म के, शरीर आदि उसके परमाणु में आना, जाना, निकलना, कम होना, यह सब उसकी / जड़ की दशा तेरे कारण नहीं है। तेरे कारण तो मात्र वस्तु का अज्ञान, चैतन्यमूर्ति का अज्ञान, उसे राग-द्वेष होते हैं। आहाहा!

जिसे चैतन्यमूर्ति प्रभु शुद्ध चैतन्यघन है, ऐसा जहाँ अन्तरभान हुआ, उसे ज्ञानमय से, ज्ञानमय अर्थात् शुद्ध में से शुद्धमय ही भाव होते हैं। उसे अशुद्धभाव नहीं होते। उसे पुण्य के परिणाम भी नहीं होते, ऐसा कहते हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति और पूजा—यह भाव, शुद्ध को अनुभव करने पर नहीं होते। आहाहा!

इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त.. नये आवरण के आने का निमित्त **जो रागद्वेषमोह की संतति..** राग-द्वेष-मोह—मिथ्यात्वादि की **(परम्परा) उसका निरोध होने से..** ज्ञानी को उसका निरोध (होता है) - रुक जाता है।

संवर है न? संवर लेना है। आहाहा! अपना जो शुद्धस्वरूप, शुद्ध है कितना कहाँ? उसकी खबर नहीं होती। किस प्रकार अनुभव करे? आहाहा! इस राग के विकल्प के पीछे अन्दर शुद्धस्वरूप अन्दर है, पर्याय की वर्तमान अवस्था के साथ में अन्तर्मुख में ध्रुवतत्त्व पूरा पड़ा है। उसे शुद्ध की ओर के झुकाव से शुद्धता ही प्रगट होती है। उसे राग-द्वेष और मोह जो आस्रव का कारण, वह उसे नहीं होता। उसका निरोध होता है। लो! आस्रव का निरोध, वह संवर। परन्तु यह। इस प्रकार से (संवर होता है)। आस्रव के प्रत्याख्यान करावे (वह नहीं)। आहाहा!

यह चैतन्यस्वरूप अनन्त पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। इसकी वस्तु में पुण्य और पाप के विकल्प-राग वस्तु में नहीं है। नये कृत्रिम खड़े करता है। आहाहा! इससे संसार में परिभ्रमण करता है। परन्तु यह तो अकृत्रिम सदा स्वभाव शुद्ध है। आहाहा! पवित्र है, शुद्ध है, उसका अन्तर अनुभव करने से, शुद्धता के अनुभव से शुद्धता ही प्रगट होती है। उसमें पुण्य-पाप की अशुद्धता प्रगट नहीं होती और शुद्धता प्रगट हो, वह राग-द्वेष और मोह का कारण नहीं होती; इसलिए उसे राग-द्वेष-मोह का आस्रव रुक गया। राग-द्वेष-मोह से जो नये आवरण आते थे, वे रुक गये। निरोध कहा न, निरोध। आहाहा!

मुमुक्षु : वह अशुद्धता कहकर निरोध...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे आनेवाले थे नहीं। समझाना किस प्रकार? यहाँ शुद्धता प्रगट की, इसलिए उसे आवरण आने का था ही नहीं। उसे आवरण का निरोध किया, ऐसा कहने में आया। आहाहा! धर्म की बात बहुत सूक्ष्म, बापू! लोगों ने तो बाहर में स्थूल-स्थूल मोटी बात में सब मना दिया। आहाहा! अनन्त काल से यह तो माना है।

निरोध होने से.. कहा न? राग-द्वेष, मोह की सन्तति से इसका निरोध होता है। राग-द्वेष-मोह कौन? किसके? कि कर्म के आस्रव का निमित्त। नये आने का निमित्त। ऐसे जो राग-द्वेष-मोह, उनकी परम्परा के रुकने से नया आस्रव नहीं आता। उसे उस समय नये आस्रव आनेवाले थे नहीं, परन्तु समझाना किस प्रकार? अन्दर शुद्ध चैतन्य के स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और अनुभव हुआ, इसलिए तो वहाँ आगे आस्रव होता नहीं। होता नहीं, फिर आस्रव कहाँ से आवे? भाव आस्रव होता नहीं तो द्रव्य आस्रव आये कहाँ से? द्रव्यास्रव उसे आता ही नहीं। आहाहा!

शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है;.. वह तो शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। आहाहा! शुद्ध को अनुभव करता हुआ शुद्ध को ही प्राप्त करता है। पवित्रता प्रभु की अनुभव करता हुआ पवित्रता को ही प्राप्त करता है, यह संवर है। आहाहा! यह तो जरा प्रौषध किये तो संवर हो गया मानता है। एक दिन, दो टाईम न खाये। आहाहा!

राणपुर में (संवत्) १९८४ में चातुर्मास था न? तुम थे? तब मनसुख था, छोटी उम्र का आठ वर्ष का (था)। आठ वर्ष का। तुम्हारा मनसुख। वे सब वहाँ अपवास करके बैठे थे। ८४ का वर्ष था। बैठ गये, हमारे संवर है, हमारे धर्म है, पाठशाला में प्रतिक्रमण में बोले कि उत्कृष्ट भाव होवे तो वह तीर्थंकरगोत्र बाँधे, नहीं तो निर्जरा हो। आहाहा! यह आता है। आहाहा! परन्तु कहा, यह कहाँ से ऐसा (आया)? तब (संवर) १९८४ में कहा था। उत्कृष्ट भाव आवे तो तीर्थंकरगोत्र बाँधे, नहीं तो निर्जरा हो। जिस भाव से बन्ध होता है, उससे तो निर्जरा का भाव उत्कृष्ट है। जिस भाव से बन्ध हो, वह तो राग है और जो धर्म होता है, वह तो रागरहित है। कुछ शब्द आता है न?... भाषा भूल गये। उसमें ऐसा होवे तो कर्म की रीढ़ खपे और उत्कृष्ट भाव हो जावे तो तीर्थंकरगोत्र बँधे, ऐसा। उत्कृष्ट होवे तो तीर्थंकरगोत्र बँधे। ऐसी बातें। तब कहा था, यह तुम प्रतिक्रमण में बिना विचारे यह क्या बोलते हो? ऐई! तुम्हारे स्थानकवासी में बहुत आता है। आहाहा! भगवान का वह करने से इत्यादि, ऐसा कि कर्म की रीढ़ खपे। उत्कृष्ट भाव आवे तो तीर्थंकरगोत्र बँधे। उत्कृष्ट अच्छा भाव आवे तो (बन्ध होगा)? परन्तु यही पूरी प्रथा है। आहाहा!

आत्मा को ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है.. अब सामने यह बात ली है। **जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का..** अशुद्ध आत्मा अर्थात् राग और दयावाला मैं हूँ, यह अशुद्ध आत्मा को अनुभव किया। आहाहा! मैं पर का कर्ता हूँ, कर सकता हूँ और दया, दान, व्रत का राग आया, वह मेरा है, यह अशुद्ध आत्मा को अनुभव करता है। आहाहा! **और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही होता है'..** राग और पुण्य के परिणाम अपने मानकर और अनुभव करे, उसे राग होता है। द्वेष होता है, राग होता है, मिथ्यात्व होता है। आहाहा!

'अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो रागद्वेषमोह की संतति उसका निरोध न होने से,.. अज्ञान में निरोध कहाँ से होगा? आहाहा! अर्थात् राग-द्वेष के कारण उसे नये आवरण आयेंगे। आहाहा! यहाँ तो कहे, संवर के पच्चक्खाण कराओ (तो) उसे संवर हो जाए। ऐसा सब चला है। धर्म के नाम से ढ़ोंग है। धर्म तो अलग जाति है, बापू! आहाहा! यह शुद्ध आत्मा पुण्य-पापरहित, इसके सन्मुख होकर अनुभव करे, तब उसे राग-द्वेष, मोह नहीं होता। इसलिए वह उनके आने का निमित्त है, उस कर्म का निरोध होता है। अज्ञानी राग को अपना मानता है। रागरहित स्वरूप चैतन्य है, उसकी खबर नहीं, इसलिए उसे राग-द्वेष, मोहभाव ही होता है। अशुद्धता को जाननेवाला, अशुद्धता को अनुभव करनेवाला, (उसे) अशुद्धता ही होती है। उसे वह अशुद्धता नये कर्म का कारण ऐसे राग-द्वेष-मोह का कारण होती है। आहाहा! वह अशुद्धता नये कर्म जो आते हैं, उनका कारण है। लो, है न!

अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। वह अज्ञानी तो अशुद्ध आत्मा को ही (प्राप्त करता है)। भले चाहे तो व्रत और अपवास करे और भक्ति करे, पूजा करे, यात्रा करे, (तो भी) वह अशुद्धता को ही प्राप्त करता है क्योंकि वे परिणाम मेरे और मुझे उनमें लाभ है, वह अशुद्ध मलिनता को अनुभव करता है। आहाहा! **अतः शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।** यह संवर होता है; नहीं तो संवर नहीं होता। आहाहा!

'लाठी' में आठम को वे सब प्रौषध करे न? बीस-पच्चीस व्यक्ति इकट्ठे होकर (करते हैं) धर्म हो गया, संवर हो गया। संवर किया, प्रौषध किया, लो! आहाहा! 'लाठी' में चातुर्मास होवे तब वे लोग करते हैं। अष्टमी को और पाकी, अमावस्या ऐसे एक महीने के चार (प्रौषध करते हैं), वह संवर किया कहलाता है। ऐई! सब मानते थे। हीराजी महाराज बेचारे कहते। वे कहते। आहाहा! पूरी बात में अन्तर है, उलट-पुलट बात है।

अन्त में क्या योगफल कहा? कि शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही संवर होता है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु की प्राप्ति हो, उपलब्धि हो, अनुभव हो तो संवर होता है। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ : जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञान से आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है.. आहाहा! जिसे आत्मा अन्दर शुद्ध चिदानन्द प्रभु राग, दया, दान के विकल्प से भिन्न है, ऐसे आत्मा को जिसने जाना, अनुभव किया... आहाहा! वह अखण्ड धारावाही ज्ञान। ज्ञानधारा अखण्ड बहे। घड़ीक में राग की एकता और घड़ीक में ज्ञान की एकता, ऐसा नहीं। आहाहा!

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञान में एकाग्रता की अखण्ड धारा बहे, भेदज्ञान निरन्तर बहे। पश्चात् करना पड़े नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : निद्रा काल में तो ज्ञान मूर्च्छित रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ निचली दशा की बात है। वीतराग होवे उसे, पूरा हो गया।

मुमुक्षु : निद्रा में तो मूर्च्छित रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निद्रा में भी आस्रव रुक गया है। समकित है न! निद्रा में निद्रा, निद्रा की जगह। अन्दर राग से निर्मल परिणमन भिन्न पड़ गया, वह परिणमन कब छूटेगा। निद्रा होवे तो भी क्या? और राग होवे तो भी क्या? आहाहा! आत्मा चिदानन्द प्रभु...

मुमुक्षु : निद्रा में तो उपयोग शुद्ध होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग भले अशुद्ध हो, लब्धरूप परिणमन निरन्तर बहता है। निद्रा में में भी लब्धरूप प्राप्ति निरन्तर है। उपयोग मात्र पर में गया है। आहाहा! तथापि राग से भिन्न पड़ी हुई जितनी दशा है, वह दशा तो निरन्तर निद्रा में भी होती है। आहाहा! माता के गर्भ में प्रभु आते हैं, लो न! वह तो समकित, तीन ज्ञान लेकर आते हैं। वहाँ भी संवर, निर्जरा है। आहाहा! समकित और तीन ज्ञान लेकर तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं। सवा नौ महीने परन्तु वहाँ धारा, राग से भिन्न पड़ी हुई धारा कायम रहती है। आहाहा! ऐसी वस्तु है। दुनिया से अलग बात है, भाई! दुनिया बाहर से मानकर बैठ गयी है। आहाहा! एक तो मनुष्यपना मिला, (उसे) हार जाएगा। आहाहा!

यह आत्मा अन्दर चिदानन्द प्रभु, इसके **अखण्डधारावाही ज्ञान से..** देखा? भावार्थ। **आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है..** देखा? निरन्तर भले वहाँ उपयोग न हो, परन्तु अनुभव किया करता है। आहाहा! उड़द की दाल में जैसे छिलका पृथक् पड़ा,

वह छिलका बाद में उसे चिपटता ही नहीं। उड़द की श्वेत दाल होती है न? इसी प्रकार भगवान आत्मा;... आहाहा! यह काला जो छिलका-ऐसा पुण्य-पाप का भाव, काला मैल, इससे तो भिन्न पड़कर निरन्तर ज्ञान की धारा बहती है। आहाहा! उसे **भावास्रव रुकते हैं..** उसे राग-द्वेष-मोहरूपी भावास्रव। भावास्रव, समझ में आया? राग-द्वेष और मोह, वह भावास्रव है, नये आवरण का कारण है। नये आवरण आवें, वह द्रव्य आस्रव है और यह भावास्रव है। आहाहा!

उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं.. जो आत्मा के आनन्द और ज्ञान को निरन्तर वेदन करता है, अनुभव करता है, भेदज्ञान की धारा में सदा रहता है। आहाहा! **उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं..** अनन्तानुबन्धी आदि के जितने राग-द्वेष-मोह हैं, (वे) रुकते हैं। आगे जाने पर जितनी स्थिरता होती है, उतना आगे बढ़ता है। आहाहा! **इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है;.. 'सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि'** यह गाथा है न? शुद्ध को प्राप्त करता है, शुद्ध के कारण से। शुद्ध का जो अवलम्बन करता है, वह शुद्ध को पाता है। आहाहा! **इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है;...**

और जो जीव अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है,.. आहाहा! मैं तो पुण्य और पाप के भाववाला हूँ, क्योंकि भिन्न चीज़ है, वह तो ज्ञात हुई नहीं है। आत्मा का धर्म जो ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वभाव, वह तो ज्ञात हुआ नहीं। राग और दया, दान परिणाम ज्ञात हुए। उन्हें अपने मानकर राग-द्वेष करता है। आहाहा! शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है **और अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है, उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते..** आहाहा! भले साधु हो जाए, हजारों रानियाँ छोड़े परन्तु अन्दर में राग की एकता जब तक है, तब तक उसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष के भावास्रव हैं, उनसे नये द्रव्यास्रव होते हैं। आहाहा! हजारों रानियाँ छोड़े, साधु होवे तो भी अन्तर में राग की एकता नहीं टूटती, तब तक अशुद्धता नहीं जाती। आहाहा! ऐसा मार्ग!

मुमुक्षु : उपयोग बाहर होवे तो आनन्द आवे। आनन्द ज्ञात होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : लब्ध है, इसलिए आनन्द सदा है।

मुमुक्षु : ज्ञान में ज्ञात होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञाता होता है न, ज्ञात होता है। उपयोग भले बाहर हो। प्रगट आनन्द कहाँ जाएगा ? आहाहा !

अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है। लो ! आहाहा ! बहुत संक्षिप्त में (भरा है)। चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्द प्रभु को पुण्य और पाप के राग से भिन्न करके उसे अनुभव करे, उसे संवर होता है, धर्म होता है। उसे धर्म होता है, दूसरे को धर्म नहीं होता। यह करोड़ों मन्दिर बनावे और करोड़ों रुपये खर्च करे... आहाहा ! करोड़ों शास्त्र बनावे, फिर सस्ते दे, दस रुपये में पड़े, उसे पाँच में दे, वह तो शुभराग है। आहाहा ! मुम्बई में बहिन की छह हजार पुस्तक वितरित हुई न ? थोड़े बाकी थे, वे शान्तिभाई ने वितरित किये थे। चिमनलाल ठाकरसी, लो ! तीन दिन वितरित किये थे, एकम के दिन भाई ने वितरित किये थे। सौभाग ! वैशाख शुक्ल १, उसके होंगे, तुम्हारे होंगे और तीसरे उसके होंगे। बड़ी सभा में वितरित किये थे। बात में यह है कि उसमें राग की मन्दता होवे तो शुभभाव है। उसमें से ऐसा मान ले कि इसमें धर्म हो जाता है (तो मिथ्यात्व है)। आहाहा ! अरे ! ऐसी कठिन बातें, लो ! पैसेवाले को पैसे से धर्म होता हो तो प्रसन्न होगा, तो निर्धन को धर्म के लिए पैसे खोजने पड़ेंगे। आहाहा ! अरे ! यह शरीर ही काम नहीं करता वहाँ... आहाहा ! शरीर की क्रिया होती है, वह शरीर की जड़ से (होती है), वह काम जहाँ आत्मा का नहीं... आहाहा !

मुमुक्षु : मन्द कषाय में धर्म तो नहीं होता परन्तु धर्म का चान्स, अवकाश, अवसर अवश्य मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं मिलता। इस शुद्धता को प्रगट करे, तब इसे धर्म का अवसर मिलेगा। शुभभाव चाहे जितने लाख, करोड़ करे, (तो भी) शुद्धता का अवसर नहीं मिलता। आहाहा ! मोक्षमार्गप्रकाशक में एक जगह जरा कहा है कि शुभ बहुत हो तो निमित्त अच्छे मिलते हैं। तो कहीं कदाचित् वहाँ से समझे, ऐसा। ऐसा एक आता है। वह तो कहीं समझे तो निमित्त कहलाये और नहीं तो (नहीं कहलाये)। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। सब खबर है... आहाहा ! उसमें से वे लोग निकालते हैं। देखो ! इसमें कहा है,

शुभभाव करे तो ऐसा करते-करते उसे निमित्त कहीं अच्छे मिलें तो निमित्त से प्राप्त कर जाए। निमित्त से प्राप्त नहीं करता; उपादान से प्राप्त करता है। उसके उपादान से प्राप्त करे, तब निमित्त कहने में आता है। आहाहा! बहुत अधिक अन्तर है, भाई!

कलश-१२७

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदय-मुदय-दात्मारामात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।१२७।।

श्लोकार्थ : [यदि] यदि [कथम् अपि] किसी भी प्रकार से (तीव्र पुरुषार्थ करके) [धारावाहिना बोधनेन] धारावाही ज्ञान से [शुद्धम् आत्मानम्] शुद्ध आत्मा को [ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते] निश्चलतया अनुभव किया करे [तत्] तो [अयम् आत्मा] यह आत्मा, [उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्] जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्मा को [पर-परिणतिरोधात्] परपरिणति के निरोध से [शुद्धम् एव अभ्युपैति] शुद्ध ही प्राप्त करता है।

भावार्थ : धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से रागद्वेषमोहरूप परपरिणति का (भावास्रवों का) निरोध होता है और उससे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

धारावाही ज्ञान का अर्थ है प्रवाहरूपज्ञान-अखण्ड रहनेवाला ज्ञान। वह दो प्रकार से कहा जाता है:-एक तो, जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये, ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही ज्ञान है। दूसरा, एक ही ज्ञेय में उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता कही जाती है, अर्थात् जहाँ तक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है, वहाँ

तक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थ के) अन्तर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खण्डित होती है। इन दो अर्थों में से जहाँ जैसी विवक्षा हो, वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिए। अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि नीचे के गुणस्थानवाले जीवों के मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी, और श्रेणी चढ़नेवाले जीव के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मा में ही उपयुक्त है।।१२७।।

श्लोक - १२७ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- १२७ (कलश)।

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदय-मुदय-दात्मारामात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।१२७।।

आहाहा! **यदि किसी भी प्रकार से..** पुरुषार्थ से। आहाहा! अन्तर के तीव्र पुरुषार्थ से। 'दारुण दारेणन्' आ गया था न। उग्र पुरुषार्थ से। स्व सन्मुख (झुके)। [**धारावाहिना बोधनेन**] **धारावाही ज्ञान से..** आहाहा! जिसकी ज्ञानधारा छूटे नहीं। राग रहे परन्तु रागधारा अलग और ज्ञानधारा अलग (रहे), दोनों धारा दोनों धाराओं का काम करे। आहाहा! **धारावाही ज्ञान से.. शुद्ध आत्मा को..** [**शुद्धम् आत्मानम्**] पवित्र आत्मा को। [**ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते**] **निश्चलतया अनुभव किया करे..** ध्रुव अर्थात् निश्चल, उपलभ अर्थात् अनुभव, आस्ते अर्थात् करे। **निश्चलतया अनुभव किया करे..** आहाहा! पहली तो यह बात है कि जिसे आत्मा की महिमा ही नहीं आती, सब पूरी दुनिया से निराली चीज़ कोई अलग है, जिसकी महिमा का पार नहीं... आहाहा! ऐसा यह भगवान आत्मा अन्दर दया, दान के विकल्प से भिन्न पड़ा है। आहाहा! परन्तु यह बात कैसे जँचे? अनादि की बाहर नजर है। यह दया पालन करो, यह व्रत करो और यह अपवास करो, यह पूजा करो, भक्ति करो। आहाहा! इससे उसे इस राग की क्रिया से भिन्न है, यह कैसे जँचे? जिसे राग में प्रेम है और जो राग का रसिक है,

(वह) राग में रसिक हो गया है, उसे भगवान (आत्मा) राग से भिन्न है, आनन्दकन्द प्रभु है, वह शुद्ध कैसे जँचे ?

यहाँ तो कहते हैं, **धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को निश्चलतया अनुभव किया करे..** आहाहा! तो [**अयम् आत्मा**] यह आत्मा, [**उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्**] **जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है..** आहाहा! [**उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्**] आहाहा! **जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है..** जिसकी आत्मपरिणति बढ़ती जाती है, **ऐसे आत्मा को..** [**पर-परिणतिरोधात्**] परपरिणति अर्थात् राग की दशा को रोककर **निरोध से..** आहाहा! संवर है सही न? राग का कण चाहे जो हो, भगवान की भक्ति आदि (हो) परन्तु उसे रोककर। आहाहा! आत्मा को स्थिरता बढ़ती जाती है, रागादि नाश होता जाता है।

परपरिणति के निरोध से.. [**शुद्धम् एव अभ्युपैति**] **शुद्ध ही प्राप्त करता है।** लो! बहुत संक्षिप्त किया। स्वयं अपना आत्मा शुद्धस्वरूप त्रिकाल है, उसे वर्तमान में प्राप्त करके, निरन्तर धारावाही अनुभव करके, उसे अशुद्धता नहीं होती। इसलिए वह शुद्धता को प्राप्त करता है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६४, गाथा- १८७-१९२, श्लोक-१२७-१२८ दिनाङ्क २७-०६-१९७९, बुधवार, अषाढ़ शुक्ल ३

(समयसार), १२७ कलश हो गया, उसका भावार्थ। भावार्थ की दो लाईन हो गयी है। **धारावाही ज्ञान..** यहाँ से शुरु (होता) है। है? १२७ कलश का अर्थ हो गया है, भावार्थ दो लाईन हो गयी है।

मुमुक्षु : दो लाईन लेनी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लेनी है? ले ली गयी है, ले ली गयी है। कल ले ली गयी है। **धारावाही ज्ञान का अर्थ है प्रवाहरूपज्ञान..** यहाँ 'संवर अधिकार' है। जहाँ

अन्तर राग से आत्मा भिन्न पड़ा, उसकी शुद्ध परिणमन की एक धारावाही धारा चले। शुद्ध और भले थोड़ा अशुद्ध हो परन्तु शुद्ध धारा तो कायम चलती है। पवित्र, वह संवर है। अविच्छिन्न धारा-ज्ञानानन्दस्वभाव की जो परिणति है, वह अविच्छिन्न धारा है, धारा टूटती नहीं। आहाहा!

वह दो प्रकार से कहा जाता है.. वह दो प्रकार से कहा जाता है। क्या? धारावाही ज्ञान प्रवाहरूप अविच्छिन्न दो प्रकार से कहा जाता है। **एक तो, जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये..** मिथ्यादृष्टिपना न आवे और सम्यग्दर्शनपना हो, उपयोग भले पर में हो। आहाहा! **ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही ज्ञान है।** सम्यग्ज्ञान हुआ, राग से भिन्न पड़कर भगवान आत्मा (पृथक् पड़ा) अर्थात् वह ज्ञान धारावाही अखण्ड रहता है। मिथ्याज्ञान न आवे, तब तक अखण्ड ज्ञानधारा कहते हैं।

इस **अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता..** कहा न? अब दूसरी बात। **एक ही ज्ञेय में..** एक बात कही। क्या एक बात कही?-कि आत्मा राग से भिन्न है, उसका भान हुआ और भले उसे राग आवे, परन्तु जो शुद्धता प्रगटी है, वह तो एक धारावाही होती है। मिथ्याज्ञान न आवे, तब तक धारावाही ज्ञान है।

दूसरी बात—**एक ही ज्ञेय में उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा से..** एक ज्ञायकस्वरूप को ज्ञेय करके उसमें ही स्थिर रहना, **उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता..** उपयोग का धारावाहीपना। उसमें उपयोग नहीं था। किसी समय आता, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, इतना तो भेदज्ञान सदा होता है। दूसरा यह। इसमें उपयोग रहने से ज्ञान का धारावाहिकपना कहने में आता है। जब तक आत्मा अपने ध्यान में ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान के भेद को भूलकर एक उपयोग में उपयोग पड़ा हो, उसे भी अन्तर्मुहूर्त तक धारावाही कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त तक।

अर्थात् जहाँ तक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है, वहाँ तक धारावाही ज्ञान कहलाता है;.. आहाहा! धारावाही अर्थात् एक धारा से सरीखा चलता हुआ। एक सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व न आवे, तब तक सम्यग्दर्शन की धारा चले, एक वह प्रकार; और एक तो इस उपयोग को लागू पड़ता है। यह उपयोग अन्तर्मुहूर्त रहे, अधिक नहीं। उस

उपयोग को भी अन्तर धारावाही इतने काल में कहते हैं। **वहाँ तक धारावाही ज्ञान कहलाता है;..**

इसकी स्थिति (छद्मस्थ के) अन्तर्मुहूर्त ही है,.. छद्मस्थ को तो उपयोग अन्तर्मुहूर्त रहने का है। **वहाँ तक धारावाही ज्ञान कहलाता है;.. तत्पश्चात् वह खण्डित होती है।** उपयोग अन्दर न रह सके, तब वहाँ से बाहर आ जाता है। **इन दो अर्थों में से जहाँ जैसी..** कथन शैली हो, **वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिए। अविरतसम्यक्दृष्टि..** चौथे गुणस्थान में, पाँचवें गुणस्थान में, छठे गुणस्थान में। इन्हें ऐसा लेना कि **दो अर्थों में से जहाँ जैसी विवक्षा हो, वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिए। अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि नीचे के गुणस्थानवाले जीवों के मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी,..** कौन सी? चौथे, पाँचवें, छठे में धारावाही सम्यग्दर्शन हुआ, वह लागू पड़ता है। उपयोग नहीं। उपयोग किसी समय होता है। इसलिए वह धारावाही उपयोग की अपेक्षा से नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, वह धारावाही कायम रहे, इस अपेक्षा से धारावाही कहा जाता है। चौथे, पाँचवें, छठवें में... आहाहा!

श्रेणी चढ़नेवाले जीव के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी.. मुख्यरूप से। वैसे तो उसे अबुद्धिपूर्वक राग है, परन्तु उसे न गिने, इसलिए मुख्यरूप से शुद्ध उपयोग में एकाग्र हो। श्रेणी चढ़नेवाला अन्दर स्थिरता करे। आठवें गुणस्थान से धारा स्थिर होती है, (वह) स्थिर होने पर **जीव के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी..** उपयोग वहाँ से निकले नहीं, उपयोग वहाँ रहे, इसकी अपेक्षा से वहाँ धारावाही उपयोग कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! धारावाही ज्ञान और यह सब क्या होगा? पैसे की धारावाही से कमाये नहीं।

मुमुक्षु : पैसे की धारावाही अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिदिन २५-५०-१००-२००-५०० कमाये। आहाहा!

यहाँ हमारे पालेज में दुकान थी न? तीन भाई इकट्ठे थे। हमेशा ७००-८०० की आमदनी। दिन की, हों! एक दिन के ७००-८०० धारावाही आवे। ग्राहक ऐसे आवे। पाप की धारा!

यह तो धर्म की धारा की बात चलती है। धर्म की धारा के दो प्रकार—एक उपयोगरूप धारा रहे। वह तो छद्मस्थ को अन्तर्मुहूर्त रहती है, पश्चात् च्युत हो जाती है। आठवें गुणस्थान से उपयोग चले, वह च्युत नहीं होता। वह उपयोग होकर वापस श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है और नीचे चौथे, पाँचवें, छठे (गुणस्थान में) यह धारावाही ज्ञान जो निर्मल प्रगट हुआ है, वह धारावाही (ज्ञान है)। उसे उपयोग भले राग में जाए, पर में जाए (परन्तु) अन्दर सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ, वह कहीं च्युत नहीं होता। आहाहा!

ऐसे सब बोल धारना। किसलिए धारना ऐसे बोल? उसे समझाते हैं। भाई! वास्तव में तो तेरा स्वरूप है, वह नित्यानन्द प्रभु, उसके ऊपर उपयोग गया, लगा। बस! फिर भले थोड़ा च्युत हो जाए परन्तु वह उघाड़ हुआ और दर्शन हुआ, वह तो सदा रहेगा। उपयोग की अपेक्षा से दो। निचले गुणस्थानवाले को उपयोग आवे परन्तु अन्तर्मुहूर्त रहे। तुरन्त च्युत हो जाए और आठवें गुणस्थान से उपयोग आवे, (वह) एक धारावाही उपयोग होकर केवलज्ञान प्राप्त करे। समझ में आया? आहाहा! ऐसा है।

गाथा–१८७–१८९

केन प्रकारेण सम्वरो भवतीति चेत् –

अप्पाण–मप्पणा रुंधिऊण दोपुण्ण–पाव–जोगेसु।
दंसण–णाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।१८९।।

आत्मान–मात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्य–पाप–योगयोः।
दर्शन–ज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन्।।१८७।।
यः सर्व–सङ्ग–मुक्तो ध्यायत्यात्मान–मात्मनात्मा।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिन्तयत्येकत्वम्।।१८८।।
आत्मानं ध्यायन् दर्शन–ज्ञान–मयोऽनन्यमयः।
लभतेऽचिरेणात्मान–मेव स कर्म–प्रविमुक्तम्।।१८९।।

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे वर्तमानं दृढतरभेदविज्ञानावष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुन्ध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन् मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीय–मात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते, स खल्वेकत्वचेतनेना–त्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन्, शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः, शुद्धात्मो–पलंभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन्, अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति।

एष संवरप्रकारः।।१८७–१८९।।

अब प्रश्न करता है कि संवर किस प्रकार से होता है? इसका उत्तर कहते हैं:-

शुभ अशुभ से जो रोककर निज आत्म को आत्मा हि से।
दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्यइच्छा परिहरे।।१८७।।
जो सर्वसंगविमुक्त, ध्यावे आत्म से आत्मा हि को।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को।।१८८।।
वह आत्म ध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी हुआ।
बस अल्प काल जु कर्म से परिमोक्ष पावे आत्म का।।१८९।।

गाथार्थ : [आत्मानम्] आत्मा को [आत्मना] आत्मा के द्वारा [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्य-पापरूपी शुभाशुभयोगों से [रुन्ध्वा] रोककर [दर्शनज्ञाने] दर्शनज्ञान में [स्थितः] स्थित होता हुआ [च] और [अन्यस्मिन्] अन्य (वस्तु) की [इच्छाविरतः] इच्छा से विरत होता हुआ, [यः आत्मा] जो आत्मा, [सर्वसंगमुक्तः] (इच्छारहित होने से) सर्व संग से रहित होता हुआ, [आत्मानम्] (अपने) आत्मा को [आत्मना] आत्मा के द्वारा [ध्यायति] ध्याता है, और [कर्म नोकर्म] कर्म तथा नोकर्म को [न अपि] नहीं ध्याता, एवं [चेतयिता] (स्वयं) *चेतयिता (होने से) [एकत्वम्] एकत्व को ही [चिन्तयति] चिन्तवन करता है-अनुभव करता है, [सः] वह (आत्मा), [आत्मानं ध्यायन्] आत्मा को ध्याता हुआ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शन-ज्ञानमय [अनन्यमयः] और अनन्यमय होता हुआ [अचिरेण एव] अल्प काल में ही [कर्मप्रविमुक्तम्] कर्मों से रहित [आत्मानम्] आत्मा को [लभते] प्राप्त करता है।

टीका : रागद्वेषमोह जिसका मूल है, ऐसे शुभाशुभ योग में प्रवर्तमान जो जीव दृढ़तर भेदविज्ञान के आलम्बन से आत्मा को आत्मा के द्वारा ही अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शन -ज्ञानरूप आत्मद्रव्य में भलीभाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से सर्व संग से रहित होकर, निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ, कर्म-नोकर्म का किंचित्मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्मा को ही आत्मा के द्वारा ध्याता हुआ, स्वयं को सहज चेतयितापन होने से एकत्व का ही चेतता (अनुभव करता) है (ज्ञानचेतनारूप रहता है), वह जीव वास्तव में, एकत्व-चेतन द्वारा अर्थात् एकत्व के अनुभवन द्वारा

* चेतयिता=ज्ञातादृष्टा।

(परद्रव्य से) अत्यन्त भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होने पर समस्त परद्रव्यमयता से अतिक्रान्त होता हुआ, अल्प काल में ही सर्व कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। यह संवर का प्रकार (विधि) है।

भावार्थ : जो जीव पहले तो रागद्वेषमोह के साथ मिले हुए मनवचनकाय के शुभाशुभ योगों से अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलायमान नहीं होने से, और फिर उसी को शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मस्वरूप में निश्चल करे तथा समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित होकर कर्म–नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसी का ही अनुभव किया करे अर्थात् उसी के ध्यान में रहे, वह जीव आत्मा का ध्यान करने से दर्शनज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयता का उल्लंघन करता हुआ अल्प काल में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। यह संवर होने की रीति है।

गाथा – १८७-१८९ पर प्रवचन

अब प्रश्न करता है कि संवर किस प्रकार से होता है? इसका उत्तर कहते हैं:– लो, यह प्रश्न तो बराबर है। संवर अर्थात् धर्म की पहली शुद्धि। निर्जरा, वह तो (शुद्धि की) वृद्धि है। अनादि से अशुद्धि है। पर्याय में अनादि से राग की अशुद्धि है। आस्रव है, भावास्रव है। अब शिष्य प्रश्न करता है कि अब संवर किस प्रकार से होता है? उसका प्रकार किस तरह है? उसका उत्तर (कहते हैं)।

अप्पाण–मप्पणा रुंधिऊण दोपुण्ण–पाव–जोगेसु।
दंसण–णाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।१८९।।

शुभ अशुभ से जो रोककर निज आत्म को आत्मा हि से।
दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्यइच्छा परिहरे।।१८७।।
जो सर्वसंगविमुक्त, ध्यावे आत्म से आत्मा हि को।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को।।१८८।।
वह आत्म ध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी हुआ।
बस अल्प काल जु कर्म से परिमोक्ष पावे आत्म का।।१८९।।

टीका : जो जीव, रागद्वेषमोह जिसका मूल है, ऐसे शुभाशुभ.. भाव। क्या कहा? कि शुभाशुभभाव का मूल राग-द्वेष और मोह है। आहाहा! यहाँ तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष, वह शुभाशुभभाव की उत्पत्ति का मूल है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? राग-द्वेष और मोह—मिथ्यात्व जिसका मूल है। **ऐसे शुभाशुभ योग में प्रवर्तमान आत्मा को..** आहाहा! **दृढ़तर भेदविज्ञान के आलम्बन से..** अब सुलटा कहते हैं। इस प्रकार है। शुभाशुभभाव मेरे, ऐसा मिथ्यात्वभाव और उसके योग्य राग-द्वेष हैं, उन सब शुभाशुभभाव का मूल राग-द्वेष-मोह है। उसे दृढ़तर (अति दृढ़) अकेला दृढ़ लिया नहीं, वैसे दृढ़तम नहीं लिया। दृढ़तम अन्तिम है। दृढ़तर बीच का बोल लिया। दृढ़, दृढ़तर और दृढ़तम। दृढ़तम, यह उत्कृष्ट बोल है। आहा!

आत्मा को दृढ़तर भेदविज्ञान के आलम्बन से.. लो। **भेदविज्ञान के आलम्बन से आत्मा के द्वारा ही अत्यन्त रोककर,..** आहाहा! शुद्धस्वरूप-सन्मुख में एकाग्र होकर राग और द्वेष और मोह को रोककर **शुद्धदर्शन-ज्ञानरूप आत्मद्रव्य में..** अब आत्मा कैसा है, (यह) पहले सिद्ध किया। आत्मा शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप आत्मा है। आत्मा अर्थात् शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप, वह आत्मा। दया, दान, व्रतादि के विकल्प हैं, वे कहीं आत्मा नहीं है, वे अनात्मा है। आहाहा!

भेदविज्ञान के आलम्बन से आत्मा के द्वारा ही अत्यन्त रोककर,.. आत्मा द्वारा ही अत्यन्त रोककर। अपने आप रुके, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! अपना भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप का आश्रय लेकर, उसके अवलम्बन से दृढ़रूप से राग-द्वेष-मोह को रोकता है। रोकता है, यह शब्द है, यह तो उपदेश में कहा जाता है। रुक जाते हैं।

शब्द तो आवे, उपदेश शैली है न! आहाहा! **अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शन-ज्ञानरूप आत्मद्रव्य..** आत्मा किसे कहते हैं? कहते हैं प्रभु, तो शुद्ध दर्शन-ज्ञान—ज्ञाता-दृष्टा वह आत्मा। आहाहा! पूरा लोकालोक हो, राग से लेकर वे सब ज्ञान के, दर्शन के, ज्ञेय और दृश्य हैं। आहाहा! भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञानरूप है, ज्ञान और दर्शनस्वरूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्ध अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : पवित्र। शुद्ध का अर्थ (पवित्र)। शुद्ध है, अशुद्धता नहीं। शुभ और अशुभभाव अशुद्ध हैं। शुभ और अशुभभाव अशुद्ध हैं। उस अशुद्ध को शुद्धभाव से रोककर... आहाहा! ऐसा संवर। ऐसा करे, तब धर्म होता है। यहाँ अता-पता हाथ नहीं आवे। आहाहा!

आचार्यों के तो हृदय-अभिप्राय तो बहुत जोरदार है। वह तो दृढ़तर अभ्यास से रोककर स्वरूप की प्राप्ति पूर्ण कर लेना। आहाहा! **शुद्धदर्शन-ज्ञानरूप आत्मद्रव्य में भलीभाँति प्रतिष्ठित..** भाषा है? अकेला प्रतिष्ठित शब्द प्रयोग नहीं किया। भलीभाँति स्थिर होकर। भलीभाँति अन्दर आनन्द में (स्थिर होकर)। आहाहा! प्रभु दर्शन और ज्ञान और आनन्दरूप है, उसमें भलीभाँति स्थिर होकर। आहाहा!

समस्त परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से.. अपने आत्मा के सिवाय जितने पर-आत्मायें और पर-शरीर, परद्रव्य हैं, उन सबके प्रति इच्छा के त्याग से। ऐसा तो बाबा होवे तो हो, ऐसा कहते हैं। (कोई) ऐसा कहता था। बाबा ही है, सुन न! जहाँ हो, वहाँ तू पर से तो रहित ही है। वास्तव में तो अन्दर इच्छा से भी रहित ही तेरा स्वरूप है। आहाहा! यह तो पहले कहा। शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप ही तू आत्मा है। आहाहा! इच्छा तुझमें है ही नहीं, फिर करना और रोकना, यह कहाँ रहा? आहाहा! परन्तु स्वरूप में स्थिर हो, तब इच्छा उत्पन्न नहीं होती; इसलिए उसे रोकता है, ऐसा कहने में आता है। क्योंकि संवर है सही न! (इच्छा का) निरोध करता है, ऐसा।

परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से.. समस्त परद्रव्य। देव-गुरु-शास्त्र (भी) परद्रव्य है। **त्याग से सर्व संग से रहित होकर,..** आहाहा! अन्तर में सर्व संग से रहित होकर, परद्रव्य से तो इच्छा निरोध करके, अन्दर जो राग है, वहाँ से संग छोड़कर... आहाहा! **निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ,..** आहाहा! **निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ,..**

भाषा देखो! निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ, वापस। अति निष्कम्प। आहाहा! **कर्म-नोकर्म का किंचित्मात्र भी स्पर्श किये बिना..** कर्म और शरीरादि, वाणी आदि किसी को स्पर्श किये बिना **अपने आत्मा को ही..** अपना भगवान दर्शन-ज्ञानरूप आत्मा। ऐसे **आत्मा को ही आत्मा के द्वारा.. अपने आत्मा को 'ही'..** आहाहा! जो शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप है उसे। आत्मा द्वारा, उस शुद्ध दर्शनपर्याय द्वारा। आहाहा!

स्वयं को सहज चेतयितापन होने से.. इकट्ठा किया। पहले दर्शन-ज्ञान कहा था न? दर्शन-ज्ञानरूप वहाँ (कहा था)। अब इकट्ठा लिया। **स्वयं को सहज चेतयितापन होने से..** चेतयिता—वह तो जानने-देखनेवाला ही है, बस! जगत को चेतनेवाला है। जगत को बनानेवाला नहीं, जगत में मिलनेवाला नहीं, जगत से कुछ लेना नहीं, जगत से निराला, चेतनेवाला जीव भगवान है। आहाहा! पहले दर्शन-ज्ञानरूप आत्मा कहा था न? यहाँ एक शब्द प्रयोग किया। अपने को सहज **स्वयं को सहज चेतयितापन होने से एकत्व का ही चेतता..** आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान को चेतता है-अनुभवता है। अकेले ज्ञान को अनुभवता है। आहाहा! यह सब बात बड़ी, परन्तु पहले क्या करना? पहले यही करना। पहले ही यह है। १७ गाथा में कहा नहीं? १७ गाथा में कहा, पहले क्या? पहले आत्मा को जानना। पहले नय, निक्षेप से जानना—ऐसा कुछ कहा नहीं। १७ गाथा। भगवान आत्मा, जैसा तू भूला है, उसे उस प्रकार से पहले जान। आहाहा!

जिस प्रकार तूने तुझे जानने की भूल की है, जानने की पद्धति छोड़कर (भूल की है) उस भूल को छोड़कर एकाकार हो। आहाहा! जगत की सब चीज़ें व्यवहार से ज्ञेय हैं। उनमें कोई ठीक-अठीक या ऐसा कुछ ज्ञेय नहीं है। दो भाग डालना, ऐसा कुछ ज्ञेय में नहीं है। इसलिए चेतयितापने होने से वह एकत्व को ही चेतता है। एकपने को ही जानता है। आहाहा! पंच परमेष्ठी ठीक, यह व्यापार-धन्धा, स्त्री, पुत्र ठीक, ऐसा भेद उसमें नहीं है। जाननेवाले को जानने में आती हुई चीज़ में भेद नहीं है। एकरूप सब चीज़ें ज्ञेयरूप से है। आहाहा! पंच परमेष्ठी को परद्रव्य में डाला है। आहाहा!

चेतता है.. (अर्थात्) अनुभवना, देखना-जानना। **(ज्ञानचेतनारूप रहता है),..** क्या कहा? रागचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। राग की चेतना-अनुभवना, वह कर्मचेतना है। उसके फल का-दु:ख का अनुभव करना, वह कर्मफलचेतना है। यह तो

अनादि से राग का कर्मचेतनापना करता आया है, वह तो संसार है। आहाहा! उस संसारमार्ग में बड़ा अरबोंपति हो तो भी वह राग को ही अनुभव करता है। स्वर्ग के देवता, लो। आहाहा! मिथ्यादृष्टि है, वह तो राग को ही वेदता है, बस! कषाय को वेदता है। आहाहा! उसे छोड़कर। है?

यहाँ आया, **चेतयितापन होने से एकत्व को ही चेतता है (ज्ञानचेतनारूप रहता है), वह जीव वास्तव में, एकत्व-चेतन द्वारा..** अपनी ओर के एकत्व चेतन से। अपनी ओर के जानने-देखने के स्वभाव द्वारा। आहाहा! **अर्थात् एकत्व के अनुभवन द्वारा..** एकपने का ही अनुभव। जिसमें कोई विकल्प, दूसरी चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसे अनुभव द्वारा। यह क्या पूछते हैं? उसका उत्तर है। संवर किस प्रकार से होता है? उस प्रकार की बात चलती है। आहाहा! दुकान का धन्धा या व्यापार पूरे दिन तेईस घण्टे यह ले। एकाध घण्टे सुनने जाए, उसमें ऐरण की चोरी और सुई का दान। धर्म तो एक ओर रहा परन्तु पुण्य भी नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे! मोह ने जगत को मार डाला है। आहाहा!

अकेला चेतन प्रभु, उसे चेतकर—अनुभव करके। आहाहा! **(परद्रव्य से) अत्यन्त भिन्न..** अत्यन्त भिन्न; अकेला भिन्न नहीं। आहाहा! **अत्यन्त भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा को ध्याता हुआ,..** चैतन्य-चमत्कार, चैतन्य-चमत्कार! आहा! जिसे ज्ञान की दशा में अनन्त जानना हो, जिसके दर्शन में अनन्त देखना हो, आहा! ऐसा चैतन्य-चमत्कार। चैतन्य-चमत्कार; दुनिया में चमत्कार होवे तो वह है। दूसरे चमत्कार तो व्यर्थ हैं। आहाहा! **शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ,..** वहाँ से हटकर अन्दर में अनुभव करे, तब तो शुद्ध आत्मा दर्शन-ज्ञानमय अनुभव करे। शुद्ध दर्शन-ज्ञान है, वह आत्मा। पहले कहा था, शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप आत्मा। तीसरी लाईन में कहा था। आहाहा!

चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ,.. आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ (कहा है), देखा? गुण को नहीं, पर्याय को नहीं। आहाहा! परद्रव्य से, इच्छा से हटा, तो स्वद्रव्य में आया, बस! आत्मा को **आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ,..** लो! आत्मा तो गुण है, उस गुण को प्राप्त हुआ, ऐसा नहीं लिया। आत्मद्रव्य को प्राप्त हुआ, उसमें अनन्त गुण आ गये। आहाहा!

आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि.. (अर्थात्) अनुभव। शुद्ध आत्मा का अनुभव, वह संवर है। आहाहा! पृष्ठ–पृष्ठ में यह भरा है, तो भी लोग ऐसा (कहते हैं) शुभभाव से धर्म, शुभभाव से धर्म पुकारा करते हैं और (यहाँ का) विरोध करते हैं।

मुमुक्षु : आचार्य ने शुद्ध उपयोग ही कह दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा है या नहीं? आत्मा है या नहीं इस काल में? आहाहा! तीनों काल में है, उसे कोई काल लागू नहीं पड़ता। आहाहा!

सच्चिदानन्द प्रभु, चेतनेवाला दर्शन–ज्ञानरूप वह आत्मद्रव्य, उसे प्राप्त करे। परद्रव्य से दृष्टि छोड़कर उसे प्राप्त करे। है? **शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होने पर समस्त परद्रव्यमयता से अतिक्रान्त होता हुआ,..** शुद्धस्वरूप की अन्तर्दृष्टि और उपयोग जमता हुआ.. आहाहा! तब **परद्रव्यमयता से अतिक्रान्त होता हुआ,..** परद्रव्य से अतिक्रान्त (अर्थात्) पृथक् पड़ा। **अल्प काल में ही.. अचिरेण** शब्द है न? **अचिरेण** शब्द है न अन्दर? **अचिरेण** (मूल गाथा की) अन्तिम लाईन है। **लहदि अचिरेण** अल्प काल में वह परमात्मा होता है। **अचिरेण**—आहाहा! **अल्प काल में ही...** ऐसा है न? **अचिरेण** ऐसा है। **अचिरेण—अल्प काल में ही...** इसमें क्रमबद्ध कहाँ रहा? अल्प काल में प्राप्त करता है। वह तो उसकी स्थिति बताते हैं। (जिसे) ऐसा हो, उसे केवल (ज्ञान) प्राप्त करने में लम्बा काल नहीं होता। क्रमबद्ध उसमें ही आ जाता है। आहाहा! उसके क्रम में यह अनुभव करे, उसे क्रम में केवलज्ञान लेने में थोड़ा ही समय होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अल्प काल में ही सर्व कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। यह संवर का प्रकार (विधि) है। संवर करने की यह पद्धति है। दोनों हाथ जोड़े और यह करो, और... यह पद्धति नहीं, कहते हैं। ये लड़के संवर करने बैठते हैं न! सामायिक (करे इसलिए) पैसा चार आना, आठ आना, रुपया, या कुछ दे, (इसलिए) सब इकट्ठे हों। हो गया संवर, ओहोहो!

यह संवर का प्रकार.. संवर होने की यह पद्धति और प्रकार और यह विधि, संवर होने की विधि है। आहाहा! दुकान का करते हैं, नौकर का करते हैं, स्त्री का करते हैं और संवर करते हैं, ऐसे दो भाग होंगे? जब तक पर का कर्तापना मानता है, भले स्त्री हो या

उसका आत्मा हो या उसका शरीर (हो), उससे ठीक मानता है, यह ठीक है, (ऐसा मानता है), तब तक मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : आत्मा एक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला आत्मा, एक ही आत्मा, उसमें दूसरा कोई है नहीं। आहाहा! गृहस्थाश्रम में क्षायिक समकित प्राप्त करे तो भी मेरे शुद्ध एक दर्शन ज्ञानमय, अपूर्ण भी नहीं। आहाहा! विकार तो नहीं, पर तो नहीं। सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शनमय भगवान को प्राप्त करता है, लो!

भावार्थ : जो जीव पहले तो रागद्वेषमोह के साथ मिले हुए मनवचनकाय के शुभाशुभ योगों से.. उसमें (टीका में) कहा था न? **रागद्वेषमोह जिसका मूल है, ऐसे शुभाशुभ..** शुभाशुभ में इसका मूल, राग-द्वेष-मोह है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **पहले तो रागद्वेषमोह के साथ मिले हुए मनवचनकाय के शुभाशुभ योगों से अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से..** पृथक् करने के बल से। आहाहा! **चलायमान नहीं होने से,..** परद्रव्य और परद्रव्य की ओर के झुकाव का राग, उससे भेदज्ञान करने पर **चलायमान नहीं होने से,..** आहाहा! ज्ञान का खिंचाव ज्ञान में रहे। राग और परद्रव्य में जाए नहीं। आहाहा! यह संवर की पद्धति है।

और फिर उसी को शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मस्वरूप में निश्चल करे.. अन्दर निश्चल करे। चलायमान न हो, ऐसे स्थिर हो। आहाहा! **तथा समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित होकर..** निर्ग्रन्थ लिया है न? (अर्थात्) मुनि। आहाहा! मुनि ऐसे होते हैं, ऐसा कहते हैं। **शुद्धदर्शनज्ञानमय..** आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ शुद्ध आत्मा को अनुभव करके। शुद्ध आत्मा का अनुभव प्राप्त होने पर समस्त परद्रव्य से अतिक्रान्त होता हुआ। परद्रव्य से छूट गया, यह तो आ गया, नहीं? **चलायमान नहीं होने से,..** ये भावार्थ में आया।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित होकर कर्म-नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसी का ही अनुभव किया करे अर्थात् उसी के ध्यान में रहे,.. आहाहा! सम्यग्दर्शन, वह ध्यान में ही प्राप्त होता है। विकल्प के विचार में नहीं होता, क्योंकि वस्तु स्वयं वीतरागस्वरूप है, इसलिए उसे वीतरागी पर्याय का ध्यान (हो), उसमें ही वह मोक्ष

प्राप्त होता है। आहाहा! **(अनुभव किया करे अर्थात्) उसी के ध्यान में रहे, वह जीव आत्मा का ध्यान करने से..** (अर्थात्) आत्मा का ध्यान करने से। आहाहा! **दर्शनज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयता का उल्लंघन करता हुआ..** आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त जितने द्रव्य, राजपाट, स्त्री, पुत्र, परिवार, पुत्र, पुत्री, पिटारा, माल, इन सबसे छूट गया। सबसे भिन्न ही है, परन्तु इच्छा से जहाँ छूट गया तो सब परद्रव्य से छूट गया। आहाहा! देखो! यह मुनिपने की दशा! आहाहा! **परद्रव्यमयता का उल्लंघन करता हुआ अल्प काल में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। यह संवर होने की रीति है।** लो! संवर कैसे हो? कि, ऐसे होता है। आहाहा! उसकी विधि भी कठिन।

मुमुक्षु : भेदविज्ञान से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! इच्छा और परद्रव्य से खाली है (और) तेरे अनन्त गुण से भरपूर है, यह दो बातें। इच्छामात्र से और परद्रव्यमात्र से तू खाली है। आहाहा! और तेरे अनन्त गुणों से पूर्ण भरपूर है। ओहोहो! ऐसा आत्मा का माहात्म्य कैसे आवे? पूरे दिन उलझन में पड़ा (होवे)। इसके बिना इसे जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा, भवभ्रमण नहीं मिटेगा। आहाहा! शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मा को परद्रव्य से भिन्न चेतता, अनुभवता, ध्याता, स्थिर होकर अल्प काल में पूर्ण परमात्मा को प्राप्त करता है। अल्प काल में जैसा आत्मा है, वैसा प्राप्त करता है। आहाहा! पंचम काल के मुनि भी ऐसा कहते हैं। गाथा ऐसी है न! ऐसा नहीं कहते कि अभी मोक्ष नहीं है। ऐसे करते-करते मोक्ष हो, यह है।

यह तो (कितने ही) ऐसा कहते हैं कि अभी शुभोपयोग ही है। अर र! अर्थात् अधर्म ही है। आहाहा! शुभ उपयोग है, वह पुण्य है और पुण्य के अभिलाषी हैं, वे भोग के अभिलाषी हैं। आहाहा! जिन्हें शुभभाव-पुण्य प्रिय लगता है, उसके फलरूप से विषय मिलते हैं, उनके भोगने का वह इच्छुक है। आहाहा! शुभभाव पुण्य है, वह भोग का कारण है। अब यह कहते हैं, पुण्य है, वह भोग का कारण है, वह अभी मिले। आहाहा! दुनिया अन्ध भी चलती है न!

मुमुक्षु : शुभभाव में आत्मा की अभिलाषा रखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (शुद्धभाव में) अकेली आत्मा की (अभिलाषा) है, शुद्ध

आत्मा। अभिलाषा अर्थात् उसकी ओर का झुकाव, एकाग्रता। अभिलाषा अर्थात् इच्छा, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : शुभभाव में (आचरण) करे और आत्मा की अभिलाषा...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। शुद्ध, शुद्ध। शुद्धभाव की अभिलाषा करे। शुभ को तो संसार... संसार... संसार (कहा है)। अरे! पुण्य को तो यहाँ तक कहा है, जो कोई पुण्य करे, उसे विषय के भोग की इच्छा है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में (आता है)। जो कोई प्रेम से शुभभाव को करता है, भोग जिसका फल, उनकी (उसे) अभिलाषा है। आहाहा! अभव्य के लिए भी आया न? 'भोग निमित्तं' बन्ध अधिकार में, दूसरी जगह है। आहाहा! शुभभाव, वह पुण्य है और उसके फलरूप से बन्ध है तथा उसके फलरूप से विषय मिलते हैं। इसलिए पुण्य के प्रेमी विषय के भोगने के प्रेमी हैं। आहाहा! पुण्य तो ज्ञानी को भी आता है, परन्तु प्रेम नहीं है। आहाहा! रुचि और सुखबुद्धि नहीं है। अज्ञानी को तो उसमें सुखबुद्धि है। आहाहा! दो-तीन जगह आयेगा। शुभभाव भोग का कारण है, शुभभाव के फल में इसे भोग मिलते हैं। बहुत जगह शुभभाव का (आता है)। आहाहा!

कलश-१२८

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(मालिनी)

निजमहिम-रतानां भेदविज्ञान-शक्त्या,
भवति नियत-मेषां शुद्ध-तत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः।।१२८।।

श्लोकार्थ : [भेदविज्ञानशक्त्या निजमहिमरतानां एषां] जो भेदविज्ञान की शक्ति

के द्वारा अपनी (स्वरूप की) महिमा में लीन रहते हैं, उन्हें [नियतम्] नियम से [शुद्धतत्त्वोपलम्भः] शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि [भवति] होती है; [तस्मिन् सति च] शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि होने पर, [अचलितम् अखिल-अन्यद्रव्य-दूरे-स्थितानां] अचलितरूप से समस्त अन्य द्रव्यों से दूर वर्तते हुवे ऐसे उनके, [अक्षयः कर्ममोक्षः भवति] अक्षय कर्ममोक्ष होता है (अर्थात् उनका कर्मों से ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता)।।१२८।।

श्लोक - १२८ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैंः- १२८ (कलश)

निजमहिम-रतानां भेदविज्ञान-शक्त्या,
भवति नियत-मेषां शुद्ध-तत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः।।१२८।।

आहाहा! **जो भेदविज्ञान की शक्ति के द्वारा..** अर्थात् क्या? दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग जो होता है, उस राग से भी भिन्न पड़कर। आहाहा! **भेदविज्ञान की शक्ति के द्वारा..** ऐसा कहा न? या राग की शक्ति द्वारा? आहाहा! राग से भी भिन्न करके भेदज्ञान की शक्ति द्वारा। आहाहा! शुभराग की सहायता से या मदद से, (ऐसा नहीं कहा)। आहाहा! दिगम्बर मुनि के वचन कठोर हैं। एकदम पूर्णानन्द का नाथ है और रागादि सब चीज़ें तो कृत्रिम हैं। आहाहा! अकृत्रिम ऐसा भगवान शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय है, उसका ध्यान कर, उसे ध्यान में ले। आहाहा! उसे लक्ष्य में ले। आहाहा! उसे ज्ञेय बना, उसे दृष्टा होकर दृश्य बना। आहाहा! पूर्ण स्वरूप, वह दृष्टा है, वह ज्ञान है। ऐसे ज्ञान और दर्शन पर्याय में बना। आहाहा!

[भेदविज्ञानशक्त्या निजमहिमरतानां] भेदविज्ञान की शक्ति के द्वारा अपनी (स्वरूप की) महिमा में लीन रहते हैं.. आहाहा! समकिती धर्म में लीन रहता है। राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में लीन रहता है। आहाहा! राग आवे परन्तु उसमें एकाग्र

नहीं होता, वैसे उसमें अपना स्वरूप है—ऐसा नहीं मानता। भेदविज्ञान के बल से। आहाहा! निज स्वरूप की महिमा में लीन रहता है। राग से ऐसे भेद किया परन्तु वापस निज स्वरूप में लीन रहता है, ऐसा। भेदज्ञान के बल से इच्छामात्र से भिन्न पड़कर और निज स्वरूप में लीन रहता है। आहाहा! समझ में आया? निज स्वरूप में लीन रहता है, ऐसा कहते हैं।

उन्हें नियम से [शुद्धतत्त्वोपलम्भः] शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि होती है;.. नियम से होती है, निश्चय से होती है। भेदविज्ञान की शक्ति से **'निजमहिमरतानां'** अपने स्वरूप की महिमा में लीन। आहाहा! स्वरूप की महिमा में लीन (रहते हैं)। **उन्हें नियम से (निश्चित)...** शुद्ध तत्त्व का अनुभव अर्थात् शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति आती है, उन्हें शुद्ध तत्त्व प्राप्त होता है। आहाहा! शुद्ध तत्त्व का अनुभव होता है।

[तस्मिन् सति] शुद्ध तत्त्व की.. अनुभव होने पर। **तस्मिन्** होने पर। आत्मा का राग से भिन्न अनुभव होने पर। शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप का अनुभव होने पर। **अचलितरूप से समस्त अन्य द्रव्यों से दूर..** आहाहा! चलायमान न हो, उस प्रकार से। समस्त अन्य द्रव्यों में सब आ गया। देव-गुरु-शास्त्र, मन्दिर, मूर्ति (सब आ गया)। राग तो कहीं रह गया। यह तो सब बाहर, बाहर।

समस्त अन्य द्रव्यों से दूर वर्तते हुवे ऐसे उनके,.. आहाहा! **[अक्षयः कर्ममोक्षः भवति]** आहाहा! **अक्षय कर्ममोक्ष होता है..** अर्थात्? **(अर्थात् उनका कर्मों से ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता)।** आहाहा! देखो भाषा! इच्छा से और परद्रव्य से आत्मा को भिन्न करके, भिन्न आत्मा का जो अनुभव करे, उसमें स्थिर हो, उसमें जमावट हो तो उसे अल्प काल में मुक्ति होती है। ऐसा नहीं कहा कि ऐसा होकर बीच में गिर जाएगा, अमुक होगा। आहाहा! यह तो वीर का काम है। कायर का काम नहीं है। बचाव करना कि इससे होगा और इससे होगा... आहाहा!

अक्षय कर्ममोक्ष होता है (अर्थात् पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता)। ऐसा मोक्ष होता है। कर्म का क्षय हुआ, सो हुआ। आहाहा! **(ऐसा कर्म से छुटकारा हो जाता है)** उन्हें फिर किसी प्रकार का कर्म नहीं रहता।

गाथा–१९०–१९२

केन क्रमेण सम्वरो भवतीति चेत् –

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरय–भावो य जोगो य।।१९०।।

हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसव–भावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।१९१।।

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो।
णोकम्म–णिरोहेण य संसार–णिरोहणं होदि।।१९२।।

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः।
मिथ्यात्व–मज्ञान–मविरत–भावश्च योगश्च।।१९०।।

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रव–निरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः।।१९१।।

कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्म–निरोधेन च सन्सार–निरोधनं भवति।।१९२।।

सन्ति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि। तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः। आस्रवभावः कर्महेतुः। कर्म नोकर्महेतुः। नोकर्म सन्सारहेतुः इति। ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरति–योगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति। ततः कर्म आस्रवति। ततो नोकर्म भवति। ततः सन्सारः प्रभवति।

यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा

मिथ्यात्वाज्ञाना-विरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपा-स्रवभावस्य भवत्यभावः। तदभावे भवति कर्माभावः। तदभावेऽपि भवति नोकर्माभावः। तदभावेऽपि भवति सन्साराभावः। इत्येष सम्वरक्रमः ।।१९०-१९२।।

अब यह प्रश्न होता है कि संवर किस क्रम से होता है? उसका उत्तर कहते हैं:-

रागादि के हेतू कहे, सर्वज्ञ अध्यवसान को।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योग को।।१९०।।

कारण अभाव जरूर आस्रवरोध ज्ञानी को बने।
आस्रवभाव अभाव में, नहिं कर्म का आना बने।।१९१।।

है कर्म के जु अभाव से, नोकर्म का रोधन बने।
नोकर्म का रोधन हुवे, संसारसंरोधन बने।।१९२।।

गाथार्थ : [तेषां] उनके (पूर्व कथित रागद्वेषमोहरूप आस्रवों के) [हेतवः] हेतु [सर्वदर्शिभिः] सर्वदर्शियों ने [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतभावः च] और अविरतभाव [योगः च] तथा योग-[अध्यवसानानि] यह (चार) अध्यवसान [भणिताः] कहे हैं। [ज्ञानिनः] ज्ञानियों के [हेत्वभावे] हेतुवों के अभाव में [नियमात्] नियम से [आस्रवनिरोधः] आस्रवों का निरोध [जायते] होता है, [आस्रवभावेन विना] आस्रवभाव के बिना [कर्मणः अपि] कर्म का भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है, [च] और [कर्मणः अभावेन] कर्म के अभाव से [नोकर्मणाम् अपि] नोकर्मों का भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है, [च] और [नोकर्मनिरोधेन] नोकर्म के निरोध से [संसारनिरोधनं] संसार का निरोध [भवति] होता है।

टीका : पहले तो जीव के, आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास (अभिप्राय) जिनका मूल है ऐसे मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे रागद्वेषमोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं; आस्रवभाव कर्म का कारण है; कर्म नोकर्म का कारण है; और नोकर्म संसार का कारण है। इसलिए-सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगमय आत्मा को मानता है (अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है); इसलिए रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव को भाता है, उससे कर्मास्रव होता है; उससे नोकर्म होता है; और उससे

संसार उत्पन्न होता है। किन्तु जब (वह आत्मा), आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को उपलब्ध करता है–अनुभव करता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान, जो कि आस्रवभाव के कारण हैं, उनका अभाव होता है; अध्यवसानों का अभाव होने पर रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव का अभाव होता है; आस्रवभाव का अभाव होने पर कर्म का अभाव होता है; कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है; और नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। इस प्रकार यह संवर का क्रम है।

भावार्थ : जीव के जब तक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है–भेदविज्ञान नहीं है, तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं, अध्यवसान से रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभाव से कर्म बँधता है, कर्म से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्म से संसार है। परन्तु जब उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है, तब शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसानों का अभाव होता है, और उससे रागद्वेषमोहरूप आस्रव का अभाव होता है, आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बँधता, कर्म के अभाव से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है।–इस प्रकार संवर का क्रम जानना चाहिए।

गाथा - १९०-१९२ पर प्रवचन

अब यह प्रश्न होता है कि संवर किस क्रम से होता है? पहले किस प्रकार से होता है, ऐसा था। अब उसका क्रम क्या? (ऐसा पूछता है)। पहला, पश्चात् क्रम भी है या नहीं उसे? यह पूछता है। पहले में तो संवर को प्राप्त करने की पद्धति क्या है? (ऐसा पूछा था)। इसमें कहते हैं कि संवर का क्रम क्या है? आहाहा! गाथा

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरय-भावो य जोगो य।।१९०।।
हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसव-भावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।१९१।।

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो।
णोकम्म-णिरोहेण य संसार-णिरोहणं होदि।।१९२।।

लो, यह क्रम।

रागादि के हेतू कहे, सर्वज्ञ अध्यवसान को।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योग को।।१९०।।
कारण अभाव जरूर आस्रवरोध ज्ञानी को बने।
आस्रवभाव अभाव में, नहिं कर्म का आना बने।।१९१।।
है कर्म के जु अभाव से, नोकर्म का रोधन बने।
नोकर्म का रोधन हुवे, संसारसंरोधन बने।।१९२।।

क्रम आगे आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६५, गाथा- १९०-१९२, दिनाङ्क २८-०६-१९७९,
गुरुवार, अषाढ़ शुक्ल ४

(समयसार १९०-१९२ गाथा)। **पहले तो जीव के,..** पहली गाथा में ऐसा आ गया कि राग-द्वेष और मोह, वह शुभाशुभभाव का मूल है। ऐसा पहले आ गया। पहली गाथा (आ गयी है)। इसलिए उनसे एकत्व छोड़कर स्वरूप में स्थिर होना। यहाँ कहते हैं कि **पहले तो जीव के,..** क्रम पूछते हैं न? संवर का क्रम कैसे होगा? धर्म का क्रम किस प्रकार होगा? पहले क्या होगा? और फिर क्या होगा?

जीव के, आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास.. आत्मा और कर्म, रागादि से एकत्व का अध्यास **(अभिप्राय) जिनका मूल है..** पहले में ऐसा कहा था कि राग-द्वेष-मोह जिसका मूल है, ऐसे शुभाशुभभाव, उनका भेदज्ञान द्वारा अभाव करना। यहाँ कहा कि **आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास..** रागादि परिणाम और स्वभाव दोनों एक हैं, ऐसा जो अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति

के परिणाम हों, परन्तु वे परिणाम राग हैं और उनके साथ एकत्वबुद्धि-अध्यवसाय, वह मिथ्यात्व है।

एकत्व का अध्यास (अभिप्राय) जिनका मूल है.. जिसका अर्थात्? **मिथ्यात्व –अज्ञान–अविरति–योगस्वरूप अध्यवसान..** मिथ्यात्व से एकत्वबुद्धि, अविरति, प्रमाद, कषाय से एकत्वबुद्धि। आहाहा! क्रम कहा, क्रम। क्रम पूछा है न? संवर किस क्रम से होता है? सूक्ष्म बात है, भाई! पहले बाह्य त्याग करे, निवृत्ति ले तो होता है, ऐसा नहीं लिया, परन्तु प्रथम आत्मा और कर्म, जो परवस्तु है, उसके साथ एकत्वबुद्धि का अभिप्राय जिसका मूल है। वह अध्यवसाय जिसका मूल है। **ऐसे मिथ्यात्व–अज्ञान–अविरति–योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं,..** आहाहा! आत्मा और कर्म दोनों की एकताबुद्धि, ऐसा जो मूल भाव, उस मूल में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग, यह एकत्वबुद्धि है, उनमें एकत्वबुद्धि होती है। आहाहा! कर्म के एकपने के अध्यास से जिसे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय के साथ एकत्वबुद्धि होती है। मिथ्यात्व के कारण (होती है), कर्म के कारण नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

वे रागद्वेषमोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं;.. कर्म और आत्मा को अर्थात् दूसरी चीज़ के साथ, राग के साथ एकत्वबुद्धि, वह कर्म के साथ एकत्वबुद्धि है, उस एकत्वबुद्धि के कारण—अभिप्राय से जिसके राग-द्वेष और मोह, वे आस्रव भाव के कारण हैं। आहाहा! यह **अध्यवसान विद्यमान हैं,..** वे ही आस्रव के कारण हैं। आस्रवभाव कर्म का कारण है। निमित्त डालते हैं। आस्रवभाव जो है, वह कर्म का कारण है। उससे कर्म बँधता है। सूक्ष्म है, सूक्ष्म।

जिसे स्व-आत्मा और पर-रागादि, पर-दो का जिसे एकत्व का अध्यवसाय है, वह जिसका मूल है, उसमें से मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योग प्रवर्तते हैं। समझ में आया? और उससे वे **आस्रवभाव कर्म का कारण है;..** ये राग-द्वेष-मोह आस्रव नवीन आवरण का कारण है। आहाहा! इसमें योग भी लिया है। शुभाशुभयोग। है न? मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग। ये अध्यवसाय एकत्वबुद्धि विद्यमान है। **वे रागद्वेषमोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं;..** इनसे उसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष उत्पन्न होता है। बहुत सूक्ष्म। बाह्य में यात्रा करो, भक्ति करो, (इसलिए) धर्म हो जाए, ऐसा माने। ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : पालीताणा की यात्रा करे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : पालीताणा क्या, सम्मेदशिखर की लाख बार यात्रा करे न ! वह शुभराग है और उससे लाभ होता है, यह मान्यता मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : यात्रा तो आपने भी की थी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, शुभभाव होवे तो आता है परन्तु है हेय। तीन बार हिन्दुस्तान में घूमे हैं। बहुत यात्राएँ की हैं। वह तो शुभभाव है। हेय है परन्तु आये बिना रहता नहीं। आहाहा !

यहाँ तो दोनों में अन्तर क्या किया ? पहले में ऐसा कहा था कि राग-द्वेष-मोह जिसका मूल है, ऐसे जो योग। ऐसा कहा था। वह योग है, वह आस्रव है और उसके कारण बन्धन है और उसके कारण संसार है। यहाँ कहते हैं, राग-द्वेष और मोह, वे आस्रवभाव के कारण क्यों उत्पन्न हुए ? कि आत्मा और कर्म के एकपने के अध्यवसाय से। मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योगस्वरूप अध्यवसान उत्पन्न हुए। आहाहा ! शुभभाव आवे, महाव्रत के परिणाम भी मुनि को आवें, परन्तु है हेय। बन्ध का कारण है। धर्म नहीं और धर्म का कारण भी नहीं। बन्ध है और बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो महाविदेह की यात्रा गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : गये थे। यह तो कहा, शुभभाव होवे तो जाए। शुभभाव आवे तो जाते हैं। भगवान के पास भगवान की वाणी सुनी। आठ दिन रहे। उस परद्रव्य की ओर का जितना लक्ष्य है, उतना शुभराग है। आहाहा ! स्वद्रव्य का अन्तर में जितना आश्रय ले, उतना धर्म होता है। २ और २ = ४ जैसी बात है। जितना आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य का अवलम्बन (ले, उतना अधर्म है।) स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का अवलम्बन तो अशुभभाव है। देव-गुरु-शास्त्र, मन्दिर का अवलम्बन तो शुभभाव है। दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा ! अशुभ से बचने को शुभभाव आता है। अशुभ वंचनार्थम्-है तो बन्ध। आहाहा !

आस्रवभाव, कर्म का कारण है;.. लो ! जो कुछ आस्रवभाव है, वह नये कर्म का कारण है। आहाहा ! **कर्म, नोकर्म का कारण है;..** कर्म है, वह शरीर प्राप्त हो, उसका कारण है। आहाहा ! क्रम रखा क्रम। आहाहा ! यह तो भाई ! शान्ति से धीरज से विचार करे

और मनन करे, तब समझ में आये ऐसी बात है। आहाहा! यह तो अध्यात्म भाषा है, दिगम्बर सन्तों की गहराई की (बातें हैं)। आहाहा!

राग-द्वेष और मोह जिसका मूल है, ऐसे शुभाशुभयोग—ऐसा कहा था। आहाहा! और उस शुभाशुभयोग की एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। आहाहा! यहाँ यही कहा, दूसरे प्रकार से कहा कि **आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास..** शुभाशुभभाव का मूल राग-द्वेष-मोह है, उसमें एकत्वबुद्धि थी। आहाहा! धीर का काम है। वीतराग का धर्म अलौकिक है। आहाहा! लोग तो बाहर से मान बैठे, इसलिए यह लोगों को रुचता नहीं। लाख, दो लाख खर्च करे, यात्रा निकाले, रथ-गजरथ निकाले, लाखों लोग इकट्ठे हों, इसलिए मानो धर्म हो गया। उसमें धर्म नहीं है, इस प्रकार से धर्म नहीं है।

यहाँ तो कर्म रोके, वह आस्रवभाव के कारण को रोके तो कर्म का कारण है तो कर्म नहीं होगा। आस्रवभाव सेवन करता है तो वह कर्म का कारण है। आस्रवभाव सेवन करता है, उसे न सेवन करे तो उसे कर्म बन्धन नहीं होता, ऐसा कहा है। शुभ-अशुभभाव दोनों आस्रव के कारण हैं और वे कर्म के कारण हैं। उनसे कर्म बँधते हैं। है या नहीं इसमें? आहाहा!

कर्म, नोकर्म का कारण है;.. कर्म है, वह शरीर का कारण है। कर्म से शरीर मिलेगा। **नोकर्म, संसार का कारण है।** शरीर, वह संसार का कारण है। देखा? निमित्त-निमित्त सम्बन्ध लिया। नहीं तो संसार का मूलकारण मिथ्यात्व है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो कर्म में उसे उठाकर निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बताना है। नोकर्म अर्थात् शरीर, संसार का कारण है। **इसलिए-सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से..** देखा? **आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगमय आत्मा को मानता है..** देखा? आहाहा! मिथ्यात्व को, अज्ञान को, अविरति को और कषाय को, शुभादि योग को एकत्वपने के अभ्यास से आत्मा के मानता है। आहाहा! वह आत्मा नहीं है, शुभयोग आत्मा नहीं है, तथापि वे आत्मा के हैं—ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

आस्रवभाव, कर्म का कारण; कर्म, नोकर्म का कारण। देखो! यहाँ एक-दूसरे के निमित्त कारण दिये, हों! निमित्त कारण! **और नोकर्म, संसार का कारण है।** शरीर है,

ये पाँच इन्द्रिय के विषय सेवन करेगा और इसके कारण संसार है। आहाहा! **इसलिए–सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से..** आत्मा और कर्म के एक (पने की) बुद्धि के अध्यवसाय से। **मिथ्यात्व–अज्ञान–अविरति–योगमय आत्मा को मानता है..** अनादि से स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसे यह नहीं जानता। आत्मा तो ज्ञातादृष्टा आनन्दकन्द प्रभु है। अकेला ज्ञानघन है। उसे यह नहीं मानता; इसलिए अनादि से यह योगमय आदि को अपना मानता है। स्वरूप को नहीं मानता, इसलिए मिथ्याभ्रम उत्पन्न होता है, उसे आत्मा मानता है। कषाय का भाव शुभ हो, अशुभ हो, वह आत्मा में है, इसलिए आत्मा के हैं—ऐसा मानता है। आहाहा! आत्मा में परिणाम उत्पन्न होते हैं न? इसलिए आत्मा के हैं—ऐसा मानता है। यह मिथ्यात्व है। आहाहा!

(अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है);.. एकत्वबुद्धि से, आत्मा और कर्मों के एकत्वपने से। **इसलिए रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव को भाता है,..** आहाहा! जिसे अपना माने, उसकी भावना किया करे। आहाहा! ये रागादि शुभ हो, उन्हें अपना माने तो उनकी भावना ही किया करे (कि) यह होओ और बढ़ो। आहाहा! आस्रवरहित चैतन्यस्वरूप है, उसकी दृष्टि नहीं। उसकी दृष्टि नहीं तो उसकी भावना इसे नहीं होती। आहाहा! राग से पृथक् पड़ा ऐसा तत्त्व, उसका भान होने पर धर्मी को धर्म की भावना होती है। शुद्ध परिणाम की भावना होती है। आहाहा! अज्ञानी को शुभभाव ही दिखता है, आत्मा दिखता नहीं। इसलिए शुभभाव को अपना मानकर उसकी वृद्धि करने की भावना होती है, उसकी भावना भाता है। आहाहा!

इसलिए कर्म.. आते हैं। लो! राग-द्वेष और मोह को अपना मानकर भावना भावे, इसलिए नये कर्म आते हैं। **उससे नोकर्म होता है;..** कर्म से नोकर्म—शरीर मिलता है। कर्म से कहीं आत्मा मिलेगा? आहाहा! कर्म से शरीर मिलता है। आहाहा! **और उससे संसार उत्पन्न होता है।** शरीर मिले, उससे संसार उत्पन्न होता है। पाँच इन्द्रिय के विषय और यह सब शरीर है, इनकी ओर का झुकाव जाने पर सब भाव विकारमय, संसारमय भाव होते हैं। आहाहा! है? **उससे संसार उत्पन्न होता है।** यहाँ कर्म को संसार का कारण कहा। एक ओर कर्म जड़ है; संसार, वह मिथ्यात्व-अज्ञान परिणाम है, परन्तु यहाँ पारस्परिक निमित्त-निमित्त सम्बन्ध सिद्ध किया है। आहाहा!

आस्त्रव का अभिप्राय है, वह आस्त्रव को भाता है; इसलिए उसे नये कर्म बँधते हैं। कर्म बँधते हैं, वह नोकर्म-शरीर का कारण है और शरीर, वह संसार का कारण है। एक ओर ऐसा कहे कि मिथ्यात्व ही संसार का कारण है। आता है या नहीं? आ गया। मिथ्यात्व, वही आस्त्रव है और वही संसार का कारण है। आहाहा!

किन्तु जब (वह आत्मा),.. यह तो संसार का क्रम पड़ा। जो आत्मा और दूसरी चीज़ कर्म, उसके साथ एकत्वबुद्धि से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय के अध्यवसाय, इनसे राग-द्वेष-मोह होता है, वह आस्त्रव का कारण है और वह आस्त्रव, कर्म का कारण है; कर्म, शरीर का कारण है; शरीर संसार का कारण है। आहाहा! कहो, यहाँ शरीर, वह संसार का कारण है। एक जगह ऐसा कहते हैं कि कर्म को और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। तेरी पर्याय में तुझसे मिथ्यात्व होता है, वह संसार है। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना है। ऐसा अनादि से चलता आया है, ऐसा। आहाहा!

किन्तु.. इस प्रकार होता है। अब संवर करने का क्रम बताते हैं। **जब (वह आत्मा), आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा..** अब संवर करने की विधि कहते हैं। पहले आस्त्रव की पद्धति थी। आहाहा! पूरे दिन धन्धा करे, (पश्चात्) दो घड़ी मन्दिर जाए, उपाश्रय जाकर बैठे, इसलिए मानो धर्म हो गया, ऐसा। कुछ अपन ने धर्म किया। वह मिथ्यात्व को पोषण करता है। शुभभाव होवे, उसे धर्म मानता है, वह मिथ्यात्व को पोषण करता है। आहाहा! इस प्रकार अनादि से संसार प्रवर्तता है, ऐसा कहते हैं। भटकता है, इसका कारण यह—आत्मा और कर्म की एकत्वबुद्धि के कारण राग-द्वेष-मोह; उनके कारण से कर्म; उनके कारण से शरीर; उसके कारण से संसार।

किन्तु जब (वह आत्मा), आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा.. ऐसा कहा है। ऐसा नहीं कहा कि जब इस आत्मा को कर्म का जोर घटे, कर्म बलवानपने में से (घटे), 'कच्छवि धम्मो बलियो, कम्मो बलियो' ऐसा नहीं। जड़ की बात नहीं है। भावकर्म का जोर हो, पुरुषार्थ की विपरीतता का, (जोर हो), तब संसार है। यहाँ कहते हैं, **आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा..** उसमें आत्मा और कर्म के एकपने का अध्यास (कहा था)। आहाहा! आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान। कर्म और होनेवाले राग-द्वेष शुभाशुभपरिणाम से भिन्न मेरा आत्मा है—ऐसा जब जाने और माने.. आहाहा! तब तो

इसकी धर्म की शुरुआत होती है। आहाहा! ऐसी कठिन बातें हैं। उसमें ऐसा था, आत्मा और कर्म का एकत्व का अध्यवसाय। यहाँ आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान द्वारा (ऐसा है)।

शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को.. अनुभव करता है। आहाहा! वह राग-द्वेष-मोह को अनुभव करता है। यह शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र (अनुभव करता है)। आहाहा! (जिस) अल्प क्षेत्र में रहा, तो भी अनन्त अपार अनन्त काल को भी जाने, ऐसी चैतन्य चमत्कार चीज़ है। आहाहा! देहप्रमाण होने पर भी, देह में रहा दिखायी दे, तथापि देह में रहा नहीं। है आत्मा में। परन्तु उसका ऐसा चमत्कार है कि स्वक्षेत्र में रहा होने पर भी, अनन्त परक्षेत्र को और अनन्त पर काल को एक समय में जाने, ऐसी ताकत है। आहाहा! ऐसी एक समय की ताकत, ऐसी अनन्त समय की ताकत एक गुण की, ऐसे अनन्त गुण का रूप एक आत्मा है। आहाहा! इसलिए पहले आ गया था न? '**निजमहिमरतानां**' आ गया था न इसके पहले? १२८ (कलश) '**निजमहिमरतानां**' कलश आया। अपनी महिमा लगनी चाहिए। आहाहा!

जहाँ-जहाँ अपनी महिमा न लगे, वहाँ-वहाँ परवस्तु की महिमा और अधिकता भासित होती है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, पैसा, लक्ष्मी (आदि की महिमा भासित होती है)। आहाहा! इकलौता लड़का हो, पाँच-दस करोड़ रुपये हों, दस-पच्चीस लाख खर्च करना हो और लोग इकट्ठे हों... आहाहा! देखो! इसका उत्साह। इसका ज़हर का उत्साह। आहाहा! कौन तेरा है? और तू कौन है? कौन तेरा है? और तू कौन है? आहाहा! भगवान आत्मा तो चैतन्यमूर्ति वीतरागस्वरूप प्रभु है। वह स्वयं राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञान करे, जैसा स्वरूप है, वैसा जाने। वैसा स्वरूप है, उससे विपरीत मानता था। राग को, पुण्य को और कर्म को अपना मानता था। यह धर्मी जीव... आहाहा! धर्म ऐसे होगा, इस क्रम से (होगा), ऐसा कहते हैं।

धर्म इस क्रम से होगा। इस क्रम से अर्थात्? पहले आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान द्वारा शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को पहले अनुभव करे। लो! यहाँ से शुरुआत की है। अनादि से भटकता है, वह कारण बतलाया। अब कहते हैं कि यह छूटने का कारण? कि ये सब राग और कर्म और समस्त चीज़ों से भेदज्ञान करना। आहाहा! **भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र..** अकेला चमत्कार चैतन्य प्रभु! ज्ञान से भरपूर, आनन्द से भरपूर,

शान्ति से भरपूर, पूर्ण स्वरूप का चमत्कार जिसका, एक क्षण में ज्ञान में जिसे सब ज्ञात हो, एक क्षण में जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव आवे, ऐसा चैतन्य चमत्कार! आहाहा!

शुद्ध चैतन्यमात्र, **चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को उपलब्ध करता है..** लो! चैतन्यमात्र, ऐसा नहीं लिया। चैतन्य चमत्कारमात्र! आहाहा! वह पर को स्पर्श किये बिना भी जानने की शक्ति प्रगट करता है, वह चैतन्य चमत्कार है। पर चीज़ की अस्ति है, इसलिए पर को जानने की सामर्थ्य खुलती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! स्वयं छोटे क्षेत्र में रहा हुआ, परक्षेत्र-द्रव्य-काल को स्पर्श नहीं करता, तथापि अपने स्वभाव में राग से भिन्न पड़कर, भेदज्ञान से सबको एक समय में जानता है, ऐसा यह चैतन्य चमत्कार आत्मा है। आहाहा! यह करना है। आहाहा! परन्तु यह न हो तो पहले क्या करना? पहला तो अनादि से किया, वह बतलाया। पहला अनादि से किया। शुभयोग, अशुभयोग जिसके मूल राग-द्वेष-मोह हैं, उन्हें सेवन किया। यह पहले सेवन किया। अब पश्चात् यह करना। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले देव-गुरु-शास्त्र का श्रद्धान करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : देव-शास्त्र-गुरु निमित्त हैं, उनसे भिन्न करना। पहले से भिन्न करना। यहाँ तो पहले से लिया। जैसे १७वीं गाथा में आया था न? १७वीं गाथा। प्रथम आत्मा को जानना। कोई यह विधि और अमुक व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना और फिर, ऐसी बात ली नहीं। एकदम धड़ाका बन्द!

तू कौन है? कहाँ है? कितना है? तेरी अस्ति में तो दूसरे की अस्ति ज्ञात होती है। दूसरे की-जड़ की अस्ति तो तेरी अस्ति से-ज्ञान से ज्ञात होती है। आहाहा! उस जड़ को तो खबर भी नहीं। आहाहा! इतनी सब जड़ की विशाल दशा, उन सबको भगवान अपने में रहकर स्वतः पर की सहायता बिना जानता है। यह चैतन्य चमत्कार नहीं? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। अन्तर का आत्मअभ्यास ही अभी बहुत घट गया है। व्रत करना और तप करना और यात्रा करनी, ऐसा सब (चला है)। बसें भर-भरकर (यात्रा करनी)। एक बार दो सौ बसें वहाँ कहीं आयी थी। वे साधु थे वहाँ। भव्यसागर! जालना? जालना में। दो सौ बसें। स्थानकवासी के आनन्द ऋषि थे। उसमें थे। आवे, पश्चात् यहाँ आवे। दिगम्बर के दर्शन करने आवे। एक साथ दो सौ बसें! ओहो! इससे फिर ऐसा लगे ओहो! कितने पैसे खर्च किये! उसका यह प्रमुख है, यह संघ का नायक है।

मुमुक्षु : सब अभिमान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कि हम करते हैं, हम सब करते हैं, यह सब करते हैं। अभिमान तो ठीक परन्तु अन्दर शुभभाव होता है, वह दु:खरूप है।

मुमुक्षु : धर्म का कारण होगा, ऐसा मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल धर्म का कारण नहीं। आहाहा! धमाधम चली, कुछ बोल है न? 'धाम धूमे धमाधम चली, ज्ञान मार्ग रहा दूर।' आहाहा! धमाधम, अरे..! पचास हजार लोग इकट्ठे हुए और इतने लाख खर्च किये, भगवान की प्रतिष्ठा की, भगवान के बोल बुलवाये, जय नारायण की (आवाज से) गगन गूँज उठा, जय भगवान, ऐसा गगन गुँजायमान हुआ, इतने सब बोलनेवाले। उसमें धर्म कहाँ आया? आहाहा! कठिन बात है, भाई!

यहाँ तो कहते हैं कि पर से निराला पहले जान, तब तो तुझे पहले अपनी सत्ता की भिन्नता की श्रद्धा होगी। आहाहा! ऐसा कहा न? **भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र..** चैतन्य चमत्कारमात्र क्यों लिया? बिल्कुल राग का भी अंश नहीं। आहाहा! ऐसा जो भगवान शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु, उसे अनुभव करे। ऐसे आत्मा को प्राप्त करता है। जो राग को, योग को प्राप्त किया है, राग और योग को प्राप्त किया है, वह अब गुलाँट खाकर आत्मा को प्राप्त करता है। आहाहा! सूक्ष्म है, परन्तु वस्तु यह है। जीवन चला जाता है। अभी नहीं, अभी नहीं, अभी नहीं। अभी नहीं, फिर अभी नहीं अर्थात् अभी नहीं (हो जाएगा)। फिर करूँगा, फिर करूँगा, फिर करूँगा। आहाहा!

आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र.. आत्मा को विशेषण दिये। आत्मा कैसा? कि शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र, ऐसा। आत्मा को और कर्म को भेदविज्ञान से जानना, (ऐसा कहा) परन्तु वह चैतन्य है कैसा? आहाहा! **शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा..** उसे उपलब्ध करे, प्राप्त करे, अनुभव करे, उसे प्राप्त करे। जो राग को अपना मानकर शुभराग को प्राप्त करता था और अपने में खतोनी करता था, वह यह आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, इसे अनुभव करे और इसे अपने रूप माने। आहाहा! यह संवर होने की विधि है। अभी तो संवर (अर्थात्) थोड़ी देर बैठ जाए, छोटी उम्र के लड़कों

को (लेकर बैठ जाए, तो हो गया संवर।) जाओ! खा-पीकर आवे परन्तु चार-छह लड़के बैठे, सामायिक करो (तो) संवर होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : छह काय के जीव की रक्षा होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं कौन है? उसकी रक्षा करता नहीं। आहाहा! राग को अपना मानना, पर को अपना मानना, यह तो अपनी हिंसा है। आहाहा!

यहाँ तो पहले आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान द्वारा। यहाँ तो पहली बात ली है। पहले ऐसा करना, और वैसा करना लिया नहीं। ऐई! पहले पढ़ना, पहले सुनना, पहले देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करना, (ऐसा नहीं कहा)। वह पहले भले होवे परन्तु इस वस्तु के स्वरूप में वह कुछ मददगार नहीं है। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र को माने, सुने, समझे परन्तु वह कहीं भेदज्ञान में मदद करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा! वीतराग का यह पुकार है। वीतराग ऐसा कहते हैं कि मेरे सन्मुख देखने से प्रभु! तुझे राग होगा। तेरे हिसाब से मैं परद्रव्य हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : तेरे हिसाब से अजीव हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अजीव है, यह जीव है, वे यह जीव नहीं और यह जीव है, वे यह जीव नहीं। आहाहा! अद्रव्य है, इसकी अपेक्षा सब अद्रव्य है, अक्षेत्र है, अकाल है, अभाव है। आहाहा! सम्मेदशिखर और भगवान का समवसरण आत्मा की अपेक्षा से अक्षेत्र है। इसका क्षेत्र तो स्व-असंख्य प्रदेशी यह इसका क्षेत्र है। आहाहा! लोग शत्रुंजय की यात्रा बहुत करते हैं। पूर्व में ९९वें बार ऋषभदेव यहाँ आये थे, ऐसा कहते हैं। उसमें क्या हुआ? ९९ वें यात्राएँ की। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! परन्तु वह तो परलक्ष्यी भाव है। उस भाव से तो भिन्न पड़ना है। जिससे भिन्न पड़ना है, उससे मदद कैसे मिलेगी? आहाहा! क्योंकि जिससे भिन्न पड़ना है, वह चीज़ तुझमें तो नहीं है। अब तुझे उपलब्ध करना होवे तो किस प्रकार (करना)? भेदविज्ञान से। राग और पर के भेदविज्ञान से प्राप्त हो, ऐसा है। आहाहा! यह उसकी पद्धति है। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले देशना न सुने तो भेदविज्ञान किस प्रकार करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदविज्ञान (करने की) इसमें ताकत है। इसकी ताकत ही इतनी है कि राग से भिन्न पड़ने की शक्ति इसमें स्वयं में है। पर की अपेक्षा रखे बिना भेदज्ञान होने की शक्ति इसमें है। आहाहा! निरपेक्ष तत्त्व है, भगवान। आहाहा! निरपेक्ष—जिसे किसी की अपेक्षा नहीं। व्यवहार की अपेक्षा, पर की अपेक्षा (नहीं, ऐसा) निरपेक्ष तत्त्व है। आया नहीं? नियमसार तीसरी गाथा में। परम निरपेक्ष। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वे परम निरपेक्ष हैं। जिसे भगवान की भी अपेक्षा नहीं, उनकी वाणी की भी अपेक्षा नहीं। आहाहा! ऐसा जो आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों निरपेक्ष हैं। उसे निमित्त की तो अपेक्षा नहीं, परन्तु भेद की अपेक्षा नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को कठिन लगता है।

मुमुक्षु : (निरपेक्ष अभेद) तो कठिन होये न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति अनन्त काल की (ऐसी है)। अनन्त काल...! आहाहा! दस्त न उतरे तो ऐनिमा देते हैं, नहीं? उससे बाहर ढ़ेर हो जाता है। यह ऐनिमा है। स्वरूप में से विकारादि जितने सब कारण हैं, वे सब भेदज्ञान से भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! इसमें ऐसा नहीं कहा कि देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करना, पहले विनय करना, बहुमान करना, पश्चात् (भेदज्ञान होगा)। पहला ही बहुमान प्रभु! तेरा कर। पश्चात् विकल्प आयेगा, तो पर का बहुमान होगा। तू तेरा बहुमान (कर)। चैतन्य चमत्कार महिमावन्त वस्तु है। जिसे धर्म की पर्याय प्रगट करनी (होवे), उसे भेदज्ञान से होती है। इसलिए जितने पर हैं, उनकी अपेक्षा छोड़कर, उनका आश्रय छोड़कर, इसका नाम भेदज्ञान। कितने का आश्रय छोड़े और कितने का आश्रय लेकर हो, ऐसा है? आहाहा! सबका आश्रय छोड़े। एकाकार आत्मा भगवान! आहाहा!

मुमुक्षु : जो जानता अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उन्हें नहीं जानता। यह निमित्त से कहा है। यह मन से जान लेने का ऐसा कहा है, आत्मा से नहीं। पश्चात् उसे छोड़कर अन्दर में जाए। अन्दर में जाकर भी उन्हें तो छोड़ता है और अपनी पर्याय को भी गुण में-द्रव्य में मिलाता है, गुण को द्रव्य में मिलावे, तब होता है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

अनुभव करता है.. कर्म और आत्मा के भिन्नपने द्वारा-भेदज्ञान द्वारा। आहाहा!

शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को उपलब्ध करता है.. प्राप्त (करता है।) अर्थात् जो राग को प्राप्त करता था, राग मेरा है, ऐसा जो प्राप्त करता था, वह भेदज्ञान से आत्मा को प्राप्त किया। आहाहा! जो आत्मा की ओर दृष्टि नहीं थी, तब राग को प्राप्त करता था, पुण्य को प्राप्त करता था, पाप को प्राप्त करता था। आहाहा! समुच्चय बात नहीं आ गयी विगत दिन? कि आत्मा अपनी पर्याय को पाता है, प्राप्त करता है, पहुँचता है, चाहे तो विकारी हो या अविकारी। यह पहले आ गया। यहाँ तो अब भेदज्ञान करने की बात है। उस विकारी पर्याय को पहुँचता है तो आत्मा, वह कहीं कर्म के कारण नहीं है। आहाहा! विकारी मिथ्यात्वभाव को भी आत्मा पहुँचता है, आत्मा प्राप्त करता है, आत्मा उसे प्राप्त करता है। आहाहा! अब उससे भेदज्ञान कर। आहाहा! ऐसी गहरी बातें हैं।

तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान, जो कि आस्रव –भाव के कारण हैं, उनका अभाव होता है;.. लो! आहाहा! शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र वस्तु को अनुभव करता है अर्थात् प्राप्त करता है, तब उसे जो यह (राग) प्राप्त था, वह भाव छूट जाता है। मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप एकत्व बुद्धि। **जो कि आस्रवभाव के कारण हैं, उनका अभाव होता है;..** लो! आहाहा! यह कहीं सोनगढ़ की टीका नहीं है। यह तो पहले से शास्त्र चले आते हैं। दो हजार वर्ष से तो यह गाथा, मूल पाठ चलता है। हजार वर्ष से तो टीका चलती है। आहाहा! यह तो कहाँ का कहाँ होगा तब? टीका हजार वर्ष पहले हुई थी। (तब तो) कहाँ का कहाँ अवतार में होगा और भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने दो हजार वर्ष पहले (शास्त्र) रचे, तब तो कोई कहाँ होगा? आहाहा! उसमें आकर ऐसा योग हुआ है, कहते हैं। अब इस योग में भी यह कर तो तेरा कल्याण है। आहाहा!

(ज्ञान और राग) पृथक् पड़ सकते हैं, इसलिए पृथक् हैं। पृथक् पड़ सकते हैं। एक होवे तो पृथक् किस प्रकार (पड़ें)? ज्ञान और आत्मा को पृथक् कर डालो, तो किस प्रकार पृथक् होंगे? अतद्भावरूप से पृथक्, वे पृथक् अन्दर, परन्तु प्रदेश भिन्न नहीं; इसलिए अभेद है। अतद्भावरूप से तो वह भिन्न। द्रव्य, वह भाव नहीं और भाव, वह द्रव्य नहीं, यह। परन्तु उस पृथक्त्व का अन्यत्व, वह इसमें नहीं है। अतद्भाव का अन्यत्व इसमें है। आहाहा! यह दोपहर को आया था न? आहाहा!

आस्रवभाव के कारण हैं, उनका अभाव होता है; अध्यवसानों का अभाव होने पर.. (अर्थात्) एकत्वबुद्धि का अभाव होने पर। **रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव का अभाव होता है;..** आहाहा! जिनसे भिन्न पड़ा, इसलिए अब उसकी भावना रही नहीं। आहाहा! उसके भाव का अभाव होता है। **आस्रवभाव का अभाव होने पर कर्म का अभाव होता है;..** लो! नये आवरण बन्द हो गये तो अब कर्म नहीं आते। **कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है;..** यह क्रम किया, क्रम।

यहाँ तो पहले समय जहाँ अन्दर सबसे भिन्न पड़ा, परन्तु जब तक थोड़ी अस्थिरता है, तब तक आस्रव आते हैं और कर्म होते हैं, शरीर होता है और शरीर से यह संसार चलता है। पाँच इन्द्रिय के विषयों से (चलता है) क्योंकि इसका लक्ष्य बाहर है। कर्म से शरीर मिलेगा और शरीर का लक्ष्य इसे रहेगा, इसलिए पाँच इन्द्रिय के विषयों की ओर लक्ष्य रहेगा। भगवान अन्दर है, वह तो छूट गया, लक्ष्य में नहीं। भेद किया नहीं, लक्ष्य में नहीं। आहाहा! और जिसने भेद किया, उसे शरीर का लक्ष्य छूटा और उसमें विषयों का लक्ष्य है, वह भी छूट गया। उसकी ओर का आश्रय लेना और रुचि (होना), वह छूट गयी। आहाहा!

नोकर्म का अभाव होता है; और नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। इस शरीर का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। अपेक्षा से (कथन है)। बाकी एक जगह तो (ऐसा कहा कि) मिथ्यात्व, वह आस्रव है। मिथ्यात्व, वह संसार है। शरीर-बरीर संसार नहीं है। किस अपेक्षा से कथन है? यहाँ भी क्रम कहना है। राग की एकत्वबुद्धि में राग-द्वेष मोह होंगे, उनके कारण आस्रव और उसके कारण कर्म होंगे, कर्म के कारण शरीर होगा और शरीर के कारण भटकने का संसार होगा। ऐसा। समझ में आया? दूसरी जगह दूसरा कहते हैं, परन्तु दूसरी अपेक्षा से कहते हैं। वहाँ तो ऐसा ही कहे कि मिथ्यात्व, वह संसार है। राग की एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्व, वह संसार है; दूसरा कोई संसार नहीं है। अव्रतादि के परिणाम हैं, वे सब अल्प हैं। स्थिति, रस अल्प है और उनका जोर अल्प है। उनकी गिनती नहीं गिनी। आहाहा!

शरीर से संसार प्राप्त होता है न, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। कर्म से शरीर मिलता है और शरीर से संसार प्राप्त होता है। क्योंकि शरीर के ऊपर लक्ष्य है, उसे तो सब पाँच इन्द्रिय के

विषयों की ओर लक्ष्य है, पश्चात् भले शुभ की ओर हो या अशुभ की ओर हो परन्तु वह सब संसार है। आहाहा!

मुमुक्षु : शरीर से तो धर्म की शुरुआत होती है, ऐसा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सीधी शुरुआत ऐसे ही होती है। आहाहा! शुभभाव से भगवान को सुने और फिर भगवान ने कहा, इसलिए (शुद्ध होना), ऐसी भी यहाँ गिनती नहीं है। यहाँ तो तू भगवान निरपेक्ष तत्त्व है, प्रभु अन्दर। आहाहा! तेरी महिमा का पार नहीं है, तेरे माहात्म्य का पार नहीं है! तेरी शक्ति और गुणों का गहनपना, गम्भीरपना भगवान भी वाणी द्वारा पूरा नहीं कह सकते। आहाहा! अनन्त गुण इतने हैं कि एक समय में एक गुण कहे तो अनन्त समय में इसके गुणों का पार नहीं आता। एक गुण एक समय में कहे तो भी तीन काल के समय हैं, उससे भी गुण तो अनन्त गुणे हैं। आहाहा! यह क्या कहा?

चैतन्य चमत्कार प्रभु, इतने पवित्र गुण से भरपूर है कि जिसके अनन्त गुणों को केवली भी एक शब्द में एक गुण कहे, दूसरे समय (दूसरा गुण कहे ऐसे) तीन काल हो तो उस गुण का पूरा नहीं पड़ता। आहाहा! तीन काल के समय से भी गुण तो अनन्तगुने हैं तो फिर एक समय में एक गुण कहे, परन्तु एक समय में अनन्त गुण कहे, अनन्त कहे, ऐसे तीन काल के समय कहे तो भी वे गुण पूरे नहीं पड़ते। आहाहा! क्योंकि तीन काल के समय से तो आकाश के प्रदेश अनन्तगुने हैं और उनसे अनन्तगुने गुण हैं। आहाहा! अब इसमें कहाँ आया तुम्हारे पैसे का? दस लाख और बीस लाख और अमुक लाख। आहाहा! यह तो अनन्त लाख, अनन्त करोड़। आत्मा में अनन्त क्रोड़ाक्रोड़ी गुण हैं। आहाहा! अनन्त क्रोड़ाक्रोड़ी! आहाहा! ऐसा शुद्ध चैतन्य चमत्कार! एक गुण। ...एक समय में अनन्त गुण को कहे, तो भी तीन काल के समय में उन गुणों का पूरा नहीं पड़ता। उन गुण की संख्या पूरी नहीं पड़ती। आहाहा! गजब बात है! एक समय में अनन्त गुण बोले, दूसरे समय में अनन्त, तीसरे समय अनन्त तो तीन काल के समय से तो आकाश के प्रदेश अनन्तगुणे और उससे अनन्तगुणे गुण हैं। इसलिए गुण तो किस प्रकार पार पड़े? आहाहा! ऐसा चैतन्यस्वरूप भगवान है, उसे राग से भिन्न करके आत्मा को प्राप्त करना कि जिससे उसे संसार होगा नहीं। आत्मा प्राप्त होने पर आस्रव नहीं होगा; आस्रव नहीं होगा, इसलिए कर्म नहीं होगा; कर्म नहीं होगा, इसलिए नोकर्म नहीं होगा; नोकर्म नहीं होगा, इसलिए

संसार नहीं होगा। आहाहा! पैसे का, बाहर की इज्जत का पावर अन्दर चढ़ गया हो न, वह नीचे उतरे। आहाहा! वह चालीस करोड़ और वह पचास करोड़ और वह दो अरब चालीस करोड़... आहाहा! सबका पानी उतर गया। आहाहा!

इस प्रकार.. है? **नोकर्म का अभाव होता है; और नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। इस प्रकार यह संवर का क्रम है।** लो! संवर का ऐसा क्रम है। पहले भेदविज्ञान करना, यहाँ से शुरु होता है। पहले ये करना, ऐसे शुरुआत होती नहीं। भक्ति करना, (वहाँ से शुरुआत नहीं कही)। संवर होने का क्रम यह है। आहाहा! पहले जरा भक्ति करना, पढ़ना, निवृत्ति लेकर, अशुभ से रुककर शुभभाव में आना, पश्चात् शुभ में से हटना, यह बात यहाँ नहीं की है। आहाहा! संवर तो आस्रव के अभाव से होगा न! उसमें आस्रव इतना करे तो संवर होगा, ऐसा कहाँ आया? आहाहा! पहले से भेदज्ञान करना। आहाहा! इसकी शुरुआत ही भगवान आत्मा और दूसरी चीज़ दो है, दूसरी भले अनन्त हो, परन्तु दोनों की एकता है, उसे तोड़ना ही संवर के क्रम में पहली पद्धति है। ऐसा है। भावार्थ कहा जाएगा? (**श्रोता:** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६६, गाथा- १९०-१९२, श्लोक-१२९-१३० दिनाङ्क २९-०६-१९७९, शुक्रवार, अषाढ़ शुक्ल ५

(समयसार, संवर अधिकार की) अन्तिम गाथा का भावार्थ। **जीव के जब तक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है..** आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध की कर्म के साथ एकत्वबुद्धि है, राग के साथ (एकत्वबुद्धि है) राग का विकल्प उठे, चाहे तो पुण्य का हो, या पाप का (हो) परन्तु राग के साथ आत्मा को एकत्वबुद्धि है, तब तक मिथ्यात्व है। है? देखो!

भेदविज्ञान नहीं है.. अस्ति-नास्ति की है। जब तक, भगवान आत्मा पवित्रता का पिण्ड है, उसे अपवित्रता रागादि की एकत्वबुद्धि है अर्थात् भेदज्ञान नहीं है, उससे भिन्न है। भिन्न है ऐसा भिन्न का भान नहीं है, **तब तक मिथ्यात्व,..** लो, बहुत संक्षिप्त बात है।

स्वद्रव्य में परद्रव्य का कोई भी अंश, राग अंश हो, पुण्य अंश या शरीर या कर्म, कोई भी परद्रव्य का एक अंश आत्मा के साथ एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि द्रव्य से दोनों अत्यन्त भिन्न हैं और अन्दर विकार होता है, वह भी तत्त्व-ज्ञायकतत्त्व से भिन्न तत्त्व है। पुण्य-पाप का भाव, ज्ञायकभाव से भिन्न तत्त्व है। भिन्न को एकपने की मान्यता... आहाहा! यह मिथ्यात्व है। आहाहा!

तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति.. तीन दोष लिये। **और योगस्वरूप..** योग की एकता। तब तक उसे योग की एकताबुद्धि है। आहाहा! उसका जो अध्यवसाय -एकत्वबुद्धि उसे **वर्तते हैं,..** राग के साथ, अविरत के साथ, कषाय के साथ और योग के साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है, तब तक वह मिथ्यादृष्टि है, तब तक उसे जैनदर्शन की खबर नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन है।

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति.. तीन दोष कहे और **योग..** (अर्थात्) कम्पन, वह भी है, उसके साथ एकत्वबुद्धि है। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव होने पर, मिथ्यात्व का एकत्वपने का नाश, अविरति का भी उतने अंश में नाश, योग का भी उतने अंश में नाश हो जाता है। एकत्वबुद्धि का जो भाव है, उतना नाश हो जाता है। आहाहा! समझ में आया?

इन **अध्यवसान से रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव होता है,..** लो! इन अध्यवसान -एकत्वबुद्धि से चाहे तो मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग (होवे), दो की एकत्वबुद्धि से। आत्मा और यह विकार दोनों भिन्न है, तथापि दोनों में एकत्वबुद्धि से अध्यवसाय जो एकत्वबुद्धि होती है, उस अध्यवसान से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होते हैं। उसके कारण राग-द्वेष और मिथ्यात्व का भाव होता है। आहाहा!

आस्रवभाव से कर्म बँधता है,.. आहाहा! यह तो इसका क्रम कहते हैं। राग - द्वेष-मोह से आस्रव होता है, नये आवरण आते हैं और इससे कर्म बँधते हैं। आहाहा! **कर्म से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है..** इस कर्म के कारण यह शरीर, वाणी उत्पन्न होते हैं। यहाँ तो दो भाग करने हैं न! शरीर की अवस्था शरीर से है परन्तु फिर भी उस अवस्था को, जब तक योग की क्रिया को अथवा राग को अपना मानता है, तब तक वह अध्यवसान बन्ध का कारण है। वह कर्म बन्ध का कारण है। वह कर्म है (वह) नोकर्म-शरीर का

कारण है। है ? **और नोकर्म से संसार है।** शरीर, वह संसार है, क्योंकि उस पर लक्ष्य जाएगा तो उसके पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर (उपयोग जाए, वह) शुभ और अशुभ है। वह संसार है। आहाहा!

परन्तु जब.. अब सुलटी बात है। **उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है..** मूल चीज़ यह। भेदविज्ञान करना, यह मूल चीज़ है। प्रथम में प्रथम। क्योंकि मूल से अनादि से रागादि से एकत्वबुद्धि है। चाहे तो दया, दान, व्रत के परिणाम हों, वह राग है, विकल्प है। उससे एकत्वबुद्धि अनादि से चली आती है। आहाहा! इसलिए उसे भेदविज्ञान नहीं है। **जब उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है..** शुद्ध चैतन्य ज्ञान का अनुभव होने पर यह भेदज्ञान हुआ। राग का अनुभव जो था, वह छूटकर आत्मा का अनुभव हुआ, वह भेदज्ञान हुआ। आहाहा! आंशिक भी आत्मा के शान्ति और आनन्द का वेदन आया, वह राग से भेदज्ञान से आया। आहाहा!

तब शुद्धात्मा की.. प्राप्ति होती है। आत्मा और कर्म का भेदज्ञान होता है, (तब शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है)। यह संवर होने का क्रम, धर्म होने का क्रम है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पहले यह कुछ दया, व्रत, तप और भक्ति करें तो फिर कुछ धर्म होगा, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। विकार और स्वभाव की एकताबुद्धि है, तब तक मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! और मिथ्यात्व के कारण दूसरे साथ में अनेक प्रकार के अध्यवसाय की एकताबुद्धि है, परन्तु जब भेदज्ञान होता है, तब शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति। राग और पुण्यादि के परिणाम की प्राप्ति थी, तब तक मिथ्यात्व था। आहाहा! क्योंकि वहाँ इसकी दृष्टि थी। पुण्य और पाप के विकल्पों की प्राप्ति थी, वहाँ तक इसकी दृष्टि वहाँ थी। उनकी दृष्टि छूटकर भेदज्ञान होने पर आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति हुई, उसे यहाँ भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! ऐसा धर्म है। धर्म की शैली बहुत सूक्ष्म है।

शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है (और) **मिथ्यात्वादि अध्यवसानों का अभाव होता है,..** अर्थात् पर के साथ एकत्वबुद्धि का अभाव होता है। चाहे तो योग हो, तो भी एकत्वबुद्धि का तो अभाव है। आहाहा! कषाय होवे तो उससे एकत्वबुद्धि का अभाव है; योग होवे, कम्पन है, परन्तु उससे एकत्वबुद्धि का अभाव है। आहाहा! अयोगी तो चौदहवें गुणस्थान में होता है। यहाँ जब भेदज्ञान हुआ है, तब तो मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग,

सबसे भिन्न पड़ा है; इसलिए योग के कम्पन से भी एकत्व छूट गया है। योग और कषाय रहे, परन्तु उनसे एकत्वबुद्धि छूट गयी है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

अध्यवसानों का अभाव होता है, और उससे रागद्वेषमोहरूप आस्रव का अभाव होता है,.. मिथ्यात्वादि पर के साथ एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय गया, तब उसके आस्रव का अभाव होता है। राग-द्वेष-मोह के आस्रव का (अभाव होता है।) **आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बँधता,..** और भावास्रव नहीं होता इसलिए उसे नया कर्म नहीं बँधता और **कर्म के अभाव से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते..** कर्म के अभाव से शरीरादि की प्राप्ति नहीं होती **और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है।** शरीर का अभाव होने पर मुक्ति होती है। आहाहा! **इस प्रकार संवर का क्रम जानना चाहिए।** धर्म की प्राप्ति से ठेठ वृद्धि (हो), उसका इस प्रकार क्रम जानना चाहिए। आहाहा! पहले कोई भगवान की भक्ति, पूजा, व्रत और तप करे और फिर संवर हो, ऐसा नहीं है। वह तो आस्रव है। छोटे में छोटा योग का कम्पन, उसके साथ एकत्वबुद्धि है, तब तक मिथ्यात्व अध्यवसाय है। आहाहा! अर्थात् जब तक पर्याय के ऊपर बुद्धि है, तब तक उसे राग और योग की एकताबुद्धि है और वह दृष्टि बदलकर द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि की, तब उसे योग के कम्पन की और कषाय की एकता की बुद्धि का नाश होता है। आहाहा! ऐसा काम है। **इस प्रकार संवर का क्रम जानना चाहिए।** लो!

कलश-१२९

संवर होने के क्रम में संवर का पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है, अब उसकी भावना के उपदेश का काव्य कहते हैं:-

(उपजाति)

सम्पद्यते सम्वर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।।१२९।।

श्लोकार्थ : [एषः साक्षात् संवरः] यह साक्षात् संवर [किल] वास्तव में [शुद्ध-

आत्म-तत्त्वस्य उपलम्भात्] शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से [सम्पद्यते] होता है; और [सः] वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि [भेदविज्ञानतः एव] भेदविज्ञान से ही होती है। [तस्मात्] इसलिए [तत् भेदविज्ञानम्] वह भेदविज्ञान [अतीव] अत्यन्त [भाव्यम्] भाने योग्य है।

भावार्थ : जब जीव को भेदविज्ञान होता है अर्थात् जब जीव आत्मा और कर्म को यथार्थतया भिन्न जानता है, तब वह शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, शुद्ध आत्मा के अनुभव से आस्रवभाव रुकता है, और अनुक्रम से सर्व प्रकार से संवर होता है, इसलिए भेदविज्ञान को अत्यन्त भाने का उपदेश किया है।।१२९।।

श्लोक - १२९ पर प्रवचन

संवर होने के क्रम में संवर का पहला ही कारण.. लो! पहला कौन सा कारण? धर्म होने में पहला कारण क्या? धर्म कहो या संवर कहो। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति की प्राप्ति कहो या संवर कहो या धर्म कहो? वह **संवर का पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है,..** है? पहला कारण यह करना और फिर यह करना—ऐसा नहीं। पहले राग—दया पालना, भक्ति करना, देव-गुरु का विनय करना, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! पहले ही भेदविज्ञान कारण है। आहाहा! **संवर होने के क्रम में संवर का पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है,..** बहुत सरस बात है।

मुमुक्षु : आत्मा का ध्यान करना, यह पहला कारण नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला आत्मा की ओर झुकाव करना और पर की एकता तोड़ना, यह भेदज्ञान। देखो न, इसमें लिखा है न? क्योंकि अनादि से शुद्ध चैतन्यस्वभाव और रागादि, कषायादि और योगादि से एकत्वबुद्धि है। वह अनादि से है। उसका भेदविज्ञान पहला है। आहाहा! कुछ करना है, यह नहीं। भले भेदविज्ञान पहले विकल्पवाला होता है, विकल्पवाला भेदज्ञान होता है। वास्तविक भेदज्ञान (तो) फिर विकल्प टूटकर निर्विकल्प (आनन्द का) अनुभव हो, वह भेदज्ञान।

कलश टीका में भेदविज्ञान के दो प्रकार किये हैं। आहाहा! जब तक बुद्धिपूर्वक

भेदज्ञान करना है, बुद्धिपूर्वक जब तक राग और द्वेष और योग को भिन्न करना है, तब तक विकल्प है। उस विकल्परहित होकर शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है, तब उसे संवर और समकित होता है। आहाहा!

अब **संवर होने के क्रम में..** संवर-धर्म होने के क्रम में। मोक्ष का मार्ग होने के क्रम में। आहाहा! **संवर का पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है,..** आहाहा! धर्म का पहला कारण भेदविज्ञान कहा। धर्म होनेवाले को भेदविज्ञान ही पहला कारण कहा। आहाहा! १७वीं गाथा में ऐसा आया था कि पहले आत्मा को जानना चाहिए। यहाँ यही कहा कि पहले में पहला भेदविज्ञान करना। पर से भिन्न (करना), क्योंकि पर से एकत्वबुद्धि है, वही मिथ्यात्व और अध्यवसाय है। आहाहा! इस योग के कम्पन या दया, दान, व्रत का राग का अंश, उसके साथ एकत्वबुद्धि, वही मिथ्यात्वभाव का अभेद भाव है। पर के साथ अभेद है। आहाहा! इसलिए प्रथम ही संवर करने का पहला कारण **भेदविज्ञान कहा है, अब उसकी भावना के उपदेश का काव्य कहते हैं:-** यह भेदविज्ञान हुआ, उसकी भावना का उपदेश कहते हैं। आहाहा! पूरे दिन यह धमाल करे, भगवान की भक्ति करे और पूजा करे और पैसा खर्च करे, इससे धर्म हो जाए यह बात है नहीं। (वह) सब आस्रव है। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक (कहा कि) मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग पाँच जो बन्ध के कारण हैं, पाँच से एकत्वबुद्धि तोड़ना, पाँच से भेद करना, यह भेदज्ञान प्रथम कारण है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप मुद्दे की रकम कहते हो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल वस्तु है। पहले आ गया है कि सम्यक्त्व होने पर, क्षायिक सम्यक्त्व होने पर योग का भी एक अंश नाश होता है। एकत्वबुद्धि नाश हुई तो उतना कम्पन का-योग का नाश हुआ। आहाहा! यहाँ यह लिया है न? मिथ्यात्व, अव्रत, अज्ञान और योग ऊपर लिये न? भावार्थ में चार बोल लिये हैं। इन चार के साथ एकत्वबुद्धि है, तब तक अध्यवसाय मिथ्यात्व है। आहाहा! इन चार से एकत्वबुद्धि तोड़कर, चार से एकत्वबुद्धि-योग से भी एकत्वबुद्धि तोड़कर। आहाहा! गजब बात है।

स्वयं भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त पवित्रता के गुण का पिण्ड है, उसे योग और राग के भाव से भिन्न करना... आहाहा! यह प्रथम संवर का भेदविज्ञान कारण है। यह

पहले में पहले भेदविज्ञान कारण है। आहाहा! पहले क्या करना ? भेदविज्ञान के प्रकार में बात ले, तब ऐसा ले कि पहले विकल्प से भेदज्ञान करे, तथापि वह वस्तु नहीं है। (भेद) करे, ऐसे दो सही न, इसलिए विकल्प आवे। इससे भिन्न हूँ, इससे भिन्न हूँ, इससे भिन्न हूँ परन्तु वह सब टूटकर योग की एकता की बुद्धि भी टूट जाए। आहाहा! राग की एकता की बुद्धि तो टूटे परन्तु आत्मप्रदेश का कम्पन, उसमें से भी आंशिक योग की एकता टूट जाए। आहाहा! यह कहते हैं। १२९ (कलश)

सम्पद्यते सम्वर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।।१२९।।

[एषः साक्षात् संवरः] यह साक्षात् (सर्व प्रकार से) संवर.. धर्म। आहाहा! संवर (अर्थात्) आस्रव का अभाव और कर्म का नहीं आना, ऐसा जो प्रथम साक्षात् संवर। **सर्व प्रकार से संवर..** आहाहा! वास्तव में **[शुद्ध-आत्म-तत्त्वस्य उपलम्भात्] शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से..** प्राप्ति (अर्थात्) **'उपलम्भात्'** अनुभव। पर का जो अनुभव एकत्वबुद्धि में है, राग-द्वेष, दया, दान और योग के साथ एकत्वबुद्धि का जो अनुभव है, उसे छोड़कर आत्मा के साथ एकत्वबुद्धि का अनुभव। आहाहा! ऐसा कठिन पड़े, इसलिए फिर लोग दूसरे रास्ते चढ़ जाते हैं। व्रत करो, तप करो, उससे धर्म होगा, शुभभाव करो, शुभभाव बहुत करो। शुभभाव तो आस्रव है और आस्रव की एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! यहाँ तो चार की एकताबुद्धि तोड़ने का कहा न! मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग। आहाहा!

मुमुक्षु : मिथ्यात्व के साथ एकता तोड़ने पर सब छूट जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब छूटती है, साथ ही टूटती है। उसके प्रकार बतलाने हैं न! पर से एकत्वबुद्धि छूटे, उसमें योग और कषाय की बुद्धि साथ में छूट जाती है। इसलिए पहले आ गया है। अर्थात् आंशिक तो अविरति टूट जाती है, इसलिए आंशिक योग-कम्पन टूट जाता है। आहाहा! आस्रव में आ गया है। जितने अंश आत्मा राग से भिन्न करके भेदज्ञान करता है और मिथ्यात्व मिटाता है, उतने अंश वहाँ मिथ्यात्व का तो अभाव होता है, परन्तु अविरति उतने अंश में जिस प्रकार की तीव्र (थी, वह) निकल जाती है। तथा योग का कम्पन जितना है, उतना कम्पन एकताबुद्धि में रहता नहीं। जितना कम्पन

पहले था, वैसा भगवान आत्मा के साथ एकत्वबुद्धि हुई, उतने कम्पन का अभाव होता है। आहाहा! अब यहाँ तो अभी (लोगों को) शुभभाव से धर्म (मनवाना है)। यहाँ तो कहते हैं, योग के कम्पन के अंश का अभाव हुआ, तब चारों से एकत्वबुद्धि टूटती है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है।

मुमुक्षु : क्षायिक समकित हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह समकित ही है। यहाँ इसमें अप्रतिहत की ही बात है। आहाहा!

[**शुद्ध-आत्म-तत्त्वस्य उपलम्भात्**] जब पर से भेदज्ञान करता है, तब उसे शुद्ध परमात्मा आत्मा है, उसका अनुभव होता है। इसका नाम भेदज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से इसका नाम सम्यग्दर्शन, स्थिरता की अपेक्षा से इसका नाम स्वरूपाचरण। आहाहा! क्योंकि जितना कषाय में एकत्व था, उतनी बुद्धि टूटी, उतना कषाय के अभाव का परिणमन भी हुआ। आहाहा! स्वरूपाचरण का (कितने ही) निषेध करते हैं? स्वरूपाचरण चौथे (गुणस्थान में) नहीं होता, भाई! विद्यानन्द, विद्यानन्द न? विद्यासागर।

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! एक बार सुन। एक ओर परिपूर्ण भगवान अक्रिय—योग कम्पनरहित, कषायरहित, मिथ्यात्वरहित, अव्रतरहित, प्रमादरहित, ऐसा जिसका स्वरूप है, उसका पर से भिन्न पड़कर अनुभव होने पर जितने अंश हैं, उनमें से एक-एक अंश सब साथ में टूट गये। मिथ्यात्व टलने पर सब चारों प्रकार के अंश कम हो गये, अंश टूट गये। उनके साथ एकत्वबुद्धि नहीं रही। आहाहा! ज्ञान और समकित धारा कषायरहित, योग के कम्पनरहित हो गयी। भले थोड़ी हो। आहाहा! ऐसा है। लोगों को मध्यस्थ से आग्रह छोड़कर शास्त्र को जो कहना है, उसे मध्यस्थ से अपनी दृष्टि में ले, (तो पता पड़े) परन्तु यह तो अपनी दृष्टि प्रमाण शास्त्र का अर्थ करते हैं, इसलिए सब उल्टे अर्थ होते हैं।

वही साक्षात् संवर। आहाहा! साक्षात् संवर, प्रत्यक्ष संवर। आहाहा! राग और योग से एकत्वबुद्धि टूटने पर भगवान आत्मा के साथ साक्षात् एकत्वबुद्धि होती है। है न? यह **साक्षात् सर्व प्रकार से...** वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व के अनुभव से होता है। यह सब शुद्ध आत्मतत्त्व की ओर के झुकाव से शुद्ध आत्मतत्त्व की ओर के झुकाव से यह अनुभव होता

है। कषाय और अज्ञान और योग का अंश भी वहाँ टूट जाता है। आहाहा! कितने ही कहते हैं कि सोनगढ़वालों ने समकित को महँगा किया। सस्ता था, (उसे) महँगा किया। यह देव-गुरु में धर्म माना और व्रत करना, यह इसका-अज्ञानी का समकित। आहाहा!

परमात्मा की यह पुकार है, प्रथम में प्रथम संवर का मुख्य प्रथम कारण भेदविज्ञान है। इसका अर्थ कि जो अभेद बुद्धि से है, उससे भिन्न पड़ना, वह प्रथम कारण है। आहाहा! ऐसी बात है! आहाहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, शुद्धस्वभाव का अस्ति-तत्त्व, जिसकी सब सत्ता शुद्ध है, उसकी एकताबुद्धि में, अनुभव में पर से भिन्न पड़ जाता है, तब वह संवर का कारण होता है और शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति से... आहाहा! शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव [**भेदविज्ञानतः एव**] देखा? **भेदविज्ञान से ही होती है।** आहाहा! राग की क्रिया और दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या से भेदज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। उससे तो भेद करना है, जिससे भेद करना है, उससे भेद होगा? आहाहा! कठिन बात है, भाई! अभी की प्रथा और वीतरागमार्ग (दोनों में) बहुत सब फेरफार है, बहुत फेरफार, बहुत फेरफार। (सब) मिथ्यात्व के पोषक हैं। व्रत करो, तपस्या करो, (तो) तुम्हारा कल्याण होगा। यह मिथ्यात्व का पोषक है, मिथ्यात्व की वृद्धि है। आहाहा! बड़े गजरथ करो, रथयात्रा निकालो, पाँच-पच्चीस लाख खर्च करके बड़ी प्रभावना करो... इन सबमें धर्म मानना, वह मिथ्यात्व की वृद्धि है। आहाहा!

मुमुक्षु : गजरथ निकालने में दोष नहीं, उसमें भला मानना, वह दोष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे भला मानना, वह मिथ्यात्व है। वह स्वयं वस्तु मिथ्यात्व नहीं है। वह मेरा है, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। आहाहा! मेरा तो ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। उसमें इस योग और राग को अपना मानना, वही मिथ्यात्व है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

शरीर की क्रिया और शुभराग इसे सरल हो गया है। उसमें से मानो अब धर्म हो जाएगा। यहाँ कहते हैं क्लेश करो तो करो। इस भक्ति का और राग का, पूजा का, यात्रा का राग है, वह क्लेश करो तो करो परन्तु धर्म नहीं है, उसमें धर्म की गन्ध नहीं है। आहाहा! यह निर्जरा अधिकार में आता है। क्लेश करो तो करो। आहाहा! यह शुभराग क्लेश है। आहाहा! कैसे बात जँचे? अभी सुनने को मिलती नहीं। यहाँ तो मूल की बात भेदविज्ञान का अनुभव, यह भेदविज्ञान से ही होता है। आत्मतत्त्व का अनुभव भेदविज्ञान से ही होता

है। आहाहा! ऊपर कहा न? **संवर का पहला ही कारण भेदविज्ञान**.. है, यह कहा। आहाहा!

शुद्ध आत्मा.. जिसमें तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधे, वह भाव भी धर्म नहीं है। वह भाव भी पुण्य है। वास्तव में तो वह अधर्म है। धर्म से बन्धन नहीं होता और जिस भाव से बन्धन होता है, वह धर्म नहीं है। आहाहा! कहाँ पहुँचना? (संवत्) १९८५ में पहले कहा। बोटाद में (संवत्) १९८५ के वर्ष (में) व्याख्यान में हजारों लोग (आते थे)। तीन सौ घर, वे सब आते। कानजी मुनि व्याख्यान देने बैठे हैं। लोगों के झुण्ड आते, झुण्ड, आप नहीं। बाहर बैठते, तब १९८५ के वर्ष में कहा, पौष महीना था। कहा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह धर्म नहीं। धर्म से बन्धन नहीं होता और बन्धन हो, वह भाव धर्म नहीं है और बहुत (कड़क) भाषा से कहें तो वह अधर्म है। आहाहा! क्योंकि जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधा, उस भाव का नाश करेगा तो वीतराग होगा। तीर्थंकर प्रकृति बँधी, इसलिए वह अब केवलज्ञान प्राप्त करेगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! जिस भाव से बँधा, उस भाव को तोड़ेगा, तब वीतराग होगा। पश्चात् तो केवल (ज्ञान) होगा, फिर तो उस प्रकृति का उदय आयेगा। आहाहा! उसमें आत्मा को क्या लाभ हुआ? आहाहा! आवे, होता है, पूर्ण न हो वहाँ यह भाव आवे, परन्तु है बन्ध का कारण।

यहाँ तो शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव होता है और उस शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति... आहाहा! होती है। प्राप्ति [**भेदविज्ञानतः एव**] **भेदविज्ञान से ही होती है।** ऐसा कहा। [**भेदविज्ञानतः एव**] ऐसा है न? '**एव**' है न '**एव**'? [**भेदविज्ञानतः एव**] निश्चय पड़ा है। [**भेदविज्ञानतः एव**] जिसे आत्मा की अनुभव की प्राप्ति होती है, उसे भेदविज्ञान से ही होती है। राग की सहायता से या पुण्य-पाप, दया-दान की सहायता से होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसा होवे तो खलबलाहट होगी या नहीं? तुम्हारे उस कपिल कोटडिया को खलबलाहट (हो गयी)। सबको क्रियाकाण्ड में धर्म मनवाना है, इसलिए खलबलाहट... खलबलाहट हो गयी। यह अनादि का है, यह कुछ नया नहीं है, बापू! आहाहा!

यहाँ तो यह कहा, उस शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव (प्राप्ति) **भेदविज्ञान से ही होती है।** दूसरा कोई उपाय ही नहीं है, दूसरी कोई उसकी विधि नहीं है, दूसरी कोई उसकी रीति नहीं है। आहाहा! आचार्यों ने तो सूर्य की भाँति स्पष्ट बात रख दी है। दुनिया को जँचे या न जँचे। लोगों को जँचे (या) न जँचे। आहाहा! बात तो देखो! [**सम्पद्यते**]

उस शुद्धात्मा का अनुभव [**भेदविज्ञानतः एव**] आहाहा! गजब बात है! पहले से शुरुआत, वह ठेठ तक पर से भिन्न स्व के अनुभव से ही धर्म-संवर होता है। आहाहा! जितना पर से भेद करके अभेद में आवे, उतना धर्म। आगे अभी भेद रह जाए, उससे फिर पृथक् पड़े, उतना धर्म। वह जितना रहे, उतना आस्रव। आहाहा!

[**भेदविज्ञानतः एव**] है न इसमें शब्द? [**सः भेदविज्ञानतः एव**] मूल श्लोक (की) तीसरी लाईन है। भेदविज्ञान ही। आहाहा! इस 'ही' में तो एकान्त हो जाता है। भगवान का मार्ग अनेकान्त है। अनेकान्त है अर्थात् भेदविज्ञान से होता है और अभेद से नहीं होता, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! (लोग कहते हैं) भगवान का मार्ग तो 'ही' एकान्त होता नहीं। यहाँ पूरा एकान्त कहा। भेदविज्ञान से ही मुक्ति होती है, एकान्त है। सम्यक् एकान्त, निश्चयनय है। आहाहा! अब यह सब थोथा करके बैठे—सामायिक की, प्रोषध किये, प्रतिक्रमण किये, (वे सब) व्यर्थ किये हैं। वह तो मिथ्यात्व का पोषक है। आहाहा!

छोटे में छोटी राग की क्रिया या कम्पन की (क्रिया हो), उसकी एकताबुद्धि मिथ्यात्व है। और छोटे में छोटा पहला भेदज्ञान इस कम्पन और राग से भिन्न पड़ा हुआ भेदविज्ञान मुक्ति का कारण है। आहाहा! इसमें है या नहीं? आहाहा! कैसा श्लोक रखा है! **'सम्पद्यते सम्वर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्। स भेदविज्ञानत एव तस्मात्'** वापस ऐसा। आहाहा! साक्षात् संवर की-धर्म की प्राप्ति (होती है), वह शुद्ध आत्मतत्त्व के अनुभव से (होती है) और उस शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव भेदज्ञान से होता है। आहाहा! भेदज्ञान से संवर होता है और आत्मा के स्वभाव की अभेदता से संवर होता है। पर की भिन्नता हुई और अपने स्वभाव की एकता हुई। यही इसका धर्म का और संवर का क्रम है। आहाहा!

मुमुक्षु : भेदविज्ञान और आत्मध्यान दोनों से संवर होत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मध्यान (कहो या भेदज्ञान) एक ही है। भेदविज्ञान, वही आत्मा का ध्यान है। राग से भिन्न पड़कर आत्मा की ओर उन्मुख है, वही ध्यान है। आहाहा! कषाय और उससे हटा, हटा तो स्वभाव की ओर आया, वही धर्म है, वही आत्मा है। आहाहा!

[तस्मात्] इसलिए... क्या कहा ? कि धर्म का मूलकारण भेदज्ञान और भेदविज्ञान, इसलिए **[तत् भेदविज्ञानम्]** इसलिए भेदविज्ञान। **अत्यन्त भाने योग्य है।** आहाहा! अन्तर में उसे राग से भिन्न और कम्पन से भिन्न है, ऐसा भाने योग्य है। बहुत सरस श्लोक है। संवर के अन्तिम श्लोक! आहाहा! भेदविज्ञान ही मुक्ति का कारण है। **इसलिए..** इसलिए **वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।** अन्तर में एकाग्र होनेयोग्य है। आहाहा! यही भेदविज्ञान का मूल है। बहुत संक्षिप्त भाषा है।

भावार्थ : जब जीव को भेदविज्ञान होता है.. राग और विकल्प से भिन्न पड़ता है। आहाहा! **जब जीव आत्मा और कर्म को यथार्थतया भिन्न जानता है..** यथार्थरूप से भिन्नरूप जानता है। अकेला जानना नहीं। अन्दर में यथार्थरूप से भिन्नरूप से जानता है। **तब वह शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है,..** तब वह शुद्ध आत्मा के आनन्द को अनुभव करता है। **शुद्ध आत्मा के अनुभव से आस्रवभाव रुकता है,..** उससे आस्रव रुकता है। **और अनुक्रम से सर्व प्रकार से संवर होता है,..** इस विधि से अनुक्रम से संवर होता है। इस प्रकार से धर्म होता है। आहाहा! **इसलिए भेदविज्ञान को अत्यन्त भाने का उपदेश किया है।** ठीक! अमृतचन्द्राचार्य ऐसा कहते हैं। **इसलिए भेदविज्ञान को अत्यन्त भाने का उपदेश किया है।** आहाहा!

कलश-१३०

अब, काव्य द्वारा यह बतलाते हैं कि भेदविज्ञान कहाँ तक भाना चाहिए।

(अनुष्टुप्)

भावयेद्भेद-विज्ञान-मिदमच्छिन्न-धारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ।।१३०।।

श्लोकार्थ : [इदम् भेदविज्ञानम्] यह भेदविज्ञान [अच्छिन्न-धारया] अच्छिन्न-धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से) [तावत्] तब तक

[भावयेत्] भाना चाहिए [यावत्] जब तक (ज्ञान) [परात् च्युत्वा] परभावों से छूटकर [ज्ञानं] ज्ञान [ज्ञाने] ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) [प्रतिष्ठते] स्थिर हो जाये।

भावार्थ : यहाँ ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना दो प्रकार से जानना चाहिए। एक तो, मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये, तब ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो, तब ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है। जब तक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये, तब तक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिए।।१३०।।

श्लोक - १३० पर प्रवचन

अब इसी गाथा। **भेदविज्ञान कहाँ तक भाना चाहिए।** अब कहते हैं। पर से भिन्न और स्वभाव की एकता कहाँ तक करना? पूर्ण हो तब तक। आहाहा!

भावयेद्भेद-विज्ञान-मिदमच्छिन्न-धारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।१३०।।

ओहोहो! **[इदम् भेदविज्ञानम्] यह भेदविज्ञान... इदम्** अर्थात् यह। भेदविज्ञान (अर्थात्) राग से भिन्न, विकल्प से भिन्न—ऐसा जो भेदविज्ञान **[अच्छिन्न-धारया] अच्छिन्न-धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से)..** आहाहा! घड़ीक में पर से भिन्न और फिर घड़ीक में पर से एकत्व, ऐसा नहीं। आहाहा! पर से भिन्न की अच्छिन्नधारा से भावना करना। आहाहा! आचार्यों के तीव्र शब्द पंचम काल के लिए यह कहते हैं? पंचम काल के साधु हैं, पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। कोई ऐसा कहता है कि पंचम काल में कुछ नहीं है। कहते हैं न? एक श्रुतसागर है। श्रुतसागर साधु। शान्तिसागर के पथानुगामी में है (वे कहते हैं) अभी तो शुभयोग ही होता है, बस! अर..रर! ऐस गजब करते हैं। वापस कोई सामने बोलनेवाला नहीं मिलता, कोई पूछनेवाला नहीं मिलता। तुम यह क्या कहते हो? शुभभाव तो अभव्य को भी अनन्त बार होता है। शुभभाव तो अनन्त बार किया है (परन्तु) धर्म नहीं हुआ।

यह भेदविज्ञान अच्छिन्न-धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से) तब तक.. [**तावत्**] अर्थात् **तब तक..** आहाहा! [**भावयेत्**] **भाना चाहिए, जब तक..** [**परात् च्युत्वा**] **परभावों से छूटकर..** एकदम परभाव से छूटकर अकेला ज्ञान-आत्मा रह जाए, तब तक भेदज्ञान की भावना करना। आहाहा! एक बार किया, इसलिए फिर हो गया, ऐसा नहीं, परन्तु फिर भी ठेठ तक स्वरूप का झुकाव रहा ही करे, स्वरूप सन्मुख की दशा का पुरुषार्थ रहा ही करे, यह [**अच्छिन्न-धारया**] भेदज्ञान है। आहाहा!

मुमुक्षु : बारहवें गुणस्थान तक।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले से शुरुआत, सातवें से। यह बारहवें-बारहवें कुछ नहीं। यहाँ गुणस्थान लिया ही नहीं। गुणस्थान जीव में है ही नहीं। नहीं आया यह ? गुणस्थान जीव में है ही नहीं। यहाँ तो राग से, पर से भिन्न करके अपने में सम्पूर्ण हो, तब तक भाना, इतनी बात है। उसमें बीच में गुणस्थान आवे, परन्तु वह बात ली थी, परन्तु जीव में गुणस्थान है ही नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। गुणस्थान भेदवाला है। उससे भी भेद करके अभेद करना है। आहाहा! फिर कहा जाए उसे, पहले से भेद करके करे तो चौथा आवे, विशेष एकाग्र होवे तो पाँचवाँ आवे, ऐसा कहा जाता है। विशेष स्थिरता हो (तो) छठा - सातवाँ आवे, परन्तु उस पर्यायबुद्धि पर लक्ष्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। चौदह गुणस्थान वह पर्यायबुद्धि है। आहाहा!

अखण्ड ज्ञायकभाव पूर्ण परमात्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का भरचक भरपूर कोठार। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का भरचक भरपूर भण्डार, उसके ओर की भावना, पूर्ण स्थिरता न हो, तब तक करना। आहाहा! ऐसा समय मिले कहाँ ? आहाहा! लड़के को सम्हालना, घर में पच्चीस-तीस व्यक्ति हो और यह महँगाई। एक-एक व्यक्ति को पचास-पिचहत्तर का खर्च तो हो। बीस मनुष्य हो तो पन्द्रह सौ रुपये चाहिए। आहाहा! कठिन काम है।

यहाँ तो कहते हैं कि शुभ विकल्प जो आता है, उससे भेदज्ञान भाना। जब तक पूर्ण न हो, तब तक (भाना)। आहाहा! है न ? **परभावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही..** ज्ञान अर्थात् आत्मा। आत्मा, आत्मा में ही **(अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जाये।** वहाँ तक

पर से भिन्न करना। एकदम स्थिर हो जाए। आहाहा! चारित्र की यथाख्यातचारित्रदशा भेदविज्ञान से (होती है), तब तक उसे भाना। भेद-अभ्यास आता है न? कलश में दो-तीन जगह आता है। भेद अध्यास चारित्र के लिए भी। आहाहा!

भावार्थ : यहाँ ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना दो प्रकार से जानना चाहिए। आत्मा आत्मा में स्थिर हो, यह दो प्रकार से है। **एक तो, मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये, तब ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है;..** एकताबुद्धि तोड़कर स्व में एकत्व आया, उसे भी यहाँ भेदविज्ञान कहा जाता है। आहाहा! **दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये..** उपयोग वर्तमान में जब शुद्धोपयोग हो जाए। पहले शुद्ध उपयोग पूर्ण नहीं हुआ था। किसी समय होता था। दूसरे में (कहते हैं), जब तक पूर्ण (न हो तब तक)। **ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो..** आहाहा! **तब ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है।** पहले सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से स्थित हुआ कहलाता है, परन्तु इतना अभी पूर्ण स्थिर नहीं हुआ। पश्चात् ज्ञान, ज्ञान में अत्यन्त स्थिर हो जाए, तब तक भेदज्ञान रखना। आहाहा! ऐसे भाव और ऐसे भाव के अर्थ। अनजाने व्यक्ति को ऐसा (लगे) कि इसमें करना क्या? करने का नहीं आया? भाई! आहाहा! प्रभु! तू बड़ा पड़ा है। तेरे परमात्मा के पास तो सिद्ध की पर्याय भी कुछ कीमत की नहीं है। इतनी तेरी शक्ति है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे राग की एकताबुद्धि से तोड़कर स्थिर होना, वह पहले नम्बर का है और पश्चात्... पहला नम्बर अर्थात् ऊँचा, ऐसा नहीं, पहले से ऐसा। पश्चात् अन्दर से स्थिर होना, अस्थिरता में से छूटकर स्थिर होना, वह उत्कृष्ट प्रकार का भेदज्ञान। ठेठ वीतरागता हो, वहाँ तक भेदज्ञान करना, कहते हैं। आहाहा!

शुद्धरूप हो जाए **और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो, तब ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है। जब तक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये..** दोनों प्रकार से, एक तो मिथ्यात्व टलकर समकित में आवे और पश्चात् अस्थिरता टलकर शुद्ध उपयोग में आ जाए। इन दोनों प्रकार से भेदज्ञान करना। आहाहा! ये **जब तक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये तबतक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिए।** आहाहा! वास्तव में तो राग से या विकल्प से भिन्न पड़ा, वह भिन्न पड़ा वह तो पश्चात्

उसका कुछ भेदज्ञान करना पड़ता नहीं, परन्तु पुरुषार्थ झुकाव उस ओर रहा ही करे और यहाँ राग की उत्पत्ति न हो और उग्र पुरुषार्थ करे, इसका नाम उग्र (रूप से) स्थिर हो जाना, ऐसा कहा जाता है। पहले समकित होकर मिथ्यात्व गया, इतना स्थिर हुआ था, पश्चात् चारित्र होकर स्वरूप में स्थिर हुआ। उसे फिर कुछ (भाने का) नहीं होता। वहाँ तक आत्मा को भाना। ऐसा। आहाहा! फिर से भेदविज्ञान की महिमा का कलश कहेंगे, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश-१३१

अब पुन: भेदविज्ञान की महिमा बतलाते हैं:-

(अनुष्टुप्)

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

श्लोकार्थ : [ये केचन किल सिद्धा:] जो कोई सिद्ध हुए हैं [भेदविज्ञानत: सिद्धा:] वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और [ये केचन किल बद्धा:] जो कोई बँधे हैं [अस्य एव अभावत: बद्धा:] वे उसी के (-भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।

भावार्थ : अनादि काल से लेकर जब तक जीव को भेदविज्ञान नहीं है, तब तक वह कर्म से बँधता ही रहता है-संसार में परिभ्रमण ही करता रहता है; जिस जीव को भेदविज्ञान होता है, वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है-मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है। इसलिए कर्म बन्ध का-संसार का-मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का पहला कारण भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञान के बिना कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

यहाँ ऐसा भी समझना चाहिए कि-विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो कि वस्तु को अद्वैत कहते हैं और अद्वैत के अनुभव से ही सिद्धि कहते हैं उनका, भेदविज्ञान से ही सिद्धि कहने से, निषेध हो गया; क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने

पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं, उनके किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता; जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते, वहाँ भेदविज्ञान कैसा? यदि जीव और अजीव–दो वस्तुएँ मानी जायें और उनका संयोग माना जाये, तभी भेदविज्ञान हो सकता है, और सिद्धि हो सकती है। इसलिए स्याद्वादियों को ही सब कुछ निर्बाधतया सिद्ध होता है।।१३१।।

प्रवचन नं. २६७, श्लोक-१३१-१३२ दिनाङ्क ३०-०६-१९७९, शनिवार, अषाढ़ शुक्ल ६

(समयसार) १३१ कलश है।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

[**ये केचन**] कोई भी अभी तक सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं। यह एक सिद्धान्त। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम से भी भिन्न पड़कर द्रव्य का आश्रय लेकर भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं। आहाहा! महासिद्धान्त है। अनन्त काल से जो कोई सिद्ध हुए, वे सब विकल्प से भिन्न पड़कर और आत्मा का अनुभव करके; उसका अनुभव छोड़कर —राग का अनुभव छोड़कर, स्वभाव का अनुभव करके सिद्ध हुए हैं। यह एक ही सिद्धान्त है, लो! आहाहा! कोई कहे व्यवहार दया, दान, व्रत और भक्ति करते हुए सिद्ध होते हैं, निश्चय होता है, यह बात झूठ है। आहाहा! कठिन काम है। पहले अपने आ गया है। संवर (होने का) पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है। भेदविज्ञान से ही (संवर) होता है। आहाहा!

आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वभाव है। वह राग से भिन्न पड़कर, भेदविज्ञान से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। भेदविज्ञान से समकित को प्राप्त हुए, भेदविज्ञान से चारित्र को प्राप्त हुए, भेदविज्ञान से केवल (ज्ञान) प्राप्त हुए, भेदविज्ञान से सिद्ध हुए—यह एक मार्ग है। आहाहा!

जो कोई सिद्ध हुए.. जो कोई सिद्ध हुए। किसी प्रकार से-भेद से, कोई जंगल में, कोई मेरुपर्वत से (हुए), एक ही मार्ग है, ऐसा कहते हैं। वैसे लो तो '**भूदत्थमस्सिदो**'

त्रिकाली भगवान आत्मा के आश्रय से ही मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। यहाँ कहा कि भेद से अर्थात् पर से भिन्नता से प्राप्त हुए। सब एक की एक बात है। आहाहा! चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा हो, पंच महाव्रत के परिणाम हो, वे बन्ध के कारण हैं। उनसे भेदज्ञान करना, वह मुक्ति का कारण है।

जो कोई.. ऐसा कहा न? [**केचन किल**] **सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं;..** आहाहा! अनन्त काल में एक ही मार्ग है, दूसरा मार्ग ही नहीं है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, वह विकल्प से भिन्न पड़कर, राग से भिन्न पड़कर, सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए, राग से भिन्न पड़कर चारित्र को प्राप्त हुए, राग से भिन्न पड़कर शुक्लध्यान हुआ और राग के अत्यन्त अभाव से केवलज्ञान हुआ। राग का व्यवहारभाव कुछ भी मुक्ति को सहायक होता है, मदद करता है - ऐसा नहीं है। आहाहा!

वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं;.. कौन? **जो कोई सिद्ध हुए..** आहाहा! **वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं;..** [**ये केचन किल बद्धाः**] **जो कोई बँधे हैं..** अभी तक संसार में अनादि से भटकते हैं... आहाहा! वे **उसी के (-भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।** दया, दानादि शुभराग का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त करते हैं और अभाव नहीं किया, वे बँधे हैं। एक ही सिद्धान्त है। आहाहा! राग से भिन्न पड़कर स्वभाव (सन्मुख होना), यह एक ही मोक्ष का मार्ग है।

[**अस्य एव अभावतः बद्धाः**] राग के भेदज्ञान का अभाव और राग की एकताबुद्धि, वह बन्धन का कारण है। आहाहा! श्लोक तो बहुत संक्षिप्त परन्तु इसमें सार बहुत आया है। आहाहा! यह सब व्यवहार करते-करते होता है और निमित्त मिले तो अच्छा होता है, इन सबका यहाँ निषेध कर दिया है। निमित्त से भिन्न पड़कर, निमित्त की ओर के राग से भिन्न पड़कर, निमित्त की ओर का झुकाव है, वह राग है... आहाहा! उस राग से भिन्न पड़कर जो सिद्ध हुए हैं, वे इस प्रकार से सिद्ध हुए हैं, दूसरी कोई विधि नहीं है। यह संवर का अधिकार है। आहाहा! यहाँ तो कहे व्रत करो, तप करो, मन्दिर बनाओ, रथयात्रा निकालो, यह निकालो और अमुक करो, इसलिए उसमें से धर्म होगा और संवर होगा। उसका यहाँ निषेध करते हैं। आहाहा! जितनी बाह्य के लक्ष्य की प्रवृत्ति (होती है), वह बन्ध का ही कारण है। यह भेदज्ञान का अभाव, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! जितना

बन्ध के भाव से भेद करके स्वभाव का आश्रय लिया, वे सब सिद्ध हुए हैं। एक ही प्रकार-नम्बर है। दूसरा नम्बर इसमें नहीं मिलता। आहाहा! संवर का यह क्रम है। पहले से राग से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन (प्राप्त करे), पश्चात् राग से भिन्न पड़कर चारित्र (प्राप्त करे), पश्चात् आंशिक राग है, उससे भिन्न पड़कर शुक्लध्यान (प्राप्त करे), उससे केवलज्ञान (होता है)। आहाहा! 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' परमार्थ का पन्थ दो-तीन नहीं हैं। इस प्रकार ही है। आहाहा!

जो कोई बँधे हैं, वे इसके अभाव से बँधे हैं। कर्म के कारण बँधे हैं, ऐसा भी नहीं कहा। आहाहा! अभी तक जो बँधे हैं, वे कर्म के जोर से और कर्म के कारण बँधे हुए हैं, ऐसा नहीं है। भेदज्ञान के अभाव से बँधे हैं। आहाहा! राग से भिन्न पड़े बिना बँधे हैं। संसार में जितने अभी तक निगोदादि रहे, वे सब भेदज्ञान के अभाव से बँधे हुए पड़े हैं। आहाहा! निगोद के अनन्त भव (किये), वे भेदज्ञान के अभाव से भव हैं। आहाहा! एक शरीर में अनन्त जीव और एक-एक जीव को दो-दो शरीर और एक-एक जीव को अक्षर के अनन्तवें भाग का उघाड़, इतना जो बन्धभाव, उसके कारण भटकते हैं। आहाहा! कर्म के कारण नहीं। कर्म के कारण बँधे हुए नहीं हैं और कर्म के अभाव से नहीं। कर्म का अभाव स्वयं किया और उसमें गये हैं, तब मुक्त हुए हैं। आहाहा! कषाय की मन्दता, व्रत और तप और भक्ति की मन्दता कुछ भी सहायक हो, मुक्तिमार्ग को कुछ भी मदद हो, ऐसा बिल्कुल नहीं है। इसलिए कहा, [**केचन किल**] कोई भी निश्चय से। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जो कोई बँधे हैं, **वे उसी के (-भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।** आहाहा! उस राग से भिन्न नहीं करता और राग का एकत्व बन्ध किया है, उससे ही मिथ्यात्व है और बँधते हैं। आहाहा! यह मूल श्लोक है।

भावार्थ : अनादि काल से लेकर जब तक जीव को भेदविज्ञान नहीं है.. यह स्पष्टीकरण (करते हैं)। आहाहा! जब तक भगवान की भक्ति, विनय, यात्रा और पूजा नहीं की, तब तक उसे मुक्ति नहीं है—ऐसा नहीं है। आहाहा! भाई! इसने मन्दिर बनाये नहीं, दान किया नहीं, भगवान की भक्ति की नहीं... आहाहा! वे सब भाव परद्रव्य की ओर के उन्मुखता के सब भाव बन्ध के कारण हैं। वे बँधे हैं, वे उन्हें अपना मानकर बँधे हैं।

अनादि काल से.. अर्थात् इसमें तो ऐसा भी लिया कि निगोद के जीव को कर्म का जोर है, इसलिए वहाँ रहे हैं – ऐसा नहीं है। आया इसमें ? निगोद के जीव अनन्त काल रहे और अभी कितने ही त्रस (पर्याय) को प्राप्त नहीं हुए और त्रस (पना) पायेंगे नहीं, उन्हें कर्म का जोर है, इसलिए (ऐसा) है, ऐसा नहीं है। भेदज्ञान का अभाव और राग की एकताबुद्धि पड़ी है। आहाहा! उससे निगोद में रहे हैं। आहाहा! कितने ही अनन्त काल में भी त्रस नहीं होंगे, वह भेदज्ञान के अभाव के कारण (नहीं होंगे)। आहाहा! महासिद्धान्त!

मुमुक्षु : निगोद में क्या भेदज्ञान करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदज्ञान करने की कहाँ बात है ? वह नहीं है, इतनी बात है न! भेदविज्ञान का वहाँ अभाव है, इतना। भेदज्ञान का अभाव है या नहीं ? वहाँ कहाँ भेदज्ञान करे ? वहाँ आगे राग की एकताबुद्धि है न ? वही भेदविज्ञान का अभाव है और उससे ही बँधे हुए हैं, ऐसा (कहना है।) भेदविज्ञान नहीं कर सकते, इसलिए (वहाँ हैं), ऐसा नहीं है परन्तु वहाँ भेदविज्ञान नहीं करते अर्थात् राग से एकत्वबुद्धि में ही वे पड़े हैं। आहाहा!

भगवान शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु को राग का अंश, जो राग का कण, निगोद को शुभभाव होता है, निगोद के जीव को शुभ-अशुभभाव दोनों होते हैं, उस शुभभाव को अपना मानकर बँधे हुए हैं, कर्म के कारण नहीं। आहाहा! भेदविज्ञान नहीं कर सकते, इसका अर्थ कि भेदज्ञान में अभेदपना मानते हैं, इसलिए अन्दर भेद नहीं कर सकते। आहाहा! अभेदरूप से राग को अभेदपने मानते हैं, भले निगोद हो, भले मन न हो। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु, वहाँ निर्मलानन्द भगवान है, परन्तु वह मलिनता के भाव को एकत्वरूप से मानकर निगोद में और बन्धन में पड़े हैं। आहाहा! उन्हें भेदज्ञान करने की शक्ति नहीं है, उसका अर्थ यह कि अभेदपने की शक्ति है। भिन्न करने की शक्ति नहीं है, इसका अर्थ कि एकपने की मान्यता है। वह अस्ति है। आहाहा! राग का कण-शुभराग उसे होता है। ऐसे दया, दान के परिणाम उन्हें नहीं, परन्तु कषाय की मन्दता का शुभभाव निगोदिया को होता है। आहाहा! उस राग के अंश को अपना मानता है। वह तो वहाँ करता है। इसलिए अबन्धपने में न आकर, बन्ध में पड़े हैं, इस कारण से (पड़े हैं)। आहाहा! कोई ऐसा कहे कि नहीं; एकेन्द्रिय जीव को तो कर्म का जोर है, इसलिए वे बेचारे निकाल नहीं सकते। परन्तु पंचेन्द्रिय हुए, वे तो मन्द कर्म हैं, वे तो हल्के

हुए हैं। यहाँ तो एक ही सिद्धान्त—एकेन्द्रिय हो या दोइन्द्रिय हो अथवा पंचेन्द्रिय हो या नारकी हो या निगोद हो... आहाहा! स्वभाव के साथ राग का छोटे में छोटा कण में भी एकत्वबुद्धि से पड़े हैं, इसलिए बँधे हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई!

अनादि काल से लेकर जब तक जीव को भेदविज्ञान नहीं है.. देखा? वहाँ भेदविज्ञान की शक्ति नहीं है, (इसलिए) नहीं करते, ऐसा नहीं है परन्तु उन्हें भेदज्ञान नहीं है। आहाहा! **तब तक वह कर्म से बँधता ही रहता है..** आहाहा! मनुष्यपने में आया और मुनि हुआ, लो न! निगोद में उस स्थान में है, तो भी राग की एकत्वबुद्धि से बन्धन में है और मुनि-नग्न दिगम्बर मुनि, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पाले, वह भी राग की एकताबुद्धि से बँधा हुआ है। आहाहा! समझ में आया? यह प्राणी निगोद से लेकर, अनादि लिया न? **अनादि काल से लेकर..** इसमें निगोद का काल गौण किया है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

निगोद में से निकलना, त्रसपना प्राप्त करना, उसे भी चिन्तामणि जैसा-रत्न जैसा कहा है। छहढाला में (कहा है)। वह त्रस लट... लट... आहाहा! अनन्त-अनन्त काल में निगोद की दशा में, उसके दु:ख की क्या बात करना? अक्षर के अनन्तवें भाग का उघाड़ रह गया। दु:ख अनन्त है। वास्तव में तो नारकी के दु:ख से निगोद का दु:ख अनन्तगुना है परन्तु दु:ख की व्याख्या संयोग से करे तो उसे समझ में नहीं आये। आत्मा की हीन दशा की उत्कृष्टता है, वह दु:ख है। आहाहा! यह निगोद के जीव की वह दशा है। आहाहा!

अनादि काल से लेकर.. आहाहा! अभव्य या भव्य, निगोद का जीव या जैन का साधु (होकर) नौवें ग्रैवेयक गया, वे सब... आहाहा! भेदविज्ञान नहीं है, तब तक वे बँधे हैं। आहाहा! भले वह पंच महाव्रत पालता हो, निरतिचार पालता हो... आहाहा! जो ज्ञान का व्यापार बारम्बार करते हों, (वह) ऐसा कहते हैं अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग। वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नहीं है। सम्यक्त्व होने के पश्चात् इसका जो उपयोग (होता है) वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। आत्मा ज्ञान है, उसका जहाँ भान नहीं हुआ, वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है, यह कहाँ से आया? अभीक्ष्ण का तीर्थंकरगोत्र में आता है न? अभी न कहते हैं। वह अभीक्षण ज्ञानोपयोग है, ऐसा है, वैसा है। किन्तु मिथ्यात्व है, वहाँ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहाँ से आया? आहाहा! यह व्रत की क्रिया और तप की क्रिया अज्ञान में, उससे वहाँ धर्म मानता

है, वहाँ ज्ञान का अभीक्ष्ण उपयोग कहाँ आया ? अभीक्ष्ण राग का उपयोग है। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग... आहाहा! यह तुम्हारे लाभुभाई को यहाँ सभा में बहुत बार याद करते हैं, हों! आहाहा! कैसा व्यक्ति! अभी बेसुध हो गया, कहो! आहाहा! ऐसी स्थिति, बापू! आहाहा! जीव को छूटने का मार्ग मिले बिना वह कहीं न कहीं अटक ही पड़ता है। आहाहा!

यहाँ तो कर्म का अनुभाग, रस और स्थिति बहुत लम्बी है, इसलिए वह भटकता है, ऐसा भी नहीं कहा और कर्म के रस की मन्द स्थिति हुई, इसलिए छूटने के पंथ में आयेगा, ऐसा भी नहीं कहा। आहाहा! यहाँ तो दो ही बात है, राग का कण चाहे जो हो, उससे पृथक् पड़े—भेदज्ञान (करे), वही मुक्ति की शुरुआत है क्योंकि स्वयं स्वरूप—मुक्तस्वरूप है। आहाहा! निगोद में भी आत्मा द्रव्यस्वभाव से तो मुक्तस्वरूप ही है। आहाहा! विश्वास कैसे बैठे ? आहाहा! मकड़ी की जाल की भाँति विकल्प की जाल में उलझ गया, उसे यह भगवान मुक्तस्वरूप है, (यह कैसे जँचे) ? भावबन्ध से रहित है, द्रव्यबन्ध तो परमाणु है, उनसे तो अत्यन्त अभाव ही है। आहाहा! भावबन्ध है, उससे भी अभावरूप स्वरूप है और उससे अभावस्वरूप करके और मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आहाहा! यह श्लोक बहुत उत्कृष्ट है।

संसार में परिभ्रमण ही करता रहता है;.. भले वह पंच महाव्रत पाले, राग–दया, दान करे, भक्ति करे, भगवान की भक्ति धुन लगा दे, आहाहा! परन्तु वह राग है, उससे पृथक् पड़े बिना भटका ही करता है। आहाहा! यहाँ तो अभी बाह्य निवृत्ति लेने का समय भी नहीं मिलता। मेरा कुछ करूँ, विचारूँ तो सही। मेरे लिए विचार के लिए कुछ निवृत्ति तो लूँ, यह निवृत्ति भी नहीं मिलती। आहाहा! यहाँ तो राग से अत्यन्त निवृत्त होना है। आहाहा! बाहर से निवृत्त होने का अभी विचार का समय नहीं। आहाहा! अन्दर में राग का छोटे में छोटा कण, उससे भी निवृत्ति लेकर अभावस्वरूप करना है, तब इसे मुक्ति का मार्ग हाथ आता है। आहाहा! इतने मन्दिर बनाये और इतने करोड़ रुपये खर्च किये, इतनी पुस्तकें बनायीं, इसलिए वह बन्ध के अभाव के मार्ग में है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

एक ओर भगवान मुक्तस्वरूप, उसे बन्ध के राग के साथ एकत्व मानना... आहाहा!

अबद्धस्वरूप कहो, मुक्तस्वरूप कहो। अबद्ध १४-१५ गाथा में आता है न? '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध**' उस अबद्धस्वरूप के साथ कुछ भी राग के सम्बन्धवाला उसे मानना... आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि है। संसार—नरक और निगोद के भव करने के भाव के भाववाला है। आहाहा! राग के छोटे में छोटे कण को भी अपना माने तो कहते हैं कि **(अस्य एव अभावतः बद्धाः)** उसे भिन्न नहीं किया, इसलिए वे बँधे हुए हैं। आहाहा! श्लोक तो छोटा है (परन्तु) भाव बहुत गम्भीर है। आहाहा!

जिस जीव को भेदविज्ञान होता है, वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है.. आहाहा! जिस जीव को राग के अंश से भी आत्मा भिन्न है, अत्यन्त निराला, मुक्त अबद्धस्वरूप है, ऐसा जिसे ज्ञान होता है, वह कर्म से छूटता ही है। आहाहा! इतनी तपस्या करे और इतने अपवास करे और इतने व्रत पाले तो कर्म से छूटता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! (क्या) कहा? **जिस जीव को भेदविज्ञान होता है, वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है..** आहाहा! **मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है।** छूटत है अर्थात् राग से भिन्न पड़ता है, भेदज्ञान करता है, वह कर्म से छूटता है, मोक्ष प्राप्त करता ही है।

इसलिए कर्म बन्ध का–संसार का–मूल.. कर्मबन्ध का अर्थात्? कि **संसार का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है..** भाषा देखो! आहाहा! संसार का मूल मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व, भेदज्ञान का अभाव है, इसलिए मिथ्यात्व है। आहाहा! समय मिले जब तब और... आहाहा! विरोध करे, उसके सामने खड़ा रहना पड़े। अरे! खड़े क्या रहना? करे दुनिया। उसके विरोध का समाधान करने बैठे तो पार नहीं पड़ता। ऐसे बहुत लोग मिलते हैं। आहाहा! तेरे स्वभाव की ओर उन्मुख हो जा न! सब विरोध करे, वे उनके घर रहे। विरोधवाले को समाधान न हो, इससे तुझे क्या है? आहाहा! यह विरोध करते हैं तो उन्हें मैं उत्तर दूँ और फिर वे नहीं समझें तो अधिक उत्तर दूँ, वह भी वापस वहीं का वहीं अटकने का है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। दुनिया से अलग प्रकार है।

भेदविज्ञान का अभाव ही है.. कर्म बन्ध का–संसार का–मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का पहला कारण.. अर्थात् मूलकारण। **भेदविज्ञान ही है।** लो! है न? संसार का मूलकारण भेदविज्ञान का अभाव ही है। आहाहा! संसार का मूलकारण कर्म है, निद्यत और निकाचित तथा यह कर्म है, ऐसा नहीं कहा। आहाहा!

संसार का–मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है.. भेदविज्ञान का अभाव 'ही' है। एकान्त से नहीं, कथंचित् कर्म से भी है, ऐसा कहो। कथंचित् कर्म से भी भटकता है, कथंचित् भेदविज्ञान के अभाव से भटकता है, ऐसा कहो। नहीं... नहीं... आहाहा! भेदविज्ञान के अभाव से ही भटकता है। आहाहा! सिद्धान्त तो देखो! सिद्धान्त। अर्थात् कि तेरे अधिकार की बात है, ऐसा कहते हैं। भटकने में भी तेरा अधिकार है—भेदविज्ञान का अभाव तथा छूटने में तेरा अधिकार है—भेदविज्ञान का सद्भाव। आहाहा! उसमें कोई परद्रव्य की अन्दर मदद-फदद या सहायता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह क्रियाकाण्डियों को तो कठोर लगे। क्रियाकाण्ड में लवलीन हों। आहाहा!

मुमुक्षु : क्रियाकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है, ऐसा तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वह निमित्त का ज्ञान कराया। प्रवचनसार में आता है। यह तो ऐसा था, उसका ज्ञान (कराया)। उससे होता है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। यहाँ कहते हैं कि भेदज्ञान से होता है और वहाँ कहे कि राग से होता है, (तब तो) विरोध कथन हुआ। वीतराग के वचन में विरोध नहीं होता। पूर्वापर विरोधरहित भगवान की वाणी है। आहाहा! जब तक यह न समझे, तब तक वह अज्ञान के कारण से संसार में है, कर्म के कारण से नहीं। भेदविज्ञान के अभाव के कारण से संसार है। आहाहा!

भेदविज्ञान के बिना.. राग के विकल्प से भिन्न पड़े बिना अन्तर क्रियाकाण्ड का राग है, भले व्रत का, तप का, अपवास का और भक्ति का (होवे), उस राग से भिन्न पड़े बिना इसे तीन काल में धर्म नहीं होगा। यह सब राग की क्रिया धर्म नहीं है। इनसे भिन्न (पड़े), तब धर्म होगा। आहाहा! जिससे भिन्न करना है, उससे वापस मुक्ति होगी? आहाहा! जिससे तो भिन्न करना है, उसके कारण मुक्ति का मार्ग आयेगा? आहाहा! **भेदविज्ञान के बिना कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।** एक बात यह की है।

यहाँ ऐसा भी समझना चाहिए कि–विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध.. बौद्ध अकेला विज्ञान ही माननेवाले हैं। अकेला विज्ञान जगत में है, दूसरा कुछ नहीं, ऐसा (वे) मानते हैं। **और वेदान्ती..** एक ही सर्व व्यापक आत्मा है, ऐसा मानते हैं। **जो कि वस्तु को अद्वैत कहते हैं..** अद्वैत आत्मा है। आत्मा और आत्मा का अनुभव, ऐसा द्वैतपना भी उसमें नहीं है, ऐसा वे लोग मानते हैं। भेदविज्ञान कहने से वे सब मिथ्या सिद्ध होते हैं, ऐसा कहते

हैं। भेदविज्ञान तो एक दूसरी चीज़ है, तो उससे पृथक् पड़ना है, परन्तु एक ही चीज़ है, (ऐसा कहो तो) पृथक् पड़ने का रहा किसके साथ? आहाहा! भेदविज्ञान में यह क्यों डाला? कि भेदविज्ञान में दो बात आती है। एक राग और एक आत्मा अथवा एक दूसरी चीज़ और एक स्वयं आत्मा, अत: दो है, उसमें से भेद किया जाता है, परन्तु एक ही है, उसमें भेद करने का कहाँ (रहा)? आहाहा! अकेला सर्व व्यापक आत्मा है, एक ही आत्मा वेदान्त कहता है। अभी इस वेदान्त का बड़ा पन्थ चलता है। निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! सुधरे हुए में अभी यह चलता है। बातें करना, बस! बन्ध ही नहीं। आत्मा मुक्तस्वरूप ही है। उसे कहते हैं, ऐसा माननेवाले को बन्ध से भिन्न करना तो रहा नहीं। एक ही वस्तु रही, उसमें दो तो आयी नहीं। आहाहा!

कितने ही इस जैन की निश्चयदृष्टि का वर्णन सुनते हुए वेदान्त जैसा हो जाता है, ऐसा लगता है। निश्चय की बातें सुनते हुए, आत्मा निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्य का अनुभव, वह धर्म; दूसरा क्रियाकाण्ड का राग, वह धर्म नहीं है। तब वे कहते हैं कि देखो! वेदान्त भी ऐसा कहता है, इसलिए वेदान्तवत् यह जैन की शैली है। (किन्तु) ऐसा नहीं है। यह तो प्रकार ही अलग है। आहाहा!

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो कि वस्तु को अद्वैत कहते हैं.. एक ही कहते हैं, दो नहीं। **और अद्वैत के अनुभव से ही सिद्धि कहते हैं..** अद्वैत का अनुभव, यह दो हो गये। **उनका, भेदविज्ञान से ही सिद्धि कहने से, निषेध हो गया;..** एक ही आत्मा है, सर्व व्यापक है और विज्ञानघन अकेला तत्त्व है, विज्ञान बौद्ध में ऐसा आता है। बौद्ध में एक वर्ग है। विज्ञानअद्वैतवादी-विज्ञान अकेला है, बस! और वे वेदान्ती (कहते हैं), एक ही आत्मा सर्व व्यापक है।

दोनों का, **भेदविज्ञान से ही सिद्धि कहने से, निषेध हो गया;..** कि दोनों मिथ्या हैं। **क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी..** सर्वथा। कथंचित् अद्वैत है। अर्थात् स्वयं गुण-पर्याय अभेद है, इस अपेक्षा से कथंचित् अभेद है। आहाहा! द्रव्य और पर्याय—ऐसे भेद हैं, वे अभेददृष्टि में वे भेद नहीं हैं, इस अपेक्षा से अद्वैत है, परन्तु वे लोग कहते हैं तदनुसार अद्वैत नहीं है। बौद्ध अकेला ज्ञान ही मानता है और वे अकेला आत्मा मानते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! **उनके किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान कहा ही**

नहीं जा सकता;.. है? **क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं, उनके किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता;..** आहाहा!

जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते, वहाँ भेदविज्ञान कैसा? आहाहा! दो चीज़ माने नहीं, वहाँ भिन्न किससे करना? वह तो कुछ रहा नहीं। आहाहा! **यदि जीव और अजीव-दो वस्तुएँ मानी जायें..** जीव और अजीव, दो मानने में आवे **और उनका संयोग माना जाये..** वापस संयोग हो, संयोग न हो तो वह तो मुक्त है, मुक्त हुआ कहलाये। आहाहा! इसलिए भेद करना तो रहा नहीं, अनादि से मुक्त ही है—ऐसा नहीं है। **उनका संयोग माना जाये..** किनका? जीव और अजीव का। रागादि भी अजीव हैं। आहाहा! **तभी भेदविज्ञान हो सकता है,..** दो माने तो भेदविज्ञान बन सकता है। अकेले न्याय दिये हैं। आहाहा! **और सिद्धि हो सकती है।** एक ही माने, उसे भेदज्ञान नहीं होता और मुक्ति नहीं होती।

इसलिए स्याद्वादियों को.. अपेक्षा से कथन है। अनन्त गुण और पर्याय की अपेक्षा से आत्मा द्वैत भी है। अभेद की अपेक्षा से अद्वैत भी है। **स्याद्वादियों..** स्याद्वादी अर्थात् ऐसा स्याद्वादी, हों! स्याद्वादी का अर्थ ऐसा नहीं कि निमित्त से भी होता है और उपादान से भी होता है; व्यवहार से भी होता है (और) निश्चय से भी होता है, यह स्याद्वाद। यह स्याद्वाद नहीं है। इसमें वस्तु का स्वभाव है, उसे दो अपेक्षा से कहना, इसका नाम स्याद्वाद है। वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय अभेद है, तथापि गुण-पर्याय से भेद कहना, वह व्यवहार है और गुण-पर्याय से भेद होने पर भी, अकेला अभेद कहना, वह निश्चय है। परन्तु उसमें है, उस प्रकार से अनेकान्तपना आता है। उसमें न हो और अनेकान्तपना आवे, ऐसा नहीं होता। आहाहा!

जीव और अजीव-दो वस्तुएँ मानी जायें और उनका संयोग माना जाये.. दो माने परन्तु संयोग न हो तो भी पृथक् करना नहीं आता। आहाहा! **तभी भेदविज्ञान हो सकता है, और सिद्धि हो सकती है। इसलिए स्याद्वादियों को ही सब कुछ निर्बाधतया सिद्ध होता है।** अपेक्षा से भगवान के वचन स्याद्वाद हैं, इसलिए वह सब उनका निर्बाधरूप से सिद्ध होता है। आहाहा! एकपना भी है, अनेकपना भी है—ऐसा स्याद्वाद

से सिद्ध होता है। एकपने द्रव्यरूप से द्रव्य वस्तु एक है और गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेक है—ऐसे दोनों प्रकार से सिद्ध हो सकता है। आहाहा! उसमें भी अनेकपने का आश्रय छोड़कर एकपने का आश्रय करना, वही मुक्ति का कारण है। अनेक और एक न हो तो अनेक से छूटकर एक में आना, यह नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है।

कलश-१३२

(मन्दाक्रान्ता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्राग-ग्राम-प्रलय-करणात्कर्मणां सम्वरेण।
बिभ्रत्तोषं परम-ममलालोक-मम्लान-मेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियत-मुदितं शाश्वतोद्योत-मेतत्॥१३२॥

इति सम्वरो निष्क्रान्तः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सम्वरप्ररूपकः पञ्चमोऽमः।

अब, संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होने से जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं:-

श्लोकार्थ : [भेदज्ञान-उच्छलन-कलनात्] भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से [शुद्धतत्त्वउपलम्भात्] शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि हुई; शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि से [रागग्राम-प्रलयकरणात्] राग समूह का विलय हुआ; राग समूह के विलय करने से [कर्मणां संवरेण] कर्मों का संवर हुआ; और कर्मों का संवर होने से, [ज्ञाने नियतम् एतत् ज्ञानं उदितं] ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ- [ब्रिभ्रत् परमम् तोषं] कि जो ज्ञान परम सन्तोष को (परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है,

[अमल-आलोकम्] जिसका प्रकाश निर्मल है (अर्थात् रागादिक के कारण मलिनता थी, वह अब नहीं है), [अम्लानम्] जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की भाँति कुम्हलाया हुआ-निर्बल नहीं है, सर्व लोकालोक के जाननेवाला है), [एकं] जो एक है (अर्थात् क्षयोपशम से जो भेद था, वह अब नहीं है) और [शाश्वत-उद्योतम्] जिसका उद्योत शाश्वत है (अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्वर है)।।१३२।।

टीका : इस प्रकार संवर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ : रंगभूमि में संवर का स्वांग आया था, उसे ज्ञान ने जान लिया; इसलिए वह नृत्य करके बाहर निकल गया।

सवैया तेईसा

भेदविज्ञानकला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही;
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातममाहीं,
यों मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाहीं।।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में संवर का प्ररूपक पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ।

श्लोक - १३२ पर प्रवचन

१३२, अन्तिम कलश न? **अब, संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होने से जो ज्ञान हुआ उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं:-** आहाहा! राग से भिन्न पड़कर आत्मा का ज्ञान विकसित हुआ, जो पर्याय में संकोच था, शक्ति में पूर्ण था। स्वभाव में पूर्ण था, पर्याय में संकोच था। वह राग से भिन्न पड़कर, जैसा स्वभाव में परिपूर्ण है, उसी प्रकार से पर्याय में परिपूर्ण हुआ। ऐसे ज्ञान की महिमा कहते हैं। आहाहा! अकेले न्याय के विषय भरे हैं।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्राग-ग्राम-प्रलय-करणात्कर्मणां सम्वरेण।

बिभ्रत्तोषं परम-ममलालोक-मम्लान-मेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियत-मुदितं शाश्वतोद्योत-मेतत् ।।१३२।।

[भेदज्ञान-उच्छलन-कलनात्] भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से.. आहाहा! **कलनात्** है न? (अर्थात्) अभ्यास। पहले भेदज्ञान का **उच्छलन** अर्थात् प्रगट करना। **कलनात्** अर्थात् उसका अभ्यास, अनुभव। तीन शब्दों के तीन अर्थ हैं। भेदज्ञान—राग से, पुण्य से, दया, दान के विकल्प से भी भेदज्ञान-भिन्न (करे), वह भेदज्ञान **उच्छलन** (अर्थात्) उसे **प्रगट करने के.. कलनात्** (अर्थात्) अनुभव से, अभ्यास से।

[शुद्धतत्त्वउपलम्भात्] शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि हुई,.. उसे शुद्ध तत्त्व का अनुभव होता है। क्या कहा? राग और पर से भिन्न करके भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से **कलनात् शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि हुई,..** शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति होती है। भगवान पूर्ण शुद्ध है, ऐसी पर्याय में उसकी प्राप्ति होती है। आहाहा! **शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि से.. [रागग्राम-प्रलयकरणात्]** राग का समूह। ग्राम अर्थात् समूह। विकल्प का समूह का **विलय हुआ,..** आहाहा! **[रागग्राम-प्रलयकरणात्] राग-समूह का विलय हुआ, राग -समूह के विलय करने से [कर्मणां संवरेण] कर्मों का संवर हुआ..** आहाहा! क्रम रखा। जैसे वह भटकने का क्रम था (कि) आस्रव से कर्म होता है और कर्म से नोकर्म तथा नोकर्म से संसार। अब गुलाँट मारकर बात ऐसी रखी। आहाहा! **राग-समूह का विलय हुआ,..** वीतराग मूर्ति आत्मा राग से भिन्न पड़ने पर, **राग-समूह के विलय करने से.. [कर्मणां संवरेण] कर्मों का संवर हुआ..** अर्थात् राग-द्वेष हुए नहीं। राग-द्वेष हुए नहीं, इसलिए आस्रव बन्द हो गया। आहाहा!

और कर्मों का संवर होने से,.. [ज्ञाने नियतम् एतत् ज्ञानं उदितं] ज्ञान में ही निश्चल हुआ.. आहाहा! राग से भिन्न पड़ने पर आस्रव हुआ नहीं, इसलिए कर्म हुआ नहीं परन्तु यहाँ इस ओर उन्मुख होने से ज्ञान का विषय विशेष प्रगट हुआ। आहाहा! **कर्मों का संवर होने से, ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान..** आहाहा! जो राग में एकत्व था, उसे तोड़कर वह ज्ञान में एकाग्र हुआ, त्रिकाली स्वरूप ज्ञान का पिण्ड, समूह, उसमें ज्ञान एकाग्र हुआ।

कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से, ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ.. आहाहा! जो शक्तिरूप से पूर्ण ज्ञान था, स्वभावरूप से पूर्ण ज्ञान था, वह राग से भिन्न पड़ने पर, संवर होने पर, शक्ति में से व्यक्तता पूर्ण की पूर्ण हुई। आहाहा! इसमें कितने भिन्न-भिन्न बोल (डाले हैं)। अभ्यास न हो, उसे ऐसा लगता है। ज्ञान, निश्चल हुआ ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ (अर्थात्) अन्तरज्ञान की पर्याय प्रगट हो गयी। आहाहा! वह राग में अटककर ज्ञान की हीनता थी, वह राग से छूटकर ज्ञान की अधिकता हो गयी। आहाहा!

कि जो ज्ञान परम सन्तोष को (परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है,.. आहाहा! राग के विकल्प से भिन्न पड़ता हुआ ज्ञान। वह अर्थात् आत्मा उदय हुआ अर्थात् पर्याय में प्रगट हुआ, वह अतीन्द्रिय आनन्द को लेता हुआ प्रगट हुआ। आहाहा! सन्तोष आनन्द प्रगट हुआ। शब्द ऐसा है न? परम सन्तोष-परम अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसा। आहाहा! परम अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु था, वह राग से भिन्न पड़ने पर ज्ञान में ज्ञान स्थिर हुआ तो पर्याय में ज्ञान प्रगट होने पर आनन्द भी साथ में आया, साथ में सन्तोष आया। आहाहा!

मुमुक्षु : केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सन्तोष आया, उसकी बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पूर्ण ज्ञान कहा न! यहाँ अन्तिम योगफल (करते हैं)।

परम सन्तोष को (परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है,.. [अमल-आलोकम्] जिसका प्रकाश निर्मल है.. जो ज्ञान-आत्मस्वभाव प्रगट हुआ, वह निर्मल है। ज्ञान शब्द से पूरा स्वभाव। पूर्ण स्वभाव प्रगट हुआ, वह निर्मल है। **(अर्थात् रागादिक के कारण मलिनता थी, वह अब नहीं है),.. [अम्लानम्] जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की भाँति कुम्हलाया हुआ-निर्बल नहीं है,..)** देखा? पहले जो थोड़ा मलिन क्षायोपशम ज्ञान था, वह तो कुम्हलाया हुआ था, कुम्हला गया था। आहाहा! यह तो विस्तार से प्रस्फुटित हो उठा। कुम्हलाया हुआ ज्ञान इसमें रहा ही नहीं। आहाहा! इस भेदविज्ञान से यह फल आता है, ऐसा कहते हैं। इस पैसे में तो पाँच-पच्चीस करोड़, पचास करोड़, अरब-दो अरब (होवे वहाँ) अवधि आती है। यहाँ तो हद नहीं है, कहते हैं। आहाहा! जो ज्ञान बेहद अनन्त था; वह ज्ञान, ज्ञान में स्थिर होने पर ज्ञान प्रगट हुआ,

उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ। सन्तोष आया, ज्ञान आया, अब कोई इच्छामात्र रही नहीं। आहाहा!

अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की भाँति कुम्हलाया हुआ-निर्बल नहीं है, सर्व लोकालोक के जाननेवाला है),.. देखा? पूर्ण जो हो गया न! **एक है..** वे मति, श्रुत, और अवधि उनमें भेद था, वह भेद मिट गया। एक ज्ञान , अकेला केवलज्ञान (प्रगट हुआ)। भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते ज्ञान अकेला पूर्ण रह गया। आहाहा! **(अर्थात् क्षयोपशम से जो भेद था, वह अब नहीं है) और [शाश्वत-उद्योतम्] जिसका उद्योत शाश्वत है..** अर्थात् प्रगटा, सो प्रगटा। अनन्त काल ऐसा का ऐसा रहेगा। क्षयोपशम ज्ञान तो गिर भी जाए। यह तो क्षायिक ज्ञान हो गया। अविनश्वर ज्ञान। **(जिसका प्रकाश अविनश्वर है)।**

टीका : इस प्रकार संवर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया। संवर हुआ, उसे पूर्ण दशा हो गयी, इसलिए संवर रहा नहीं। राग से भिन्न पड़कर संवर हुआ और उसमें से पूर्ण दशा हुई, इसलिए अब संवर रहा नहीं। संवर निकल गया, अकेला केवलज्ञान हुआ।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६८, श्लोक-१३२ दिनाङ्क ०१-०७-१९७९,
रविवार, अषाढ़ शुक्ल ७

समयसार, संवर का अन्तिम अधिकार, १३२ कलश है। **अब, संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होने से जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं:-**

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्राग-ग्राम-प्रलय-करणात्कर्मणां सम्वरेण।
बिभ्रत्तोषं परम-ममलालोक-मम्लान-मेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियत-मुदितं शाश्वतोद्योत-मेतत् ।।१३२।।

[भेदज्ञान–उच्छलन–कलनात्] **भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से..** क्या कहते हैं? अनादि काल से यह आत्मा जो अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड है, उसे अनादि से राग से एकरूप माना है। चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, वह राग है, वह आस्रव है, वह दु:ख है। उस आत्मा के आनन्दस्वभाव को ज्ञान में राग का एकत्व मानकर, मिथ्यात्व सेवन कर दु:ख के पन्थ में दौड़ गया है। आहाहा! यह अनादि काल से दु:ख के पन्थ में है। कोई ऐसा माने कि हमें पैसा है और इज्जत है, कीर्ति है, शरीर जवान है, इसलिए हम कुछ सुखी हैं, वह अत्यन्त भ्रम है। वह दु:ख के पन्थ में है। आहाहा! अपना आत्मा, कहेंगे। '**बिभ्रत्तोषं**'। भाई नहीं आये? चन्दुभाई नहीं?

अनादि काल से इसने निगोद के भव से (लेकर) नौवें ग्रैवेयक के भव अनन्त किये, परन्तु वह सब दु:ख के पन्थ में दौड़ा हुआ था। शुभ और अशुभराग जो आस्रव है, आकुलता है, दु:ख है, उसे आत्मा के स्वभाव के साथ एकत्व मानकर, दु:खी होकर, मिथ्यादृष्टि होकर संसार में भटका करता है। आहाहा! अरबोंपति, करोड़पति हो, शरीर की सुन्दर बीस वर्ष की शरीर की, पच्चीस (वर्ष की) युवा अवस्था (हो) और पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये हों, लड़के के लड़के का बड़ा कुटुम्ब हो, धन्धा चलता हो, पाँच-पाँच लाख की आमदनी (हो), वे सब दु:ख के पन्थ में हैं। आहाहा! क्योंकि राग और द्वेष के मार्ग में हैं, वे दु:ख के मार्ग में हैं। इसकी उन्हें खबर नहीं है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि **भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से..** अनादि से जो राग और पुण्य के, पाप के भाव (होते हैं), उनके साथ जो अभेदबुद्धि / एकत्वबुद्धि थी, वह जिसने भेदज्ञान के अभ्यास से (तोड़ी है)। यह राग मैं नहीं; मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, (ऐसी दृष्टि की है)। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! **भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से..** राग का विकल्प शुभरागादि दया, दान, व्रत हों, वह भी आस्रव है, विकार है, दु:ख है। आहाहा! उनसे भेदज्ञान (अर्थात्) भिन्न करने के अभ्यास से। यह धर्म करने की क्रिया! आहाहा! बाहर में तो यह माने कि इससे यह होता है।

यहाँ तो भेदज्ञान प्रगट करने का अभ्यास। ऐसा है न? राग के विकल्प से, चाहे तो शुभराग पंच महाव्रत का हो, परन्तु वह आस्रव और दु:ख है। प्रभु आत्मा उससे अन्दर भिन्न

है, ऐसा भेदज्ञान का अभ्यास प्रगट करने से। यह अनन्त काल में कभी भेदज्ञान किया नहीं। आहाहा! अज्ञानी माने भले (कि) हम सुखी हैं। पाँच-पच्चीस लाख, दो-पाँच करोड़, दस करोड़ रुपये हों, जवान शरीर ऐसा चालीस (वर्ष का) लट्ठ जैसा हो। तीन-तीन, चार-चार लड्डू खाता हो, पचा जाता हो, परन्तु वह सब दुःखी है, दुःखी हैं बेचारे। आहाहा! उसे आत्मा क्या चीज़ है, उसकी खबर नहीं और इस दुःख के पन्थ में हूँ, इसकी उसे खबर नहीं। आहाहा!

अनादि काल से निगोद के भव से लेकर काई, लहसुन, प्याज (के अवतार किये)। अब भेदज्ञान प्रगट करने का अभ्यास (करे)। अब संवर करना है न? आहाहा! राग का छोटे में छोटा कण भी हो, उससे मेरी चीज़ अन्दर भिन्न है। यह राग क्षणिक, कृत्रिम और दुःखरूप है। जबकि मैं त्रिकाल, नित्य और आनन्दरूप हूँ। समझ में आया? राग जो होता है वह कृत्रिम, क्षणिक और दुःखरूप है; जबकि प्रभु आत्मा अन्दर है, वह अकृत्रिम, अकृत, नित्य और आनन्दरूप है। आहाहा! ऐसा दो के बीच पृथक् करने का भेदज्ञान का अभ्यास करने से। **भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से..** आहाहा! अमुक क्रिया करने से, ऐसा कुछ नहीं कहा। दया पालने से या व्रत करने से, तपस्या करने से (होता है, ऐसा नहीं कहा)। ऐई! लंघन किया है न? इसने किया था, वर्षीतप किया था।

मुमुक्षु : तब खबर नहीं थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर नहीं थी! आहाहा! वर्षीतप किया था।

आहाहा! अरे! परन्तु आत्मा अन्दर कौन है? और यह राग की परिणति की क्रिया जो राग खड़ा होता है, वह कौन है? दो के बीच का ज्ञान नहीं, वह दुःखी और मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह भेदज्ञान को प्रगट करने के अभ्यास से। ऐसा है न? [**भेदज्ञान-उच्छलन-कलनात्**] तीन शब्द हैं। भेदज्ञान को प्रगट करने के अभ्यास से। **'कलनात्'** अर्थात् उसके अनुभव से। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल से भटकता है। उसमें जवान २५, ३०, ४० वर्ष की उम्र हो, उसमें पैसा (रुपये) पाँच-पच्चीस करोड़ मिले हों और सुन्दर भैंसे जैसा शरीर हो, भैंसे जैसा! अरे रे! भाई! तुझे खबर नहीं, बापू! तू किसके आश्रय से सुखी मानता है, यह तुझे खबर नहीं। इन सबके आश्रय से तो राग

और दु:ख है। आहाहा! अब यदि तुझे सुख के पन्थ में जाना हो, दु:ख के पन्थ में अनादि से दौड़ रहा है।

भेदज्ञान को प्रगट करने के **'कलनात्'** अभ्यास से। ऐसा शब्द है। भेदज्ञान **'उच्छलन'** (अर्थात्) प्रगट करना। **'उच्छलन'** (अर्थात्) प्रगट करना। उसका **'कलनात्'**, उसका अभ्यास। अन्तर में राग से भिन्न करने का अभ्यास। आहाहा! कठिन बातें हैं, ऐसा है। वीतराग धर्म अलौकिक है। आहाहा!

[**शुद्धतत्त्वउपलम्भात्**] भेदज्ञान के प्रगट करने के अभ्यास से क्या हुआ? कि शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति हुई। शुद्ध तत्त्व का अनुभव हुआ। अर्थात्? कि अनादि से पुण्य और पाप, रागादि का जो अनुभव था, उससे भिन्न पड़कर आत्मतत्त्व का अनुभव हुआ। आहाहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय-अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त आनन्द और अतीन्द्रिय गुणों का पिण्ड प्रभु, भगवत्स्वरूप प्रभु आत्मा है, परन्तु कैसे जँचे? आहाहा! एक बीड़ी पीवे, वहाँ तो इसे मानो ऐसा... आहाहा! अन्दर से तलब चढ़ जाए। आहाहा! एक अच्छा पापड़ और अच्छा अचार मिला हो, उसे खाये तो ऐसा हो जाए कि आहाहा! क्या है? प्रभु! तू कहाँ गया? कहते हैं कि एक बार तो (भेदज्ञान) कर अब। अनन्त बार यह किया, एक बार उसे राग से भिन्न करने का अभ्यास तो कर, इससे तुझे शुद्ध आत्मा की उपलब्धि-प्राप्ति होगी। जो अभ्यास नहीं; राग को अपना मानने का अभ्यास है, उसमें दु:ख की प्राप्ति है और उससे (भिन्नता) करने पर तुझे आत्मा की प्राप्ति, आत्मा का अनुभव होगा। आहाहा! अब ऐसी धर्म की पद्धति। इसमें निवृत्ति कहाँ? शान्तिभाई! आहाहा! दो-पाँच लाख, दस लाख की आमदनी होती हो, लड़के कमाते हों उसमें... आहाहा! (हो जाता है)। अरे प्रभु! क्या करता है तू? दु:ख के पन्थ में गया है, प्रभु! एक बार उससे भेद करने के अभ्यास के अनुभव से तुझे आत्मा की उपलब्धि अर्थात् अनुभव होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : एक बार या बारम्बार।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक बार करते ही हो जाएगा। पहला अभ्यास करता है, परन्तु होता है, तब एक क्षण में ही होता है। आहाहा! भाषा अभ्यास है, शुरुआत में तो ऐसा होवे न! रागादि, जिसमें पर दिशा सन्मुख की दशा (होती है), राग की, पुण्य की, दया, दान,

देश की, उसको बदलकर अपनी ओर उन्मुख करना कि वह मैं नहीं, ऐसा अभ्यास करने से तुझे आत्मा की प्राप्ति होगी, ऐसा कहते हैं। ऐसा आया न? [**शुद्धतत्त्वउपलम्भात्**] शुद्धस्वरूप का अनुभव होगा। जो राग और द्वेष के दुःख के पन्थ में तू दौड़ गया है, (वह) जहर का प्याला पीता है, बापू! और तू प्रसन्न होकर भटक रहा है। आहाहा! हीरालालभाई! आहाहा!

आत्मा के अतिरिक्त बाहर की चीज़ों में कहीं भी तुझे विशेषता, अधिकता, विस्मयता लगे, वह सब दुःखभाव, मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! उस मिथ्यात्वभाव से भेदज्ञान का अभ्यास करने से (अर्थात्) वह मैं नहीं, मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भण्डार, अतीन्द्रिय आनन्द से पूर्ण भरपूर भण्डार हूँ। आहाहा! यह पैसा तो खर्च भी हो जाता है। यहाँ तो अखूट ऐसी लक्ष्मी है वह। आहाहा!

[**शुद्धतत्त्वउपलम्भात्**] (अर्थात्) अनुभव होकर **शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि से..** अर्थात् अनुभव से। क्रम रखते हैं। [**रागग्राम-प्रलयकरणात्**] **राग-समूह का विलय..** राग, द्वेष, पुण्य, पाप, यह सब राग में जाता है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या इत्यादि राग में जाते हैं। वह रागग्राम-राग का समूह है। वे सब राग के समूह में जाते हैं। आहाहा! अब ऐसा धर्म। राग का ग्राम। ग्राम अर्थात् समूह। सब राग का समूह है। जितने विकल्प (होते हैं), दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, विषय, भोग, वासना। आहाहा! वह सब राग का ग्राम-समूह है, वह राग का ढ़ेर है। आहाहा! उसका प्रलय करनेवाला। ऐसे रागग्राम को प्रलय करनेवाला। प्रलय अर्थात् उसका नाश करने से। आहाहा! है न? **राग-समूह के विलय करने से..** सूक्ष्म बात तो है, भाई! आहाहा!

राग समूह के विलय करने से.. [**कर्मणां संवरेण**] कर्म का संवर हुआ। अर्थात् राग को रोका और स्वभाव सन्मुख में शुद्धता की दशा प्रगट की, इससे कर्म रुके। राग का समूह जहाँ रुका तो कर्म आते हुए रुके। आहाहा! यह वर्षीतप करे, इसलिए कर्म रुक जाते हैं और अपवास करे तो कर्म रुक जाते हैं, ऐसा नहीं है। वह सब राग की क्रियाएँ हैं। आहाहा! और उसमें भी धर्म होता है, ऐसा मानता है तो मिथ्यात्व का पोषक है। आहाहा! सत्य प्रभु, इससे (वे सब) झूठ का सेवन है। आहाहा!

सच्चिदानन्द प्रभु सत्स्वरूप आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार, उससे विरुद्ध मान्यता, वह सब असत्य आचरण है। आहाहा! सत्य का अनादर करनेवाला है। आहाहा! उसे कहते हैं कि रोकने से **कर्मों का संवर हुआ..** राग का समूह रुका और यहाँ संवरदशा, सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा का अनुभव हुआ, तो राग से जो कर्म आता था, वह रुक गया। आहाहा! इसमें बहुत सूक्ष्म बात है।

कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से,.. [**ज्ञाने नियतम् एतत् ज्ञानं उदितं**] **ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान..** आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होने से। है? **ज्ञान में ही निश्चल हुआ..** अपने शुद्धस्वरूप में निश्चल हुआ; राग के समूह से हट गया; इसलिए उसे कर्म का आवरण नहीं आता और यहाँ ज्ञान में स्थिर होने से, ज्ञान में नियत हुआ **ऐसा यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ..** ज्ञाता-दृष्टापने की दशा प्रगट हुई। आहाहा! इसका नाम धर्म। ज्ञान, ज्ञाता-दृष्टापने की दशा... है? **ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान..** ज्ञान में अर्थात् आत्मा में निश्चल हुआ ज्ञान। जो राग में निश्चल हुआ अज्ञान था, वह मिटकर ज्ञान में ज्ञान हुआ निश्चल ज्ञान। आहाहा! **यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ..** (अर्थात्) सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ। मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, ज्ञातादृष्टा हूँ—ऐसा सम्यग्दर्शन में प्रगट हुआ। आहाहा! मैं राग और पुण्य और दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, भोग के भाव, वे मेरे थे और उनमें मुझे ठीक है, यह अज्ञान, मिथ्या भ्रमणा (थी), आहाहा! वह भ्रमणा मिटकर आत्मा में आनन्द है, वह ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ। राग से हट गया, राग के समूह से हट गया और ज्ञान के, आनन्द के समूह में स्थिर हो गया। आहाहा! अब ऐसा प्रकार। **यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ..**

[**ब्रिभ्रत् परमम् तोषं**] कैसा ज्ञान उदय को प्रास हुआ? **कि जो ज्ञान परम सन्तोष को.. तोषं** है न? (अर्थात्) परम सन्तोष को **ब्रिभ्रत्** (अर्थात्) धारण करता हुआ। आहाहा! परम सन्तोष आनन्द से परिणमता, आनन्दरूप परिणमता हुआ। आहाहा! विकार, राग के समूह में वह दुःखरूप जो परिणमन था, उसमें से हटकर आत्मस्वभाव सन्मुख आया; इसलिए उसने आत्मा के आनन्द का सन्तोष **ब्रिभ्रत्** धारण किया। अब आनन्द को धार रखा। अब आनन्द का परिणमन हुआ। आहाहा!

यह तो अध्यात्म श्लोक है। इसमें संवर का अन्तिम श्लोक है और ज्ञान की महिमा (करते हैं)। भगवान आत्मा जहाँ ज्ञानस्वरूप प्रगट हुआ, उसकी क्या बात करना? कहते हैं। उसकी महिमा की बात करते हैं। आहाहा! अरे! अवसर मिला, तब अभ्यास किया नहीं और अवसर मिला नहीं, वहाँ भटककर सुनने को मिला नहीं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोइन्द्रिय... आहाहा! अरे! मनुष्यपना प्राप्त हुआ परन्तु अनार्य देश में कच्चे बकरे खाये। अनार्य देश में बोकड़ा, समझ में आया? बकरा, छोटा बच्चा होता है न? छोटा बच्चा सीधे ऐसा कच्चा खाये। कच्चा टुकड़ा (करके खाये)। आहाहा! अब उसे ऐसे मनुष्य के अवतार मिले तो भी क्या? आहाहा! जैनकुल में अवतार होना और उसमें फिर सत्य बात कान में पड़ना, आहाहा! ऐसी दुर्लभता के काल में दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कर ले। पैसा-फैसा प्राप्त करना, वह कोई दुर्लभ नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पाँच लाख कमाये हैं, दस लाख कमाये हैं।

मुमुक्षु : एक शास्त्र में तो ऐसा लिखा है कि धर्म सुलभ है और पैसा दुर्लभ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुलभ है। यह क्या कहा खबर है? यह बात दूसरी बात है कि पैसा सुलभ है अर्थात् इसे पूर्व का पुण्य हो तो मिलते हैं और यह (धर्म) तो पुरुषार्थ से मिलता है। है शब्द, है शास्त्र में। दस प्रकार की भावना है न? पैसा मिलना सुलभ है, (अर्थात्) कि उसमें इसका कुछ पुरुषार्थ काम नहीं करता। वह तो इसके पूर्व के पुण्य के परमाणु पड़े हों तो ऐसे संयोग दिखते हैं। दिखते हैं, हों! मिले क्या? धूल इसे मिले? इसके पास कहाँ मिलती है? इसे ममता मिलती है। इन्हें-बलुभाई को बड़ा कारखाना था। सत्तर लाख का! वह बेच डाला, निकाल डाला। आहाहा! हम कारखाने में गये थे। रामजीभाई थे, सब थे। आहार करने गये थे, तब नहीं? वहाँ आहार नहीं किया था? आहाहा! सब देखा था। अरे रे! भगवान! तेरा मार्ग कोई अलग प्रकार है, बापू! यह सब बाहर की श्मशाम की ज्वाल है। श्मशाम में जैसे अग्नि भभकारा मारती है, हड्डियाँ जली हुई होवे न, वे ताजा हों तो ऐसे अग्नि चमक.. चमक.. चमक.. होती है; इसी प्रकार भगवान आत्मा के अतिरिक्त यह सब श्मशान की चमक है। आहाहा! वे भाई कहते थे, भाई नहीं, मलूपचन्द के लड़के हैं न यह? पूनमचन्द! पाँच-छह करोड़ रुपये हैं। एक भाई को बात करते थे,

उसके पिता बैठे थे। बापू ने एक पैसे का रस कहाँ चखा है ? अर्थात् ऐसा कि वहाँ पैसे कहाँ थे ? उसके पिता के पास तीस-चालीस हजार थे। बापू को ऐसा कहे कि पैसे का रस चखा कहाँ है ? उन्हें कब थे चार करोड़ और पाँच करोड़ रुपये ? हमने इन पाँच करोड़ का रस चखा है। ज़हर का (रस चखा है।) आहाहा!

यहाँ तो जगत से दूसरी बात है, बापू! दुनिया धर्म के नाम से, व्रत, तप और भक्ति, पूजा को धर्म मानती है, वह भी अधर्म है। आहाहा! यहाँ तो उससे भिन्न पड़ा हुआ तत्त्व पूरा पड़ा है, उसे ज्ञान करके ज्ञान में [**ब्रिभ्रत् परमम् तोषं**] **ब्रिभ्रत्** परम सन्तोष को, आनन्द के परिणमाता हुआ। परम आनन्द को धारण करता हुआ। आहाहा! जो अनादि से राग को, पुण्य को धारण करके मेरा मानकर मिथ्यात्व में पड़ा था... आहाहा! वह भेदज्ञान करके, अतीन्द्रिय आनन्द को धारण करके अब वहाँ पड़ा है। आहाहा! ऐसी बात है। अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन करके उसे धार रखा है। राग का परिणमन करके जो उस राग को धार रखा था, वह इस आनन्द का परिणमन करके आनन्द को धार रखा है।

ज्ञान अर्थात् आत्मा, उसका सन्तोष अर्थात् आनन्द। **(परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है,..** यह **ब्रिभ्रत्** का अर्थ किया है। आहाहा! देखो, इसका नाम धर्म। जिससे राग के समूह को भिन्न करके और आनन्द के समूह का भगवान आत्मा, उसमें जिसने ज्ञान में ज्ञान की स्थिरता की, उसने अतीन्द्रिय आनन्द को धार रखा है। वह अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में पड़ा है। आहाहा! इसका नाम संवर और निर्जरा है। कहो, चिमनभाई! दुनिया बेचारी कहाँ भटकती पड़ी है ? आहाहा! कहीं मानकर, कहीं मनाती है। धर्म के नाम से कहीं मनाया हो। हैरान-हैरान हो गये हैं। संसार के नाम से तो भटकते हैं। आहाहा!

ज्ञान परम सन्तोष-परम आनन्द। जो राग और पुण्य-पाप के भाव में परम दुःख था और उस दुःख में हमें ठीक पड़ता है, ऐसा था... आहाहा! और उसने दुःख को धारण कर रखा था। वह अब गुलाँट खाता है। यह राग नहीं, मैं तो आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ, वह अतीन्द्रिय आनन्द का गंज है। यहाँ राग का समूह था, रागग्राम (था)। आहाहा! ग्राम है न ? आ गया था। रागग्राम प्रलय करनेवाला। राग के समूह को नाश करके अनन्त-अनन्त आनन्दादि समूह को प्रगट करके। आहाहा!

[**अमल–आलोकम्**] **जिसका प्रकाश निर्मल है..** आहाहा! भगवान आत्मा राग से भिन्न पड़कर आत्मा का अनुभव करे, वह अनुभव निर्मल है। उसमें राग और द्वेष का कण, मल, मेल नहीं है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम तो राग हैं, मैल हैं, मल है, दोष है। आहाहा! अरे रे! कहाँ जाना इसे? कहते हैं कि अन्तर में [**अमल–आलोकम्**] निर्मल वस्तु को आलोक (देख)। **(रागादिक के कारण मलिनता थी, वह अब नहीं है),..** [**अमल–आलोकम्**] आहाहा! निर्मल ज्ञानप्रकाश हुआ। आहाहा! **आलोकम्** अर्थात् निर्मल प्रकाश।

[**अम्लानम्**] **जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की भाँति कुम्हलाया हुआ–निर्बल नहीं है,..)** आहा! क्षयोपशम ज्ञान है, वह तो कुम्हाला गया है। घड़ीक में रहे और घड़ीक में कुछ न रहे। आहाहा! यह तो अन्दर भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ और आत्मा के स्वभाव में से ज्ञान प्रगट हुआ, वह कुम्हलाया हुआ ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान कुम्हलाता नहीं। आहाहा! वह खिलता ज्ञान है, वह बढ़ता, चढ़ता डिग्री से है। आहाहा! बाहर में कुछ सरीखा होवे तो ऐसा कहते है कि अपनी चढ़ती डिग्री से हैं। वहाँ यह कहाँ यह करते हो? ऐसी बातें करे।

हमारे ऐसा हुआ था। खुशालभाई का विवाह होने के बाद ऐसे मेरे विवाह की बात आयी। गृहस्थ के घर से, अच्छे लखपति के घर से। मैंने इनकार किया, मुझे ब्रह्मचर्य है, इसलिए कोई बोला कि अरे! चढ़ती डिग्री को तुम तोड़ डालते हो। आहाहा! (संवत्) १९६८ के माघ महीने की बात है। चढ़ती डिग्री कहते हैं। आहाहा! लाखों पति की लड़की आती है और तुम इनकार करते हो कि नहीं। आहाहा! चढ़ती डिग्री तो यह है। आहाहा! चढ़ता ज्ञान और चढ़ती शान्ति, राग से भिन्न पड़कर बढ़ता जाए, वह चढ़ती डिग्री है। आहाहा! दुनिया में तो ऐसा मानते हैं कि लड़की अच्छे घर में विवाहे, दो–पाँच करोड़वाले के यहाँ (विवाह हो), तो ओहोहो! वह पाँच–पच्चीस लाख लेकर आवे तो मानो क्या किया! धूल है, श्मशान है, राख है। सुन न! आहाहा!

अम्लान है। आहाहा! कहते हैं कि विकार के भाव से भिन्न पड़कर आत्मज्ञान हुआ, वह ज्ञान अब कुम्हलाता नहीं। आहाहा! आचार्य की शैली ही कोई ऐसी है। वह ज्ञान प्रगट

हुआ, सो प्रगट हुआ। (अब) वह ज्ञान केवलज्ञान लेनेवाला है। आहाहा! दूज उगी, वह पूर्णिमा होगी.. होगी और होगी। दूज उगी, वह पूर्णिमा होगी ही। इसी प्रकार जिसे आत्मज्ञान राग से भिन्न पड़कर हुआ है, वह अम्लान ज्ञान है। नहीं कुम्हलायेगा। क्षयोपशम ज्ञान कुम्हला जाता है। आहाहा! है तो यह भी क्षयोपशम, परन्तु दूसरे प्रकार का, आत्मा की ओर का। आहाहा! चलते मार्ग से अलग प्रकार दूसरा है। दुनिया की तो सब खबर है न! आहाहा! अम्लान। अम्लान अर्थात् कुम्हलाता नहीं, निर्बल नहीं।

(सर्व लोकालोक के जाननेवाला है),.. केवलज्ञान तक लिया है न! भाई! भेदज्ञान हुआ, निर्मल ज्ञान हुआ, उसमें स्थिर होते-होते केवलज्ञान हो गया। यहाँ संवर का अन्तिम परिणाम लेना है न? आहाहा! **जो एक है..** उस क्षयोपशम में तो भेद था। एक केवलज्ञान, एक समय में अनन्त आनन्द को वेदन करता हुआ केवलज्ञान प्रगट हुआ। अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द जो आत्मा का है, उस अतीन्द्रिय आनन्द को वेदन करता हुआ अनन्त केवलज्ञान प्रगट हुआ। आहाहा! अकेला है, एकरूप है, उसमें भेद नहीं। क्षयोपशम से भेद थे, वे नहीं।

[**शाश्वत-उद्योतम्**] आहाहा! क्या मांगलिक किया है न! वह अन्दर में आत्मा जैसे शाश्वत् है, वैसा उसका जहाँ राग से भिन्न पड़कर ज्ञान हुआ, भान, सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, इससे उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान बढ़कर केवलज्ञान होनेवाला है, वह शाश्वत् रहनेवाला है। वह केवलज्ञान हुआ, सो हुआ। ऐसा का ऐसा अनन्त काल रहनेवाला है। आहाहा! यहाँ तो पाँच-पच्चीस करोड़ आवे और वर्ष, दो वर्ष (होवे, वहाँ) भिखारी हो जाए।

बिहार में भूकम्प हुआ था न? एक करोड़पति मनुष्य बाहर घूमने गया था। करोड़पति, हों! घूमने गया था। स्वयं के पास सात-आठ हजार रुपये का कुछ कहे, चाँदी का या घड़ी (होगी)। जहाँ आया वहाँ कुटुम्ब और मकान सब गाँव प्रलय-नाश (हो गया)। बाहर में कहीं घूमने गया था। आहाहा! एक क्षण में समाप्त। वह वापस आया, यहाँ जामनगर। वहाँ एक विनयमार्ग है। सबके पैर छुए, वह सबके पैर छुए। उसमें वापस आया, भाषण जहाँ किया, वहाँ भाषण करते-करते मर गया। उसमें यह संसार घड़ीक में कुछ-कुछ। क्षण में गरीब बनाया और क्षण में वापस यहाँ आया तो देह छूट गयी। भाषण

करता था। लोगों को पहले कुछ पैसे दिये थे, इसलिए सेठ आया है, सेठ (ऐसा करके भाषण करने खड़ा किया)। आहाहा! परन्तु यह तो किसी को होता है, ऐसा माने। हमारे (कहाँ) है? हमारे कहाँ (कुछ है)? निरोग शरीर है, दो-तीन लड्डू उड़ाते हैं, अरबी के खाते हैं, ओ... डकार (खाकर) दो-तीन घण्टे निश्चिन्तता से सोवे। धूल भी नहीं, मर गया है, सुन न! प्रभु! आत्मा आनन्द के नाथ को तूने मार डाला है। तूने पर में सुख मानकर, आत्मा में सुख है, उसे तूने मार डाला है। आहाहा! जीवित ज्योत भगवान आनन्द का नाथ है न! आहाहा! उस जीवित ज्योत का अनादर करके मर गया मुर्दा। पुण्य-पाप, राग और द्वेष मुर्दे हैं। उन्हें जीवित मानकर, सुखी मानकर बैठा है। ऐसा है—दुनिया से उल्टा है, भाई! आहाहा!

पचास करोड़ रुपये, लो! चिमनभाई के सेठ को। वहाँ अभी आया था न! मुम्बई! चिमनभाई उसमें नौकर थे न! वह आया था। पचास करोड़! वैष्णव है, महिलाएँ सब जैन हैं। बेचारों को प्रेम, इसलिए आया था। (उसके घर) गये थे न! वह आया, तब नारियल रखा, एक हजार रुपये रखे थे। घर गये तब पन्द्रह सौ रखे थे। घर में पन्द्रह सौ रखे थे। पैसा धूल में क्या गिनती थी?

मुमुक्षु : उसके भाई के लड़के का अभी जर्मनी में हार्टफेल हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा! यह तो नाशवान में बापू! कब क्या होगा? यह तो कहते हैं कि शाश्वत् ज्ञान प्रगट हुआ। आहाहा! राग से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट किया, संवर प्रगट किया, उतना कर्म का आना रोक दिया, पश्चात् स्वरूप में स्थिर होने से केवलज्ञान हुआ, वह केवलज्ञान शाश्वत् रहेगा। ऐसा का ऐसा प्रगटा, तब से वह अनन्त काल (रहेगा)। अनन्त-अनन्त जिसका अन्त नहीं। आहाहा!

[शाश्वत-उद्योतम्] जिसका उद्योत शाश्वत है (अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्वर है)। ओहोहो! गजब मांगलिक श्लोक! दुनिया के सामने सब रखा है। दुनिया बड़े चक्रवर्ती के राज्य पड़े हों। ब्रह्मदत्त मरकर सातवें नरक गया। छियानवें हजार तो स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, सोलह हजार देव सेवा करें, उसे हीरे का क्या कहलाता है? पलंग, पलंग, हीरे के पलंग में सोता हो और सोलह हजार देव सेवा करते थे, (वह)

मरकर सातवें नरक में गया। अभी सातवें नरक में है। आहाहा! बापू! उस नरक के एक क्षण के दु:ख, भाई! देखनेवाले को रुदन आवे, ऐसे दु:ख हैं। भाई! तूने ऐसे दु:ख अनन्त बार सहन किये हैं, बापू! तुझे हर्ष किसका आता है? तुझे बाहर का हर्ष किसका आता है? आहाहा! बाहर की चीज़ में तो तेरी अपेक्षा अधिकपना, विशेषपना कैसे भासित होता है? तू महा अधिक भगवान है अन्दर और उसका ज्ञान तथा भान होने पर केवलज्ञान होकर फिर शाश्वत् रहता है। अनन्त-अनन्त काल, आदिरहित अनन्त काल। आहाहा! बहुत मांगलिक किया। आहाहा!

टीका : इस प्रकार संवर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया। अर्थात् संवर पूरा हो गया और केवलज्ञान हो गया। अब संवर करना रहा नहीं। संवर निकल गया। आहाहा!

भावार्थ : रंगभूमि में संवर का स्वांग आया था.. संवर अर्थात् धर्म की दशा रागरहित निर्मल.. निर्मल.. निर्मल भेदज्ञान दशा—ऐसा जो संवर; आनन्द, शान्ति के वेदनसहित जो संवर प्रगट हुआ, वह स्वांग पूरा हो गया। वह **स्वांग आया था, उसे ज्ञान ने जान लिया इसलिए वह नृत्य करके बाहर निकल गया।** अर्थात् संवर पूरा हो गया, केवलज्ञान हो गया। हिन्दी।

भेदविज्ञानकला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही;
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातममाहीं,
यों मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाहीं।।

उसमें कहा है न, कर्म धारण किया था न? आहाहा! **भेदविज्ञानकला प्रगटै,..** आहाहा! राग के कण से (भिन्न)। शरीर, वाणी वह तो मिट्टी और जड़ धूल है। वह तो श्मशान की राख होनेवाली है। आहाहा! परन्तु अन्दर राग, पुण्य-पाप के भाव (होते हैं), उनसे भेदज्ञान करने पर जो सम्यग्दर्शन और संवर होता है। **तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,..** तब अपना शुद्धस्वभाव प्राप्त करता है। जो राग को, पुण्य-पाप को अनादि से प्राप्त करता था, उनसे भिन्न पड़कर। आहाहा! दुनिया से सब उल्टा है। आहाहा! **भेदविज्ञानकला**

प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,.. अपने शुद्धस्वभाव की प्राप्ति करे। **राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय,..** राग-द्वेष और विमोह (अर्थात्) मिथ्यात्व, **सबहि गलि जाय,..** (अर्थात्) नाश हो जाए। **इमै दुठ कर्म रुकाही;..** दुष्ट कर्म रुक जाते हैं। संवर आने पर आत्मा की स्थिरता होने से कर्म रुक जाते हैं। आहाहा!

उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै.. अन्तर की चैतन्य की जलहल ज्योति, चैतन्य के प्रकाश की मूर्ति, केवलज्ञान का कन्द प्रभु, वह पर्याय में उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करता है। आहाहा! **बहु तोष धरै..** बहुत आनन्द धारण करे, बहुत आनन्दरूप परिणमे, अतीन्द्रिय आनन्दरूप से ज्ञान परिणमे। संवर होने पर उसके फल में अतीनिद्रय आनन्दरूप परिणमे। आहाहा! पुण्य-पाप और आस्रव के फल में दुःखी होता है। बाहर के संयोग मिले, उसमें प्रसन्न होता है, दुःखी होता है, आहाहा!

उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष.. आनन्द परिणमे, आनन्द धारण करे। **परमातममाहीं,..** परमात्मा आत्मा में आनन्द को धारण करे। उसमें आनन्द का परिणमन करे। उसी और उसी में जो उल्टा पड़ा, राग-द्वेष और दुःख का परिणमन करता था, वह सुलटा पड़ा, वह आत्मा में आनन्द के सन्तोष को धारण करता है। आहाहा! **यों मुनिराज..** मुनि की मुख्य बात है न! **भली विधि धारतु,..** इसी भली विधि को धारण करते हैं। जो कही थी, उस संवर की (विधि को) धारक। **केवल पाय सुखी शिव जाहीं।** लो! केवलज्ञान पाकर शिव-सुखी शिव होते हैं। शिव जाय अर्थात् मोक्ष होता है। आहाहा!

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका.. आत्मप्रसिद्धि। इस टीका का नाम आत्मख्याति है। आत्मा की प्रसिद्धि होती है। जो अनादि से राग और विकार की प्रसिद्धि थी, उसका नाश करके आत्मा की प्रसिद्धि होती है। आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, शान्तस्वरूप, वीतरागमूर्ति प्रभु है, उसकी प्रसिद्धि होती है, उसका नाम धर्म कहा जाता है। आहाहा! अरे रे! ऐसा सुनने को मिलता नहीं, वहाँ बेचारा क्या करे? ऐसा का ऐसा बाहर में कुछ सुविधा देखे, वहाँ सन्तुष्ट हो जाता है और (मानता है कि) ऐ.. हम सुखी हैं।

एक बार कहा था न ? नानालालभाई के रिश्तेदार थे, 'चुड़गर' थे। हमारे रिश्तेदार सुखी हैं, कहे। करोड़पति नानालालभाई, राजकोट। जसाणी... जसाणी...! उसके समधी यहाँ आये थे। आवे न, सब आवे तो बहुत बार। (तब कहते थे कि) हमारी समधी सुखी हैं। कहा, सुखी की व्याख्या क्या? सुखी की व्याख्या क्या? यह पैसा धूल मिले, करोड़पति, वह सुखी ? पागल, वह पागल, पागल दुनिया पूरी पागल। पैसे वाले को सुखी मानती है। आहाहा! पागल है, बड़ी मूर्खता है।

यह तो आत्मा में से आनन्द आया, कहते हैं। धर्म करते हुए, राग से भिन्न पड़ने पर, विकल्प से भिन्न पड़ने पर निर्विकल्प आनन्द का अनुभव आने से पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ, वह शाश्वत् रहनेवाला है। आहाहा! यह अधिकार पूरा हुआ।